एम.ए. उत्तरार्द्ध

इतिहास, पंचम प्रश्नपत्र

बीसवीं सदी का विश्व

(TWENTIETH CENTURY WORLD)

मध्यप्रदेश भोज (मुक्त) विश्वविद्यालय – भोपाल

MADHYA PRADESH BHOJ (OPEN) UNIVERSITY – BHOPAL

Reviewer Committee

1. Dr. Anjali Chourey
   Associate Professor
   Atal Bihari Vajpai Hindi Vishvavidhyalay, Bhopal (M.P.)
2. Dr. Amita Singh
   Professor
   Govt.MLB College, Bhopal (M.P.)
3. Dr. Ajay Khare
   Professor
   Institute for Excellence in Higher Education,
   Bhopal (M.P.)

Advisory Committee

1. Dr Jayant Sonwalkar
   Hon'ble Vice Chancellor
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal
2. Dr L.S.Solanki
   Registrar
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal
3. Dr L.P. Jharia
   Director DME
   Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal
4. Dr. Anjali Chourey
   Associate Professor
   Atal Bihari Vajpai Hindi Vishvavidhyalay, Bhopal (M.P.)
5. Dr. Amita Singh
   Professor
   Govt.MLB College, Bhopal (M.P.)
6. Dr. Ajay Khare
   Professor
   Institute for Excellence in Higher Education,
   Bhopal (M.P.)

COURSE WRITERS

Ms Deepika Jain, Assistant Professor Department of History Govt College Umaiya Pan Katni, MP
Units (1.0, 1.2, 1.4-1.9, 2.0-2.1, 2.2-2.4, 2.4.1, 2.4.2-2.5.3, 2.6-2.10, 3.0-3.1, 3.3.2, 3.4-3.9, 4.0-4.1, 4.2, 4.3, 4.4, 4.5-4.5.2, 4.5.3, 4.5.4, 4.5.5, 4.6-4.10, 5.0-5.1, 5.2-5.9)

Prof. Brajesh Kumar Shrivastava, Head, Department of History, In-charge Head, Department of Adult Education, Dr Harisingh Gour University, Sagar-M.P
Units (3.3, 3.3.1)

Dr. Naveen Vashistha, Assistant Professor, Department of History, Government College for Women, Sonipat
Units (1.3, 3.2)

Copyright © Reserved, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal

All rights reserved. No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the Registrar, Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal.

Information contained in this book has been published by VIKAS® Publishing House Pvt. Ltd. and has been obtained by its Authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, the Madhya Pradesh Bhoj (Open) University, Bhopal, Publisher and its Authors shall in no event be liable for any errors, omissions or damages arising out of use of this information and specifically disclaim any implied warranties or merchantability or fitness for any particular use.

Published by Registrar, MP Bhoj (Open) University, Bhopal in 2020

Vikas® is the registered trademark of Vikas® Publishing House Pvt. Ltd.

VIKAS® PUBLISHING HOUSE PVT. LTD.
E-28, Sector-8, Noida - 201301 (UP)
Phone: 0120-4078900 • Fax: 0120-4078999
Regd. Office: A-27, 2nd Floor, Mohan Co-operative Industrial Estate, New Delhi 1100 44
• Website: www.vikaspublishing.com • Email: helpline@vikaspublishing.com

SYLLABI-BOOK MAPPING TABLE

बीसवीं सदी का विश्व

(Twentieth Century World)

Syllabi	Mapping in Book
इकाई–1 19वीं सदी की विरासत : ब्रिटेन (यू.के), फ्रांस, जर्मनी और जापान में राष्ट्रवाद, पूंजीवाद और साम्राज्यवाद का विकास; ब्रिटेन में राष्ट्रवाद एवं पूजीवाद का विकास – फ्रांस में राष्ट्रवाद एवं पूंजीवाद का विकास – जर्मनी में राष्ट्रवाद एवं पूंजीवाद का विकास – जापान में राष्ट्रवाद एवं पूंजीवाद का विकास – ब्रिटेन (यू.के.), फ्रांस, जर्मनी और जापान में साम्राज्यवाद का विकास; प्रथम विश्व युद्ध का प्रारंभ, शांति समझौता एवं इसके दूरगामी परिणाम – प्रथम विश्व युद्ध के कारण – प्रथम विश्व युद्ध के परिणाम – शांति समझौते एवं इनके दूरगामी परिणाम; रूस की क्रांति : समाजवादी राज्य की स्थापना, राजनीतिक एवं आर्थिक स्वरूप और पश्चिमी देशों में इसका प्रभाव एवं प्रतिक्रियाएं – रूस की क्रांति के कारण – बोल्शेविक क्रांति की प्रमुख घटनाएं एवं उनके प्रभाव – रूस में समाजवादी राज्य की स्थापना – रूसी क्रांति का पश्चिमी देशों पर प्रभाव एवं प्रतिक्रियाएं	**इकाई 1** : 19वीं सदी की विरासत एवं 1919 तक का विश्व परिदृश्य **(पृष्ठ 3–90)**
इकाई–2 दो युद्धों के मध्य विश्व की स्थिति; राष्ट्रसंघ की कार्य प्रणाली एवं सामूहिक सुरक्षा – राष्ट्रसंघ के उद्देश्य एवं कार्य प्रणाली – सामूहिक सुरक्षा; पूंजीवाद में संकट : महामंदी, युद्ध क्षतिपूर्ति और निःशस्त्रीकरण की समस्या – महामंदी – युद्ध क्षति पूर्ति और निःशस्त्रीकरण समस्या; जर्मनी, इटली एवं जापान में अधिनायक तंत्र का विकास – जर्मनी में अधिनायक तंत्र का विकास – इटली में मुसोलिनी एवं फासीवाद का उदय – जापान में अधिनायक तंत्र की स्थापना	**इकाई 2** : दो युद्धों के मध्य विश्व **(पृष्ठ 91–146)**
इकाई–3 द्वितीय विश्वयुद्ध का आरंभ, प्रकृति और परिणाम –द्वितीय विश्वयुद्ध आरंभ होने के कारण – द्वितीय विश्वयुद्ध की प्रकृति – द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणाम; राष्ट्रवादी आंदोलन और उपनिवेशवाद – राष्ट्रीय आंदोलन की अवधारणा – उपनिवेशवाद; चीन में साम्यवादी क्रांति और विश्व राजनीति पर उसके प्रभाव – चीन में साम्यवादी क्रांति की पृष्ठभूमि – विश्व राजनीति पर साम्यवादी क्रांति का उदय – चीन में साम्यवादी क्रांति का प्रभाव	**इकाई 3** : द्वितीय विश्वयुद्ध एवं नवीन राजनीतिक परिदृश्य **(पृष्ठ 147–225)**
इकाई–4 शीत युद्ध और इसके प्रभाव, शीत युद्ध का वैचारिक एवं राजनीतिक आधार, समझौते एवं संधियां, तनाव एवं प्रतिस्पर्धा; गुट–निरपेक्ष आंदोलन और तीसरी दुनिया; संयुक्त राष्ट्र संघ और विश्व शांति की अवधारणा – संयुक्त राष्ट्र संघ संगठन – विश्व शांति की अवधारणा; क्षेत्रीय तनाव : फिलीस्तीन, कश्मीर, क्यूबा, कोरिया एवं वियतनाम – फिलीस्तीन – कश्मीर – क्यूबा – कोरिया – वियतनाम	**इकाई 4** : शीतयुद्ध एवं इसके प्रभाव **(पृष्ठ 227–300)**

इकाई–5

प्रगति का युग और समाजवादी ब्लॉक – उद्योग के क्षेत्र में प्रगति – कृषि का विकास – विज्ञान एवं तकनीकी का विकास – संचार और सूचना – समाजवादी ब्लॉक का विघटन; सांस्कृतिक क्रांति, नागरिक अधिकार आंदोलन, रंगभेद और नारीवाद – सांस्कृतिक क्रांति – नागरिक अधिकार आंदोलन; रंगभेद और नारीवाद; समाजवाद का पतन, भूमंडलीकरण एवं उसके प्रभाव – समाजवाद के पतन की पृष्ठभूमि – भूमंडलीकरण

इकाई 5 : प्रगति का युग और समाजवादी ब्लॉक का विघटन **(पृष्ठ 301–332)**

विषय–सूची

परिचय **1–2**

इकाई 1 19वीं सदी की विरासत एवं 1919 तक का विश्व परिदृश्य **3–90**

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 19वीं सदी की विरासत : ब्रिटेन (यू.के), फ्रांस, जर्मनी और जापान में राष्ट्रवाद, पूंजीवाद और साम्राज्यवाद का विकास
1.2.1 ब्रिटेन में राष्ट्रवाद एवं पूजीवाद का विकास
1.2.2 फ्रांस में राष्ट्रवाद एवं पूंजीवाद का विकास
1.2.3 जर्मनी में राष्ट्रवाद एवं पूंजीवाद का विकास
1.2.4 जापान में राष्ट्रवाद एवं पूंजीवाद का विकास
1.2.5 ब्रिटेन (यू.के.), फ्रांस, जर्मनी और जापान में साम्राज्यवाद का विकास
1.3 प्रथम विश्व युद्ध का प्रारंभ, शांति समझौता एवं इसके दूरगामी परिणाम
1.3.1 प्रथम विश्व युद्ध के कारण
1.3.2 प्रथम विश्व युद्ध के परिणाम
1.3.3 शांति समझौते एवं इनके दूरगामी परिणाम
1.4 रूस की क्रांति : समाजवादी राज्य की स्थापना, राजनीतिक एवं आर्थिक स्वरूप और पश्चिमी देशों में इसका प्रभाव एवं प्रतिक्रियाएं
1.4.1 रूस की क्रांति के कारण
1.4.2 बोल्शेविक क्रांति की प्रमुख घटनाएं एवं उनके प्रभाव
1.4.3 रूस में समाजवादी राज्य की स्थापना
1.4.4 रूसी क्रांति का पश्चिमी देशों पर प्रभाव एवं प्रतिक्रियाएं
1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.6 सारांश
1.7 मुख्य शब्दावली
1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 2 दो युद्धों के मध्य विश्व **91–146**

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 दो युद्धों के मध्य विश्व की स्थिति
2.3 राष्ट्रसंघ की कार्य प्रणाली एवं सामूहिक सुरक्षा
2.3.1 राष्ट्रसंघ के उद्देश्य एवं कार्य प्रणाली
2.3.2 सामूहिक सुरक्षा
2.4 पूंजीवाद में संकट : महामंदी, युद्ध क्षतिपूर्ति और निःशस्त्रीकरण की समस्या
2.4.1 महामंदी
2.4.2 युद्ध क्षति पूर्ति और निःशस्त्रीकरण की समस्या
2.5 जर्मनी, इटली एवं जापान में अधिनायक तंत्र का विकास
2.5.1 जर्मनी में अधिनायक तंत्र का विकास
2.5.2 इटली में मुसोलिनी एवं फासीवाद का उदय
2.5.3 जापान में अधिनायक तंत्र की स्थापना
2.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

2.7 सारांश
2.8 मुख्य शब्दावली
2.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.10 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 3 द्वितीय विश्वयुद्ध एवं नवीन राजनीतिक परिदृश्य **147–225**

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 द्वितीय विश्वयुद्ध का आरंभ, प्रकृति और परिणाम
3.2.1 द्वितीय विश्वयुद्ध आरंभ होने के कारण
3.2.2 द्वितीय विश्वयुद्ध की प्रकृति
3.2.3 द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणाम
3.3 राष्ट्रवादी आंदोलन और उपनिवेशवाद
3.3.1 राष्ट्रीय आंदोलन की अवधारणा
3.3.2 उपनिवेशवाद
3.4 चीन में साम्यवादी क्रांति और विश्व राजनीति पर उसके प्रभाव
3.4.1 चीन में साम्यवादी क्रांति की पृष्ठभूमि
3.4.2 चीन में साम्यवादी क्रांति का उदय
3.4.3 विश्व राजनीति पर साम्यवादी क्रांति का प्रभाव
3.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.6 सारांश
3.7 मुख्य शब्दावली
3.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.9 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 4 शीतयुद्ध एवं इसके प्रभाव **227–300**

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 शीत युद्ध और इसके प्रभाव, शीत युद्ध का वैचारिक एवं राजनीतिक आधार, समझौते एवं संधियां, तनाव एवं प्रतिस्पर्धा
4.3 गुट–निरपेक्ष आंदोलन और तीसरी दुनिया
4.4 संयुक्त राष्ट्र संघ और विश्व शांति की अवधारणा
4.4.1 संयुक्त राष्ट्र संघ संगठन
4.4.2 विश्व शांति की अवधारणा
4.5 क्षेत्रीय तनाव : फिलीस्तीन, कश्मीर, क्यूबा, कोरिया एवं वियतनाम
4.5.1 फिलीस्तीन
4.5.2 कश्मीर
4.5.3 क्यूबा
4.5.4 कोरिया
4.5.5 वियतनाम
4.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.7 सारांश
4.8 मुख्य शब्दावली
4.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.10 सहायक पाठ्य सामग्री

इकाई 5 प्रगति का युग और समाजवादी ब्लॉक का विघटन **301–332**

5.0 परिचय

5.1 उद्देश्य

5.2 प्रगति का युग और समाजवादी ब्लॉक

5.2.1 उद्योग के क्षेत्र में प्रगति

5.2.2 कृषि का विकास

5.2.3 विज्ञान एवं तकनीकी का विकास

5.2.4 संचार और सूचना

5.2.5 समाजवादी ब्लॉक का विघटन

5.3 सांस्कृतिक क्रांति, नागरिक अधिकार आंदोलन, रंगभेद और नारीवाद

5.3.1 सांस्कृतिक क्रांति

5.3.2 नागरिक अधिकार आंदोलन

5.3.3 रंगभेद और नारीवाद

5.4 समाजवाद का पतन, भूमंडलीकरण एवं उसके प्रभाव

5.4.1 समाजवाद के पतन की पृष्ठभूमि

5.4.2 भूमंडलीकरण

5.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

5.6 सारांश

5.7 मुख्य शब्दावली

5.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

5.9 सहायक पाठ्य सामग्री

परिचय

टिप्पणी

प्रस्तुत पुस्तक 'बीसवीं सदी का विश्व' विश्वविद्यालय द्वारा निर्धारित एम.ए. इतिहास (उत्तरार्द्ध) पाठ्यक्रम के अनुरूप लिखी गई है।

आज का युग वह युग नहीं है जो द्वितीय विश्वयुद्ध या प्रथम विश्वयुद्ध से पहले था। विश्व युद्धों ने विश्व के मानव समाज पर गहरा प्रभाव डाला है। आधुनिक विश्व के उदय के साथ–साथ विश्व में प्रत्येक वस्तु आधुनिकता की ओर बढ़ती गई। इस आधुनिकता में औद्योगिक धंधों के साथ–साथ समाज का आधुनिकीकरण भी सम्मिलित है। बीसवीं सदी के उदय से विश्व में नई–नई क्रांतियां होने लगी। इन क्रांतियों ने समाज में कई क्रांतिकारी परिवर्तनों को जन्म दिया जिससे मानव जीवन का प्रत्येक पक्ष प्रभावित हुआ चाहे वह सामाजिक हो या राजनीतिक, आर्थिक हो या औद्योगिक। 15वीं से 18वीं शताब्दी में यूरोप में आए परिवर्तनों का शेष विश्व पर भी प्रभाव पड़ा। रूस में होने वाली क्रांति के कारण रूस की सामाजिक व्यवस्था में बदलाव आया। बीसवीं सदी के भारत में सर्वाधिक प्रभावित क्षेत्र रहा–उपनिवेशवाद। आधुनिक विश्व में जनचेतना से पनपी कुछ विशेष क्रांतियां हुई। चीन में साम्यवादी क्रांति हुई और साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन हुए। शीत युद्ध की वैचारिक शुरुआत हुई और शीत युद्ध काल में गुटनिरपेक्ष आंदोलन की अपनी सार्थकता थी।

इस पुस्तक में बीसवीं शताब्दी में बदलते विश्व का विस्तृत आकलन प्रस्तुत किया गया है। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से पुस्तक को पांच इकाइयों में समायोजित किया गया है। प्रत्येक इकाई के प्रारंभ में विषय का विश्लेषण करने से पहले उसके निहित उद्देश्यों को स्पष्ट कर दिया गया है। इकाई के बीच–बीच में 'अपनी प्रगति जांचिए' के माध्यम से विद्यार्थियों की योग्यता को परखने के लिए प्रश्न दिए गए हैं।

पहली इकाई 19वीं सदी की विरासत पर केंद्रित है। जिसके अंतर्गत इंग्लैंड, फ्रांस, जर्मनी और जापान में राष्ट्रवाद, पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के विकास का उल्लेख किया गया है।

दूसरी इकाई दो विश्वयुद्धों के मध्य विश्व पर केंद्रित है जिसमें राष्ट्रसंघ की कार्यप्रणाली एवं संयुक्त सुरक्षा, राष्ट्रीय आंदोलन, उपनिवेशवाद तथा जर्मनी, इटली एवं जापान में अधिनायक तंत्र के विकास को समझाया गया है।

तीसरी इकाई द्वितीय विश्वयुद्ध एवं नवीन राजनीतिक परिदृश्य पर आधारित है जिसमें द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारंभ, कारण, राष्ट्रीय आंदोलन तथा उपनिवेशवाद का उल्लेख किया गया है।

चौथी इकाई शीत युद्ध और इसके प्रभाव पर केंद्रित है। जिसमें शीत युद्ध का वैचारिक एवं राजनैतिक आधार, समझौते एवं संधियां, तनाव एवं प्रतिस्पर्द्धा को समझाया गया है।

पांचवीं इकाई प्रगति का युग और समाजवादी ब्लॉक का विघटन है जिसमें समाजवादी ब्लॉक के विघटन की जानकारी तथा द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात प्रगति के युग से अवगत कराया गया है।

टिप्पणी

प्रस्तुत पुस्तक में बीसवीं सदी से संदर्भित विविध विषयों का सांगोपांग अध्ययन किया गया है आशा है, इन इकाइयों के अध्ययन से छात्र–छात्राएं विषय को सुगमतापूर्वक समझ सकेंगे। हमें पूर्ण विश्वास है कि यह पुस्तक छात्र–छात्राओं की जिज्ञासा को शांत कर उनका ज्ञानवर्द्धन करेगी।

इकाई 1 19वीं सदी की विरासत एवं 1919 तक का विश्व परिदृश्य

टिप्पणी

संरचना

1.0 परिचय
1.1 उद्देश्य
1.2 19वीं सदी की विरासत : ब्रिटेन (यू.के), फ्रांस, जर्मनी और जापान में राष्ट्रवाद, पूंजीवाद और साम्राज्यवाद का विकास
1.2.1 ब्रिटेन में राष्ट्रवाद एवं पूजीवाद का विकास
1.2.2 फ्रांस में राष्ट्रवाद एवं पूंजीवाद का विकास
1.2.3 जर्मनी में राष्ट्रवाद एवं पूंजीवाद का विकास
1.2.4 जापान में राष्ट्रवाद एवं पूंजीवाद का विकास
1.2.5 ब्रिटेन (यू.के.), फ्रांस, जर्मनी और जापान में साम्राज्यवाद का विकास
1.3 प्रथम विश्व युद्ध का प्रारंभ, शांति समझौता एवं इसके दूरगामी परिणाम
1.3.1 प्रथम विश्व युद्ध के कारण
1.3.2 प्रथम विश्व युद्ध के परिणाम
1.3.3 शांति समझौते एवं इनके दूरगामी परिणाम
1.4 रूस की क्रांति : समाजवादी राज्य की स्थापना, राजनीतिक एवं आर्थिक स्वरूप और पश्चिमी देशों में इसका प्रभाव एवं प्रतिक्रियाएं
1.4.1 रूस की क्रांति के कारण
1.4.2 बोल्शेविक क्रांति की प्रमुख घटनाएं एवं उनके प्रभाव
1.4.3 रूस में समाजवादी राज्य की स्थापना
1.4.4 रूसी क्रांति का पश्चिमी देशों पर प्रभाव एवं प्रतिक्रियाएं
1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
1.6 सारांश
1.7 मुख्य शब्दावली
1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

1.0 परिचय

सोलहवीं शताब्दी में, यूरोप में, कुछ शक्तिशाली तानाशाही राजतंत्रों का उदय हुआ जिनमें यू.के., फ्रांस, जर्मनी और जापान प्रमुख थे। अधिकांश राज्य अनेकों सामंती राजाओं के अधीन छोटे–छोटे टुकड़ों में बंटे हुए थे। अपने वर्चस्व को बनाए रखने के लिए उनके बीच में अनवरत युद्ध चलते रहते थे। यद्यपि कुछ राष्ट्र–राज्य, शक्तिशाली राजतंत्रों के अंतर्गत संगठित थे, तथापि वे क्षेत्रीय भाषाओं, धर्म एवं जातीय आधार पर अभी तक बंटे हुए थे। उनकी एकता मात्र राजनीतिक थी। पूंजीवादी विकास एवं उपनिवेशों की प्राप्ति की होड़ में, इन राष्ट्रों ने मध्यम वर्ग के नेतृत्व में राष्ट्रवाद की अवधारणा को मजबूत किया। अठारहवीं सदी के मध्य इंग्लैंड में प्रारंभ हुई औद्योगिक क्रांति ने राष्ट्रवादी आंदोलन को आधार प्रदान किया। उन्नीसवीं सदी में यू.के., फ्रांस, जर्मनी और जापान में यह प्रक्रिया पूर्ण हुई। पूंजीवाद आधुनिक अर्थव्यवस्था की सर्वाधिक महत्वपूर्ण विशेषता मानी गयी। उन्नीसवीं शताब्दी के छठे दशक से ही

टिप्पणी

पूंजीवाद चर्चा का विषय बना हुआ है। मूलतः पूंजीवाद औद्योगिक क्रांति की उपज है। उन्नीसवीं सदी के अंत तक पूंजीवाद अपने विकास की चरम सीमा पार कर साम्राज्यवाद में परिवर्तित हो गया। पूंजीवादी राष्ट्रों ने उपनिवेशों में अपनी सत्ता स्थापित करके उनके प्राकृतिक संसाधनों का प्रयोग करके अपने राष्ट्रों के वैभव समृद्धि को बढ़ाया तथा पूंजीवाद से साम्राज्यवाद में प्रवेश किया। यूरोपीय सभ्यता प्रारंभ से ही प्रसारोन्मुखी रही है। पंद्रहवीं–सोलहवीं शताब्दियों में सागर–पार के देशों–महादेशों की खोजों के फलस्वरूप औपनिवेशिक साम्राज्यों का युग आया। इनको लेकर समस्त सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों में संघर्ष होता रहा। इसके फलस्वरूप संपूर्ण अमेरिकी गोलार्द्ध पर यूरोप का कब्जा हो गया। नेपोलियन की पराजय के फलस्वरूप यूरोप में तत्काल के लिए एक ही औपनिवेशिक शक्ति बच गयी थी वह थी ब्रिटेन। साम्राज्यवाद का उद्‌भव व्यापारिक, औद्योगिक, वित्तीय, वैज्ञानिक राजनीतिक, पत्रकारिताजन्य, बौद्धिक, धार्मिक तथा मानवतावादी अनुप्रेरणाओं का सम्मिलित परिणाम था।

इस इकाई में 19वीं सदी की विरासत का विश्लेषण विस्तारपूर्वक किया गया है।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- 19वीं सदी की विरासत को जान पाएंगे;
- ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी और जापान में राष्ट्रवाद, पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के विकास का विश्लेषण कर पाएंगे;
- प्रथम विश्व युद्ध का प्रारंभ, कारण और उसके परिणामों को जान पाएंगे;
- शांति समझौता एवं इसके दूरगामी प्रभावों का आकलन कर पाएंगे।
- रूस की क्रांति, समाजवादी राज्य की स्थापना, राजनीतिक एवं आर्थिक स्वरूप और पश्चिमी देशों में इसके प्रभाव एवं प्रक्रियाओं का मूल्यांकन कर पाएंगे।

1.2 19वीं सदी की विरासत : ब्रिटेन (यू.के), फ्रांस, जर्मनी और जापान में राष्ट्रवाद, पूंजीवाद और साम्राज्यवाद का विकास

उन्नीसवीं सदी के समापन एवं बीसवीं सदी के आगमन तक, यूरोप अपनी शक्ति एवं प्रभाव के सर्वोतम शिखर तक पहुंच चुका था। इस सदी में, पूंजीवादी राष्ट्रों ने उपनिवेशों में अपनी सत्ता स्थापित कर उनके प्राकृतिक संसाधनों का जमकर दोहन कर, अपने राष्ट्रों के वैभव एवं समृद्धि को बढ़ाया एवं पूंजीवाद से साम्राज्यवाद में प्रवेश किया। अब यूरोप विश्व भर में वस्तुओं के उत्पादन का केन्द्र था। यह विश्व बाजार की उपभोग की वस्तुओं का केंद्र था, और एक सीमा तक यूरोप विश्व राजनीति का भी संचालक या, मास्टर बन चुका था।

अपनी आर्थिक एवं तकनीकी सर्वोच्चता के अतिरिक्त यूरोपीय राष्ट्रों ने साम्राज्यवाद का विश्व में प्रसार किया एवं लेटिन अमेरिका (जो 1825 के आस–पास स्वतंत्र हो चुका था), एशिया एवं अफ्रीका में अपने औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित किए। इस प्रतिस्पर्धा के दौरान स्थानीय शासकों पर दबाव डाले एवं विवादित प्रदेशों को, उपनिवेशों,

टिप्पणी

प्रोटेक्टोरेट एवं प्रभाव क्षेत्रों में बांटा। इस लूट–खसोट की प्रक्रिया के दौरान, इन्होंने स्थानीय जनता की जरा भी परवाह किए बगैर, इन पर अत्याचार किया एवं अपनी गुलामी कबूलने के लिए उन्हें विवश किया। उनके सिद्धांत के अनुसार ईश्वर ने इन गोरी चमड़ी वालों को यह दायित्व सौंपा है कि, वे जाएं और विश्व की 'असभ्य' जातियों, जिसमें भारत भी शामिल था, को सभ्य बनाएं'। अपनी जाति की सर्वोच्चता में दृढ़ विश्वास कि, वे ही अकेले विश्व के पिछड़े राष्ट्रों पर राज करने योग्य हैं। गिलबर्ट मूरे का कथन है–

"हम राष्ट्रों के सर्वोत्कृष्ट लोग हैं, उनके फल हैं, एक मात्र राष्ट्र (इग्लैंड) जो उदार है और न्यायप्रिय है। हम सर्वोपरि हैं एवं दूसरे लोगों पर राज करने के योग्य हैं, हमें अच्छी तरह मालूम है कि, उन्हें बिना किसी कमजोरी एवं अत्याचार के अपनी सही औकात में कैसे रखा जाए। विदेशों में हमारी सत्ता की उत्कृष्टता, हमारे अन्वेषकों, धर्म प्रचारकों, हमारे प्रशंसकों एवं सैनिकों की लिखी पुस्तकों से स्पष्ट सिद्ध होती है और सभी इस बात से सहमत हैं कि, हमारी दासता जो भी स्वीकारता है, उनके लिए यह पवित्र वरदान है।"

राष्ट्रवाद : राष्ट्र शब्द का जन्म लेटिन भाषा शब्द नेशों से हुआ है। यह सामूहिक जन्म अथवा वंश के भाव को व्यक्त करता है। आधुनिक काल में इसका अर्थ राष्ट्रीयता (Nationality) शब्द का समरूपी होने पर 'राष्ट्र' शब्द किसी राष्ट्रीयता की सामान्य राजनीतिक चेतना का द्योतक है।

ए. जिम्मर्न के अनुसार, 'राष्ट्रवाद किसी सुनिश्चित स्वदेश के साथ जुड़ी विचित्र तीव्रता, घनिष्ठता तथा सम्मान की भावना का संयुक्त रूप है' राष्ट्र (Nation) का अर्थ लोगों के समूह से है– जिनकी एक जाति, एक इतिहास, एक संस्कृति, एक भाषा और एक निश्चित भू–भाग हो, राष्ट्रवाद उस विश्वास को कहते हैं, जिसके द्वारा प्रत्येक राष्ट्र को यह अधिकार है कि, जिस भू–भाग पर वे सदियों से रहते हैं, उस पर वे स्वतंत्र रूप से शासन कर सकें।

राष्ट्रीयता मनोवैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक घटकों के उस समूह को दिया गया नाम है, जो राष्ट्र को एकीकृत करने वाले सुसंगत सिद्धांत प्रस्तुत करते हैं। राष्ट्रवाद को मातृभूमि से प्रेम या देश भक्ति का समरूपी माना गया है। यह देश के लिए मर मिटने की भावना का नाम है।

ई. बार्कर के अनुसार, 'राष्ट्र किसी प्रदेश में रहने वाले लोगों का समूह है, जो विभिन्न नस्लों से संबंधित होने पर भी सांझे इतिहास की धारा में अर्जित विचारों व भावनाओं में समान भागीदारी रखते हैं। सांझे विचारों और भावनाओं के अतिरिक्त, सामान्य इच्छा भी रखते हैं और उसके अनुरूप उस इच्छा की अभिव्यक्ति के लिए अपने अलग राष्ट्र का निर्माण करते हैं अथवा उसके निर्माण का प्रयास करते हैं।'

राष्ट्रवाद के आवश्यक तत्व

राष्ट्रवाद के अनिवार्य तत्व निम्नांकित हैं–

(अ) सामान्य जाति का रक्त संबंध

सामान्य जाति, नस्ल या रक्त संबंध के घटक से लोग सरलतापूर्वक आपस में बंध जाते हैं। हिटलर ने 1930 के दशक में जर्मन राष्ट्र को अपनी रगों में 'आर्यों का रक्त' रखने वाले नोर्दिकों के राज्य के रूप में महिमामण्डित करने हेतु इस तत्व का आह्वान किया।

टिप्पणी

यहूदियों एवं अन्य नस्लों को 'घटिया रक्त वाले' लोग कहकर, उन्हें तुच्छ समझकर, उनकी निन्दा करने तथा जर्मन जाति को विशुद्ध 'आर्य रक्त' वाले लोग बताकर उनका गौरवीकरण करने के नाम पर नाजीवाद द्वारा नस्लों को तबाह करने की कार्यवाहियों की, संपूर्ण विश्व में निंदा की गयी।

(ब) समान धार्मिक विश्वास

लोगों को एकबद्ध करने में समान धर्म ने भी अहम भूमिका निभाई है। आज भी, विश्व के मुस्लिम राष्ट्रों में समान धर्म एक प्रबल शक्ति है। अपने धर्म की शक्ति से ही यहूदी एकजुट हैं। अधिकांश राष्ट्र धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत पर आधारित हैं, अतः अब इसका महत्व पहले से कम हो गया है। भारत इसका सबसे अच्छा उदाहरण है।

(स) भाषागत एकजुटता

फ्रांस और इग्लैंड की भाषा राष्ट्रीय एकजुटता का सबसे अच्छा उदाहरण है। विश्व के अधिकांश राष्ट्र भाषा के आधार पर गठित हैं। प्रत्येक राष्ट्र अपनी भाषा पर गर्व करता है। भाषा लोगों के बीच आपसी संपर्क का माध्यम है। किसी राष्ट्र के लोग अपने विचारों व संस्कृति को साहित्य, देशभक्ति के गानों के रूप में अभिव्यक्त करते हैं। भाषा का प्रत्येक शब्द उन संबंधों का घोतक है, जो भावनाओं को स्पर्श करते हैं तथा विचारों को प्रेरित करते हैं।

(द) इतिहास तथा संस्कृति की सभ्यता

समान मनोवैज्ञानिक चिन्तन शैली, साथ–साथ सोचने, काम करने, राष्ट्र पर आए कष्ट को एक साथ सहने एवं समृद्धि को एक साथ बांटने के तथ्य से भी प्रभावित होती है। राष्ट्र के लिए बलिदान देने वालों के लिए स्मारक बनाने में गर्व का अनुभव करते हैं, अपने इतिहास की परंपराओं को अमर बनाने के लिए वे उत्सवों और त्यौहारों का आयोजन करते हैं। हिन्दू दीवाली, होली मनाकर एवं ईसाई क्रिसमस मनाकर अपने एक होने का एहसास महसूस करते हैं।

समान राजनीतिक आकांक्षाएं

जब किसी राष्ट्र के लोग विदेशी नियंत्रण में रहते हैं तो वे एकजुट होकर उसके विरुद्ध संघर्ष कर उससे मुक्ति चाहते हैं। अंततः वे एक स्वतंत्र राष्ट्र की स्थापना करते हैं। उन्नीसवीं सदी के शुरू में नेपोलियन ने कई राष्ट्रों को अपने अधीन कर लिया। उसने इन राष्ट्रों में तीव्र जनविरोध को जन्म दिया। जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी, इटली, पोलैण्ड, रूस और स्पेन में राजनेताओं, कवियों तथा अन्य वक्ताओं ने राष्ट्रवाद का आह्वान किया।

राष्ट्रवाद, पूंजीवाद और साम्राज्यवाद की अवधारणाएं परस्पर पूरक हैं, इसलिए ये परस्पर अंतर्संबंधित हैं तथा ये तीनों अवधरणाएं एक दूसरे की पूरक हैं। विद्वानों का मानना है कि, यूरोप में पंजीवाद के विकास का मुख्य कारण राष्ट्रवाद था। ग्रीनफील्ड का मानना है कि, ब्रिटेन, फ्रांस, जर्मनी और जापान में आर्थिक विकास का कारण, 16वीं सदी में राष्ट्रवाद था। राष्ट्रवाद ने कभी खत्म न होने वाली आर्थिक प्रतिस्पर्धा के लिए इन देशों को मजबूर किया। यह राष्ट्रवाद ही था, जिसने इन देशें में पूंजीवादी विकास को तेज किया। राष्ट्रवाद के कारण ही, तकनीक की क्रांति हुई और आगे चलकर

पूंजीवाद साम्राज्यवाद में परिवर्तित हुआ। विनाशकारी युद्धों को भी इसने प्रोत्साहित किया।

1.2.1 ब्रिटेन में राष्ट्रवाद एवं पूंजीवाद का विकास

टिप्पणी

ब्रिटेन न सिर्फ यूरोप का, अपितु विश्व का सर्वाधिक सम्पन्न, प्रभावशाली और सबसे शक्तिशाली राष्ट्र रहा है। इसके साम्राज्य में सूर्य कभी अस्त नहीं होता था। राष्ट्रवाद का जन्म भी सबसे पहले इंग्लैंड में ही हुआ था। इसके बाद राष्ट्रवाद की लहर यूरोप के अन्य देशों में फैली। ब्रिटेन में राष्ट्रवाद, उसकी औद्योगिक उपलब्धियों के कारण उत्पन्न राष्ट्रीय गौरव में देखा जा सकता है ब्रिटेन में राष्ट्रवाद के विकास का इतिहास, यूरोप के अन्य राष्ट्रों से भिन्न रहा है। यहां राष्ट्रवाद का जन्म क्रांति का परिणाम नहीं था, अपितु यह एक लम्बे समय से चली आ रही प्रक्रिया का परिणाम था।

ग्रेट ब्रिटेन मुख्यतः चार राष्ट्रों का सम्मिलित नाम था, ये थे – इंग्लैंड, वेल्स, स्कॉटलैण्ड और आयरलैण्ड। इनमें निवास करने वाली विभिन्न जातियों की अपनी भिन्न–भिन्न भाषाएं, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक परम्पराएं थी। लेकिन धीरे–धीरे पूंजीवादी विकास के कारण ब्रिटेन राष्ट्र की राष्ट्रीय सम्पदा और शक्ति में अपार वृद्धि हुई, जिसके प्रभाव का विस्तार यहां स्थित अन्य राष्ट्रों में हुआ। ब्रिटिश राष्ट्रवाद के विकास में वहां की संसद की मुख्य भूमिका रही है। 1707 में संसद ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसका नाम 'इंग्लैंड और स्कॉटलैण्ड के संघ का एक्ट' था। इसके परिणामस्वरूप यूनाइटेड किंगडम ऑफ ग्रेट ब्रिटेन का निर्माण किया गया। इस प्रकार, इंग्लैंड की संसद में अंग्रेज प्रतिनिधियों का वर्चस्व था।

ब्रिटिश राष्ट्रवाद का विकास, स्कॉटलैण्ड की भिन्न संस्कृति और राजनीतिक संस्थाओं को धीरे–धीरे नष्ट करके वहां स्वयं की भाषा, संस्कृति और राजनीतिक संस्थाओं को बढ़ावा देकर किया गया। आयरलैण्ड में भी यही नीति अपनायी गयी, और उसकी अपनी अलग पहचान का अंत भी कुछ इसी प्रकार से ही हुआ। आयरलैण्ड धार्मिक उत्पीड़न का शिकार अधिक रहा है। संपूर्ण राष्ट्र मुख्यतः रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेंट इन दो मुख्यतः परस्पर विरुद्ध धार्मिक संप्रदायों में बंटा हुआ था। इंग्लैंड के राजा मुख्यतः प्रोटेस्टेंट चर्च के अनुयायी थे। उन्होंने वहां के प्रोटेस्टेंट समुदाय को, वहां के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में, प्रभाव स्थापित करने में सहायता की और सदियों से वहां स्थापित कैथोलिक प्रभाव को समाप्त करने का प्रयास किया। कैथोलिक अनुयायियों को धार्मिक क्रिया–कलापों से वंचित करके उन्हें टाईथ (धार्मिक कर) लेने पर भी रोक लगा दी।

कैथोलिक चर्च के संप्रदाय के लोगों की स्थिति अत्यंत दयनीय हो गई और उन्होंने इंग्लैंड के विरुद्ध एक संगठित आंदोलन शुरू किया। लेकिन इंग्लैंड ने इस आंदोलन को भारी सेनाएं भेजकर नष्ट कर दिया। उत्पीड़न के शिकार लोगों ने वहां से पलायन करना शुरू कर दिया और वे मुख्य रूप से अमेरिका चल गए। वहां जाकर उन्होंने धार्मिक स्वतंत्रता की खुली हवा में सांस ली। अमेरिका में भी इंग्लैंड की संस्कृति एवं राजनीतिक संस्थाओं की स्थापना करके राजनीतिक रूप से आयरलैण्ड वासियों को इंग्लैण्ड वासियों के अधीन करके वहां भी कई जयादतियां की।

टिप्पणी

आयरलैण्ड ने अपनी स्वाधीनता की विश्व में सबसे लम्बी लड़ाई लड़ी है और 1927 में दक्षिणी आयरलैण्ड ने आजादी प्राप्त की, लेकिन उतरी आयरलैण्ड अभी भी इंग्लैंड के अधीन है। अभी भी आयरिश रिपब्लिकन आर्मी वहां की पूर्ण आजादी के लिए संघर्ष कर रही है। इस प्रकार ब्रिटेन के राष्ट्रवाद के विकास का इतिहास यूरोप के अन्य राष्ट्रों से भिन्न रहा है। विश्व के अपने अन्य उपनिवेशों में भी, राष्ट्रवाद के विकास में इंग्लैंड की संस्थाओं का बहुत बड़ा योगदान रहा है।

पूंजीवाद का विकास

ब्रिटेन में पूंजीवाद का विकास 16वीं शताब्दी में प्रारंभ हुआ था। 1492 में कोलम्बस द्वारा अमेरिका की खोज के बाद, धीरे–धीरे इन राष्ट्रों ने जिनमें स्पेन, पुर्तगाल, फ्रांस और इंग्लैंड अग्रणी थे, उस नई दुनिया की प्राकृतिक सम्पदाओं से अपने–अपने राष्ट्रों की समृद्धि को बढ़ाया। दक्षिणी अमेरिका में विशेष रूप से, सोने–चांदी के अपार भण्डार होने से, पूंजी संग्रहण के लिए आवश्यक भौतिक संसाधन व्यापक मात्रा में उपलब्ध थे। अब वस्तुओं के आदान–प्रदान की जगह मुद्रा से भुगतान होने लगा जिसने धन की बचत का महत्व बढ़ा दिया।

दूसरा महत्वपूर्ण परिवर्तन सामंती प्रथा द्वारा व्यापार पर लगाई गई अनेकों पाबंदियों का हटाया जाना था जिसने पूंजीवादी संबंधों के विकास में अनेकों नवीन व्यापारिक मार्ग खोले और पूंजी निवेश की शुरुआत हुई। 17वीं सदी में कोई विशेष कम्पनियां नहीं थी, किंतु 19वीं सदी आते–आते विदेशी व्यापार का महत्व बढ़ गया तथा इसका राष्ट्रीय आय में काफी बड़ा हिस्सा था।

बड़ी–बड़ी विदेशी व्यापारिक कम्पनियों का गठन किया गया, जिनमें प्रसिद्ध हैं– 'ईस्ट इंण्डिया कम्पनी', 'रशिया कम्पनी', 'हडसन कंपनी' आदि। इन कंपनियों को छोटी लागत के साथ विश्व बाजारों में उतारा गया। इन कम्पनियों द्वारा हजारों गुना मुनाफा हुआ और इस प्रकार आंतरिक संसाधनों की वृद्धि के कारण ब्रिटेन में सामूहिक स्टॉक प्रथा प्रारंभ की गई।

सोलहवीं सदी के अंत तक अनेकों औद्योगिक इकाइयों की स्थापना की गई। ये इकाइयां खदानों, जल प्रदाय और नए विकसित शहरों के जल–निकास व्यवस्था तक सीमित थी। आगे चलकर, बैंकिंग व्यवस्था, सामूहिक स्टॉक पूंजी के लिए एक सफल शुरुआत थी। 17वीं सदी के अंत तक, ये सामूहिक स्टॉक कंपनियां तेजी से बढ़ रहीं थीं। 1695 में इंग्लैंड की औद्योगिक पूंजी 3 करोड़ 30 लाख पौण्ड थी। इस प्रकार स्टॉक पूंजी कुल पूंजी का 12 प्रतिशत थी।

औद्योगिक क्रांति

औद्योगिक क्रांति ब्रिटेन में ही आरंभ होने का कारण यह था कि व्यापार व्यवसाय एवं समुद्र पार के लोगों का आर्थिक दोहन इंग्लैंड के द्वारा सबसे ज्यादा किया गया। यदि 16वीं, 17वीं सदियों में हालैण्ड के 'भेड़ियों' ने समुद्री व्यापार पर अपना एकाधिकार स्थापित कर रखा था, तो 18वीं सदी में, इंग्लैंड के 'समुद्री कुत्तों' ने उन्हें व्यापारिक मार्गो से बाहर भगा दिया। ब्रिटेन के व्यापार के लिए आगे चलकर यह नाम दिया गया था।

ब्रिटेन में 18वीं सदी के मध्य आरंभ हुई औद्योगिक क्रांति सदी के अन्त व 19वीं सदी के शुरू में सभी आर्थिक क्षेत्रों में फैल गयी। आगे चलकर यह क्रांति कृषि उद्योगों,

टिप्पणी

खदानों और परिवहन क्षेत्रों में हुई तथा इसका ब्रिटेन के सामाजिक और आर्थिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा। यही परिवर्तन, 19वीं सदी में यूरोप के अन्य राष्ट्रों, उत्तरी अमेरिका और फिर धीरे–धीरे पूरे विश्व में आए। 18वीं सदी के अन्त तक का काल एक संक्रमण का काल था। हस्त–उत्पादन से मशीनी उत्पादन की ओर, यह एक त्वरित प्रक्रिया थी। यह प्रक्रिया वस्त्र उद्योग में सबसे पहले प्रारंभ हुई। इसके बाद लौह और कोयला उद्योग का मशीनीकरण हुआ। व्यापार के क्षेत्र में यह क्रांति नहरों के निर्माण, सड़कों का विस्तार एवं रेल यातायात के शुरू होने से हुई। जेम्स वाट के 'स्टीम इंजिन' के आविष्कार ने इस दिशा में सबसे अधिक योगदान दिया।

भाप शक्ति का आविष्कार औद्योगिक क्रांति की सबसे बड़ी देन थी। भाप शक्ति के लिए कोयले की मुख्य भूमिका थी, इसके कारण पानी में पहिए का प्रयोग एवं स्वत्र की मशीनों में भाप शक्ति के प्रयोग से उत्पादन में बहुत अधिक वृद्धि हुई। आगे भाप शक्ति अन्य यूरोपीय देशों में भी पहुंची, फिर 19वीं सदी के प्रारंभ में, अमेरिका में और पूरे विश्व में फैली, जिसने औद्योगिक क्रांति का विस्तार पूरे विश्व में किया। इस क्रांति का आर्थिक और सामाजिक जीवन पर प्रभाव आश्चर्यजनक था। 1850 के बाद औद्योगिक क्रांति का दूसरा चरण प्रारंभ होता है, जब भाप शक्ति के द्वारा समुद्री जहाजों का इंजन विकसित किया गया और फिर रेल इंजन भाप शक्ति से दौड़ने लगे। इसने पूंजीवादी विकास को तीव्र गति से आगे बढ़ाया जिससे राष्ट्रीय उत्पादन में कई गुना वृद्धि हुई। औद्योगिक क्रांति ने, ब्रिटेन में, पूजीवादी विकास में बहुत बड़ी भूमिका निभाई।

वस्त्र उद्योग

इस क्षेत्र में दो आविष्कार हुए। वस्त्र उद्योग में रिचर्ड आर्कराईट की सूत कातने की मशीन, जेम्स हारग्रीव्स तथा सेम्युएल क्रोम्पटन की कताई मशीन (जैनी 1765) और इन दोनों को मिलाकर बनाई गई कताई मशीन (मूले) जिसे 1765 में पेटेन्ट किया गया।

1783 में इस पर से पेटेंट हटा दिया गया। पेटेंट हटते ही इंग्लैंड में अनेकों कपड़ा मिलों की स्थापना हुई और मेनचेस्टर शहर इनका केन्द्र बन गया। इससे कई नए शहरों का जन्म हुआ।

भाप शक्ति

भाप शक्ति का सबसे पहले प्रयोग इंग्लैंड में थोमस सेवरी (Thomas Savery) 1698 तथा थोमस न्यूकॉमेन (Thomas Newcomen) 1705 में प्रथम भाप इंजिनों में किया गया था, जिनका प्रयोग कोयला खानों में से पानी बाहर निकालने में किया जाता था। 1760 के दशक में जेम्स वाट (1736–1819) ने उपरोक्त इंजिन का विकसित रूप तैयार किया, जो कोयला खदानों से तीन गुना अधिक पानी निकालने की क्षमता रखता था।

1782 में, जेम्स वॉट ने इसे और विकसित करके अत्यधिक शक्तिशाली बनाया और इसे कपड़ा बुनने में भी प्रयोग किया जाने लगा। इस इंजिन में पानी के स्थान पर कोयला प्रयोग में लाया गया, इससे कपड़ा मिलें कहीं भी स्थापित की जा सकती थीं। आगे चलकर भाप शक्ति का प्रयोग दूसरे उद्योगों में भी बड़े पैमाने पर किया जाने लगा, जिससे उत्पादन तेजी से और बड़ी मात्रा में होने लगा। मुख्य रूप से लोहा उद्योग में क्रांति आई। दुनिया की पहली रेल लाईन 1830 में इंग्लैंड में बनी।

धीरे–धीरे क्रांति अन्य क्षेत्रों में फैली जैसे– कृषि, परिवहन, दूरसंचार और तकनीकी के क्षेत्रों में फलतः विश्व का प्रथम औद्योगिक राष्ट्र बन गया।

टिप्पणी

औद्योगिक पूंजीवाद

पूंजीवादी विकास का प्रथम चरण व्यापार पूंजीवाद और वाणिज्यवाद था। द्वितीय चरण औद्योगिक पूंजीवाद था। भौगोलिक खोजों के बाद व्यापारवाद और वाणिज्यवाद शुरू होता है तथा 18वीं सदी के मध्य औद्योगिक क्रांति तक प्रचलन में रहा।

18वीं सदी के मध्य तक वाणिज्यवाद का इंग्लैंड में ह्रास हो चुका था, जब वाणिज्यवाद के सिद्धातों को, एडम स्मिथ के नेतृत्व में, नवीन आर्थिक सिद्धांतों ने चुनौती दी। वाणिज्यवाद के सिद्धातों का मानना था कि विश्व की संपदा निश्चित एवं स्थित है।

इस पूंजी का मशीनों में निवेश किया गया। औद्योगिक पूंजीवाद के द्वारा फैक्टरी उत्पादन के विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ। श्रम–विभाजन इसकी मुख्य विशेषता थी और अन्ततः विश्व स्तर पर पूंजीवादी उत्पादन पद्धति का वर्चस्व स्थापित हुआ। 19वीं सदी के अंतिम चरण में ब्रिटेन एडम स्मिथ के 'लेज्येस फेयर' (Lassisses-Faire) 'स्वतंत्र छोड़ दो' के सिद्धांत का क्लासिकल उदाहरण था। पूंजीवाद को स्वतंत्र– कम से कम सरकारी नियंत्रण से विकसित होना चाहिए।

1840 में अन्न कानून और जहाजरानी एक्ट (Navigation Act) को समाप्त कर दिया गया। एडम स्मिथ और डेविड रिकार्डो ने इस उदाहरण को स्वीकार किया जिसने, आपसी पूंजीवादी प्रतिस्पर्धा को बढ़ाया और बाजार अर्थव्यवस्था का विकास किया। धीरे–धीरे पूंजीवाद अपनी उन्नति की चरम सीमा पार कर गया और 19वीं सदी के अन्त तथा 20वीं सदी के प्रारंभ में साम्राज्यवाद में परिवर्तित हो गया।

1.2.2 फ्रांस में राष्ट्रवाद एवं पूंजीवाद का विकास

राष्ट्रवाद का जन्म और विकास यूरोप में सबसे पहले ब्रिटेन में हुआ। लेकिन आधुनिक राष्ट्रवाद का जन्म, फ्रांस की क्रांति (1989–98) से होता है। फ्रांसीसी क्रांतिकारियों का ऐसा मानना था कि संपूर्ण राष्ट्र महत्वपूर्ण है और उसमें रहने वाले प्रत्येक नागरिक को यह अधिकार होना चाहिए कि, वह किस प्रकार शासन चाहता है, राष्ट्र, उनके राजा, चर्च और सभ्रांत वर्ग से अधिक महत्वपूर्ण होता है। फ्रेंच नागरिक को उसके वर्ग और जीवन में उसकी स्थिति से नहीं देखा जाना चाहिए, बल्कि उसको फ्रांस राष्ट्र का एक हिस्सा समझा जाना चाहिए। आगे चलकर एक फ्रांसीसी सेना का निर्माण किया गया और यह आशा की गई कि, फ्रांस की सीमा का विस्तार होना चाहिए।

इस प्रकार फ्रांसीसी क्रांति ने आधुनिक राष्ट्रीय राज्यों के निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया। यूरोप के उदार बुद्धिजीवियों ने परम्परागत राजतंत्रीय व्यवस्था को चुनौती दी और आधुनिक राष्ट्रवाद के विकास को प्रोत्साहित किया, जो यूरोप के मानचित्र के नए निर्माण के लिए वचनबद्ध थे।

फ्रांसीसी क्रांति में अमूर्त राष्ट्रवाद ने अंत में व्यावहारिक एवं स्पष्ट रूप प्राप्त किया। फ्रांसीसी क्रांतिकारियों ने ऐसे अनेक कदम उठाए जिनसे फ्रांसीसी जनता में सामूहिक पहचान बनाई जा सके। संविधान में एक मातृभूमि और नागरिकता के भाव को, सामूहिक समुदाय के अंतर्गत समान अधिकारों को प्रोत्साहन दिया गया।

टिप्पणी

फ्रांस में, सामंतवाद के स्थान पर पूंजीवादी व्यवस्था फ्रांसीसी क्रांति द्वारा स्थापित की जा रही थी। सामंतवादी फ्रांस अनेकों रियासतों में विभाजित था, जिनमें अपने–अपने नियम कानून चलते थे। विविधताएं पूंजीवाद के विकास में बाधाएं थीं। सामंतवादी व्यवस्था अब खराब हो चुकी थी, पूंजीवादी व्यवस्था उसे सत्ता से बाहर निकालकर स्वयं को स्थापित करना चाहती थी। यह इतिहास का नियम है कि सत्ता में वही वर्ग राज करता है, जिसके हाथ में उत्पादन के साधन हों। अतः अब उत्पादन के साधन पूंजीपतियों के हाथ में थे और फ्रांसीसी क्रांति, इन व्यापारियों–पूंजीपतियों के द्वारा, जनता को अपने पक्ष में करते हुए, सत्ता में आने का प्रयास था, जिससे कि वे अपने हित में सारे नियम–कानून और संविधान बना सकें ताकि, पूंजीवादी व्यवस्था लगातार उन्नति कर सके। अतः फ्रांस में पूंजीपतियों ने केन्द्रीय प्रशासन व्यवस्था स्थापित की और जगह–जगह लगने वाले आंतरिक करों को समाप्त करके संपूर्ण राष्ट्र में, एक समान नाप–तौल व्यवस्था लागू की तथा पूरे राष्ट्र में फ्रांसीसी भाषा को प्रोत्साहित किया।

नेपोलियन और राष्ट्रवाद

राष्ट्रवाद देश के प्रति लोगों में समर्पण की भावना है। यूरोपीय देशों में राष्ट्रवाद का विकास नेपोलियन युद्धों की ही देन था और यही राष्ट्रवाद, नेपोलियन के साम्राज्य के पतन का कारण बना।

नेपोलियन ने 1799 में, फ्रांसीसी सत्ता को अपने हाथ में ले लिया था और 'प्रबुद्ध तानाशाही' की स्थापना की, जिसे 'कोंसुलेट' के नाम से जाना जाता है। सत्ता में आते ही नेपोलियन ने फ्रांस में अनेक सुधार किए। जिनमें सबसे प्रसिद्ध 'नेपोलियन कोड' है, जिसके द्वारा धार्मिक स्वतंत्रता, पूरे देश में समान कानून, सामाजिक समानताएं, कानून के सामने सभी नागरिकों की समानता, संपत्ति का अधिकार और सबसे महत्वपूर्ण सामंतवादी ऋण तथा भेदभाव को समाप्त किया। इसके अतिरिक्त उसने पूरे देश में अनिवार्य शिक्षा को लागू किया, जिसे फ्रांस विश्वविद्यालय के नाम से जाना जाता है।

नेपोलियन ने 1799 में, स्वयं को फ्रांसीसी सम्राट घोषित किया और एक सैनिक तानाशाह बन गया। बहुत शीघ्र उसने यूरोप के अधिकांश राष्ट्रों में अपनी सेनाएं भेजकर, वहां स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे का, फ्रांसीसी क्रांति का प्रमुख नारा पहुंचाया। इसने इन राष्ट्रों में भी नेपोलियन शासन के विरुद्ध, राष्ट्रवाद की एक नई लहर को जन्म दिया।

नेपोलियन ने, यूरोप के दूसरे विजित राष्ट्रों में भी फ्रांस की तरह अनेक सुधार किए। राजतंत्र की ओर वापसी से फ्रांस में गणतंत्रीय व्यवस्था को धक्का जरूर लगा लेकिन नेपोलियन ने प्रशासन में क्रांतिकारी परिवर्तन किए जो सकारात्मक सिद्ध हुए। इसमें 1804 का 'नेपोलियन कोड' या सिविल कोड था, जिसे नेपोलियन ने यूरोप के, स्वयं के अधीन, राष्ट्रों में भी लागू किया।

बहुत कम समय में नेपोलियन कोड, फ्रांस के अधीन अन्य राष्ट्रों में भी फैल गया। जिसके द्वारा प्रशासन व्यवस्था को सरल बनाया गया। सामंतवाद को समाप्त किया गया और गुलाम किसानों को भूस्वामियों की अधीनता से आजाद किया गया, इनमें मुख्य रूप से नीदरलैण्ड, स्विटजरलैण्ड, जर्मनी, आस्ट्रिया, हंगरी और इटली प्रमुख थे। इन प्रदेशों में परिवहन एवं दूरसंचार व्यवस्था को विकसित किया गया। दस्तकारों, किसानों व मजदूरों में नए विकसित वर्ग ने स्वतंत्रता, समानता एवं भाईचारे

टिप्पणी

के, फ्रेंच क्रांति के संदेश का उपयोग किया। व्यापारियों एवं लघु स्तर पर उत्पादन करने वालों को अब इन सुधारों से यह एहसास हो गया कि, संपूर्ण राष्ट्र में समान कानून, नाप–तौल एवं समान मुद्रा से ही एक स्थान से दूसरे स्थान पर व्यापारिक वस्तुओं और पूंजी को ले जाने में मदद मिलेगी।

प्रारंभ में फ्रेंच शासित प्रदेशों में मिली–जुली प्रतिक्रिया दिखाई दी है। हालैण्ड स्विटजरलैण्ड, ब्रुसेल्स, मेईंज, मिलान्द, पोलैण्ड में फ्रेंच सैनिकों को स्वतंत्रता का वाहक समझकर, उनका जोरदार स्वागत किया गया। लेकिन शीघ्र ही इस भावना ने नकारात्मक रूप धारण कर लिया क्योंकि, लोगों को यह महसूस होने लगा कि नयी प्रशासनिक पद्धति राजनीतिक स्वतंत्रता के साथ मेल नहीं खा रही थी। अब राष्ट्रों की जनता ने फ्रेंच आधिपत्य का विरोध राष्ट्रवाद के झण्डे तले, एकजुट होकर करना आरंभ किया और यही राष्ट्रवादी लहर नेपोलियन के साम्राज्य के पतन का मुख्य कारण बनी।

1812 में, नेपोलियन ने रूस पर आक्रमण किया जहां उसने रूसियों के राष्ट्रवाद को चरम सीमा पर पहुंचाया और मास्को के समीप, 'बारादीनों' नामक स्थान पर अब तक की सबसे बड़ी पराजय हुई। आज भी मास्को शहर के बाहर एक बड़ा भारी गेट स्थित है, जिसका नाम बारादीनों गेट है, और वहीं इस युद्ध की याद को जिन्दा रखने के लिए एक संग्रहालय भी बनाया गया है, जो विदेशी पर्यटकों के आकर्षण का मुख्य केन्द्र है। इस संग्रहालय में युद्ध के दृश्यों को बड़े ही जीवंत रूप में थ्री डायमेन्शनल पद्धति से दर्शाया गया है। यह रूसियों की रगों में राष्ट्रवाद की भावना बढ़ाने का सबसे अच्छा जीवंत उदाहरण है। इस संग्रहालय को नेहरू, इंदिरा गांधी और अनेकों भारतीयों ने काफी सराहा है।

इस हार से नेपोलियन का मनोबल इतना गिर गया कि इसके बाद वह कोई विशेष जीत प्राप्त नहीं कर पाया। उसने यद्यपि, नई सेना का संगठन किया पर चार राष्ट्रों– इंग्लैंड, आस्ट्रिया – हंगरी, परशिया और रूस के संघ ने नेपोलियन को 'राष्ट्रों के युद्ध' में जर्मनी के नगर लेईपजिक में बुरी तरह से पराजित किया और नेपोलियन को कैदकर ऐल्बा द्वीप भेज दिया। वहां से नेपोलियन, बदला लेने के उद्देश्य से जैसे–तैसे भाग निकला और पुनः फ्रांस की खोई हुई शक्ति को एकजुट करके यूरोप पर अपना वर्चस्व स्थापित करने में, उसने अपनी पूरी ताकत लगा दी। यह काल 'सौ दिन' के काल से इतिहास में प्रसिद्ध है। अंत में नेपोलियन ने अपने खोये हुए वर्चस्व को पुनः स्थापित करने की कोशिश, इतिहास में प्रसिद्ध 'वाटरलू के युद्ध' में की, जिसका मुख्य नायक जनरल वाल्से (ड्यूक आफ बैलिंगटन) था। इस ऐतिहासिक युद्ध में नेपोलियन की अंतिम पराजय हुई और उसे अफ्रीका के समीप स्थित द्वीप–'सेन्ट हेलेना' भेज दिया गया। अभी हाल ही में हुए 2009 के शोध से पता चला है कि उसकी मृत्यु मात्र 53 वर्ष में 1922 में, पेट के कैंसर से हुई थी।

आगे जाकर 1830 और 1848 की क्रांतियों ने एक नए प्रकार के राष्ट्रवाद को जन्म दिया। फ्रांस में नेपोलियन तृतीय (नेपोलियन बोनापार्ट का भतीजा) ने, जो 1848 की क्रांति के बाद फ्रांस का शासक बना, फ्रेंच राष्ट्रवाद को नई ऊंचाइयों तक पहुचाया। क्रीमिया युद्ध (1853–55) में फ्रेंच राष्ट्रवाद और मजबूत हुआ, 19वीं सदी के अंत तक, फ्रांस यूरोप के दूसरे राष्ट्रों के साथ एक सुदृढ़ राष्ट्रीय राज्य के रूप में पहचान बना चुका था।

टिप्पणी

इस प्रकार 18वीं सदी के अंत और 19वीं सदी के आरंभ में, राष्ट्रवाद एक क्रांतिकारी शक्ति थी, जिससे लोगों ने तानाशाही राजतंत्रों के विरुद्ध क्रांति करके गुलामी की बेड़ियों को उखाड़ फेंका। इन क्रांतियों का नेतृत्व पूंजीपतियों ने किया। इस क्रांतिकारी शक्ति की अभिव्यक्ति फ्रांस की क्रांति में हुई, जो आगे चलकर यूरोप के अन्य राष्ट्रों में फैली। 19वीं सदी के दौरान इस क्रांतिकारी राष्ट्रवाद की भावना ने यूरोप में अनेक स्वतंत्र राष्ट्रीय राज्यों का निर्माण किया, जिनमें प्रमुख थे– ग्रीस, बेल्जियम, सर्बिया, नार्वे, इटली और जर्मनी। अब राष्ट्रवाद एक विश्वव्यापी शक्ति का रूप धारण कर चुका था।

फ्रांस में पूंजीवाद का विकास

औद्योगिक क्रांति (1750 के बाद) इंग्लैंड में प्रारंभ हुई, वहां पूंजीवादी विकास यूरोप के अन्य देशों से पहले हुआ। फ्रांस में यद्यपि, पूंजीवाद की शुरुआत फ्रांसीसी क्रांति से मानी जाती है, जिसने हजार साल से चली आ रही सामंतवादी व्यवस्था को जड़ों से उखाड़ कर अलग किया और पूंजीपतियों के लिए सत्ता में आने का रास्ता साफ कर पूंजीवादी व्यवस्था की स्थापना विधिवत रूप से की। 19वीं सदी में धीरे–धीरे फ्रांस में औद्योगिक क्रांति का प्रभाव देखने को मिलता है।

फ्रांस को 17वीं एवं 18वीं सदी में एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में गिना जाता था। फ्रांस के राजा लुई XIVवें ने, अपनी शक्तिशाली सेना का निर्माण किया। उसकी सेना की संख्या 5 लाख 50 हजार थी। यह उस समय के यूरोप की सबसे बड़ी एवं शक्तिशाली थल सेना थी। इस सेना की बदौलत फ्रांस ने, उत्तरी अमेरिका में बहुत बड़े उपनिवेशों की स्थापना की। दुनिया का वैभव फ्रांस की ओर तेजी से बढ़ रहा था। फ्रांस के अन्दर भी किसानों की कीमत पर राजा ने, यह वैभव एवं शान–शौकत हासिल की थी। वह कहा करता था – 'मैं ही राज्य हूं'। प्रतिवर्ष किसानों के विद्रोह हो रहे थे, जिन्हें बेरहमी से कुचल दिया जाता था। लुई XV एवं XVI वें ने भी इसी नीति का पालन किया।

खेतों की जगह इंग्लैंड में भेड़ों के चरने के लिए चरागाह बना दिए गए थे। भेड़ों की ऊन वहां के गर्म कपड़ों के विश्व बाजार के लिए कच्चा माल उपलब्ध करा रही थी। इसलिए इंग्लैंड में यह कहावत बहुत प्रचलित हुई कि, 'इंग्लैंड के किसानों को भेड़ों ने निगल लिया'। फ्रांस में किसानों ने छोटी–छोटी भूमि पर जो सामंतों की जागीर थी, पर कृषि उत्पादन जारी रखा। यहां किसान अपनी उपज का 1/4 भाग सामंत को और 1/10 भाग चर्च को देता था और अपनी फसल को एक जगह से दूसरी जगह ले जाने के लिए उसे कर देना पड़ता था। अधिकांश किसान फ्रांस में भूखे मरने की कगार पर थे। उनके विद्रोह को सामंत बेरहमी से कुचल देते थे। अब कृषि में पूंजीवादी तरीके से कर वसूला जाने लगा, यानी – मुद्रा के रूप में। इसे देने के लिए किसानों को अपनी फसल का एक बड़ा भाग बेचना पड़ता था। अतः कृषि के क्षेत्र में धीरे–धीरे पूंजीवादी प्रवृत्तियां आने लगी।

औद्योगिक विकास

फ्रांस का औद्योगिक विकास कृषि एवं समुद्री किनारों के नगरों से शुरू हुआ। फ्रांस में इस समय बड़े उद्योगों के केन्द्र जन्म ले चुके थे, फिर भी यहां लघु उद्योगों का वर्चस्व था।

टिप्पणी

यद्यपि फ्रांस में बड़े उद्योगों की स्थापना हो चुकी, तथापि उसकी अर्थव्यवस्था अभी कुटीर एवं लघु उद्योगों पर आधारित थी। इन उद्योगों से कर वसूली बड़ी सख्ती से की जाती थी, इस कार्य के लिए कर वसूलने वाले निरीक्षकों की एक बहुत बड़ी सेना थी। सामंतवाद की कुटीर उद्योगों एवं लघु उद्योगों पर आधारित यह व्यवस्था सामंतवादी व्यवस्था के साथ ही समाप्त हो चुकी थी। अब व्यापार–व्यवसाय एवं वाणिज्यवाद के फलस्वरूप पूंजीवादी व्यवस्था धीरे–धीरे सामंतवादी व्यवस्था के अवशेषों पर पनप रही थी। बाजार की मांग पुरानी व्यवस्था पूरी करने में असमर्थ थी।

फ्रांस के शहरों में ही अधिकतर लघु उद्योग केन्द्रित थे। शहरों में उत्पादन इकाइयां खोलने के अधिकार की मांग करनी पड़ती थी। अतः व्यापारियों ने नई उत्पादन इकाइयां न खोलकर, वस्तुओं के उत्पादन हेतु कच्चामाल गांवों में गरीब किसानों को देना आरंभ किया जो अपने घरों में, व्यापारियों द्वारा उपलब्ध कराए गए कच्चे माल से, वस्तुएं तैयार करते थे। इस प्रकार फ्रांस के गरीब किसान वर्ग को रोजगार प्राप्त हुआ। इस प्रकार का उत्पादन जो भूमि विभाजन पर आधारित था, फ्रांस में बड़े पैमाने में क्रांति के समय प्रचलन में था। इस तरह से उत्पादन कई गुना बढ़ गया।

फ्रांसीसी क्रांति ने सामंतवाद को समाप्त करके पूंजीवादी व्यवस्था का मार्ग साफ किया। इंग्लैंड की औद्योगिक क्रांति ने मशीनों और भाप शक्ति के कारण वस्तुओं के उत्पादन को कई गुना बढ़ा दिया। अब बड़े पैमाने पर मिलों, फैक्ट्रियों और छोटे कारखानों का निर्माण हो रहा था एवं मजदूर वर्ग का उत्थान हो रहा था। यह प्रक्रिया ब्रिटेन के बाद 19वीं सदी में यूरोप के कई राज्यों और अमेरिका में शुरू हुई। अब फ्रांस में पूंजीवादी विकास ब्रिटेन से आई औद्योगिक क्रांति की लहर से तेज हो गया, अब दो नए वर्गों का जन्म हुआ– पूंजीपति (बुर्जुआजी) और मजदूर वर्ग, जो एक दूसरे के विरुद्ध खड़े थे।

इस प्रकार 19वीं सदी के अंत तक फ्रांस में पूंजीवाद अपने विकास की चरम सीमा पर पहुंच चुका था और उसका परिवर्तन साम्राज्यवाद में हो रहा था। उसने विश्व में इंग्लैंड के बाद दूसरा सबसे बड़ा औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित किया था। अफ्रीका में उसके उपनिवेशों का क्षेत्रफल इंग्लैंड से भी अधिक था।

1.2.3 जर्मनी में राष्ट्रवाद एवं पूंजीवाद का विकास

नेपोलियन कोड को नेपोलियन ने यूरोप के अन्य सामंतवादी राज्यों में लागू करके पहली बार उनकी राष्ट्रीय पहचान को स्थापित किया। 19वीं शताब्दी में जर्मनी अनेकों राजघरानों में बंटा हुआ था, जिनमें अपने–अपने रीति–रिवाज, कानून, नाप–तौल, भाषाएं और अन्य विविधताएं थी। अतः नेपोलियन ने यहां भी फ्रांसीसी क्रांति का मुख्य नारा– स्वतंत्रता, समानता और भाईचारे के नारे का प्रचार प्रसार किया। कई जर्मन राज्यों में नेपोलियन कोड लागू होने से वहां राष्ट्रवाद की भावना को बल मिला।

1815 की वियना कांग्रेस में प्रशा सबसे अग्रणी राष्ट्र था एवं उसका चांसलर मेटरनिख सबसे शक्तिशाली व्यक्तित्व के रूप में उभर कर यूरोप की राजनीति में छाया रहा। अतः 1815–1848 का काल यूरोप के इतिहास में 'मेटरनिख के युग' से जाना

जाता है। प्रशा के इस प्रभाव के कारण अन्य जर्मन राज्यों में राष्ट्रवाद की भावना का विकास हुआ।

टिप्पणी

1848 की क्रांति में मध्यम वर्ग के नेतृत्व में जर्मन जनता ने एकजुट होकर राजतंत्र को उखाड़ फेंकने का प्रयास किया। एक से अधिक बार जर्मन राष्ट्र–राज्य बनाने का असफल प्रयास किया गया। इसके बाद प्रशा के नेतृत्व में जर्मनी के एकीकरण का आंदोलन तीव्र हो चुका था। इस आंदोलन का नेतृत्व ओटो–वोन बिस्मार्क ने किया। 1848 की क्रांति ने एक 'अखिल–जर्मन राष्ट्रीय सभा' को चुनाव के द्वारा बनाने में सफलता अर्जित की थी। यह 'फ्रेकफर्ट की सभा' के नाम से जानी जाती है। इस सभा में बिस्मार्क ने भड़काऊ भाषण देकर समस्त जर्मनी को एक जुट होने के लिए कहा। यहीं पर बिस्मार्क ने अपना प्रसिद्ध वाक्य कहा था कि 'आज की समस्याएं, भाषणों, सभाओं एवं बहुमत से हल नहीं' की जा सकती, अपितु 'खून एवं लौह' की नीति से ही की जा सकती हैं। विलियम प्रथम ने 1862 में, बिस्मार्क को प्रशा का चांसलर नियुक्त किया। यहां भी प्रशा की संसद में बिस्मार्क ने उपरोक्त वाक्य दोहराया। आगे के वर्षों में जर्मन एकीकरण की प्रक्रिया को प्रशा ने आस्ट्रिया, डेनमार्क (1866) और फ्रांस के साथ (1870–71) के युद्धों में विजय हासिल करके पूरा किया।

जर्मनी में पूंजीवाद का विकास

जर्मनी यूरोप का एक ऐसा राष्ट्र है जहां पूंजीवादी विकास देर से हुआ। 19वीं सदी के मध्य तक जर्मनी में सामंती व्यवस्था पूरी तरह से कायम थी। हालांकि दूसरे यूरोपीय राष्ट्रों में औद्योगिक क्रांति फैलने के कारण जर्मनी भी इसके प्रभाव से अछूता नहीं रह सका।

1848 की क्रांति, जो एक साथ यूरोप के अनेकों देशों में हुई थी, जर्मनी में भी (प्रशा) हुई, लेकिन नष्ट कर दी गई थी। इसके बाद धीरे–धीरे टुकड़ों में विभाजित जर्मन राज्यों में पूंजीवाद का विकास प्रारंभ हुआ। यह विकास मुख्य रूप से प्रशा से शुरू हुआ, लेकिन प्रशा विश्व में अपने धीमी गति के विकास के लिए दुनिया के अर्थशास्त्रियों में प्रसिद्ध हुआ। दुनिया में जब आर्थिक विकास की बात होती थी तो दो मॉडल प्रसिद्ध थे – अमेरिकन मॉडल, जो द्रुत विकास के लिए प्रसिद्ध है और दूसरा प्रशा का मॉडल जो कछुए की चाल से होने वाले विकास के लिए प्रसिद्ध हुआ था।

जर्मनी रोमन साम्राज्य के समय 360 छोटे–बड़े राजघरानों में बंटा हुआ था और ये सभी आपस में युद्धों एवं वंशानुगत युद्धों में उलझे रहते थे। लेकिन 19वीं सदी के मध्य में, यहां 38 राजघरानों का राज था। प्रशा, सौक्सोनी एवं अन्य प्रांतों में इस समय कपड़ा मिलों की स्थापना हो चुकी थी और फैक्ट्री उद्योगों का विकास हो रहा था। फिर जर्मनी में पूंजीवादी विकास हेतु उसका टुकड़ों में बंटा होना सबसे बड़ी रुकावट थी। अतः जर्मनी में पूंजीवादी क्रांति का मुख्य उद्देश्य उसका एकीकरण था।

1834 में यहां के व्यापारियों एवं पूंजीपतियों को विभिन्न राजघरानों की सीमाओं में लगने वाले करों को समाप्त करने में सफलता प्राप्त हुई थी। इसके फलस्वरूप, 'जर्मन राज्य संघ' में एक आंतरिक राष्ट्रीय बाजार का निर्माण संभव हो पाया था। फिर भी अभी मध्यकालीन अनेकों सामंती प्रवृत्तियों के कारण पूंजीवादी विकास अवरुद्ध हो

टिप्पणी

रहा था। अतः पूंजीवादी क्रांति की आवश्यकता तो थी किंतु अभी इसके लिए यहां परिस्थितियां अनुकूल नहीं थीं।

1845–46 में जर्मनी में अकाल पड़ा, फसल बरबाद हो गई, मुख्य रूप से आलू की फसल में बीमारी से कीमतें बढ़ी। भूखे लोगों ने लूट–पाट करके पेट भरने का प्रबंध किया। व्यापारियों को लूटा और कई जगहों पर उपद्रव शुरू हुए।

1847 में औद्योगिक संकट शुरू हुआ, फैक्ट्रियों में ताले लग गए। क्रांति अपने चरम पर थी। फ्रांस में 1848 में शुरू हुई क्रांति की खबर ने यहां पर चिंगारी का काम किया।

मार्च, 1848 में बर्लिन में हजारों लोगों ने प्रदर्शन किए। प्रिंस विलियम ने प्रदर्शनकारियों पर गोली चलाने का आदेश दिया। 14 हजार सैनिक भी इस जन आक्रोश को शांत नहीं कर सके। अब प्रशा के सम्राट फ्रेडरिख–विलियम IV ने खून में लथपथ भीड़ से अनुरोध किया कि वे क्रांति का रास्ता छोड़कर शांति कायम रखें एवं सम्राट ने एक झूठ फैलाया कि, सैनिकों की बंदूकें धोखे से चल गई इसलिए कुछ लोग घायल हो गए। लेकिन अन्ततः इन जन आक्रोशों को सैनिकों के द्वारा कुचल दिया गया।

1871 में बिस्मार्क, जो 1862 से प्रशा का चांसलर था, ने अपने प्रयासों के द्वारा जर्मनी को एक राष्ट्र का स्वरूप दिया एवं एकीकरण करके यूरोप में एक शक्तिशाली राष्ट्र का निर्माण किया। विलियम प्रथम जो प्रशा का सम्राट था, को 18 जनवरी, 1871 को पूरी जर्मनी का सम्राट बना दिया गया। 1890 तक का काल 'बिस्मार्क के युग' के नाम से जाना जाता है। बिस्मार्क ने जर्मनी को एक सुदृढ़ राष्ट्र का दर्जा दिलाया।

बिस्मार्क की आर्थिक नीतियों के कारण जर्मनी का तेज गति से विकास हुआ। बिस्मार्क ने संरक्षण की नीति अपनाई। विदेशों से आयातित वस्तुओं पर प्रतिबंध लगा दिया अथवा कर बढा दिए। फलस्वरूप बाहरी प्रतिस्पर्धा न होने से जर्मनी में तेजी से पूंजीवादी विकास हुआ।

कृषि में बिस्मार्क ने क्रांतिकारी कदम उठाए। विश्व के उत्तम किस्म के बीज, खाद, रसायन उपलब्ध कराकर उन्हें सरकारी सहायता दी गई, जिसके करण पैदावार में काफी वृद्धि हुई।

यही नीति बिस्मार्क ने औद्योगिक क्षेत्र में भी अपनाई। संरक्षण की नीति के साथ उसने अपने उद्योगों के लिए बाहर से अत्याधुनिक विज्ञान एवं तकनीक की उपलब्धियों को जर्मनी में मुहैया कराया। राज्य ने उद्योगों के विकास के लिए पूंजीपतियों को धन उपलब्ध कराया। अतः इन सभी प्रयासों से, 19सीं सदी के अंत तक जर्मनी न सिर्फ तेजी से विकसित हुआ, बल्कि यूरोप के एक अग्रणी राष्ट्र के रूप में उभरा। 1890 के बाद यहां के पूंजीपतियों के दबाव के कारण विलियम द्वितीय ने विश्व राजनीति का रास्ता अपनाया। समुद्रों के पार एवं अफ्रीका के जर्मन पूंजीवादी विस्तार के लिए कई उपनिवेश हासिल किए। अब जर्मन पूंजीवाद भी साम्राज्यवाद की ओर अग्रसर हुआ।

1.2.4 जापान में राष्ट्रवाद एवं पूंजीवाद का विकास

जापान की भौगोलिक स्थिति एशिया के दूसरे राष्ट्रों से एकदम भिन्न है। यह चार बड़े और सैकड़ों छोटे द्वीपों वाला देश है। भारत और चीन की तुलना में यहां पर

मंगोलों–मंचूरियनों के विदेशी आक्रमण नहीं हुए। अतः 19वीं सदी के मध्य तक जापान विश्व में एक अलग–थलग राष्ट्र था।

टिप्पणी

19वीं सदी के मध्य तक हॉलैण्ड को छोड़कर अन्य सभी राष्ट्रों के आगमन पर प्रतिबंध था। यूरोप–अमेरिका में पूंजीवाद अपनी चरम अवस्था में पहुंच रहा था, अतः अब वे जापान के दरवाजे खट–खटाने लगे।

अब जापानवासी यूरोप की संस्कृति को स्वीकार करने लगे। किंतु जापान ने अपनी राष्ट्रीय पहचान को कभी खोने नहीं दिया। यहां भी 19वीं सदी में राष्ट्रीय भावना का विकास हुआ। यहां पर भी सामंतवादी व्यवस्था का बोलबाला था।

19वीं सदी के मध्य में, सबसे पहले अमेरिका ने जापान के दरवाजे खटखटाये और उसकी स्वतंत्रता के लिए खतरा पैदा किया। अमेरिका को नए बाजार की तलाश थी। अतः 1853 में पैरी के नेतृत्व में अमेरिका का एक जहाज जापान के उरागा बन्दरगाह पहुंचा। पैरी जापान के सम्राट के लिए अमेरिका के राष्ट्रपति का संदेश लाया था। इस पत्र में अमेरिका के राष्ट्रपति ने जापान के सम्राट को आपसी मित्रता का एक–दूसरे के लिए बंदरगाह खोलने का संदेश भेजा था। दूसरी बार 250 बंदूकों के साथ अमेरिका ने दूसरा जहाज भेजा। उसने जापान को धमकी देकर एक संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए मजबूर कर दिया। इस संधि के फलस्वरूप जापान ने अमेरिका को अपने देश में आने की अनुमति प्रदान की। इसके बाद जापान ने अन्य दूसरे राष्ट्रों– इंग्लैंड, रूस और हॉलैण्ड के साथ व्यापारिक संधियां कर लीं। ये सभी संधियां एक तरफा थीं। जापान में राष्ट्रवाद का विकास विदेशियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप में हुआ।

जापान में पूंजीवाद

जापान में सस्ते विदेशी माल के आने के कारण जापान का लघु उद्योग नष्ट हो गया। जापान के सामंत नष्ट होने लगे, अतः उन्होंने किसानों के ऊपर भारी कर लगा दिए। इसके फलस्वरूप, किसान विद्रोह शुरू हो गए। किसानों और कुटीर उद्योग उत्पादकों ने विदेशियों को अपने देश से बाहर भगाने की मांग की।

इस आंदोलन में जापान के सामंत भी शामिल हो गए। इसकी प्रतिक्रिया में विदेशी शक्तियों ने जापान के बंदरगाहों में आग बरसा कर, उन्हें डराने का प्रयास किया। इससे सामंतों और विदेशियों के विरुद्ध जन आंदोलन और तीव्र हो गया। जापान में वास्तविक सत्ता मुख्यतः सेनापति सेगुन के हाथ में थी, वह सम्राट से अधिक शक्तिशाली था। उसी ने विदेशियों से संधियां की और उनके सामने झुक गया तथा उनकी सभी मांगें स्वीकार की। सेगुन से सामंत भी नाराज थे। अतः उन्होंने भी सम्राट का साथ दिया। सम्राट भी सेगुन से पूरी सत्ता अपने हाथ में लेना चाहता था।

दक्षिण और दक्षिण–पश्चिमी जापान के सामंतों ने सोलह वर्षीय सम्राट मुत्सुहितो के नेतृत्व में सेगुन के विरुद्ध सामंतों, किसानों और आम लोगों की शक्ति को संगठित करके 1868 में सेगुन की सेना को पराजित कर दिया और सेगुन को कैद करके देश निकाला दे दिया। तब सम्राट मुत्सुहितो के नेतृत्व में नए शासन की स्थापना की गई। इस नए शासन को 'मेईजी' के नाम से जाना जाता है। मेईजी का अर्थ प्रबुद्ध शासन

होता है। सामंतों के साथ पूंजीपतियों ने भी सम्राट को अपना पूरा समर्थन दिया। हालांकि किसान विद्रोह सामंती विशेषाधिकारों एवं करों की समाप्ति की मांग को लेकर आगे भी जारी रहे।

टिप्पणी

पूंजीवादी विकास

सेगुन की सत्ता की समाप्ति के बाद उन्नत प्रांतों के सामंत और व्यापारी एवं पूंजीपति वर्ग के लोग सत्ता में आए। अब नई सरकार ने विदेशों में अपने कई आयोग भेजे, उन्होंने वहां जाकर अध्ययन किया कि विश्व में जो भी सर्वश्रेष्ठ है, वह जापान में लेकर आएं। अतः इस समय प्रशा का संविधान श्रेष्ठ मानकर जापान ने उसका अनुकरण किया। फ्रांस की उच्च शिक्षा और अमेरिका की स्कूली शिक्षा को श्रेष्ठ पाकर उसको जापान में लागू किया। नई सरकार ने सभी सामंती अवशेषों की समाप्ति की घोषणा की। बड़े जमींदारों से भूमि लेकर किसानों में बांट दी, जो उसे लम्बे अरसे से जोत रहे थे। कानून के सामने सबको समान अधिकारों की घोषणा की गई। इस प्रकार पूंजीवादी विकास का मार्ग प्रशस्त हुआ। हालांकि सत्ता में सम्राट– मिकादों पुराने तरीके से सैनिकों – सामुराई पुलिस और बाबू वर्ग की सहायता से शासन चला रहा था। जापान में पूंजीवाद का सामंतवाद के साथ–साथ विकास हुआ। अतः जापान की यह क्रांति अधूरी रह गई थी।

जापान विदेशी राष्ट्रों के चंगुल से न सिर्फ बचा रहा बल्कि, पूंजीवादी राष्ट्र बनकर उसने अपने पड़ोसी राष्ट्रों में लूट–खसोट शुरू की, जिसमें चीन और कोरिया इसके पहले शिकार थे। जापान में 19वीं सदी के अंत तक, पूंजीवाद अपने विकास की चरम सीमा पर पहुंच चुका था और यहां भी साम्राज्यवादी लक्षण स्पष्ट दिखाई देने लगे।

1.2.5 ब्रिटेन (यू.के.), फ्रांस, जर्मनी और जापान में साम्राज्यवाद का विकास

यूरोपीय सभ्यता प्रारंभ से ही प्रसारोन्मुखी रही है। पंद्रहवीं–सोलहवीं शताब्दियों में सागर–पार के देशों–महादेशों की खोजों के फलस्वरूप औपनिवेशिक साम्राज्यों का युग आया। इनको लेकर समस्त सत्रहवीं तथा अठारहवीं शताब्दियों में जद्दोजहद होती रही। इसके फलस्वरूप संपूर्ण अमेरिकी गोलार्द्ध पर यूरोप का कब्जा हो गया। नेपोलियन की पराजय के फलस्वरूप यूरोप में तत्काल के लिए केवल एक ही औपनिवेशक शक्ति बच गई थी; वह थी ब्रिटेन। वाटरलू के युद्ध के बाद लगभग साठ वर्षों तक उसे चुनौती देने वाला अन्य कोई राष्ट्र नहीं था। इस कारण इस काल में औपनिवेशिक प्रतिद्वंद्विता भी नहीं थी। अनेक लोग समुद्र–पार साम्राज्य स्थापित करने के प्रति उदासीन–से थे। उस समय उन्मुक्त व्यापार का सिद्धांत प्रचलित था। इस कारण जहां व्यापार किया जा सकता था वहां राजनीतिक प्रभुत्व या प्रभाव की जरूरत नहीं समझी जाती थी। इन्हीं दिनों फ्रांस ने अलजीरिया में अपने पांव जमाए तथा अंग्रेज भारतीय साम्राज्य के अधिपति हो गए। कुछेक पश्चिमी राष्ट्रों ने जापान में अपने अड्डे स्थापित करने के प्रयत्न किए तथा चीन में विदेशी ताकतों के प्रवेश का युग शुरू हुआ। फिर भी, प्रकट रूप में यूरोपीय देशों के बीच कहीं कोई टकराव या प्रतिद्वंद्विता नहीं हुई।

पूंजीवाद जब अपनी उन्नति की चरम सीमा पर पहुंच गया तो उसका परिवर्तन साम्राज्यवाद में हो गया। पूंजीवादी व्यवस्था में यह स्थिति 19वीं सदी के अन्त और बींसवीं सदी के प्रारंभ में स्पष्ट दिखाई देती है।

टिप्पणी

19वीं सदी के अंत में विभिन्न उद्योगों में तेजी से वृद्धि हुई और उनके आकार बड़े हो गए। इस प्रकार उत्पादन के साधन, श्रम–शक्ति तथा उत्पादन बड़े उद्योगों में केन्द्रित होने लगे। अतः बड़े उद्योगों ने छोटों पर कब्जा कर लिया। परिणामस्वरूप बड़े–बड़े आधिपत्य वाले समूहों (Monopolies) का निर्माण हुआ। इसका अर्थ है – किसी उद्योग विशेष में कुछ कम्पनियों द्वारा विश्व स्तर पर नियंत्रण स्थापित करके बाजारों में कब्जा कर लेना। ये कम्पनियां परस्पर समझौते कर आपसी प्रतिस्पर्धा को नियंत्रित करके विश्व बाजारों में मूल्यों तक को तय करती हैं।

बैंक पूंजी और औद्योगिक पूंजी का एकीकरण

अभी तक विदेशों से कच्चा माल लाकर उसे वस्तुओं में परिवर्तित करके दुनिया के बाजारों में भेजकर लाभ कमाया जाता था, लेकिन 19वीं सदी के अंत तक अब मात्र पूंजी निर्यात कर, विदेशों में ही जहां कच्चा माल सस्ते मजदूर और बाजार थे, वहीं उद्योग स्थापित करके भारी लाभ कमाया जाने लगा।

विश्व का आर्थिक विभाजन तथा पूंजीवादी राष्ट्रों द्वारा भूमण्डल का अंतिम क्षेत्रीय विभाजन, साम्राज्यवाद की दो मुख्य विशेषताएं थीं। बड़े आधिपत्य वाले समूहों ने पूरे विश्व के बाजारों को आपस में बांट कर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया। अन्तर्राष्ट्रीय कार्टेलों की स्थापना करके आपस में समझौते कर बड़े आधिपत्य वाले समूहों ने पूरे विश्व के बाजारों को नियंत्रण में कर लिया। अब विश्व में ऐसी कोई जगह नहीं बची जहां कोई राष्ट्र जाकर कब्जा कर सके। अब सिर्फ नए बाजारों को युद्धों के द्वारा ही छीना जा सकता था। अतः साम्राज्यवाद में युद्ध का होना अवश्यम्भावी हो गया। साम्राज्यवादी आकांक्षा प्रथम एवं द्वितीय विश्व युद्धों का एक मुख्य कारण थी।

1870 ई. के बाद और अस्सी के दशक में विशेषकर औपनिवेशिक समस्या एक बार फिर उभरी। इसके अनंतर दो दशकों में ही, 1900 ई. तक, विकसित देशों ने लगभग सारे संसार को आपस में बांट लिया। 1900 ई. का संसार का नक्शा यदि कोई देखे तो आठ या दस रंगों में उनके आधिपत्य वाले इलाके दिखाए गए मिलेंगे।

यह नव-साम्राज्यवाद पहले के उपनिवेशवाद से आर्थिक तथा राजनीतिक दृष्टि से भिन्न था। पुराना साम्राज्यवाद वाणिज्यवादी था। भारत हो या जावा या चीन, यूरोपीय व्यापारी स्थानीय सौदागरों से उनका माल खरीदा करते थे। यह कारोबार नकद भुगतान तथा खुद माल ले जाने के आधार पर होता था। मार्गों की सुरक्षा के लिए कुछेक स्थानों पर कार्यालयों तथा व्यापारिक केंद्रों की रक्षा के अतिरिक्त यूरोपीय राष्ट्रों को राज्य या भूमि की भूख नहीं थी। इसका केवल एक अपवाद अमेरिका था। वहां न तो आदिवासियों से निबटना था और न स्थानीय उद्योग-धंधे ही थे, जिनमें यूरोपीय व्यापारियों की अभिरुचि होती। फलतः अमेरिकी महाद्वीप में यूरोपीय लोग औपनिवेशिक प्रसार के अग्रदूत बनकर आए। वहां उन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में अपने झंडे गाड़े, पूंजी लगाई, उत्पादन तथा 'व्यवस्थापन' के अपने तौर-तरीके चलाए। पश्चिमी हिंद द्वीपसमूह के चीनी उत्पादन करने वाले द्वीपों में यह सब कुछ सबसे पहले हुआ।

टिप्पणी

साम्राज्यवाद के इस नये दौर में यूरोपीय व्यापारी स्थानीय तरीकों से उत्पादित माल के स्थानीय सौदागरों से खरीद-फरोख्त करने मात्र से संतुष्ट न थे। वे एक विशेष प्रकार का या ऐसे परिमाण में सामान चाहते थे जिसकी आपूर्ति कर पाना स्थानीय कारीगरों के लिए मुश्किल था। अब वे पूरी तरह सुनियोजित ढंग से पिछड़े इलाकों में प्रवेश कर उन पर हावी होने लगे थे। इन क्षेत्रों में उन्होंने पूंजी लगाई; बड़े पैमाने पर खेती आरंभ की; बगान लगाए; खनिज तथा अन्य उद्योग स्थापित किए; गोदाम, कारखाने, रेलवे आदि का निर्माण किया। गर्म जलवायु में यूरोपीय लोगों के रहने योग्य घर बनाए गए; बैंक, कार्यालय, होटल, क्लब आदि खोले गए। पहाड़ की शीतल ऊंचाइयों पर कस्बे बसाकर यूरोपीय लोगों के आराम से रहने की व्यवस्था की गई। अपने प्रशासित इलाकों की परंपरागत अर्थव्यवस्था तथा उत्पादन-व्यवस्था को विनष्ट करके इन नवीन शासकों ने बहुसंख्यक स्थानीय लोगों को विदेशी मालिकों पर रोजी-रोटी के लिए आश्रित बना दिया। इस प्रकार, इन देशों में भी यूरोपीय देशों जैसा वर्ग-भेद उत्पन्न हो गया। जाति, उपजाति, धर्म, संप्रदाय आदि के आधार पर पहले ही से विखंडित समाज के कारण और भी विखंडन हुआ। विदेशी आगंतुकों ने राजा-महाराजाओं, शाह-सुल्तानों को बड़ी धनराशियां देकर तथा अनेक स्थानों पर उनकी सुरक्षा का भार अपने हाथ में लेकर जीर्ण-शीर्ण राज्य-व्यवस्था को बनाए रखने में योगदान दिया। ऐश-विलास में डूबे, दुनिया की हलचलों से बेखबर इन राजा-महाराजाओं को गद्दी पर बनाए रखने से यूरोपीय लोगों का अपना मतलब सिद्ध होता था। उनसे वे बड़ी-बड़ी सुविधाएं हासिल करते तथा उनकी छाया में अपनी शोषण-व्यवस्था को मजबूत बनाते थे। इस प्रकार, यूरोपीय लोग पश्चिमी सभ्यता के क्षेत्र से बाहर शासनतंत्र एवं व्यवसायों में भारी स्वार्थ विकसित कर रहे थे।

अपने इन स्वार्थों को सुरक्षित रखने तथा कुछ अन्य कारणों से यूरोपीय लोगों की राजनीतिक महत्वाकांक्षाओं को हवा मिली तथा उनमें राज्य हासिल करने की इच्छा जगी। देश-देशांतर में अपने उपनिवेश, शासित क्षेत्र, संरक्षित क्षेत्र, तथा प्रभाव-क्षेत्र आदि स्थापित करने की एक दौड़ शुरू हुई। इसमें कुछ इलाके सीधे उपनिवेश बना लिए गए। इन पर किसी यूरोपीय देश का प्रत्यक्ष शासन होता था। कुछ इलाके संरक्षित राज्य (Protectorate) बन गए। इन इलाकों में स्थानीय शासक की गद्दी बनी रही, लेकिन सुरक्षा और वैदेशिक मामलों में वे संप्रभु अधिपति के मातहत हो गए। विदेशी रेजिडेंट या कमिश्नर उनके आंतरिक मामलों में कहीं हस्तक्षेप करता था और कहीं निर्देश देता रहता था। चीन या फारस-जैसे देशों में साम्राज्यवादी शक्तियों की आपसी प्रतिद्वंद्विता के कारण देश को विभिन्न प्रभाव क्षेत्रों (Spheres of Influence) में बांटकर अपने हितों का संरक्षण-संवर्द्धन किया जाता था। इनमें यूरोपीय शक्ति को स्थानीय शासन को परामर्श देने का अधिकार, पूंजी न्यास तथा व्यापार करने का एकाधिकार होता था। कहने को तो प्रभाव-क्षेत्र वाले देश स्वतंत्र होते थे, किंतु उनके गले में साम्राज्यवादियों के शिकंजे पड़े रहते थे तथा शोषण का चक्र चलता रहता था।

1875 ई. के लगभग यूरोपीय राष्ट्रों तथा गैर-यूरोपीय राज्यों के बीच भारी फर्क हो गया था। रानी एलिजाबेथ ने मुगल सम्राट अकबर के दरबार में आदर सहित अपना दूत भेजा था। नेपोलियन ने भी फारस के साथ बराबरी के दर्जे से बातें करने का दिखावा किया था। इसके बाद समय आया औद्योगिक क्रांति का, बड़े-बड़े युद्धपोतों का, नौसैनिक तोपों का तथा अचूक मार करने वाली बंदूकों का। फिर, राष्ट्रीय भावना से ओत-प्रोत,

टिप्पणी

लोकतांत्रिक चेतना से अनुप्रेरित कई यूरोपीय देशों के लोगों द्वारा अपनी सरकारों की सेवा में एकजुट होकर काम करने वाले तथा विदेशों में अपने राष्ट्र तथा झंडे की शान पर जान देने वाले लोगों का समूह आया। गैर-यूरोपीय पिछड़े लोगों में न तो यह चेतना थी और न उनके पास उतने विध्वंसक शस्त्रास्त्र थे। नवोदित यूरोपीय राष्ट्रों के पास संपदा के लगभग अक्षत स्रोत थे, आधुनिक प्रशासन-तंत्र था, वे कर लगाकर या ऋण लेकर असीमित व्यय कर पाने की स्थिति में थे। इतनी संख्या में इतने साधन-संपन्न तथा सैनिक-शक्ति से लैस राज्य शायद पहली बार विश्व-इतिहास के रंगमंच पर उपस्थित हुए थे। इसके साथ ही नियति का अभिलेख कुछ ऐसा था कि इस कालावधि में गैर-यूरोपीय देशों के साम्राज्यों, राज्यों, राजा-महाराजाओं, शेख-सुल्तानों के सितारे डूबने की कगार पर थे। उन्हें अपनी प्रजा से अल्पतम समर्थन मिलता था। अठारहवीं शताब्दी में मुगल साम्राज्य के बिखराव से भारत में अंग्रेजों को आधिपत्य जमाने में मदद मिली थी। उन्नीसवीं सदी में तुर्की के सुल्तान, जंजीबार के सुल्तान, फारस के शाह, चीन के सम्राट तथा जापान के शोगुन शासकों की दयनीय स्थिति के फलस्वरूप इन देशों में यूरोपीय राष्ट्रों का हस्तक्षेप सुगम हो गया था। इनमें एकमात्र जापान नवसंगठित होकर साम्राज्यवादी दुर्गम संधियों का शिकार बनने से अपनी रक्षा कर सका। वैसे उसको भी पहले की संधियों के कारण 1900 ई. के बाद ही अपने देश की चुंगी नीति निर्धारित करने की आजादी मिली।

सैनिक शक्ति के उपकरणों में इतना अंतर था कि अक्सर यूरोपीय लोग शक्ति का मात्र दिखावा करके अपनी बात मनवा लेते थे। केवल पचहत्तर हजार गोरे सैनिकों के बल पर भारत में लंबे अरसे तक अंग्रेजी राज कायम रहा। अफगान-युद्ध, बर्मा-युद्ध, जुलू-युद्ध आदि अनेकानेक छोटे-मोटे युद्ध होते ही रहते थे। 1898 ई. का स्पेनी-अमेरिकी युद्ध तथा 1899 ई. का बोअर युद्ध भी एक तरह के औपनिवेशिक युद्ध ही थे। ये सभी युद्ध सर्वथा असमान पक्षों के मध्य लड़े गए थे। अक्सर नौ-सैनिक शक्ति का प्रदर्शन ही काफी होता था। दंड देने या सबक सिखाने के लिए बमबाजी करने का युग था। 1856 ई. में कैंटन-स्थित ब्रिटेन के कॉन्सल ने यूरोपीय लोगों के प्रति हिंसात्मक कार्रवाइयों की सजा देने के उद्देश्य से ब्रिटेन के स्थानीय नौ-सैनिक अधिकारी को उस नगर पर बमबाजी करने का आदेश दिया था। 1863 ई. में अंग्रेजों ने सतसुमा पर तथा 1864 ई. में मिली-जुली यूरोपीय टुकड़ी ने चोशू पर बमबाजी की थी। इसी प्रकार, 1882 ई. एलेक्जेंड्रिया तथा 1896 ई. में जंजीबार पर बमबारी की गयी। इन सबका आम तौर पर एक ही परिणाम होता था- स्थानीय शासक संधिपत्र पर हस्ताक्षर कर देता था, अपनी सरकार का नये सिरे से गठन करता था अथवा यूरोपीय सलाहकार नियुक्त करता था।

साम्राज्यवाद के प्रेरक तत्व

साम्राज्यवाद के प्रेरक तत्व निम्नलिखित हैं-

धर्मप्रचारकों तथा साहसिकों की आवश्यकताएं- इन आक्रामक कार्रवाईयों के मूल में कौन-से तत्व काम कर रहे थे? नव-साम्राज्यवाद का महल किन सिद्धांतों पर खड़ा किया गया था? सबसे पहली बात तो यह है कि यूरोपीय लोगों की जीवन-शैली कुछ ऐसी थी जिसे बनाए रखने के लिए उन्हें शेष संसार को अपने घेरे के अंदर लाना जरूरी हो गया था। अनेकानेक आवश्यकताएं ऐसी होती थीं जिनकी प्रेरणा से यूरोपीय लोग देश-देशांतर की सुदूर तथा वीरान जगहों पर जाने के लिए हमेशा तैयार रहते थे। कैथोलिक तथा

टिप्पणी

प्रोटेस्टेंट मिशनों द्वारा दूर-दराज के स्थानों पर धर्मप्रचारकों की टोलियां भेजी जाती थीं। इनमें अनेक स्थान जंगली तथा पहाड़ी, दुर्गम तथा खतरनाक हुआ करते थे। ईसाई धर्मप्रचारक अक्सर ज्यादतियां करते, स्थानीय लोगों से उनकी झड़पें होती, कभी-कभी वे मारे भी जाते। इन वारदातों से स्वयं धर्मप्रचारक ज्यादा क्रुद्ध नहीं होते थे तथा राजनीतिक हस्तक्षेप नापसंद भी करते थे, किंतु खबरें जब तार द्वारा उनके देश में पहुंचती तो उस देश के लोग ऐसे वहशियाने कार्यों के लिए सजा देने के लिए शोरगुल करते। जब जर्मनी के दो पादरी चीन में मारे गए तो कुछ इसी तरह की बातें हुईं।

कुछ यूरोपीय लोग वैज्ञानिक खोज करने के सिलसिले में वैज्ञानिक टोलियों के सदस्य बनकर या उनके सहायक के रूप में जाया करते थे। इनमें भौगोलिक खोज, जीव-विज्ञान, प्रकृति-विज्ञान, ज्योतिष, खनिजों की खोज आदि के लिए अभियान दल हुआ करते थे। धनी-मानी लोग कभी-कभी केवल पर्यटन करने या खौफनाक जंगली जानवरों का शिकार करने तथा प्राकृतिक दृश्यों का आनंद लेने के लिए भी संसार के दुर्गम स्थानों के लिए निकल पड़ते थे। 19वीं सदी के अंतिम चरण में यूरोपीय लोगों में यह सोचना स्वाभाविक-सा था कि जहां चाहें, उन्हें जाने का जन्मसिद्ध अधिकार है। वे केवल अपने को ही सभ्य मानते थे और उनकी दृष्टि में अन्य सभी लोग पीले, भूरे, काले रंग की चमड़ी वाले स्थानीय लोग असभ्यों से ज्यादा कुछ न थे। अतः वे जहां भी जाना चाहें, उन्हें पूरी आजादी तथा सुरक्षा की व्यवस्था और अन्य सुविधाएं उपलब्ध रहनी ही चाहिए। इन सबकी व्यवस्था यूरोपीय देख-रेख में ही संभव हो सकती थी।

आवश्यक वस्तुएं और बाजार की आवश्यकता- यूरोपीय लोगों की आम जरूरतों की चीजों की आपूर्ति गैर-यूरोपीय देशों से की जा सकती थी। श्रमजीवी वर्ग के लोग भी चाय कॉफी पीने के आदी हो गए थे। अमेरिकी गृहयुद्ध के दिनों से यूरोप में कपास की अधिकाधिक आपूर्ति अफ्रीका तथा पूरब से होने लगी थी। रबर तथा पेट्रोलियम आम जरूरत की चीजें थी। पटसन की भारी खपत यूरोपीय देशों में होती थी। इससे रस्सी, बोरे आदि बनाए जाते थे। व्यापारिक कार्यों के लिए इनकी बहुत बड़ी संख्या में जरूरत होती थी। पटसन का आपूर्ति-स्रोत केवल भारत था। नारियल के पेड़ से अनेक काम की चीजें बनती थीं। डच, पूर्वी हिंद द्वीपसमूह में यह पेड़ बहुतायत से लगाया जाता था। नारियल के पेड़ तथा फल के असंख्य उपयोग होते थे। उसके रेशों से ब्रश, केबल, रस्सा, पांवपोश आदि बनाए जाते थे। उसका फल खाये जाने के अलावा तेल, मोमबत्ती, साबुन, मार्गरीन, कोको, चॉकलेट आदि अनेक उपयोगों में आता था।

औद्योगिक देशों के अपने कल-कारखानों में बनाए हुए माल की बिक्री के लिए विश्व-व्यापक बाजार भी जरूरी था। साम्राज्यवाद के हिमायती नये बाजारों की खोज की आवश्यकता पर विशेष बल देते थे। 1870 ई. के उपरांत जर्मनी, जापान, संयुक्त राज्य अमेरिका आदि देश औद्योगिक निर्माण की दौड़ में शामिल हो गए थे। इन्हें अपने यहां बने सामानों के लिए बाजार की तलाश थी। इनकी आपसी तथा पहले से औद्योगीकृत ब्रिटेन, फ्रांस, हालैंड और बेल्जियम से अंधी प्रतियोगिता तथा अन्य कई कारणों से सामानों के मूल्यों में कमी हो रही थी। अनेक देशों ने चुंगी की दीवारें खड़ी करके अपने मालों के विक्रय के लिए बाजार सुनिश्चित किया। बाजारों के लिए होड़ के कारण अपने लिए सुरक्षित बाजार की तलाश की बात उठी। यहां से औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित करने की आवश्यकता बताई जाने लगी और इसी आधार पर उसका औचित्य भी साबित किया

टिप्पणी

जाने लगा। कहा जाने लगा कि बड़े पैमाने पर औद्योगिक उत्पादन करने वाले राज्यों का अपना औपनिवेशिक साम्राज्य होना चाहिए, जहां मनमाने ढंग से किसी स्थिति में अपना माल बेचा जा सके तथा अपने कल-कारखानों के लिए कच्चे माल का सुरक्षित भंडार हासिल किया जा सके। ब्रिटेन में जोर-शोर से इस तर्क को उछालने वाले अनेक लोग थे। यह भी कहा जाता था कि साम्राज्य विभिन्न जलवायु वाले तथा विभिन्न प्रकार के माल का उत्पादन करने वाले इलाकों में फैला हुआ होना चाहिए। सुनियोजित चुंगी लगाकर आयात-निर्यात को इस प्रकार व्यवस्थित किया जाए कि शासक देश सहित साम्राज्य स्वत: एक संपूर्ण आर्थिक इकाई हो। साम्राज्यवाद की यह मूल स्थापना थी कि इकाइयां कुल मिलाकर शासक देश के लिए चिरकाल तक संपदा और वैभव का अक्षय स्रोत बनी रहें। साम्राज्यवाद के इस चरण को अक्सर 'नव-वाणिज्यवाद' कहा जाता है, क्योंकि 18वीं सदी और उसके भी पहले के वाणिज्यवाद की अनेक बातें फिर से लागू हो रही थीं या की जा रही थीं।

अतिरिक्त पूंजी की समस्या- साम्राज्यवाद के इस नये दौर के कुछ विशुद्ध वित्तीय पक्ष भी थे। 19वीं सदी के अंतिम दशकों से विकसित देशों में पूंजी निवेश के अवसर कम होने लगे थे तथा उससे आय भी कम होने लगी थी। इसकी तुलना में पिछड़े इलाकों या क्षेत्रों में पूंजी लगाने के लगभग असीमित अवसर थे। इन इलाकों पर मनमानी शर्तें लादकर कहीं अधिक आय प्राप्त की जा सकती थी। इसके और भी कारण थे- यथा, गैर-यूरोपीय इलाकों में उपलब्ध कहीं कम मजदूरी पर काम करने वाला असंख्य श्रमजीवी, गैर-यूरोपीय क्षेत्रों में वस्तुओं या माल की भारी संख्या में मांग आदि। पिछड़े इलाकों में लगाई गई पूंजी के लिए अधिक ऊंची ब्याज की दर का एक कारण यह भी बताया जाता था कि कई कारणों से उन इलाकों में पूंजी डूबने का खतरा अधिक रहता था।

19वीं सदी के अंत तक पश्चिमी यूरोपीय देश तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के उत्तरी-पूर्वी भाग सघन औद्योगीकरण के क्षेत्र बन चुके थे। रेल लाइनों का जाल बिछाया जा चुका था, कल-कारखाने भी लगाए जा चुके थे। इन क्षेत्रों में पूंजी निवेश के अवसर सीमित हो चुके थे। इन देशों में स्वयं ही पूंजी संचयन हो रहा था। उसे व्यस्त करने के लिए उन्हें अवसर तथा क्षेत्रों की तलाश थी। 19वीं सदी के मध्य में निर्यात होने वाली सर्वाधिक पूंजी ब्रिटेन की होती थी। सदी के अंत में फ्रांस, जर्मनी, स्वीडन, हालैंड, बेल्जियम तथा संयुक्त राज्य अमेरिका से भी काफी पूंजी अन्य देशों को निर्यात की जा रही थी। 1850 ई. में सर्वाधिक निर्यातित पूंजी यूरोपीय देश, संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, अर्जेंटीना आदि के नव-निर्माण में लग रही थी। सदी के अंत में अधिकांश निर्यातित पूंजी पिछड़े इलाकों में जाने लगी थी। यह पूंजी सामान्य लोगों की अथवा बड़े-बड़े बैंकिंग निगमों की संपदा थी। पूंजी निवेश करने वाले एशिया, अफ्रीका या लैटिन अमेरिका के इलाकों पर राजनीतिक नियत्रंण की मांग करते थे, क्योंकि इन इलाकों में उन्होंने रेलवे, खानें, विस्तृत कृषि क्षेत्र, सरकार आदि को कर्ज दिए थे तथा कई अन्य मदों में भी उन्होंने धन लगा रखा था। निष्कर्ष यह है कि मुनाफा कमाने अथवा अतिरिक्त पूंजी को न्यस्त करने की प्रवृत्ति साम्राज्यवाद की एक अनुप्रेरणा थी।

उपर्युक्त विश्लेषण अंग्रेजी समाजवादी लेखक जे. ए. जॉब्सन ने 1903 में प्रकाशित अपनी पुस्तक Imperiaism : A Study में प्रस्तुत किया था। लेनिन ने 1916 में प्रकाशित अपनी पुस्तक Imperialism the Highest Stage of World Caitalism में ऐसे ही

टिप्पणी

विचार व्यक्त किए थे। इन लेखकों और चिंतकों ने अतिरिक्त पूंजी संचयन को साम्राज्यवाद के उद्‌भव के लिए जिम्मेदार माना है तथा समाजवादी आधार पर व तर्कों से उसकी आलोचना की है। हॉब्सन का तर्क इस प्रकार है, 'यदि राष्ट्रीय आय का और अधिक भाग श्रमिकों को मजदूरी के रूप में दिया जाता, पूंजीपतियों को ब्याज तथा लाभांश के रूप में कम मिलता या यदि धनी लोगों पर भारी कर लगाया जाता तथा प्राप्त धन को जनकल्याण के कार्यों में लगाया जाता तो अतिरिक्त पूंजी संचयन की समस्या नहीं होती और न ही वास्तविक साम्राज्यवाद होता।'

लेनिन के विचार में हर पूंजीवादी देश में औद्योगिक और वित्तीय शक्तियां एक बड़े संघ या प्रतिष्ठान में एकजुट हो जाती हैं तथा उसके शीर्षस्थ मुट्‌ठी भर लोग अपने देश की विदेश नीति को निर्देशित करते हैं। पृथ्वी पर स्थित अज्ञात तथा अजनबी क्षेत्रों तक को महाशक्तियों के बीच बांट लिए जाने के बाद महायुद्धों का एक दौर आना अनिवार्य था। ऐसा इसलिए कि अपने लिए बाजारों को बढ़ाने तथा आंतरिक आर्थिक संकटों को टालने के लिए राज्यों के बीच आपसी संघर्ष अवश्यंभावी था। लेनिन का स्पष्ट कहना था कि साम्राज्यवाद अंतिम विश्लेषण में पूंजीवादी की बुनियादी विशेषताओं का ही कार्यशील अगला चरण है। अधिक विकसित देशों में कार्मिकों की आर्थिक स्थिति में निश्चित सुधार होता है। इसका कारण बताते हुए लेनिन ने अपनी उपर्युक्त अवधारणा का सहारा लिया था। उसका कहना था कि पूंजीवादी को औपनिवेशिक देशों के पिछड़े लोगों में शोषण करने के लिए नया सर्वहारा समाज मिल जाता है। ऐसे साम्राज्यवादी दौर में शासक देश का कर्मीवर्ग, लेनिन के शब्दों में, श्रमिक अभिजात्य बन जाता है। वह क्रांतिकारी उत्साह का परित्याग तथा नव-वैभवशाली वर्ग के साथ सहयोग करने लगता है। किंतु, इस तरह की बातें अल्पकालिक ही होती हैं। साम्राज्यवादी प्रतिद्वंद्विता के कारण युद्ध अवश्यंभावी होते हैं। अत: समस्त कर्मीवर्ग अंतत: उससे नुकसान ही उठाते हैं।

अन्य लेखकों ने साम्राज्यवाद के उद्‌भव के अतिरिक्त पूंजीवाद के सिद्धांत की आलोचना की है। इसमें संदेह नहीं कि पूंजी न्यस्त करने वाले तथा निर्यातक साम्राज्यवाद के वाहक साम्राज्यवाद का उदय हुआ। इस सिद्धांत में उन्हें संदेह है। उनकी दृष्टि में यूरोप के लिए आयातों की आवश्यकता ज्यादा बुनियादी कारण था। यूरोपीय देशों में घनी आबादी, बहुमुखी औद्योगिक विकास तथा उच्च जीवन-स्तर भारी मात्रा में आयातित माल एवं साज-सामान पर टिके रह सकते थे। उपनिवेशों से कपास, पटसन, कॉफी, कोकोआ, तांबा या नारियल- जैसे सामानों की भारी मांग के कारण ही दूर-दराज के इलाकों में पूंजीनिवेश लाभकर हुआ करता था। इसके अतिरिक्त, पिछड़े देशों के शासक खुद ही अक्सर यूरोपीय पूंजी निवेश आमंत्रित करते तथा यूरोपीय पूंजीपति ऊंचे ब्याज पर या अधिक मुनाफे के लालच में पूंजी लगाने के लिए तैयार ही बैठे रहते थे। यद्यपि पिछड़े इलाकों को यूरोपीय पूंजी की जरूरत उनकी बुनियादी जरूरत थी, लेकिन 19वीं सदी के अंत तक अधिकतर होता यह था कि कोई शाह या सुल्तान अपने लिए नया महल बनाना चाहता था और इसके लिए किसी यूरोपीय देश से बड़ी रकम का ऋण लेता था। इन लोगों पर एक तर्क यह भी था कि रूस और इटली जैसे देशों के पास कम पूंजी थी तथा मुट्‌ठी भर आधुनिक ढंग के पूंजीपति थे। अत:, इन देशों की साम्राज्यवादी नीतियों के मूल में विदेशों में अति लाभकर पूंजी निवेश नहीं हो सकता था। इन आलोचकों की निश्चित अवधारणा है कि लेनिन ने महाशक्तियों के विदेश मंत्रालयों की विशालकाय कंपनियों के

उपकरण के रूप में संचालित-परिचालित होने की जो बात कही है, वह निश्चय ही अतिरंजित है। लेनिन ने सभी उदाहरण जर्मनी के इतिहास से दिए हैं। अत:, जर्मनी के संदर्भ में उसका विश्लेषण कुछ हद तक सही भी हो सकता है।

टिप्पणी

इन सारी आलोचनाओं के बावजूद अतिरिक्त पूंजी को न्यस्त करने की समस्या साम्राज्यवाद का प्रेरक तत्व रही, इसे मानने से इनकार करना कठिन है। खासकर अंग्रेजों के लिए पूंजीवादी अनुप्रेरणा बड़े महत्व की थी। प्रथम विश्व युद्ध के शुरू होने तक अंग्रेजों की 20,00,00,00,000 डालर मूल्य की पूंजी अन्य देशों, क्षेत्रों तथा इलाकों में लगी हुई थी। यह विशाल धनराशि ब्रिटेन की कुल संपदा का एक-चौथाई थी। फ्रांस के, विदेशों में पूंजीनिवेश का केवल दसवां हिस्सा उसके उपनिवेशों में न्यस्त था। इसके अलावा उसकी काफी पूंजी मिस्र, स्वेज नहर, दक्षिणी अफ्रीका तथा एशिया में लगी हुई थी। दोनों को मिलाकर फ्रांस के कुल पूंजी न्यास का लगभग पांचवां हिस्सा औपनिवेशिक दुनिया में लगा था। इसी तरह, प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व तक जर्मन पूंजीनिवेश का छोटा हिस्सा ही उसके उपनिवेशों में लगा था पर पिछड़े देशों, यथा आटोमन साम्राज्य, एशिया तथा अफ्रीका के इलाकों में लगी हुई पूंजी जर्मनी के कुल वैदेशिक पूंजी निवेश का पांचवां हिस्सा थी। इन विशाल धनराशियों को देखते हुए यह अनुमान किया जा सकता है कि यूरोपीय देशों की सरकारों पर अफ्रीका, टर्की, चीन या अन्यत्र राजनीतिक हस्तक्षेप करने के लिए कितना दबाव डाला जाता होगा।

एक ओर पूंजीवादी देशों की विदेश नीति उद्योगपतियों एवं महाजनों द्वारा प्रभावित तथा अनुप्रेरित होती थी, दूसरी ओर कोई सरकार उद्योगपतियों को किसी इलाके में धन लगाने का संकेत भी करती थी, ताकि विदेशी क्षेत्रों में उसे राजनीतिक हस्तक्षेप करने का मौका मिले। इसके अतिरिक्त, आम धारणा के विपरीत साम्राज्यवाद का परिणाम हमेशा ही औपनिवेशीकरण के द्वारा दूर-दराज के देशों में साम्राज्य निर्माण ही हुआ करता था। कई यूरोपीय राष्ट्रों का आर्थिक कारोबार सारे संसार में फैला हुआ था, किंतु उनका राजनीतिक आधिपत्य उसके छोटे हिस्से पर ही स्थापित हो सकता था। लैटिन अमेरिका में ब्रिटेन और जर्मनी के पूंजीनिवेश बड़े पैमाने पर हुए थे, किंतु दोनों ही राष्ट्रों ने कभी उस क्षेत्र में अपना राजनीतिक आधिपत्य स्थापित करने की कोशिश नहीं की; हालांकि आर्थिक परिणति कभी-कभी उन देशों की रणनीतिक परवशता में हो जाया करती थी। टर्की हमेशा ही प्रभुतासंपन्न राज्य बना रहा, कभी-कभी उसे महाशक्ति का दर्जा भी दिया जाता था। किंतु, बड़े परिमाण में जर्मनी द्वारा पूंजीनिवेश के फलस्वरूप प्रथम विश्व युद्ध तक उस पर काफी जर्मन राजनीतिक प्रभाव बना रहा।

साम्राज्यवाद के निहित स्वार्थ- अंतिम विश्लेषण में यह कहा जा सकता है कि किसी देश के साम्राज्यवादी बनने के लिए उसके आर्थिक हितों का राजनीतिक लक्ष्यों के साथ सह-अस्तित्व का महत्वपूर्ण हाथ रहता था, हालांकि इटली या रूस जैसे कुछ देशों में राजनीतिक उद्देश्य ही अधिक महत्वपूर्ण होते थे। जब तक किसी देश के अत्यंत सक्रिय तथा प्रभावी राजनीतिक नेता उपनिवेश हासिल करने को व्यग्र नहीं होते थे तब तक शायद ही उस दिशा में वह देश सक्रिय रूप से अग्रसर होता था। साम्राज्यवाद के कुछ सीधे राजनीतिक उद्देश्य भी होते थे, यथा साइप्रस या केप जैसे सामरिक महत्व के नौसैनिक अड्डों का निर्माण करके राष्ट्रीय सुरक्षा का सुदृढ़ीकरण या श्रमिकों के अतिरिक्त स्रोत को सुरक्षित करना (फ्रांसीसियों की उत्तरी-पश्चिमी अफ्रीकी नीति इसी उद्देश्य से प्रेरित

टिप्पणी

थी) या फिर राष्ट्रीय सम्मान प्रवर्धन के लिए (इटालियनों का लीबिया-अभियान या 1935 ई. का इथियोपिया-अभियान इसके उदाहरण हैं)। इसके अतिरिक्त भी अनेक दूसरी बातें थीं जो कुछ स्वतंत्र रूप तथा कुछ मिल-जुल कर आश्रित या प्रशासित इलाकों की तलाश करते रहने को प्रेरित करती थीं। उदाहरणार्थ, खोज करने वालों तथा दुस्साहसिकों के क्रियाकलाप एक महत्वपूर्ण अनुप्रेरक थे। मध्य अफ्रीका में फ्रांसीसी डी चायलू तथा डी ब्राज, कांगो की तलहटी में अंग्रेज हेनरी स्टैनली, पूर्वी अफ्रीका में जर्मनी का कार्ल पीटर्स इनके उदाहरण थे। इनमें कुछ विशुद्ध वैज्ञानिक जिज्ञासा से अनुप्रेरित थे, कुछ दुस्साहसिकता से ओत-प्रोत तथा कुछ (जैसे सेसिल रहोड्स) धन और सत्ता के भूखे भी होते थे। वैसे ये सभी कल्पनाशील, उत्साही तथा कर्मठ लोग थे। साम्राज्यों के निर्माण की कहानी में इनका महत्वपूर्ण भाग रहा है।

साम्राज्यवाद के उत्कर्ष में महत्वपूर्ण भाग प्रशासक तथा सैनिक का भी रहा है। अक्सर ऐसा कोई व्यक्ति जो कुशल प्रशासक होता था या सामरिक कौशल में दक्ष, सैनिक गड़बड़ी होने पर तत्क्षण हस्तक्षेप करता था। ये लोग स्वभाव और प्रशिक्षण से व्यवस्था पसंद होते थे। जहां कहीं अवसर मिलता, ये स्थानीय शासकों के हाथों से सत्ता की बागड़ोर छीनकर अपने देश की अमलदारी स्थापित करने को उद्यत रहते थे। इनका दृढ़ विश्वास था कि आम आदमी के लिए न्याय और व्यवस्थित शासन मुहैया करा सकना गैर-यूरोपीय स्थानीय शासकों के बूते की बात नहीं है; वह तो गोरे लोगों का ही एकाधिकार है। ऐसे लोगों में कुछ महत्वपूर्ण नाम ये थे- लॉर्ड क्रोमर (मिस्र), लॉर्ड लुगाई (नाइजीरिया), लॉर्ड मिलनर (केप), मार्शल लायते (मोरक्को), कार्ल पीटर्स (जर्मन पूर्वी अफ्रीका)। अफ्रीकी देशों के विभिन्न भागों में यूरोपीय राष्ट्रों का आधिपत्य स्थापित करने में इनकी प्रमुख भूमिका थी।

आबादी और शक्ति-संतुलन की समस्या- साम्राज्यवादी प्रसार के पक्षधर यह तर्क भी दिया करते थे कि यूरोपीय देशों की बढ़ती हुई आबादी के लिए बसने का नया वासस्थान चाहिए। वासभूमि की मांग यूरोप के बाहर, विशेषकर अफ्रीका में उपनिवेश हासिल करने का औचित्य सिद्ध करने को की जाती थी, हालांकि इस तर्क में कोई बल नहीं था। 19वीं सदी के अंतिम दशकों में या उसके बाद एक भी यूरोपीय देश ने ऐसा कोई इलाका हासिल नहीं किया, जहां उसके नागरिक जाकर हमेशा के लिए बस गए हों। उत्तरी या मध्य अफ्रीका, दक्षिणी या पूर्वी एशिया में कभी भी मुट्ठी भर से ज्यादा यूरोपीय नहीं रहे। इनमें अधिकतर प्रशासनिक कार्यों में, सैनिकों के रूप में अथवा लाखों यूरोपीय कारोबार के सिलसिले में ही आया करते थे। प्रथम विश्व युद्ध के पूर्व तक लाखों यूरोपीय अपना-अपना देश छोड़कर अप्रवासी बने, लेकिन ये अमेरिकी महाद्वीप में ही बसते रहे। वहां उपनिवेश या प्रशासित इलाका कायम करने का जमाना बहुत पहले ही खत्म हो चुका था।

यूरोप की महाशक्तियों में अनेक मुद्दों पर आपसी प्रतिद्वंद्विता चलती रहती थी। इससे कई तरह की राजनीतिक शक्तियां क्रियाशील रहती थीं अथवा राजनीतिक तत्व जुड़ते रहते थे। ऐतिहासिक कारणों से ये देश अपनी सुरक्षा के लिए एक-दूसरे के विरुद्ध चौकसी करते रहते थे। यूरोप में हो या संसार के किसी भाग में, एक तरह का शक्ति-संतुलन बनाए रखना इनका एक प्रमुख उद्देश्य होता था। इसलिए भी, प्रमुख शक्तिशाली राष्ट्र संसार के उन क्षेत्रों में जहां इनके कदम पहले-पहल पड़ते थे,

जल्दी-जल्दी इलाकों को हड़पने, उन्हें अपने अधिकार में ले लेने की फिक्र में रहते थे। अफ्रीकी महादेश उनके इस प्रतिद्वंद्वितजन्य साम्राज्य-निर्माण का विशेष रूप से शिकार रहा।

टिप्पणी

प्रतिष्ठा-प्राप्ति तथा 'परोपकारिता' की कामना- उपनिवेश या प्रशासित क्षेत्रों का विस्तार शक्तिशाली औद्योगिक राष्ट्रों की प्रतिष्ठा का प्रतीक-सा बन गया था। संसार में विस्तृत भू-भाग का अधिपति होना महत्ता की निशानी अथवा महाशक्ति होने का प्रमाण समझा जाने लगा था। ब्रिटेन तथा फ्रांस सदियों से उपनिवेश अथवा कई छोटे-बड़े इलाकों के मालिक थे। इस कारण 19वीं सदी के सातवें दशक में बड़ी शक्तियों के रूप में उदित होने वाले राष्ट्र- जर्मनी, इटली, जापान और संयुक्त राज्य अमेरिका- संसार के बचे हुए इलाकों पर अपनी अमलदारी कायम करने को बेचैन थे। इसके बिना महाशक्ति में उनका जैसे शुमार नहीं हो सकता था।

इस प्रकार साम्राज्यवाद का उद्‌भव व्यापारिक, औद्योगिक, वित्तीय, वैज्ञानिक, राजनीतिक, पत्रकारिताजन्य, बौद्धिक, धार्मिक तथा मानवतावादी अनुप्रेरणाओं का सम्मिलित परिणाम था। इस प्रकार, यह समस्त पश्चिमी यूरोपीय सभ्यता का व्यक्त रूप था। उस जमाने में यूरोपीय देशों में अनेक लोग पूरी ईमानदारी के साथ यह सोचते थे कि सुदूर इलाकों में जहां उनके चरण नहीं पड़े थे, जाकर उन्हें सभ्यता तथा संस्कृति की रोशनी फैलानी है। इससे अंधकार में डूबे हुए लोगों को सभ्यता तथा प्रबुद्ध जिंदगी जीने का अवसर मिलेगा। यह भी साम्राज्यवादी प्रसार का एक नारा था। आधुनिक सभ्यता में आस्था उस काल का युगधर्म था तथा साम्राज्यवादी अभियान उसका जेहाद। स्कूल में अंग्रेजी बच्चों को ह्वाइट मैंस बर्डेन (White Man's Burden)- गोरे लोगों के दायित्व का पाठ पढ़ाया जाता था। फ्रांस में मिशन सिविलाइजेशन- सभ्यता-प्रसार का अभियान- की बातें की जाती थी तथा जर्मनी में कल्चर (संस्कृति) फैलाने पर बल दिया जाता था। संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा आंग्ल-सैक्शन छत्रछाया में सुरक्षित रहने के लाभ का प्रलोभन दिया जाता था। सामाजिक विकासवाद तथा मानव शरीर-रचना विज्ञान के कई विशेषज्ञ कहा करते थे कि गोरी चमड़ी वाले लोग भूरी, पीली या काली चमड़ी वालों की तुलना में अधिक समर्थ तथा प्रतिभाशाली होते थे। कुछ दूसरे लोग बहुत काल तक गोरों द्वारा अन्य प्रजातियों के लोगों पर अभिभावकत्व स्थापित करने की आवश्यकता तथा संभावना की बात करते थे। इन तर्कों से प्रभावित या दिग्भ्रमित होकर यूरोपीय देशों के कुछ कुलीन परिवारों के नौजवान गर्म तथा दुर्गम जंगली इलाकों में आदिम जिंदगी बिताने वाली जनजातियों या ऐसे ही अन्य लोगों के बीच एकाकीपन तथा तकलीफों की जिंदगी बिताने को निकल पड़ते थे। ये लोग इस भावना से प्रेरित रहते थे कि वे मानवता के उद्धार का काम करने जा रहे थे। आदिम लोगों में न्याय की नवयुगीन भावना का संचार करना, गुलाम बनाने के लिए जानवरों की तरह हब्शियों को पकड़ने के अभियान से संघर्ष करना (हालांकि गुलामों का व्यापार गोरे लोग ही करते थे), अकाल तथा महामारी से ग्रस्त इलाकों में सेवा-सहायता कार्य चलाना, अंधविश्वास दूर करना, गंदगी, बुरे-रहन-सहन अथवा पोषक पदार्थों के अभाव से उत्पन्न बीमारियों की रोकथाम का आयोजन करना- ये सारे निस्संदेह अच्छे काम थे लेकिन, इन कार्यों में भाग लेने वाले सभी लोग केवल मानवता के नि:स्वार्थ सेवक ही नहीं थे। अनेक लोग जातीय या व्यक्तिगत स्वार्थ से ही अनुप्रेरित रहते थे।

टिप्पणी

साम्राज्यवाद को कई स्रोतों से अनुप्रेरणा मिल रही थी। उसका स्वरूप भी हर जगह एक समान नहीं था। विभिन्न देशों में इनमें फर्क होता था। संसार के कई ऐसे इलाके जहां यूरोपीयों के चरण नहीं पड़े थे अथवा उनके पांव नहीं जमे थे, अक्षय प्राकृतिक संपदा और अशेष संभावनाओं से भरे पड़े थे। 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में भीषण प्रतियोगिता के युग में उन्हें अधिकृत करके अपने लिए आरक्षित कर लेने का लोभ संवरण करना शक्ति एवं संपदालोलुप यूरोपीयों के लिए कठिन ही नहीं, असंभव भी था। फलतः जिसे जहां मौका मिला, जो जितने क्षेत्रों पर पांव जमा सका, उन्हें अधिकृत किया। 1875 ई. में अफ्रीका महादेश का दसवें से भी कम भाग यूरोपीय देशों के अधिकार में था, किंतु केवल बीस वर्षों में, 1895 ई. तक के बीच अंग्रेजी साम्राज्य में साढ़े बयालीस लाख वर्गमील क्षेत्रफल के इलाके मिलाए गए। फ्रांसीसी साम्राज्य में पैंतीस लाख वर्गमील की वृद्धि हुई। रूस ने एशिया में अपनी सीमाओं से बढ़ते हुए लगभग पांच लाख वर्गमील का क्षेत्र हासिल किया। जर्मनी को दस लाख वर्गमील, इटली को एक लाख पचासी हजार वर्गमील तथा बेल्जियम को नौ लाख वर्गमील क्षेत्र हाथ लगे। पुर्तगाल और हालैंड के साम्राज्य ज्यों-के-त्यों बने हुए थे। संसार के इतिहास में ऐसा पहली बार हुआ था कि पृथ्वी के अधिकांश हिस्सों पर चंद यूरोपीय देशों की संप्रभुता स्थापित हो गई। नव-साम्राज्यवाद के इस चरण में पाश्चात्य शक्तियों की साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा के शिकार अफ्रीका, पूर्वी एशिया तथा लैटिन अमेरिका हुए।

अपनी प्रगति जांचिए

1. नेपोलियन ने सन् 1812 में किस राष्ट्र पर आक्रमण किया।
   (क) जापान (ख) इटली
   (ग) रूस (घ) जर्मनी
2. विलियम प्रथम ने किस सन् में बिस्मार्क को प्रशा का चांसलर नियुक्त किया?
   (क) सन् 1852 (ख) सन् 1862
   (ग) सन् 1872 (घ) सन् 1882

1.3 प्रथम विश्व युद्ध का प्रारंभ, शांति समझौता एवं इसके दूरगामी परिणाम

1815 में नेपोलियन के पतन के बाद यूरोप में शांति स्थापित करने के लिए वियना व्यवस्था का आयोजन किया गया, किंतु 1870 की घटनाओं ने इस व्यवस्था द्वारा निर्धारित शर्तों को समाप्त कर दिया। 1870 के बाद यूरोप की राजनीति में जर्मन सम्राट का बोलबाला हो गया। फ्रेंको प्रशा युद्ध में हार गया था। इतिहासकार मेरियट के अनुसार– ''बिस्मार्क के विचारों के अनुसार फ्रेंको प्रशा युद्ध इतिहास का सार है। आस्ट्रिया के बाद फ्रांस को स्वीडन का भाग या सेडोवो देना था। क्या जर्मनी की फ्रांस पर विजय महायुद्ध के लिए तर्कसंगत है।'' अब इटली तथा जर्मनी जैसी दो महान शक्तियों का उदय हो रहा था। 1807 के पूर्व फ्रांस को यूरोपियन महाद्वीप की शांति के लिए प्रमुख शक्ति केंद्र समझा जाता था किंतु अब यह स्थान जर्मनी ने ले लिया था। अब कहा जाने लगा कि

''यूरोप रखैल का पद खोकर मालिक का पद पा गया है।'' 1870 के बाद जर्मनी का महान निर्णयात्मक शासक बिस्मार्क था जिसकी वैदेशिक नीति का आधार फ्रांस को मित्रविहीन करना था। वह कहा करता था, ''जब तक फ्रांस के साथ किसी का समझौता नहीं है, वह जर्मनी के लिए खतरनाक नहीं है।'' 1914 के पूर्व यूरोप के राजनीतिज्ञ कई बार युद्ध के बादलों को टाल चुके थे किंतु इनको स्थाई तरीके से नहीं टाला जा सकता था। विनाश रूपी पक्षी संसार के ऊपर पंख फैलाए उड़ रहा था एवं किसी के पास भी ऐसी बंदूक न थी जिससे यह पक्षी मारा जा सकता। यह एक ऐसा विनाश था जिसको टाला नहीं जा सकता था। इतिहासकार मोरिसन एवं कोमोजर के अनुसार ''बीसवीं सदी के आरंभ में यूरोप राष्ट्र युद्ध की तैयारी उसे टालने की आशा से कर रहे थे।'' प्रथम महायुद्ध का मार्ग सबसे अधिक जर्मनी ने ही तैयार किया था।

टिप्पणी

युद्ध के आधार

बर्लिन कांग्रेस में बिस्मार्क ने रूस की अपेक्षा आस्ट्रिया का पक्ष लिया था क्योंकि उसका विचार था कि रूस एक शक्तिशाली देश है एवं वह किसी भी समय जर्मनी का शत्रु बन सकता है जबकि आस्ट्रिया जर्मनी का मित्र ही रहेगा। इसी कांग्रेस में बिस्मार्क ने फ्रांस का भी पक्ष लिया था एवं उसने ट्यूनिस आधिपत्य को मान्यता दी थी। 1879 में जर्मनी एवं आस्ट्रिया हंगरी के मध्य एक संधि हुई जिसके अनुसार यह निश्चित किया गया कि यदि रूस उन दोनों में से किसी पर भी आक्रमण करता है तो वे एक-दूसरे की सहायता करेंगे। 1887 में इटली भी एक संधि में शामिल हो गया जिसने बाद में चलकर ट्रिपिल एलाइंस का नाम धारण किया। इस संधि का मुख्य उद्देश्य शांति बनाए रखना था एवं अपने-अपने राज्यों में दृढ़ स्थिति उत्पन्न करना था। इस समझौते को पवित्र मित्र मंडल का ही दूसरा रूप कहा जा सकता है। इस समझौते में यह भी निश्चित किया गया कि यदि इसके सदस्य राज्य पर दो या दो से अधिक शक्तियां आक्रमण करती हैं तो समझौते के सभी सदस्य आक्रमण किए गए राष्ट्र की सहायता करेंगे। इटली ने यह आश्वासन दिया था कि यदि फ्रांस उस पर आक्रमण करता है तो उसकी पूरी सहायता की जाएगी। निकट पूर्व की समस्या को लेकर इटली, आस्ट्रिया एवं हंगरी के मध्य समझौता हो गया था। स्पष्ट था कि यह समझौता इंग्लैंड के विरुद्ध नहीं था चूंकि यूरोप वर्गों में बंट रहा था अत: यदि यह इंग्लैंड के विरुद्ध नहीं था तो स्वाभाविक रूप से फ्रांस एवं रूस के विरुद्ध था। प्रश्न यह उठता है कि जर्मनी, इटली, आस्ट्रिया एवं हंगरी एक-दूसरे के शत्रु थे किंतु अब मित्रों की भांति एक समझौते में क्यों आ गए? वास्तविकता तो यह है कि हर शक्ति अपने स्वार्थ के आधार पर इस समझौते की सदस्य बनी थी। जर्मनी फ्रांस को पहले से ही बता देना चाहता था कि यदि फ्रांस ने उस पर आक्रमण किया तो उसका सामना पूरे गुट द्वारा किया जाएगा। आस्ट्रिया रूस से भयभीत था और वह हर समय अपने पक्ष में कुछ शक्तियों को रखना चाहता था। आस्ट्रिया एवं जर्मनी को स्लाव जाति के विद्रोह का भी भय था। बिस्मार्क ने एक बार कहा था, ''सुदृढ़ व स्वतंत्र आस्ट्रिया का स्थायित्व जर्मनी की आवश्यकता है।''

इस समझौते में आने के इटली के बहुत से उद्देश्य थे। उसका विचार था कि वह एक कमजोर राष्ट्र है तथा यदि वह समझौते का सदस्य बन जाता है तो उसके सम्मान में वृद्धि हो जाएगी। इटली यह भी समझ रहा था कि इस समझौते का सदस्य बनकर उसे फ्रांस के विरुद्ध सहायता मिल सकेगी। एकीकरण के पश्चात इटली की रुचि उपनिवेशों

टिप्पणी

में बहुत बढ़ गई थी और अब उसकी दृष्टि उत्तरी अफ्रीका तथा एड्रियाटिक पर थी। ट्यूनिस में फ्रांस आ गया था तथा एबीसीनिया में इटली को पराजय का सामना करना पड़ा। इस पराजय ने इटली को उसकी कमजोरी का आभास करा दिया था तथा अब उसे उपनिवेश बढ़ाने के लिए अन्य शक्तियों की सहायता की आवश्यकता थी।

आस्ट्रिया, जर्मनी तथा इटली का समझौता हो गया था किंतु बिस्मार्क ऐसा कूटनीतिज्ञ था जो रूस की मदद से हाथ नहीं धोना चाहता था। यह ऐसा व्यक्ति था जिसने जर्मनी को छोड़कर बाकी समस्त यूरोप को उलझा दिया था तथा इस जादूगर के पिटारे में सदैव ही 5 गेंदें रहती थीं, जिनमें वह हमेशा ही तीन को हवा में उछालता रहता था। 1872 में रूस-आस्ट्रिया एवं जर्मनी में एक समझौता हुआ किंतु यह समझौता एक-दूसरे के स्वार्थों पर आधारित था। अतः अधिक समय तक नहीं चल सका। बिस्मार्क यूं ही रूस की सहानुभूतियां समाप्त नहीं कर देना चाहता था। अतएव 1877 में इस संधि को दोबारा से दोहराया गया एवं बाल्कन प्रायद्वीप में रूस के स्वार्थों को मान्यता दे दी गई। अब यूरोप में जर्मनी का फ्रांस को छोड़कर कोई शत्रु न था। जहां तक इंग्लैंड का प्रश्न है, वह महाद्वीप की राजनीति से अलग रहता था एवं उस समय तक जब तक कि जर्मनी अपनी जल सेना की ओर ध्यान नहीं दे रहा था, ब्रिटेन से जर्मनी को कोई खतरा न था। बिस्मार्क ने हेलिगोलैंड की संधि भी इंग्लैंड के साथ अपनी सुदृढ़ता के लिए की थी, जिसके अनुसार हेलिगोलैंड जर्मनी के अधिकार में आ गया था एवं ब्रिटेन को अफ्रीका के बहुत से इलाके दे दिए गए थे। फ्रांस को वह सदैव ही अकेला करना चाहता था। उसने घोषणा की थी कि "एल्सा लोरेन को छोड़कर सभी जगह हमने फ्रांस को मना लिया है। हमारे पास न तो कोई कारण है और न उस पर आक्रमण करने का हमारा कोई ध्येय है। मैं कभी नहीं लड़ूंगा क्योंकि मेरे विचार से युद्ध टाला नहीं जा सकता।" 1890 तक बिस्मार्क जर्मनी का चांसलर बना रहा एवं अब तक वह फ्रांस को बिलकुल अकेला कर चुका था। 1890 के बाद बिस्मार्क ने राजनीति से संन्यास ले लिया। तत्पश्चात जर्मन साम्राज्य की वैदेशिक नीति पूर्ण रूप से बदल गई।

इस नीति के परिवर्तन के परिणाम रूस एवं फ्रांस की मित्रता थी। जर्मनी, यूरोप में बहुत बड़ी सत्ता बन चुका था और फ्रांस अब अकेला उसका सामना नहीं कर सकता था। फ्रांस एवं रूस के संबंध पहले से ही खराब थे। फ्रांस गणराज्य था एवं रूस में तानाशाही थी, किंतु समय के प्रवाह ने दोनों के संबंध को मैत्रीपूर्ण बना दिया था।

1875 के जर्मनी एवं फ्रांस के झगड़े में रूस ने फ्रांस का पक्ष लिया था। बर्लिन कांग्रेस में जर्मनी ने रूस के प्रति जो व्यवहार किया था, उससे रूस एवं फ्रांस की मित्रता और भी दृढ़ हो गई थी। 1877 में जार ने घोषणा की थी कि वह फ्रांस को राइन प्रदेश में और अधिक निर्बल नहीं होने देगा। 1890 के बाद कैसर ने रूस के साथ कोई मित्रता का व्यवहार नहीं किया। जर्मनी एवं रूस के संबंध बिगड़ने का एक कारण यह भी था कि जर्मनी निकट पूर्व में रुचि ले रहा था एवं उसे यहां पर रूस के विरोध का खतरा था। रूस एवं फ्रांस के संबंध सुधरने से रूस की स्वार्थ पूर्ति होती थी। पहली बात तो यह थी कि ट्रांस साइबेरियन रेलवे लाइन को पूरा करने के लिए रूस को धन की आवश्यकता थी एवं यह धन उसे फ्रांस से मिल रहा था। दूसरी बात यह थी कि रूस ट्रिपिल एलाइंस की टक्कर का एक और समझौता करना चाहता था। परिणामस्वरूप 1891 में रूस एवं फ्रांस के मध्य एक समझौता हुआ जिसके अनुसार तय किया गया कि यदि

टिप्पणी

जर्मनी व इटली फ्रांस पर आक्रमण करते हैं तो रूस उसकी सहायता करेगा। साथ ही यदि जर्मनी या आस्ट्रिया रूस पर आक्रमण करते हैं तो फ्रांस उसकी सहायता करेगा। प्रो. शैपीरो के अनुसार, ''1894 में द्वैत समझौते की घोषणा पर फ्रांस में सामान्य हर्ष की लहर दौड़ गई थी। उसका एकाकीपन अब समाप्त हो गया था एवं अब वह पहले की अपेक्षा अधिक आसानी से सांस ले सकता था।''

बिस्मार्क के बाद जर्मनी की वैदेशिक नीति पूर्ण रूप से बदल गई थी। कैसर जर्मनी को संसार की सर्वप्रमुख निर्णायक शक्ति बनाना चाहता था। उसने घोषणा की थी, ''बिना जर्मनी के और जर्मन सम्राट की इच्छा के अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में समुद्र पार भी महत्वपूर्ण निर्णय न किए जाएं।'' इंग्लैंड एवं जर्मनी के संबंध बहुत अच्छे रहे थे किंतु कैसर विश्व विजय के स्वप्न देख रहा था। अत: उसके समय पर थल सेना एवं व्यापार पर जर्मनी ने बहुत अधिक ध्यान दिया। परिणामस्वरूप इंग्लैंड एवं जर्मनी के संबंध बिगड़ने लगे। अभी तक इंग्लैंड के वास्तविक रुख का पता नहीं चल पा रहा था। न तो उसने तीन सम्राटों की संधि में भाग लिया था और न ही दो देशों की संधि में कोई रुचि दिखाई थी। बोअर युद्ध में ब्रिटिश सेनाओं के कैद कर लिए जाने पर कैसर ने राष्ट्रपति क्रूजर को बधाई तार भेजा था।

यह इंग्लैंड को बहुत बुरा लगा था। परिणामस्वरूप दोनों के संबंध और अधिक खराब हो गए। वैमनस्यता यहीं पर समाप्त हो सकती थी किंतु जर्मनी सम्राट ने जल सेना को भी दृढ़ करना आरंभ कर दिया। ब्रिटेन यह सहन नहीं कर सकता था कि संसार में कोई भी शक्ति जल सेना के क्षेत्र में ब्रिटेन की बराबरी में आ जाए। वैदेशिक क्षेत्र में ब्रिटेन के अपने कुछ सिद्धांत थे जो निम्नलिखित थे–

(1) वह कोई भी इस प्रकार की शक्ति नहीं पनपने देना चाहता था जो स्वयं उसके लिए खतरनाक हो।

(2) इंग्लैंड यूरोप के महाद्वीप में कोई रुचि नहीं रखता था अत: वह अभी तक मध्यस्थता का मार्ग अपनाए हुए था। वह कोई भी शक्ति जो यूरोप की शक्ति के लिए खतरा बनती थी, इंग्लैंड उसके विरुद्ध हो जाता था।

(3) इंग्लैंड भारत मार्ग को सदैव ही सुरक्षित रखना चाहता था और इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए उसने तुर्की साम्राज्य का पक्ष लिया था।

बोअर युद्ध के पश्चात ब्रिटेन इस तथ्य को अच्छी प्रकार समझ गया था कि यूरोप में राजनीति में उसे सक्रिय रहना चाहिए क्योंकि इस युद्ध में यूरोप की सहानुभूतियां बोअर युद्ध के प्रति थी और ब्रिटेन स्वयं को अकेला महसूस कर रहा था। 1901 में ब्रिटेन ने जर्मन से मित्रता करने का प्रयत्न किया किंतु जर्मन रूस का साथ नहीं छोड़ना चाहता था। अत: यह मित्रता स्थापित नहीं हो सकी। इधर जर्मनी अपनी जल सेना बढ़ा रहा था। दूसरी ओर फ्रांस तथा रूस जर्मनी को अपनी ओर मिलाने का प्रयत्न कर रहे थे। इंग्लैंड भी अपना एक संघ बनाना चाहता था। अत: उसने फ्रांस एवं रूस के साथ समझौता कर लिया, ब्रिटेन का फ्रांस एवं रूस के साथ मिलना अंतर्राष्ट्रीय जगत में कूटनीतिज्ञ क्रांति का आना था। यद्यपि मिस्र एवं सूडान में इंग्लैंड व फ्रांस के स्वार्थ टकरा रहे थे। फसोदा कांड में तो दोनों देशों में युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गई थी, किंतु किसी-न-किसी प्रकार शांति स्थापित कर ली गई। बहुत प्रयत्नों के पश्चात अफ्रीका को लेकर ब्रिटेन एवं फ्रांस

में संधि हो गई तथा अब वैदेशिक क्षेत्र में दोनों एक दूसरे की सहायता के लिए तैयार हो गए।

टिप्पणी

इंग्लैंड एवं रूस में निकट पूर्व को लेकर वैमनस्यता चल रही थी। रूस तुर्की के युद्ध में रूस ने पराजित होकर अफगानिस्तान तथा तिब्बत के रास्ते भारत को अपना लक्ष्य बना लिया था किंतु कुस्तुनतुनियां में अब यदि रूस का प्रभुत्व रहता है तो इंग्लैंड पर उसका कोई प्रभाव न था क्योंकि स्वेज नहर पर ब्रिटेन का पूरा आधिपत्य था। 1907 में इंग्लैंड एवं रूस के मध्य संधि हो गई अत: अब इंग्लैंड ट्रिपिल आंता आंत में फ्रांस एवं रूस के साथ मिल गया। मोरीसन एवं कोमोजर के अनुसार–''दो समझौतों के भयपूर्ण संतुलन में शांति स्थापित की गई। ट्रिपिल एलाइंस जो जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी एवं इटली में हुआ था तथा ट्रिपिल आंता आंत जो रूस, फ्रांस एवं ग्रेट ब्रिटेन में हुआ था।''

1902 में इटली के ट्रिपोली में प्रभुत्व को फ्रांस ने मान लिया एवं इटली ने फ्रांस के प्रभुत्व को मोरक्को में मान्यता प्रदान कर दी। इटली ने वादा किया कि वह आस्ट्रिया-हंगरी व जर्मनी के साथ मित्रता को और आगे नहीं बढ़ाएगा। 1905 के मोरक्को अभियान में 1911 के अगादीर प्रश्न पर मोरक्को में जर्मनी एवं फ्रांस में कटुता उत्पन्न हो गई थी। जर्मनी ने मोरक्को अभियान में भूमिका इसलिए निभाई थी क्योंकि वह फ्रांस से अपने संबंध समाप्त करना चाहता था। इस अभियान में फ्रांस का समर्थन इटली, इंग्लैंड, स्पेन एवं रूस ने किया। बाल्कन युद्ध में जर्मनी, आस्ट्रिया एवं हंगरी के मान-सम्मान को धक्का लगा क्योंकि इस युद्ध में उन्होंने गलत पार्टी चुनी थी। किंतु सर्बिया एवं रूमानिया की स्थिति काफी दृढ़ हो गई थी। इस प्रकार यूरोप का वातावरण बड़ा तनावपूर्ण चल रहा था एवं किसी भी समय युद्ध आरंभ हो सकता था। यूरोप अब दो शिविरों में बंट गया था और किसी भी समय महायुद्ध भड़काना चाहता था। इस प्रकार युद्ध की भूमिका तैयार हो गई थी।

प्रथम युद्ध के पूर्व बहुत से युद्ध हुए थे। कभी बाल्कन प्रायद्वीप में युद्ध भड़कता तो कभी उत्तरी अफ्रीका में, किंतु शांति समझौते से ही इन युद्धों की संभावना को समाप्त कर दिया जाता था। 1907 से 1914 तक ट्रिपिल एलाइंस एवं ट्रिपिल आंता आंत की स्थापना हो गई थी जिनमें घोर प्रतिद्वंद्विता थी। आस्ट्रिया, इटली एवं बाल्कन में उलझा हुआ था दोनों ही देश एड्रियाटिम समुद्र पर अपना-अपना अधिकार स्थापित करना चाहते थे। इटली ने 1902 में फ्रांस से एवं 1909 में रूस से संधि कर ली। दूसरी ओर ट्रिपिल आंताआंत के सदस्यों ने अपने स्वार्थों को सुलझा लिया था। स्पेंडर के अनुसार जिस व्यवस्था में यूरोप पहुंच गया था, वह स्थिति राष्ट्रीयता की थी जिसमें विभिन्न राष्ट्रों को दो गुटों में विभाजित कर दिया गया था। इन दोनों गुटों के मध्य कोई पुल न था। युद्ध और शांति के हित में इससे बुरी परिस्थिति और नहीं हो सकती थी।

1.3.1 प्रथम विश्व युद्ध के कारण

प्रथम विश्व युद्ध के कारणों का अध्ययन निम्नानुसार किया जा सकता है।

गुप्त संधियां

प्रथम विश्व युद्ध का मार्ग गुप्त संधियों ने तय कर दिया था किंतु इसके साथ भी अन्य बहुत से ऐसे कारण थे जिन्होंने इस युद्ध को आवश्यक बना दिया। यह कहना भी गलत न होगा कि दो खेमों में विभाजित यूरोप अपनी-अपनी शक्तियों को आजमाना चाहता था

एवं इसका एक ही चारा था कि संसार को युद्ध की भट्टी में झोंक दिया जाए। पिछली पूरी सदी क्रांति एवं सुधारों का समय थी किंतु यूरोप की समस्याओं का अंत नहीं हुआ था। इस बढ़ते असंतोष के निम्नलिखित कारण थे-

टिप्पणी

राष्ट्रीयता की भावना

इटली एवं जर्मनी के एकीकरण ने यूरोप में राष्ट्रीयता की भावना को भर दिया था। प्रसिद्ध विद्वान लॉर्ड एक्टन का विचार है कि राष्ट्रीयता की भावना एक भद्दा एवं दोषी विचार है। इस विचार ने जर्मनी को अस्त-व्यस्त कर दिया था। मध्य एवं पश्चिमी यूरोप में पूर्ण राष्ट्र बन गए थे, किंतु पूर्वी यूरोप में अभी तक छोटे-छोटे एवं विभाजित राष्ट्र थे। पूर्वी यूरोप में रूस, आस्ट्रिया एवं तुर्की का राज्य था। 1817 से 1914 तक राष्ट्रीयता की भावना आखिरी हद तक पहुंच गई थी। परिणामस्वरूप एक राज्य दूसरे से घृणा करने लगा था। राष्ट्रीयता व्यक्तियों का धर्म बन गई थी जिसे नवनिर्मित इटली एवं जर्मनी बढ़ावा दे रहे थे। फ्रांस एवं इंग्लैंड को इससे धक्का लग रहा था। इस राष्ट्रीयता की भावना ने शासित राज्यों को यह सोचने पर बाध्य कर दिया कि किसी समय वे शासक राष्ट्रों के प्रति उचित थे, अत: उनको अपना प्राचीन वैभव प्राप्त करना ही चाहिए। यही वह भावना थी जिसने यूरोप को विनाश के किनारे पर लाकर खड़ा कर दिया था। यही वह भावना थी जिसने आस्ट्रिया-हंगरी के उत्तराधिकारी आर्क ड्यूक की हत्या करवा दी थी। यही वह भावना थी जिसने जर्मनी को फ्रांस से तथा फ्रांस को जर्मनी से शत्रुता मोल लेने के लिए बाध्य कर दिया था।

प्रजातंत्र का विकास

बीसवीं सदी में प्रजातंत्र का विकास हो रहा था। यद्यपि प्रजातंत्रात्मक सरकारें स्थापित की जा रही थी किंतु अभी भी प्रजातंत्र का भविष्य संसार में खतरे में था। यूरोप में रूस एवं जर्मनी दो ऐसी शक्तियां थीं जो प्रजातंत्र विरोधी थी। 1905 की रूसी क्रांति को जार की तानाशाह सरकार दबा चुकी थी एवं जर्मनी का कैसर संसार में विजय के स्वप्न देख रहा था। जर्मनी अपने प्रभुत्व को संसार में स्थापित करने के लिए हर क्षेत्र में शक्तिशाली बनने के लिए तत्पर था किंतु उसका रास्ता हर ओर से बंद था। उसके विरोधी रूस, फ्रांस और इंग्लैंड पहले से ही संसार पर छाए हुए थे। इन राष्ट्रों के प्रभुत्व के कारण संसार में जर्मनी का स्थान दूसरा बन गया था जो कैसर को सहन न था। यही कारण था कि 1900 से 1914 तक जर्मनी यूरोप में उथल-पुथल पैदा करता रहा।

औद्योगिक क्रांति

औद्योगिक क्रांति के कारण यूरोप के लगभग हर देश के समक्ष आर्थिक समस्या थी। औद्योगिकीकरण के कारण इंग्लैंड, जर्मनी एवं अमेरिका ने बहुत उन्नति कर ली थी। फ्रांस एवं इटली भी कृषि तथा औद्योगिक क्षेत्र दोनों में ही उन्नति कर रहे थे। पूर्वी यूरोप भी लगभग औद्योगिकीकरण में आ गया था। अधिकतर एशिया भी इस क्षेत्र में आने लगा था। अत: यह आवश्यक था कि अफ्रीका जैसे पिछड़े हुए प्रायद्वीप में ये सब देश अपने-अपने उपनिवेशों की स्थापना कर लें। बढ़ते हुए उत्पादन के लिए आवश्यक था कि बाहरी देशों में कच्चा माल प्राप्त किया जाए, अत: सभी देशों में उपनिवेश बढ़ाने की होड़ लग गई थी एवं यह कोई भी देश नहीं समझ पा रहा था कि इस दौड़ में महायुद्ध के बीज छिपे हुए थे।

टिप्पणी

जर्मनी की वैदेशिक नीति

इंग्लैंड की जल सेना अजेय थी। जब तक जर्मन में बिस्मार्क सत्ता में रहा उसकी वैदेशिक नीति इस प्रकार की रही जिससे इंग्लैंड से जर्मनी के संबंध न बिगड़ पाएं, किंतु बिस्मार्क के पश्चात जर्मनी की वैदेशिक नीति में बड़ा भारी परिवर्तन हो गया। कैसर ने अपना सारा ध्यान समुद्रों पर लगा दिया। उसका कहना था कि जर्मनी का भविष्य समुद्रों पर आधारित है। ब्रिटेन इस बात को सहन नहीं कर सकता था क्योंकि उसे खतरा था कि इस प्रकार जर्मनी ब्रिटेन की अपेक्षा संसार को सस्ता माल देने लगेगा। अत: इंग्लैंड ने जर्मनी के माल पर आयात कर बढ़ा दिए थे जिससे जर्मनी कुढ़ रहा था। यह जानते हुए भी कि दोनों देश एक दूसरे के ग्राहक थे, एक-दूसरे को फूटी आंख भी नहीं देखना चाहते थे।

छोटे-छोटे क्षेत्रों का बंटवारा

कुछ ऐसे भी क्षेत्र थे जो झगड़े का मुख्य कारण बने हुए थे। फ्रांस एलसा लोरेंस के मामलों को नहीं भूल पाया था एवं हर स्थिति में इस क्षेत्र पर अपना अधिकार स्थापित करना चाहता था। इटली का कुछ भाग आस्ट्रिया ने दबा रखा था जिसे वह हर स्थिति में अपने प्रभाव में लाने का प्रयत्न कर रहा था। रूस कुस्तुनतुनिया पर अपना अधिकार स्थापित करने के लिए भी बाल्कन प्रायद्वीप में हस्तक्षेप करने को तैयार था एवं बुल्गारिया महानतम बुल्गारिया बनने का स्वप्न देख रहा था जैसा कि सेंट स्टीफेनों की संधि द्वारा निश्चित हो गया था।

यूरोप में किसी व्यवस्था का अभाव होना

यूरोप में कोई भी ऐसी व्यवस्था न थी जिसके आधार पर निश्चित शांति लागू की जा सकती। वियना, पेरिस अथवा बर्लिन की कांग्रेसों ने जो कुछ भी किया था, वह चिरस्थाई न था। यूरोप की संयुक्त व्यवस्था भी इस क्षेत्र में असफल हो गई थी। यूरोप की मुख्य शक्तियों का ध्येय तो कमजोर शक्तियों को जीतना था। परिणामस्वरूप गुप्त संधियों का सहारा लेना पड़ा एवं यूरोप दो खेमों में बंट गया था।

समाचार पत्रों की भूमिका

प्रथम विश्व युद्ध के होने में समाचार-पत्रों ने गहरी भूमिका निभाई थी। अकसर एक देश के समाचार पत्र एक दूसरे देश की नीतियों का झूठा प्रचार करके अपने देशवासियों की राष्ट्रीयता की भावना भड़का रहे थे। जर्मनी का सम्राट कैसर क्रोधी व्यक्ति था जो किसी भी मामले में समझौते को महत्व नहीं देता था। वह स्वयं को संसार का निर्णायक समझता था एवं हर क्षेत्र में जर्मनी की इच्छा को ही सर्वोपरि बनाना चाहता था। उस समय अंतर्राष्ट्रीय कानून थे किंतु उनको पालन कराने वाली कोई शक्ति न थी। 1899 और 1907 के मध्य हुए सम्मेलनों में अंतर्राष्ट्रीय शांति स्थापना के लिए अनेक प्रस्ताव पास किए गए, किंतु हर देश में उन प्रस्तावों को अपनी सुविधा के अनुसार अपनाया गया एवं कोई भी देश उनका कभी भी उल्लंघन कर देता था। जर्मनी का एकीकरण प्रशा के प्रभुत्व में हुआ था एवं जर्मन साम्राज्य की वैदेशिक नीति भी प्रशा द्वारा ही निर्धारित की गई थी। इसकी मुख्य नीति युद्धों में विश्वास करना था। बर्लिन सम्मेलन में बोसनिया एवं हर्जीगोबिना के प्रांत आस्ट्रिया को शासन करने के लिए दिए गए थे, किंतु 1908 में आस्ट्रिया ने इन्हें अपने राज्य में मिला लिया। सर्बिया ने विरोध किया एवं प्रस्ताव रखा कि इन प्रांतों की सर्बिया की जनता पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करने के पक्ष में थी जिसके लिए वे

टिप्पणी

सर्बिया की सहायता लेने में भी बुराई नहीं समझते थे। 1909 के बाद बाल्कन प्रायद्वीप में आस्ट्रिया एवं सर्बिया में प्रतिद्वंद्विता की सीमा को पार कर गई थी, जो 1914 के युद्ध में फूट पड़ी थी। प्रो. शैपीरो के अनुसार 1870 के सैनिक समझौते जिनका उद्घाटन बिस्मार्क ने किया था, इन्होंने यूरोप को दो समूहों में बांट दिया था ट्रिपिल आंताआंत। यदि एक बार कोई झगड़ा आरंभ हो जाता तो अंतर्राष्ट्रीय अराजकता कूटनीतिक बातचीत से ढक जाती किंतु अति महत्वपूर्ण मामलों में ये बिलकुल बेकार थे, क्योंकि ये किसी भी झगड़े को रोक नहीं सकते थे।

युद्ध का तत्कालीन कारण

कारण मौजूद थे, प्रस्तावना तैयार थी एवं अब एक अवसर की तलाश थी ताकि दोनों यूरोप के शिविर अपनी-अपनी शक्ति का परिचय दे सकें। शक्ति परिचय का अवसर 28 जून, 1914 को आया। यह अवसर आस्ट्रिया के सिंहासन के उत्तराधिकारी आर्क ड्यूक फर्डीनेंड की हत्या के फलस्वरूप मिला था। 1909 के पश्चात के द्वंद्व में और अधिक वृद्धि हो गई थी। 1912-13 की बाल्कन लड़ाइयों में सर्बिया ने विजय प्राप्त की थी। सर्बिया में स्लाव जाति संगठन के लिए 'काला हाथ' एवं 'संगठन' या 'मृत्यु' नाम की अनेक संस्थाएं बनाई गईं।

इसी समय पता चला कि आर्क ड्यूक फर्डीनेंड बोसनिया जा रहा है। अत: उसकी हत्या की योजना बनाई गई। इस हत्या में सर्बिया की सरकार का हाथ था। योजना के अनुसार आर्क ड्यूक एवं उसकी पत्नी 28 जून, 1914 को साराजेवो नगर में मार डाले गए। यही दिन सर्बिया के लिए भी शोक का दिन था। क्योंकि इसी दिन 1389 में कोसोंबो के युद्ध में तुर्की ने सर्बिया को पराजित करके अपना दास बना लिया था। चूंकि सर्बिया को आस्ट्रिया 1908 में अपने राज्य में मिल चुका था। अत: यह अपराध एक प्रकार से आस्ट्रिया की जनता ने क्योंकि आस्ट्रिया की भूमि पर ही किया, अत: इसका उत्तरदायी सर्बिया को ठहराया गया। बाद में दो सर्बियन देशभक्तों ने इस बात को स्वीकार कर लिया कि इस हत्या का उद्देश्य राजनीतिक था। आस्ट्रिया जो सर्बिया को दबा देना चाहता था। दूसरी बात यह थी कि आस्ट्रिया एवं जर्मनी दोनों ही इस घटना को रूस समर्थक स्लाव जाति का उत्पात समझ रहे थे। मामले की जांच करने पर यह मालूम हुआ कि आस्ट्रिया के कुछ पदाधिकारी इस योजना से संबंधित थे, हां यह बात निश्चित थी कि सरकार को पूरे संगठन का पता नहीं चल पाया था। अत: अपने इस निर्बल पड़ोसी को दबाने के लिए तथा दंडित करने के लिए आस्ट्रिया ने सेना का सहारा लिया, किंतु आस्ट्रिया को भय था कि रूस सर्बिया की सहायता करेगा, अत: उसने जर्मन सहायता का पहले से प्रबंध कर लिया था। 5 जुलाई को जर्मन सरकार ने आस्ट्रिया को आश्वासन दिया कि सर्बिया के हर मामले पर जर्मन सरकार एक मित्र की भांति आस्ट्रिया की सहायता करेगा। आस्ट्रिया स्थानीय युद्ध के पक्ष में न था। किंतु परिस्थितियां बदलती जा रही थीं। आस्ट्रिया ने सर्बिया को जर्मन सरकार की मित्रता पाकर एवं अपनी स्थिति को दृढ़ करके 23 जुलाई को चुनौती भेजी। इस चुनौती की शर्तें इतनी अपमानजनक थी कि संसार का कोई भी राष्ट्र इन्हें स्वीकार नहीं कर सकता था। चुनौती में कहा गया कि सर्बिया ने आस्ट्रिया के साथ अच्छे मैत्रिक संबंधों को स्वयं समाप्त करना चाहा है एवं ड्यूक की हत्या में सर्बिया के अफसरों का हाथ है। अत: सर्बिया सारी आस्ट्रिया विरोधी भावनाएं भड़काने के लिए जिम्मेदार है। वह सारा साहित्य

टिप्पणी

जो आस्ट्रिया विरोधी है, तुरंत रोक देना चाहिए। आस्ट्रिया विरोधी किताबों तथा अध्यापकों को विश्वविद्यालय से निकाल देना चाहिए। वे अधिकारी जो इस कांड से संबंधित हैं, दंडित किए जाने चाहिए। दो सर्बियन अफसरों के नाम अल्टीमेटम दिए गए एवं मांग की गई कि उन्हें तुरंत गिरफ्तार कर लिया जाए। सर्बिया अपनी सीमाओं से आस्ट्रिया विरोधी तथ्यों को दबाने में आस्ट्रिया की मदद करेगा एवं ड्यूक की हत्या की जांच के संबंध में सर्बिया आस्ट्रिया की सहायता करेगा। सर्बिया से 48 घंटे में इस अल्टीमेटम का उत्तर मांगा गया। इसी समय रूस ने घोषणा कर दी कि किसी भी स्थिति में रूस सर्बिया पर आक्रमण नहीं होने देगा। परिणामस्वरूप सर्बिया ने आस्ट्रिया की मांगें मानने से इनकार कर दिया तथा उत्तर दिया कि सर्बिया की सरकार का ड्यूक की हत्या में कोई हाथ नहीं है किंतु फिर भी शांति स्थापित करने के लिए सरकार अपराधियों को दंडित करने पर तुली हुई है। सर्बिया ने यह भी कहा कि झगड़े के निपटारे के लिए एक हेग सम्मेलन अथवा संसार की मान्य शक्तियों का निर्णय लिया जाए। जर्मनी आस्ट्रिया की एवं रूस सर्बिया की सहायता कर रहा था। जर्मनी ने घोषणा की कि सर्बिया का उत्तर स्पष्ट हो चुका है कि वह इन न्यायपूर्ण शर्तों को मानने के लिए तैयार नहीं है। अत: अब युद्ध के अलावा और कोई चारा नजर नहीं आता।

आस्ट्रिया युद्ध पर तुला था। अत: उसने अल्टीमेटम का समय समाप्त होने से पहले ही सर्बिया पर आक्रमण कर दिया। रूस सर्बिया की सहायता के लिए युद्ध क्षेत्र में आ गया। इंग्लैंड के विदेश मंत्री सर एडवार्ड ग्रे ने युद्ध के परिणाम जांचते हुए कहा कि झगड़े को समाप्त करने के लिए जर्मनी, फ्रांस, इंग्लैंड एवं इटली को मध्यस्थता करनी चाहिए, किंतु जर्मनी ने यह मानने से इनकार कर दिया। रूस ने अब अपनी फौजें सर्बिया की ओर भेज दी। ग्रे ने फिर शांति के लिए अपील की लेकिन उसकी मांग को ठुकरा दिया गया। 28 जुलाई को आस्ट्रिया ने सर्बिया के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। यह स्पष्ट हो गया कि जर्मनी से सहायता प्राप्त आस्ट्रिया तन, मन, धन से युद्ध पर उतारू है। जर्मनी ने आस्ट्रिया को सलाह दी कि वह पहले रूस से संधि कर ले। जर्मन चांसलर ने घोषणा की कि, ''हम वास्तव में एक मित्र के नाते अपने कर्तव्य पालन को तत्पर हैं फिर भी हम आस्ट्रिया-हंगरी के माध्यम से दावानल में नहीं कूद सकते क्योंकि उसके लिए हमारे सुझावों का कोई महत्व नहीं है।''

आस्ट्रिया के युद्ध छेड़ देने से यूरोप की शक्ति पूर्ण रूप से युद्ध क्षेत्र में आ गई। 29 जुलाई को जार ने अपनी सेनाओं को सर्बिया बचाने का आदेश दिया। अब जर्मनी ने भी युद्ध क्षेत्र में आने का इरादा बना लिया। किंतु इसके पहले कैसर ने एक तार द्वारा रूस से अनुरोध किया कि वह इस झगड़े में सैनिक हस्तक्षेप न करे। किंतु रूस ने इस पर कोई ध्यान नहीं दिया। स्थिति गंभीर हो चुकी थी। जर्मनी तथा रूस युद्ध में आ गए थे जिसका अर्थ था कि जल्दी ही पूरा यूरोप युद्ध में भाग लेने लगेगा। जर्मनी के समक्ष एक समस्या थी। यदि वह अपनी सेनाएं भेजता है तो फ्रांस भी चुप नहीं बैठेगा। फ्रांस एवं जर्मनी दोनों ही इंग्लैंड का रुख देख रहे थे। जर्मनी ने कोशिश की कि इंग्लैंड अपनी तटस्थ नीति की घोषणा कर दे किंतु ग्रे ने कोई निश्चित उत्तर नहीं दिया। वह फ्रांस के साथ मैत्री संबंध स्थापित नहीं कर पाया क्योंकि ब्रिटिश कैबीनेट फ्रांस के विरुद्ध थी। आयरलैंड का झगड़ा चल रहा था, अत: ऐसा आभास होता था कि इंग्लैंड युद्ध में भाग नहीं लेगा।

टिप्पणी

31 जुलाई को जर्मनी ने दो अल्टीमेटम भेजे– एक फ्रांस को एवं दूसरा रूस को। यह अल्टीमेटम दोनों देशों की उन सेनाओं के विरुद्ध थे जो सर्बिया में थी एवं फ्रांस को लिखा गया था कि यदि जर्मनी एवं रूस का युद्ध आरंभ होता है तो वह यह उत्तर दे कि वह किसका साथ देगा। इसी समय ग्रे ने जर्मनी को एक नोट भेजा जिसमें मांग की गई कि बेल्जियम की तटस्थता को मान्यता दी जाए। दो अगस्त को जर्मनी ने लक्जेमबर्ग पर अधिकार कर लिया एवं बेल्जियम को अल्टीमेटम भेजा कि वह जर्मनी की पैदल सेनाओं को फ्रांस पर आक्रमण करने का रास्ता दे दे। चार अगस्त को जर्मनी ने बेल्जियम पर आक्रमण कर दिया। बेल्जियम की तटस्थता को धक्का लगते देखकर इंग्लैंड युद्ध में आ गया एवं उसी दिन जिस दिन जर्मन फौजें बेल्जियम में घुसी थीं, इंग्लैंड ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। अब इंग्लैंड, फ्रांस एवं रूस ने एक ओर संधि की। इटली ने अपनी तटस्थता घोषित कर दी, किंतु बाद में सभी राज्य युद्ध में उतर आए। जापान भी युद्ध में शामिल हो गया क्योंकि वह इंग्लैंड का मित्र था। 23 अगस्त को जापान ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी क्योंकि भारत ब्रिटेन का उपनिवेश था, अतः वह भी युद्ध में उतर आया। इस प्रकार यह युद्ध जो बाल्कन प्रायद्वीप में आरंभ हुआ था, पूरे यूरोप एवं एशिया में फैल गया। अमेरिका भी अधिक समय तक स्वयं को युद्ध से दूर नहीं रख सका और अंत में वह भी इस युद्ध में सम्मिलित हो गया।

1.3.2 प्रथम विश्व युद्ध के परिणाम

प्रथम विश्व युद्ध के परिणामों का अध्ययन इस प्रकार किया जा सकता है।

जर्मन सेनाएं पूर्ण प्रशिक्षित सेनाएं थीं जबकि मित्र राष्ट्रों में फ्रांस की सेनाएं ही संपूर्ण संगठन की जान थीं। रूस के पास बहुत बड़ी सेना थी किंतु उसका संगठन सैन्य रूप से नहीं किया गया था। युद्ध के अंतिम समय में अमेरिका भी मित्र राष्ट्रों के साथ मिल गया एवं उसने अपनी मानव शक्ति एवं धन प्रचुर मात्रा में लगा दिए। परिणामस्वरूप मित्र राष्ट्रों की शक्ति बहुत बढ़ गई। जैसे-जैसे युद्ध भड़कता गया, इंग्लैंड की सेनाओं में भी बढ़ोतरी होती गई। इसका मुख्य कारण इंग्लैंड के उपनिवेश थे, जो अब ब्रिटेन के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चल रहे थे। ब्रिटेन की मुख्य शक्ति जल सेना थी। जैसा कि हम देख चुके हैं, इस जल सेना के सहारे ब्रिटेन सदैव अजेय रहा था किंतु विलियम कैसर की नीति के कारण जर्मनी की जल सेना शक्ति भी काफी बढ़ गई थी और अब इस क्षेत्र में जर्मनी ब्रिटेन की समता में आ गया था। फ्रांस के पास भी अत्यंत विशाल नौ सेना शक्ति थी किंतु उनका संगठन अत्यंत निम्न कोटि का था। अमेरिका की नौ सेना शक्ति बहुत छोटी थी किंतु इसके साथ ही यह उच्च कोटि से संगठित की गई थी। अक्सर युद्धों में यह देखा गया है कि सेनाओं की विजय संख्या पर न होकर के संगठन एवं तत्परता पर निर्भर करती है।

सैनिक परिवर्तन

बिस्मार्क के शासन काल में जर्मनी की नीति शांति पर आधारित थी। वह तो जर्मनी को मात्र यूरोप की सर्वोच्च सत्ता बनाना चाहता था, किंतु 1890 के बाद शासन की समस्त सत्ता विलियम कैसर द्वितीय के हाथों में आ गई जिसका मुख्य ध्येय संसार पर शासन करना था। जर्मनी की महत्वाकांक्षा दिन-पर-दिन बढ़ती जा रही थी। अब वह भी अन्य

टिप्पणी

राष्ट्रों की भांति साम्राज्य विस्तार के लिए दौड़ लगा रहा था। जर्मनी के लिए वह कोई भी निर्णय व्यर्थ था जिस पर जर्मनी की स्वीकृति न ली गई हो। यह देश अपनी सैनिक और नौ सैनिक शक्ति बढ़ाने में लगा था एवं कैसर का विचार था कि जर्मनी का भविष्य नौ सैनिक शक्ति पर ही निर्भर करता है। जैसा कि वह कहा करता था, हमारा भविष्य पानी पर निर्भर करता है। अब जर्मन नवयुवकों के लिए सैनिक शिक्षा आवश्यक कर दी गई थी एवं राष्ट्रीय आय का 87 प्रतिशत सेना पर व्यय कर दिया जाता था। परिणामस्वरूप जर्मन सेना दिन-पर-दिन शक्तिशाली होती चली गई एवं अन्य राष्ट्र इससे आतंकित रहने लगे। यूरोप के राष्ट्रों ने जर्मनी की बढ़ती हुई शक्ति को अपने लिए मुख्य खतरा समझ रखा था। यूं तो यूरोप के लगभग सभी राष्ट्र चिंतित थे, किंतु सबसे अधिक चिंता ब्रिटेन को थी जिसके परिणामस्वरूप ब्रिटेन ने अपनी शानदार अलगाव की नीति का त्याग कर दिया एवं 1904 में फ्रांस तथा 1907 में उसने रूस के साथ हार्दिक समझौता किया था। इस प्रकार अब यूरोप दो गुटों में बंट गया था। एक त्रिवर्गीय गुट था एवं दूसरा त्रिराष्ट्रीय गुट था। जर्मनी अब तक युद्धों की तैयारी पूर्ण रूप से कर चुका था एवं वह रूस, फ्रांस तथा ब्रिटेन के समझौते को जर्मन साम्राज्य के विस्तार में सबसे बड़ी रुकावट मानता था। जर्मनी सेनाओं का आवागमन उच्चतम शिखर पर पहुंच गया था एवं जर्मनी का विचार था कि सबसे पहले उसे प्रहार करना चाहिए। अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए सर्वप्रथम जर्मनी ने बेल्जियम में तबाही मचाने का निर्णय किया। बेल्जियम में फ्रांस के कुछ किले थे एवं जर्मनी उन किलों का सर्वनाश करना चाहता था, क्योंकि इस कार्य से फ्रांस की सैनिक शक्ति काफी गिर सकती थी। चार अगस्त को जर्मन सेनाएं बेल्जियम में घुस गईं, जहां पर बेल्जियम की सेनाओं ने इनका मुकाबला किया किंतु परास्त हो गईं। अभी भी जर्मन सेनाओं को फ्रांस के लिए मार्ग प्राप्त न हो सका था। आरंभ में जर्मन सेनाओं को भारी विजय प्राप्त हुई थी एवं यह सेनाएं फ्रांस की राजधानी से केवल 15 मील दूर रह गई थीं। ऐसा प्रतीत होता था कि संसार का कोई भी राष्ट्र जर्मन सेनाओं को पराजित नहीं कर सकता था।

इस प्रकार परिस्थितियां गंभीर होती जा रही थीं। इन गंभीर परिस्थितियों का मुकाबला करने के लिए फ्रांस के कमांडर जनरल जोफरे ने एक सैनिक टुकड़ी जर्मनी के दाहिनी ओर भेज दी। इस समय जर्मन सेनाएं मार्ने नदी पार कर चुकी थीं एवं दाहिनी ओर सेनाओं से लोहा लेने के लिए बढ़ रही थीं। इसी समय फ्रांस का दूसरा कमांडर फांच इन सेनाओं का मुकाबला करने के लिए आ गया। इसी समय रूसी सेनाओं ने भी जर्मन सेनाओं पर आक्रमण कर दिया। 6 सितम्बर से 10 सितम्बर, 1914 तक मार्ने नदी पर भयंकर युद्ध हुआ जिसमें जर्मनी सेनाओं को पराजय का मुंह देखना पड़ा एवं पीछे हटना पड़ा। मार्ने का युद्ध इतिहास का निर्णायक युद्ध साबित हुआ। जर्मन सेनाएं असफल हो गईं एवं उनकी आशाओं पर तुषारापात हो गया था। जर्मनी की यह भावना कि वह संसार पर शीघ्र ही विजय प्राप्त कर लेगा, मिट्टी में मिल गई। मार्ने के युद्ध में पराजित होकर जर्मन सेनाओं ने इंग्लिश चैनल के दक्षिणी बंदरगाहों पर अपना अधिकार जमाने का प्रयत्न किया। बेल्जियम नगर खाली कर लिया गया किंतु किसी प्रकार मित्र राष्ट्रों ने पहले ही समुद्र पर अपने मोर्चे बना लिए थे। 9 अक्टूबर को एंटवर्ग का पतन हो गया। जर्मन की सेनाएं साइप्रस की ओर बढ़ने लगी जहां पर घमासान युद्ध हुआ। किंतु ये सेनाएं कैले और डंकर्क पर भी विजय प्राप्त न कर सकीं। अंत में दोनों सेनाएं स्विटजरलैंड की सीमा से

टिप्पणी

लेकर इंग्लिश चैनल तक आमने-सामने मोर्चे बनाकर डट गई एवं यहीं पर चार वर्ष तक युद्ध चलता रहा। बेल्जियम की तटस्थता को भंग कर दिया गया जिसका बेल्जियम वासियों ने कड़ा विरोध किया। बेल्जियम के बहुत से नगर ध्वस्त कर दिए गए एवं वहां के उद्योग तथा व्यापार को चौपट कर दिया गया। मुख्य भवन एवं बड़े-बड़े पुस्तकालय जलाकर राख कर दिए गए। यहां की धनी-मानी जनता को गरीबी की भयंकर दशा पर पहुंचा दिया गया एवं अब इन लोगों को अमेरिका के अनुदानों पर आश्रित होना पड़ा। यहां पर जर्मनी का सैन्य शासन लागू किया गया और यदि कहीं पर विरोध की गंध भी नजर आती थी तो संपूर्ण नगर को ध्वस्त कर दिया जाता था एवं सामान्य नागरिकों को मौत के घाट उतार दिया जाता था। इस प्रकार भयंकरता चरम सीमा को लांघ गई थी। बेल्जियम की जनता बुरी तरह आतंकित थी। अत: ये लोग संसार से स्वयं को जर्मनी के फंदे से छुड़ाने की अपील कर रहे थे।

पूर्वी प्रशा पर रूस द्वारा आक्रमण

युद्ध आरंभ होने पर रूस की एक सेना ने पूर्वी प्रशा पर आक्रमण कर दिया तथा दूसरी सेना ने गेलिशिया पर आक्रमण किया। दोतरफा आक्रमण होने के कारण रूस का पलड़ा भारी सिद्ध हो रहा था। रूसी फौजें जर्मन की आशाओं के प्रतिकूल काफी आगे बढ़ गई थीं एवं जर्मन सरकार प्रत्येक परिस्थिति में रूसी प्रभुत्व को रोकना चाहती थी। जर्मन सेनानायक हिंडनबर्ग रूस की शक्ति का सामना करने के लिए आगे बढ़ा। वह पूर्वी से रूसी सेनाओं को खदेड़ देना चाहता था। अगस्त 1914 के अंत में हेननबर्ग में भयंकर युद्ध हुआ जहां रूसी सेनाओं को भारी क्षति पहुंचाई गई। युद्ध के परिणामस्वरूप रूसियों को पूर्वी प्रशा से बाहर धकेल दिया। हिंडनबर्ग उस समय तक रूसियों पर आक्रमण करता रहा जब तक कि वे लोग रीगा नहीं पहुंच गए। हिंडनबर्ग का हर आक्रमण रूसी सेना को मात दे रहा था एवं उन्हें अपार धन-जन की हानि उठानी पड़ रही थी। किंतु गेलिशिया में अभी तक रूसियों का प्रभुत्व था। इसी समय जनरल मेकेंस ने रूस के विरुद्ध गेलिशिया में अभियान छेड़ दिया। इस युद्ध में भी रूसी सेनाओं को भयंकर असफलता का सामना करना पड़ा एवं उनका प्रभाव उन सभी स्थानों से समाप्त हो गया जहां वे अब तक अपनी जड़ें जमा चुके थे। एक साल तक चलने के बाद यह युद्ध समाप्त हो गया एवं इसकी समाप्ति के बाद रूसी शक्ति का भी पतन हो गया। अब रूस मित्र राष्ट्रों की अधिक मदद नहीं कर सकता था। अब तो वह केवल जर्मनी को कुछ क्षेत्रों में उलझा सकता था जिससे मित्र राष्ट्रों को कोई खास लाभ नहीं था। ब्रिटेन ने योजना बनाई कि किसी भी प्रकार कुस्तुनतुनियां पर प्रभुत्व स्थापित कर लिया जाए। यदि वह अपने इस उद्देश्य में सफल हो जाता है तो इसका उसे बहुत लाभ होगा। तुर्की युद्ध में हस्तक्षेप न कर पाएगा एवं बाल्कन प्रायद्वीप को बाध्य होकर मित्र राष्ट्रों का साथ देना पड़ेगा जिससे एक ओर आस्ट्रिया को धक्का लगेगा वहीं दूसरी ओर रूस को भी अपनी शक्ति समन्वय का अवसर मिल जाएगा। अपने उद्देश्यों की सफलता को ध्यान में रखते हुए इंग्लैंड ने डूडनले युद्ध आरंभ कर दिया। इस युद्ध में ब्रिटिश जहाजी बेड़े को काफी नुकसान उठाना पड़ा। अंत में ब्रिटेन, आस्ट्रेलिया तथा न्यूजीलैंड ने संयुक्त बल युद्ध आरंभ कर दिया जिससे गेलीपोली प्रायद्वीप पर मित्र राष्ट्रों का अधिकार हो गया, किंतु मित्र राष्ट्र आगे न बढ़ सके तथा 1915 तक यह अभियान समाप्त हो गया।

टिप्पणी

खाई अभियान

प्रथम विश्व युद्ध की पद्धतियों में क्रांतिकारी परिवर्तन किए गए। अभी तक सेनाएं पैदल ही एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाती थीं किंतु अब सेनाओं को रेलगाड़ियों द्वारा शीघ्रता के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचाया जाने लगा। अब मोर्चे के लिए खाइयों का आरंभ हो गया था जो प्रत्येक देश में सामान्य लक्षण बन गया था। अब युद्ध में आश्चर्यजनक पद्धतियां अपनाई जा रही थीं। कभी-कभी तो दुश्मन की खाइयों का फासला इतना कम होता था कि वह आपस की बातचीत भी सुन सकते थे। कैमोफ्लेज एवं कनसीलमैंट का आरंभ हो गया था एवं युद्धों की रूपरेखा बदल गई थी। लंबी-लंबी खाइयों को तबाह करना एवं उन पर अधिकार करना आवश्यक था। जब तक कि यह कार्य पूर्ण न कर लिया जाए, दुश्मन की भूमि पर आधिपत्य नहीं हो सकता था। तोपखाना अत्यंत आवश्यक अंग बन गया था एवं उसके बिना फौजें आगे नहीं बढ़ सकती थीं। राइफलों का महत्व घट गया था क्योंकि खाइयों में छिपा होने के कारण दुश्मन राइफल की मार-सीमा में नहीं आता था किंतु तोपखाने के फायर के बाद संगीनें अत्यंत उपयोगी सिद्ध होती थीं। उन्हीं के बल पर दुश्मन को बाहर खदेड़ा जाता था एवं उसे समाप्त किया जाता था। युद्ध का सबसे बड़ा आश्चर्य जर्मन द्वारा प्रयोग की जाने वाली वह तोप थी जो 15 या 16 मील तक मार करती थी। लंबी मार करने वाले हथियारों का चलन बढ़ रहा था एवं 1918 में 16 मील से मार करने वाली तोप का प्रचार हो गया था जिसके द्वारा फ्रांस पर आक्रमण किया गया था। राइफल का स्थान मशीनगन ने ले लिया था जो एक मिनट में पांच सौ गोली तक फायर कर सकती थी। युद्ध स्थल में प्रथम बार विषैली गैसों का प्रयोग किया गया जिसे शत्रु के ऊपर छोड़कर उसे बेहोश कर दिया जाता था। अब युद्ध में हथियारों का स्थान टैंकों ने ले लिया था जो किले की भांति सुरक्षित होते थे एवं जिनके द्वारा बड़ी मात्रा में विनाश होता था। इस प्रकार इस युद्ध में अधिक मात्रा में वैज्ञानिक उपकरणों ने आश्रय ले लिया था। प्रो. शैपीरो के अनुसार–''इतिहास के किसी भी युद्ध में विज्ञान ने इतना महत्वपूर्ण भाग अभी नहीं लिया था। यह भी कहा जा सकता है कि महायुद्ध उन उपकरणों द्वारा लड़ा गया जिनका नेतृत्व इंजीनियरों द्वारा किया जा रहा था।'' युद्ध की पुरानी पद्धति बदल गई थी एवं अब हर समय युद्ध लड़ा जा रहा था। यह पहला युद्ध लड़ा जा रहा था जिसमें जनता हर समय तल्लीन थी। अभी तक जितने भी युद्ध हुए थे, उनमें केवल सेनाएं लड़ा करती थी किंतु अब हर देश की सरकार ने सामान्य जनता का प्रयोग युद्ध में करना आरंभ कर दिया था। शत्रु राष्ट्र के नैतिक स्तर को गिराने के लिए हर प्रकार की अफवाहों को फैलाया जा रहा था। पुराने युद्धों की पद्धति को बिलकुल ही समाप्त कर दिया गया एवं वैध तथा अवैध सभी युद्धों को मान्य ठहरा दिया गया।

इटली का आक्रमण

युद्ध के दूसरे वर्ष में परिस्थितियां केंद्रीय शक्तियों के पक्ष में थीं। रूस का बहुत बड़ा भाग उसके पास था। बेल्जियम व फ्रांस का औद्योगिक क्षेत्र भी उन्हीं के आधिपत्य में था। इटली की वह घोषणा मित्र राष्ट्रों के पक्ष में थी, जिसके अनुसार उसने मित्र राष्ट्रों के साथ रहना स्वीकार किया था। 1915 में इटली की सेनाओं ने आस्ट्रिया पर आक्रमण कर दिया। इटली तथा आस्ट्रिया में भयंकर युद्ध हुआ जिसमें इटली ने आस्ट्रिया को पीछे ढकेल दिया किंतु आई सोंजो नदी पर इटली को भयंकर हानि उठानी पड़ी। इटली पीछे हटने को ही

टिप्पणी

था कि उसी समय अंग्रेज तथा फ्रांस की सेनाएं सहायता के लिए पहुंच गई। अब इटली के पैर जम गए। एक बार फिर 1918 में इटली ने आस्ट्रिया पर भयंकर आक्रमण कर दिया एवं आस्ट्रिया को उत्तरी इटली से बाहर निकाल दिया गया। अंत में आस्ट्रिया ने अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन के माध्यम से संधि की याचिका की। इटली तथा आस्ट्रिया में संधि हो गई तथा आस्ट्रिया ने बिना किसी शर्त के हथियार डाल दिए। इटली का उस संपूर्ण भाग पर अधिकार हो गया जो वास्तव में इटली का ही भाग था एवं जिस पर आस्ट्रिया का अवैध अधिकार था।

मार्ने के युद्ध के बाद जर्मनी का खाई अभियान बराबर चलता रहा। जर्मनी न्यों पोर्ट से स्वीटजरलैंड तक पूरे बेल्जियम की सीमा पर एवं फ्रांस की उत्तरी सीमा पर तेजी से विकास कर रहा था। 1916 के आरंभ में जर्मनी का मुख्य उद्देश्य मित्र राष्ट्रों की सुरक्षा भंग करना था। 1 फरवरी में युद्ध आरंभ हुआ जो 6 महीने तक चलता रहा जो वर्डन के शहर को लेकर आरंभ हुआ था। जर्मनी हर स्थिति में इस शहर पर कब्जा करना चाहता था। नगर पर बार-बार आक्रमण किया जा रहा था। जर्मनी जितनी भयंकरता से आक्रमण करता फ्रांस उतनी ही तत्परता से असफल कर देता। वर्डन के इस युद्ध में जर्मनी के विरुद्ध फ्रांस को असफलता का मुंह देखना पड़ा।

सोम नदी का अभियान

1916 के अंत में सोम नदी का भयंकर अभियान आरंभ हुआ जिसमें ब्रिटेन ने जर्मनी पर भयंकर आक्रमण किया। 6 माह तक यह युद्ध चलता रहा। इस समय युद्ध में ब्रिटेन को हानि का सामना करना पड़ा जिसका मुख्य कारण मौसम की खराबी था। प्रत्यक्ष रूप से इस युद्ध में मित्र राष्ट्रों को बहुत कम लाभ हुआ किंतु अप्रत्यक्ष रूप में वर्डन पर से जर्मन का दबाव समाप्त हो गया एवं 1917 में हिंडनबर्ग लाइन का निर्माण हुआ जिसके अनुसार जर्मनी को लगभग एक हजार वर्ग मील का फ्रांस का क्षेत्र खाली करना पड़ा।

बुल्गारिया का सर्बिया पर आक्रमण

1915 में एक संधि द्वारा बुल्गारिया धुरी राष्ट्रों के साथ मिल गया था। बुल्गारिया ने सर्बिया पर आक्रमण कर दिया तथा उत्तर की ओर से आस्ट्रिया ने एवं जर्मनी ने भी आक्रमण कर दिया तथा सर्बिया को पराजित कर दिया गया। अब बची हुई बाल्कन रियासतों ने तटस्थता की नीति को अपनाना आरंभ किया किंतु एक वर्ष में ही रूमानिया मित्र राष्ट्रों के साथ मिल गया तथा उसने ट्रांसिलवानिया पर आक्रमण कर दिया जिसमें रूमानिया की सफलता की आशा की जाती थी किंतु जनरल मेकिंसन ने रूमानियों को बुरी तरह परास्त कर दिया। इस प्रकार बुखारेस्ट तथा रूमानिया के बहुत बड़े भाग पर जर्मन का अधिकार हो गया एवं रूमानिया को अत्यंत अपमानजनक संधि करनी पड़ी। अब केवल ग्रीस ही ऐसा राज्य रह गया था जिस पर धुरी राष्ट्रों का प्रभाव न था। किंतु यहां पर भी दो वर्ग थे। एक वर्ग धुरी राष्ट्रों के पक्ष में था एवं दूसरा वर्ग मित्र राष्ट्रों का समर्थक था। 1917 तक ग्रीस खुलकर युद्ध के मैदान में आ गया था तथा उसने धुरी राष्ट्रों के विरुद्ध घोषणा कर दी।

रूस में क्रांति का भड़कना

रूस में क्रांति आरंभ हो गई थी। रूस की हार ने सिद्ध कर दिया था कि वहां की सरकार निकम्मी सरकार थी एवं रूस उस समय तक उन्नति नहीं कर सकता था जब तक इस

टिप्पणी

निकम्मी सरकार को बदला नहीं जाए। रूस के जार को बंदी बना लिया गया तथा सत्ता केनेंस के हाथों में आ गई। उसने एक बार फिर गेलिशिया पर आक्रमण कर दिया किंतु शीघ्र ही जर्मन सेनाओं ने रूसी सेनाओं को हरा दिया। अब केनेंस के स्थान पर लेनिन आया जिसके सत्ता में आने के बाद रूस ने स्वयं को युद्ध से अलग कर लिया। रूस के युद्ध से निकल जाने से जर्मनी को राहत मिली क्योंकि अब वह अपनी शक्ति का संयुक्त प्रयोग कर सकता था।

इंग्लैंड द्वारा जर्मनी शक्ति का ह्रास

यूरोप की शक्तियां पूर्णतया युद्ध में आ चुकी थीं एवं एशिया तथा अफ्रीका में उनके उपनिवेश और उनके मित्र युद्ध से अछूते न रहे। इंग्लैंड का मित्र होने के नाते जापान ने भी युद्ध में भाग लेना आरंभ किया। जापान ने काऊ चाऊ पर आक्रमण कर उसे हथिया लिया। तत्पश्चात उसने निरीक्षक की भांति अंग्रेजी जहाजों तथा व्यक्तियों की सुरक्षा का भार अपने ऊपर ले लिया। पश्चिमी एशिया में तुर्कों ने स्वेज नहर पर आधिपत्य स्थापित करने तथा अंग्रेजों ने बगदाद पर नियंत्रण करने की योजना बनाई। तुर्कों को अपने स्वेज अभियान में सफलता न मिल सकी। 1915 में ब्रिटिश भारतीय सेनाओं ने मेसोपोटामिया पर आक्रमण किया किंतु इन सारी सेनाओं को तुर्कों ने घेर लिया। इसी समय रूस ने अमीनिया पर आक्रमण कर दिया। इसे भी तुर्कों ने असफल बना दिया। भारतीयों के मेसोपोटामिया पर आक्रमण का मात्र उद्देश्य फारस एवं अफगानिस्तान में जर्मन प्रचार को रोकना था। भारतीय सेना के अपमान का बदला लेने के लिए जनरल मॉड को नियुक्त किया गया जिसने बगदाद पर भीषण आक्रमण किया एवं तुर्की सेना को मेसोपोटामिया से बाहर निकाल दिया। इसी समय अंग्रेजों की एक अन्य सेना ने फिलिस्तीन पर आक्रमण कर दिया तथा जेरूसलम पर अधिकार स्थापित कर लिया, साथ ही सदियों के पश्चात यह पवित्र नगर एक बार फिर ईसाइयों के हाथों में आ गया।

युद्ध आरंभ होने पर ब्रिटेन ने बुद्धिमत्तापूर्ण कार्य किया था। अपनी नौ सेना की शक्ति के आधार पर उसने जर्मनी के संबंध उसके उपनिवेशों से समाप्त कर दिए थे। 1915 में आस्ट्रिया एवं न्यूजीलैंड की सेनाओं ने प्रशांत महासागर के सभी जर्मन द्वीपों पर अधिकार कर लिया। टोगोलैंड एवं केमरून पर भी इंग्लैंड एवं फ्रांस ने अपना अधिकार कर लिया। लुई बोया ने दक्षिणी पश्चिमी अफ्रीका से जर्मन प्रभुत्व को समाप्त कर दिया। अब तक अंग्रेजों को कई स्थानों पर पराजित होना पड़ा किंतु अंत में जनरल स्मटस ने संपूर्ण दक्षिणी अफ्रीका से जर्मन प्रभुत्व को समाप्त कर दिया। जर्मनी का प्रभुत्व पूर्णत: समाप्त हो गया था किंतु अभी भी कुछ जर्मन जो अफ्रीका के निवासी थे बराबर मित्र राष्ट्रों से लोहा लेते रहे। इन सारे कृत्यों से यह तो स्पष्ट ही है कि महायुद्ध आरंभ होते ही अंग्रेजों की सबल जल सेना एवं कूटनीतिज्ञता के परिणामस्वरूप जर्मनी लगभग अपने सभी उपनिवेशों से हाथ धो बैठा। इस प्रकार जहां एक ओर मित्र राष्ट्रों ने यूरोप से जर्मन इरादों को असफल कर दिया था वहीं उपनिवेशों की सहायता भी उसे इच्छानुसार न प्राप्त हो रही थी।

जहां जर्मनी को अपनी थल सेना का अभिमान था, ब्रिटेन अपनी नौ सेना को लेकर अजेय था। आरंभ से ही ब्रिटेन ने अपने शत्रुओं का सामना अपनी नौ सेना की शक्ति के बल पर किया था। प्रो. शैपीरो के अनुसार–''जर्मन बंदरगाहों की तुरंत नाकेबंदी कर दी

टिप्पणी

गई। उसका व्यापार समुद्रों से बिलकुल बंद कर दिया और उसकी नौ सेना का बड़ा भाग कील के बंदरगाह पर बेकार कर दिया गया। ब्रिटिश नौ सेना ने बाह्य देशों से जर्मन सप्लाई रोककर मित्र राष्ट्रों की सप्लाई एवं सेना के आवागमन की भी काफी सुरक्षा की थी। बहुत हद तक वे सारी विजयें जो अभी तक जर्मनी ने प्राप्त की थी, ब्रिटेन की नौ सेना ने बेकार कर दी थी। युद्ध के आरंभ में जर्मनी नौ सेना ने मित्र राष्ट्रों को काफी क्षति पहुंचाई एवं अब यह अनुमान किया जा रहा था कि जर्मनी नौ सेना का डटकर मुकाबला करेगी। किंतु जर्मनी नौ सेना खुले रूप से कभी भी सामने नहीं आई। जर्मनी नौ सेना केवल पनडुब्बियों के सहारे ही लड़ती रही जो पानी के भीतर-ही-भीतर गहरी मार करती थी। इन पनडुब्बियों ने ब्रिटेन के कई जंगी जहाजी बेड़ों को ध्वस्त कर दिया था। आरंभ में इन पनडुब्बियों का भारी आतंक छाया हुआ था एवं ब्रिटेन जैसा अजेय नौ सैनिक देश भी इन पनडुब्बियों से बुरी तरह आतंकित था। इंग्लैंड इन पराजयों से खिन्न हो गया था, अत: उसने घोषणा की कि नार्वे, स्वीडन एवं हालैंड आदि को जाने वाले जहाजों की तलाशी ली जाया करेगी ताकि इनके द्वारा कोई युद्ध सामग्री जर्मनी न पहुंच सके। जर्मन सरकार ने अपने देश के सारे अनाज पर नियंत्रण कर लिया ताकि वह अपनी सेनाओं को उचित राशन देने में समर्थ रहे। इंग्लैंड का जो भी जहाज जर्मनी को अपनी रेंज में दीखता था उसे पनडुब्बी द्वारा डुबा दिया जाता था। परिणामस्वरूप आगे चलकर अमेरिका जर्मनी के विरुद्ध नौ सैनिक युद्ध में आ गया। कुछ समय में एमडेन तथा ड्रेस्डन क्रूजरो को अंग्रेजी युद्धपोतों ने पकड़ लिया। इस प्रकार लगभग सभी जर्मन जहाजी बेड़ों को समाप्त कर दिया गया।

जटलैंड का युद्ध

प्रथम महायुद्ध में केवल एक ही जल युद्ध का अधिक महत्व था जिसे जटलैंड के युद्ध के नाम से जाना जाता है। यह युद्ध 1916 में हुआ था जिसमें जर्मनी एवं अंग्रेजी जहाजी बेड़ों में जमकर संघर्ष हुआ। अंग्रेजी बेड़े का नेतृत्व एडमिरल जैलिसियो एवं एडमिरल वीटो कर रहे थे। युद्ध में दोनों ही बेड़ों को भयंकर हानि का सामना करना पड़ा एवं यह निर्णय न हो सका कि इनमें कौन विजयी रहा। दोनों ही पक्षों ने अपनी-अपनी विजय का दावा किया। जर्मन जहाजी बेड़े ने जितनी क्षति सहन की थी, उससे कहीं अधिक हानि ब्रिटिश जहाजी बेड़े को पहुंचाई किंतु अब कभी भी जर्मन जहाजी बेड़ा समुद्र में खुले रूप में नहीं आ सका, तत्पश्चात स्केपापलो के युद्ध में जर्मन बेड़े को ब्रिटिश बेड़े ने तहस-नहस कर दिया एवं जर्मनी ने हथियार डाल दिए। इस युद्ध के बाद भी जर्मन पनडुब्बियां बराबर ब्रिटिश जहाजों को डुबाती रहीं। एक बार तो ऐसा प्रतीत होने लगा कि ब्रिटेन के सैनिकों का पतन हो जाएगा किंतु किसी प्रकार ब्रिटेन स्वयं को बचाता रहा।

अमेरिका का युद्ध में प्रवेश

अंत में अमेरिका भी मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध में सम्मिलित हो गया। परिणामस्वरूप जर्मन सैनिकों का मनोबल दब गया। अंत में मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी को पूर्णतया हरा दिया। इंग्लैंड ने जर्मनी की नाकाबंदी कर दी जिसका स्वरूप वही था जो नेपोलियन के युद्धों में अपनाया गया था। इस नाकेबंदी ने तटस्थ राष्ट्रों को दुविधा में डाल दिया था। सबसे महत्वपूर्ण स्थिति अमेरिका की थी, जर्मनी और ब्रिटेन दोनों ही उसका सहयोग चाहते थे, इससे भी अधिक चिंता उन्हें यह थी कि अमेरिका के सहयोग को हर राष्ट्र अपने हित

टिप्पणी

में ही चाहता था। 1915 में एक ऐसी घटना घटी जिसने संसार को हिला दिया। 7 मई को एक अमेरिका का जहाज जिसका नाम लुसितानिया था एवं जिसमें लगभग 1200 स्त्री, पुरुष तथा बच्चे यात्री थे, जर्मन पनडुब्बी द्वारा डुबो दिया गया। अमेरिका में इसकी भीषण प्रतिक्रिया हुई एवं अब अमेरिका मित्र राष्ट्रों के साथ युद्ध में आ गया जो जर्मनी की हार का मुख्य कारण सिद्ध हुआ। प्रो. शैपीरो के अनुसार–''लुसितानिया का डुबाना बेल्जियम की तटस्थता को भंग करने के समान ही संसार को जर्मनी के विरुद्ध ले आया था।''

वाशिंगटन की नीति के अनुसार अमेरिका स्वयं को यूरोप की गुटबंदी से दूर रखने का प्रयत्न करता था। प्रेसीडेंट मुनरो के सिद्धांतों के अनुसार अमेरिका स्वयं को नई दुनिया का संरक्षक मानता था। इन सिद्धांतों के आधार पर अमेरिका ने महायुद्ध आरंभ होते ही अपनी तटस्थता आरंभ कर दी थी किंतु जर्मनी के भद्दे व्यवहार के कारण उसकी सहानुभूतियां मित्र-राष्ट्रों के पक्ष में हो गईं। जैसे-जैसे युद्ध बढ़ता गया, अमेरिका के लिए तटस्थ रहना मुश्किल होता गया। ब्रिटेन की नाकेबंदी से एक ओर अमेरिका के व्यापार को धक्का लगा, वहीं दूसरी ओर जर्मन युद्ध पद्धति से अमेरिका का जनजीवन खतरे में पड़ गया। जैसे ही अमेरिका के किसी जहाज के साथ कोई दुर्घटना घटती थी, अमेरिका की जनता में जर्मनी के विरुद्ध और विद्रोह बढ़ जाता था। जर्मनी का उद्देश्य तो ब्रिटिश नाकेबंदी को तोड़ना था एवं जर्मनी का विचार था कि यदि अमेरिका मित्र राष्ट्रों की सहायता के लिए आता भी है तब भी दूरी की अधिकता के कारण वह अधिक सहायता न कर पाएगा। रूस हार गया था एवं फ्रांस से जर्मनी को कोई खतरा न था। राष्ट्रपति विल्सन शांति का इच्छुक था एवं अपनी इस इच्छापूर्ति के लिए एडवार्ड एम को यूरोप भेजा गया। 1917 के आरंभ में मित्र राष्ट्रों ने भी शांति की भावना का प्रदर्शन किया। उनका कहना था कि आस्ट्रिया हंगरी का वैधानिक विभाजन किया जाए, एलसा-लोरेन फ्रांस को दे दिया जाए एवं कुस्तुनतुनिया पर रूस का आधिपत्य मान लिया जाए। रीशटांग भी इसके पक्ष में था किंतु जर्मन सरकार ने इन शर्तों को मानने से इनकार कर दिया। दोनों में से कोई भी वर्ग बातचीत द्वारा संधि के लिए इच्छुक नहीं था। जर्मनी इसलिए संधि नहीं चाहता था क्योंकि उस समय परिस्थितियां जर्मनी के अनुकूल थीं एवं उसे विजय की पूर्ण आशा थी। मित्र राष्ट्रों का विचार था कि इस प्रकार यदि किसी भी तरह समझौता होता है तो उन्हें जर्मनी द्वारा निर्धारित शर्तों को मानना पड़ेगा।

वायुयानों का युद्ध में प्रयोग

महायुद्ध आरंभ होने के समय दोनों ही पक्षों के पास छोटे-छोटे वायुयान थे जिनका उपयोग सेना के निरीक्षण के लिए किया जाता था, किंतु अब जर्मन वैज्ञानिकों ने इनके द्वारा लड़ना आरंभ कर दिया था। जर्मन हवाई जहाजों ने लंदन नगर के ऊपर जमकर गोलाबारी की। परिणामस्वरूप लंदन की जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग तबाह हो गया था। जर्मन हवाई जहाजों का आतंक इंग्लैंड में समाया हुआ था एवं जनता का मनोबल काफी हद तक गिर गया था।

इंग्लैंड के वैज्ञानिक भी इन्हीं जहाजों के विकास में लगे थे एवं एक वर्ष के प्रयत्नों से ही उन्होंने इन आक्रमणों से बचने का उपाय खोज लिया था। अब लंदन की जनता को सारी सुरक्षात्मक कार्रवाइयों से अवगत करा दिया गया। किसी प्रकार मित्र राष्ट्रों ने

टिप्पणी

अपनी स्थिति को दृढ़ कर लिया था एवं हर मोर्चे पर जर्मन सेनाएं परास्त की जा रही थीं। बुल्गारिया का पतन हो गया था एवं यह बात स्पष्ट हो गई थी कि जर्मनी परास्त हो गया है। जर्मनी ने अब स्विटजरलैंड के मामले में अमेरिका के राष्ट्रपति विल्सन से संधि की बातचीत आरंभ की थी। जर्मनी सरकार संधि की बातचीत चला रही थी एवं जनरल फांस बराबर जर्मनी को तबाह करने में लगा हुआ था। साम्राज्य की आंतरिक दशा बिगड़ गई थी एवं अराजकता का वातावरण उत्पन्न हो गया था। परिणामस्वरूप जनरल हालैंड भाग गया। उसके भागने के समाचार को सुनकर बर्लिन में क्रांति हो गई। 11 नवम्बर को जनरल फांस एवं जर्मन प्रतिनिधियों में समझौता हो गया जिसके अनुसार युद्ध रोक दिया गया।

युद्ध के अन्य परिणाम

1919 तक के इतिहास का सबसे बड़ा युद्ध समाप्त हो गया था। सैनिकों का कार्य अब समाप्त हो गया था एवं राजनीतिज्ञों तथा कूटनीतिज्ञों के कार्य का आरंभ हुआ। यह युद्ध लगभग 1565 दिन चला जिसके अपूर्व परिणाम हुए। यह अपने तरीके का एक अनोखा युद्ध था जिसमें धन एवं जन का पूर्ण रूप से उपयोग किया गया था। प्रत्येक राष्ट्र ने अपनी संपूर्ण शक्ति युद्ध में लगा दी थी एवं यह युद्ध मात्र सैनिकों तक ही सीमित नहीं रह गया था। अनुमान किया जाता है कि इस युद्ध में लगभग 80 हजार व्यक्ति मारे गए, एवं लगभग दो लाख दस हजार घायल हुए। इतना सब कुछ ज्ञात होने पर भी युद्ध के ठीक आंकड़े नहीं मिल पाते। मैगसम के अनुसार, ''1790 से 1913 तक जितने भी युद्ध हुए थे, जैसे नेपोलियन का युद्ध, क्रीमिया का युद्ध, डेनिश युद्ध, आस्ट्रिया एवं प्रशा का युद्ध, फ्रांस एवं प्रशा का युद्ध, बोअर युद्ध, अमेरिका के राज्यों का युद्ध, रूस-जापान का युद्ध एवं बाल्कन युद्ध, इन सबके लगभग दो गुना व्यक्ति प्रथम विश्व युद्ध में काम आए थे।'' युद्ध के समय कितने व्यक्ति भूख से तड़प कर, कितने व्यक्ति बीमारी के शिकार हुए इसका निर्णय असंभव है। इस युद्ध ने इतना भयंकर विनाश किया था कि उसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती थी। लगभग सभी राष्ट्र जिन्होंने युद्ध में भाग लिया था दिवालिया हो गए थे। यूरोप दिवालिया हो गया था।

वहां का व्यापार चौपट हो गया था जिसका लाभ अमेरिका को हुआ था। व्यापारिक एवं औद्योगिक क्षेत्रों में अब यूरोप अमेरिका का बहुत अधिक प्रतिद्वंद्वी नहीं रह गया था। यूरोप में बेरोजगारी का वातावरण था एवं आर्थिक व्यवस्था लगभग अस्त-व्यस्त हो गई थी। अकेले वियना में लगभग 05 प्रतिशत बच्चों को पूरा खाना नहीं मिल रहा था जिसके कारण वे बीमारियों के शिकार हो गए थे। सुदूर पूर्व में जापान यूरोप के हितों को प्रभावित कर रहा था। वहां से यूरोप का महत्व लगभग समाप्त हो गया था।

इस युद्ध के राजनीतिक परिणाम भी महत्वपूर्ण थे। संसार का झुकाव अब प्रजातंत्र की ओर हो गया था। जर्मनी, आस्ट्रिया एवं रूस से तानाशाही को समाप्त कर दिया गया था। निरंकुशता को समाप्त किया जा रहा था किंतु राष्ट्रपति विल्सन का संसार को लोकतंत्र के लिए सुरक्षित बनाने वाला दावा पूर्ण नहीं हो पाया था। रूस की बोलशेविक क्रांति जारशाही के लिए भयंकर चेतावनी सिद्ध हो रही थी। मजदूर आंदोलनों का व्यापक जोर था एवं समाजवाद का व्यापक प्रचार हो रहा था। पूंजीवादी देशों में जहां पर लोकतंत्र सरकारें थीं मजदूरों की दशा को अच्छा बनाने के लिए कानूनों का निर्माण किया जाने लगा।

टिप्पणी

था। राष्ट्रसंघ की स्थापना हो गई जिसका उद्देश्य संसार में सभी मजदूरों के लिए हितकर कार्य करना था। इसी समय जर्मनी एवं इटली में नाजीवाद तथा फासीवाद का उदय भी हुआ जो राज्य को सर्वोपरि मानते थे एवं व्यक्ति को उसका अधीनस्थ। रूस में साम्यवाद का उत्थान हो गया था एवं आशा की जाती थी कि राष्ट्रसंघ अपने उद्देश्यों में सफल हो जाएगा तथा संसार में स्थाई शांति हो जाएगी किंतु विभिन्न सत्ताओं के स्वार्थों के कारण राष्ट्रसंघ अपने उद्देश्यों में सफल न हो सका एवं संसार में स्थाई शांति का स्वप्न केवल स्वप्न ही रह गया।

इस युद्ध का सबसे बड़ा प्रभाव पूर्व में जापान का उदय था। जापान ने हर प्रकार से मित्र राष्ट्रों का साथ दिया था। समझौते के समय जापान का स्थान पांच बड़े देशों में था। औद्योगिक एवं व्यापारिक क्षेत्र में यह देश असीम उन्नति कर गया था। कनाडा, भारत तथा दक्षिणी अमेरिका में यह अपनी मंडियां बनाने का प्रयत्न कर रहा था। जापान का इस प्रकार उन्नति की ओर अग्रसर होना अमेरिका तथा यूरोप दोनों को ही अखरता था। ये दोनों ही किसी भी एशियाई देश को संपन्न होते नहीं देख सकते थे। राष्ट्रसंघ की स्थापना विल्सन के 14 सूत्रों को लेकर हुई थी। फिर भी अमेरिका की सीनेट ने इसमें भाग लेने से इनकार कर दिया था। युद्ध के दौरान अमेरिका ने विभिन्न यूरोप के देशों को कर्जा दिया था एवं अब वह अपने दिए हुए कर्जे का भुगतान चाहता था।

अमेरिका को प्रशांत महासागर में अत्यधिक रुचि थी किंतु जापान का विकास होने से उसकी यह इच्छा पूर्ण नहीं हो सकती थी। अपनी स्वार्थ पूर्ति के लिए वाशिंगटन में एक सभा का आयोजन किया जिसका मुख्य उद्देश्य जापान के बढ़ते हुए प्रभुत्व को रोकना था। इस सभा में यूरोप के ही देशों को बुलाया गया एवं इसके द्वारा बढ़ते हुए जापान को सीमित करने का प्रयत्न किया गया जो लगभग दस वर्ष तक मान्य रहा। इस प्रकार इस महायुद्ध के पश्चात जापान संसार की सर्वोच्च सत्ता में एक बन गया था।

इस युद्ध के सीमित एवं असीमित, प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष सभी प्रकार के परिणाम हुए थे जहां एक ओर आर्थिक अस्त-व्यस्तता थी वहीं दूसरी ओर राजनीतिक क्षेत्र में भी क्रांतिकारी परिवर्तन हो रहे थे। जापान का प्रभुत्व बढ़ गया था जिसे यूरोप एवं अमेरिका सहन नहीं कर पा रहे थे। इस युद्ध के परिणाम प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष रूप से उपनिवेशों पर भी पड़ रहे थे। जहां एक ओर इनमें लोकतंत्र की भावना का विकास हो रहा था, वहीं राष्ट्रीयता की भावना भी अपनी पराकाष्ठा पर पहुंच गई थी। आस्ट्रिया हंगरी की समस्या के साथ अन्य बहुत से राज्य जैसे– पोलैंड, यूगोस्लाविया आदि का निर्माण भी हो गया था। 1921 में भारत में साम्राज्यवाद की भावना के विरुद्ध कांग्रेस ने अभियान आरंभ कर दिया था। 1922 में मिस्र की जनता ने ब्रिटेन की सरकार पर दबाव डाला कि वहां की सरकार को मान्यता प्रदान कर दी जाए। एक लंबे झगड़े के बाद जो ट्यूडर काल से चला आ रहा था, 1922 में आयरलैंड को स्वायत्त शासन मिल गया था। यह आयरलैंड की महान विजय थी। वास्तविकता तो यह है कि यह युद्ध एक अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष तो था ही इसके साथ ही यह एक बहुत बड़ी क्रांति भी थी। इस युद्ध के बाद संसार के समस्त राष्ट्रों में एक चेतना का जागरण हुआ था एवं अनेक ऐसी समस्याओं का जन्म हुआ जिनका कोई भी हल पेरिस के शांति समझौते के पास नहीं था। यही कारण था कि इस समझौते द्वारा स्थापित शांति स्थाई न रह सकी एवं पच्चीस वर्षों के मध्यांतर में ही संसार को दूसरे युद्ध का सामना करना पड़ा।

1.3.3 शांति समझौते एवं इनके दूरगामी परिणाम

टिप्पणी

प्रत्येक युद्ध के बाद शांति प्रयासों की आवश्यकता होती है, यही प्रयास प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर भी हुए।

11 नवम्बर, 1918 को जर्मनी ने युद्ध-विराम संधि पर हस्ताक्षर कर दिए और इसी के कारण प्रथम विश्व युद्ध समाप्त हो गया। इसके बाद, पराजित राष्ट्रों के साथ स्थाई समझौते करने के लिए विजयी राष्ट्रों ने पेरिस में शांति सम्मेलन आमंत्रित करने का निश्चय किया। सम्मेलन में भाग लेने के लिए 32 राज्यों को आमंत्रित किया गया। पराजित राज्यों को आमंत्रित नहीं किया गया। फ्रांस के प्रधानमंत्री क्लीमेंशो के विरोध के कारण नवोदित सोवियत रूस को भी आमंत्रित नहीं किया गया। शांति सम्मेलन का पहला पूर्ण अधिवेशन 18 जनवरी, 1919 को प्रारंभ हुआ। क्लीमेंशो को इसका अध्यक्ष चुना गया।

सम्मेलन के कार्य को सुचारु रूप से चलाने के लिए दस व्यक्तियों की एक 'सर्वोच्च शांति परिषद' गठित की गई। परंतु कुछ दिनों बाद मार्च, 1919 में यह निर्णय लिया गया कि भविष्य में संधियों से संबंधित सभी कार्य 'चार व्यक्तियों' की परिषद करेगी। ये चार व्यक्ति थे– अमेरिका के राष्ट्रपति वुडरो विल्सन, फ्रांस के प्रधानमंत्री क्लीमेंशो, ब्रिटेन के प्रधानमंत्री लॉयड जॉर्ज और इटली के प्रधानमंत्री ओरलैंडो। ओरलैंडो अंग्रेजी भाषा से अनभिज्ञ था और कुछ दिनों के बाद उसकी विल्सन से झड़प हो गई और वह स्वदेश लौट गया। इस प्रकार, संपूर्ण दायित्व 'तीन महान लोगों' पर आ गया। इन तीनों व्यक्तियों ने ही अपनी गोपनीय बैठकों में सभी महत्वपूर्ण विषयों पर निर्णय लिए और युद्धोत्तर विश्व का पुनर्निर्माण किया।

शांति सम्मेलन के मूल आधार

पराजित राष्ट्रों के साथ किस आधार पर संधियां की जाएं? इस प्रश्न पर सम्मेलन में उपस्थित राजनीतिज्ञों के विचारों में भारी मतभेद था। राष्ट्रपति विल्सन आदर्शवादी आधार का समर्थक था। इंग्लैंड और फ्रांस के राजनीतिज्ञ यथार्थवाद को आधार बनाना चाहते थे। जापान और इटली जैसे राष्ट्रों की रुचि गुप्त संधियों के आधार पर शांति संधियां करने की थी। बहुत-से राजनीतिज्ञों पर साम्यवादी रूस का आतंक छाया हुआ था। इस प्रकार शांति-निर्माताओं के निर्णयों को प्रभावित करने वाले बहुत से आधार थे, जिनमें निम्नलिखित मुख्य थे–

1. विल्सन के सिद्धांत : चौदह सूत्र– युद्धोपरांत विश्व में अमेरिका सर्वाधिक शक्ति-संपन्न राष्ट्र था। अतः शांति समझौतों की रचना में उसका महत्वपूर्ण स्थान होना स्वाभाविक ही था। युद्धकाल में राष्ट्रपति विल्सन ने बार-बार अपने भाषणों के माध्यम से उन सिद्धांतों का प्रतिपादन किया जिनके आधार पर युद्ध के बाद शांति की व्यवस्था (वर्साय व्यवस्था सहित) की जानी चाहिए। उन्होंने अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन 'चौदह सूत्रों', 'चार लक्ष्यों' एवं 'पांच व्याख्याओं' के माध्यम से किया।

चौदह सूत्र– 8 जनवरी, 1918 ई. को अमेरिकी कांग्रेस के समक्ष भाषण देते हुए राष्ट्रपति विल्सन ने अपने सुप्रसिद्ध 'चौदह सूत्रों' का प्रतिपादन किया था। वे सूत्र निम्नलिखित थे–

(i) खुले ढंग से खुली शांति की जाए। गुप्त कूटनीतिक वार्ताओं के आधार पर शांति का समझौता न किया जाए।

टिप्पणी

(ii) युद्ध और शांति, दोनों में ही सभी राष्ट्रों को प्रादेशिक जलीय सीमाओं से परे के समुद्रों में आवागमन की पूर्ण स्वतंत्रता हो।

(iii) सभी प्रकार के आर्थिक प्रतिबंधों को हटाकर सभी राष्ट्रों में व्यापारिक परिस्थितियों की समानता को स्थपित किया जाए।

(iv) केवल घरेलू सुरक्षा के लिए आवश्यक अस्त्र-शस्त्रों के अतिरिक्त अन्य अस्त्र-शस्त्रों में कमी की जाए जिससे राष्ट्रों के मध्य हथियार-बंदी की प्रतिस्पर्द्धा बंद हो।

(v) जनता की इच्छा और हितों का पूरा ध्यान रखते हुए उपनिवेश संबंधी समस्याओं का उचित एवं निष्पक्ष निर्णय किया जाए।

(vi) रूसी प्रदेशों को खाली कर दिया जाए और राजनीतिक विकास तथा राष्ट्रीय नीति के निर्धारण की उसकी स्वाधीनता को मान्यता दी जाए।

(vii) बेल्जियम के तटस्थीकरण और उसकी प्रभुसत्ता को स्वीकार किया जाए।

(viii) संपूर्ण फ्रांसीसी प्रदेशों को स्वतंत्र कर दिया जाए। उसके वे क्षेत्र जिन पर विदेशियों का अधिकार है, उसे लौटा दिए जाएं।

(ix) राष्ट्रीयता के स्पष्ट मान्य सिद्धांत के आधार पर इटली की सीमाओं का पुनर्निर्माण किया जाए।

(x) आस्ट्रिया-हंगरी की विविध जातियों को इस बात का खुला अवसर दिया जाए कि वे स्वायत्त-शासन का विकास कर सकें।

(xi) रूमानिया, सर्बिया और मांटीनिग्रो से विदेशी फौजें हटा ली जाएं। उनके जिन प्रदेशों पर अधिकार कर लिया गया है, वे उन्हें लौटा दिए जाएं। सर्बिया को समुद्र तट तक पहुंचने की सुविधा दी जाए।

(xii) तुर्की साम्राज्य को अपने वास्तविक भू-भाग पर बने रहने दिया जाए, परंतु तुर्की के शासन में रहने वाली अन्य जातियों के स्वतंत्र राष्ट्रीय विकास का समुचित प्रबंध किया जाए। दर्रे दानियाल और बासफोरस जलडमरूमध्य अंतर्राष्ट्रीय समझौते के अनुसार सभी देशों के जहाज व्यापार के लिए खोल दिए जाएं।

(xiii) एक ऐसे स्वतंत्र पोल राज्य का निर्माण किया जाए जिसमें पोल जाति के सभी लोग यथासंभव सम्मिलित हो सकें। इस राज्य को समुद्र तक पहुंचने का सुरक्षित मार्ग दिया जाए।

(xiv) सभी राष्ट्रों का एक सामान्य संगठन कायम किया जाए जिसके द्वारा बिना किसी भेदभाव के सभी छोटे-बड़े राज्यों को राजनीतिक स्वाधीनता और प्रादेशिक अखंडता का पारस्परिक आश्वासन प्राप्त हो।

विल्सन ने अपने इन सूत्रों को युद्धरत जर्मनी को भी भिजवाया परंतु एक लंबे समय तक उसकी ओर से कोई उत्तर नहीं मिला। संक्षेप में, विल्सन ने शांति व्यवस्था के संबंध में चार प्रमुख बातों पर जोर दिया– लोकतंत्र, राष्ट्रीयता, आत्म-निर्णय और राष्ट्रसंघ के सिद्धांतों का पालन।

2. गुप्त संधियां– शांति सम्मेलन का दूसरा महत्वपूर्ण आधार वे गुप्त संधियां थीं जो युद्धकाल में मित्र राष्ट्रों ने इटली, जापान, चीन, रूमानिया और रूस के साथ की थीं

टिप्पणी

और जिनका उद्देश्य उन राज्यों को अपनी ओर से युद्ध में सम्मिलित करना अथवा युद्ध में उनका सक्रिय सहयोग प्राप्त करना था। इसके अलावा कुछ संधियां ऐसी भी थीं जिनके द्वारा मित्र राष्ट्रों ने अंतिम समझौतों के साथ एक-दूसरे की साम्राज्यवादी लिप्सा को पूरा करने में सहयोग देने का आश्वासन दिया था। अब ये राष्ट्र इन गुप्त समझौतों को पूरा करने के लिए आतुर थे।

3. रूस की बोल्शेविक क्रांति– 1917 की महान बोल्शेविक क्रांति ने भी पेरिस शांति सम्मेलन के निर्णयों को प्रभावित करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। पश्चिम की पूंजीवादी व्यवस्था का मानना था कि यदि साम्यवाद को रूसी सीमा तक सीमित न रखा जा सका तो कुछ ही वर्षों में संपूर्ण यूरोप उसके प्रभाव में आ जाएगा। इस भय के कारण ही साम्यवादी रूस को शांति सम्मेलन में आमंत्रित नहीं किया गया और न ही लूट का कोई हिस्सा दिया गया। उल्टे उसे कमजोर बनाने का प्रयास किया गया, ब्रेस्टलिटोवस्क की संधि के द्वारा जर्मनी ने जिन रूसी क्षेत्रों को प्राप्त किया था, वे क्षेत्र रूस को वापस नहीं लौटाए गए और वहां छोटे-छोटे स्वतंत्र राज्यों की स्थापना की गई।

4. बड़ी शक्तियों के राष्ट्रीय हित– बड़ी शक्तियों के राष्ट्रीय हितों ने शांति समझौतों को सर्वाधिक प्रभावित किया। उदाहरणार्थ– अमेरिका यूरोप तथा एशिया में अपने व्यापारिक हितों को सुरक्षित रखना चाहता था। इसके लिए इंग्लैंड की नौ-शक्ति को कमजोर बनाना, चीन में जापानी साम्राज्यवाद को रोकना तथा यूरोप में पंच पद प्राप्त करना जरूरी था। इंग्लैंड का हित सामुद्रिक शक्ति एवं व्यापारिक प्रतिस्पर्द्धी के रूप में जर्मनी को समाप्त करना, शक्ति-संतुलन को बनाए रखना, यूरोप में फ्रांस को अधिक शक्तिशाली न बनने देना और अधिक-से-अधिक उपनिवेशों को हस्तगत करके अपने साम्राज्य तथा प्रभाव में वृद्धि करना था। फ्रांस के राष्ट्रीय हित थे– यूरोप में फ्रांस को सर्वोच्च बनाना, जर्मनी को अपंग बना देना, राइन नदी के बाएं किनारे तक का क्षेत्र प्राप्त करना, आल्सेस-लोरेन के साथ-साथ रूहर घाटी पर अधिकार जमाना और जर्मनी-आस्ट्रिया के भावी एकीकरण को रोकना। इटली की राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाएं भी काफी बढ़ी-चढ़ी थीं। वह इटालियन भाषा-भाषी क्षेत्रों को प्राप्त करना चाहता था। वास्तव में वर्साय व्यवस्था तथा अन्य शांति समझौतों को तैयार करते समय बड़ी शक्तियों के उपर्युक्त राष्ट्रीय हितों का काफी ध्यान रखा गया था।

5. राष्ट्रीयता का प्रश्न– प्रथम महायुद्ध के परिणामस्वरूप चार विशाल साम्राज्यों का पतन हो गया। अब उन साम्राज्यों की दासता में जकड़े हुए लोग अपने स्वयं के राष्ट्रीय राज्यों की मांग करने लगे, जिससे राष्ट्रीयता का प्रश्न अपने आप महत्वपूर्ण बनता चला गया। विल्सन के सिद्धांतों से इस मांग को बल मिला और शांति सम्मेलन के निर्णायकों को भी उनकी मांग स्वीकार करनी पड़ी और पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया, लिथुआनिया, लेटविया, एस्थोनिया आदि राज्यों का निर्माण किया गया।

6. ब्रेस्टलिटोवस्क की संधि– रूस की साम्यवादी सरकार ने अपने देश को युद्ध से पृथक करने की दृष्टि से जर्मनी से संधि की याचना की और 3 मार्च, 1918 को जर्मनी ने अपनी शर्तों के साथ ब्रेस्टलिटोवस्क की संधि कर ली। यह एक प्रकार से आरोपित, काफी कठोर और अपमानजनक संधि थी। इससे मित्र राष्ट्रों को स्पष्ट हो गया कि विजयी जर्मनी पराजित राष्ट्रों के साथ कैसा व्यवहार करेगा और उन्हें भी पराजित जर्मनी के साथ वैसा ही कठोर व्यवहार करना चाहिए जैसा कि उसने रूस के साथ किया।

टिप्पणी

शांति समझौते– पराजित देशों के साथ शांति समझौते करने में मित्र राष्ट्रों को पांच वर्ष लग गए। सर्वप्रथम, 28 जून, 1919 को जर्मनी के साथ वर्साय की संधि संपन्न हो गई। 10 सितम्बर, 1919 को आस्ट्रिया के साथ सेंट-जर्मेन की संधि, 27 नवम्बर, 1919 को बल्गेरिया के साथ न्यूइली की संधि, 4 जून, 1920 की हंगरी के साथ ट्रियनों की संधि और 10 अगस्त, 1920 को तुर्की के साथ सेब्रे की संधि की गई। तुर्की ने इसके विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया तब 23 जुलाई, 1923 को उसके साथ लोसान की नई संधि की गई। वर्साय की संधि से लेकर बाद में की गई उपर्युक्त सभी संधियां अपने संयुक्त रूप में 'शांति समझौता' कहलाती हैं।

7 मई, 1919 को फ्रांस के प्रधानमंत्री क्लीमेंशो के नेतृत्व में मित्र राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने जर्मन प्रतिनिधि मंडल को वर्साय संधि का प्रारूप सौंप दिया। जर्मन प्रतिनिधि मंडल अपने विदेश मंत्री वॉन ब्रोकडोर्फ- राजाओं के नेतृत्व में 30 अप्रैल को वर्साय पहुंचा था। जर्मन प्रतिनिधियों को 'ट्रायनन पैलेस होटल' में ठहराया गया और इस होटल को कांटेदार तारों से घेर दिया गया था। जर्मन प्रतिनिधियों को किसी भी देश के प्रतिनिधि अथवा पत्रकार से संपर्क स्थापित करने से मना कर दिया गया। एक प्रकार से उन्हें नजरबंद कैदियों की भांति रखा गया। संधि के प्रारूप को तैयार देखकर जर्मन प्रतिनिधियों को भारी निराशा हुई। क्योंकि वे इस विश्वास के साथ आए थे कि संधि की शर्तें आमने-सामने के वार्तालाप के बाद ही तय होंगी। जर्मन प्रतिनिधियों को कहा गया कि वे तीन सप्ताह के भीतर संधि प्रस्तावों पर अपना लिखित वक्तव्य दे दें। संधि की शर्तों ने समस्त जर्मन-जनता को विचलित कर दिया। जर्मनी के राष्ट्रपति ने इन शर्तों को असह्य, घातक एवं पूर्ति के अयोग्य बताया। इस पर ब्रिटेन के प्रधानमंत्री लॉयड जॉर्ज ने धमकी भरे स्वर में कहा, ''जर्मन लोग कहते हैं कि वे संधि पर हस्ताक्षर नहीं करेंगे। जर्मनी के राजनीतिज्ञ भी यही बात करते हैं। लेकिन हम लोग कहते हैं– महानुभावों! आपको इस पर हस्ताक्षर करना ही है। अगर आप वर्साय में ऐसा नहीं करते हैं तो आपको बर्लिन में करना ही होगा।'' यह स्पष्टतः भावी आक्रमण की चेतावनी थी।

29 मई को जर्मन प्रतिनिधिमंडल ने वर्साय प्रारूप से संबंधित अपनी आलोचना मित्र राष्ट्रों को प्रस्तुत कर दी। मित्र राष्ट्रों ने प्रारूप में मामूली संशोधन स्वीकार कर लिए और संधि का प्रारूप लौटा दिया और यह धमकी भी दी गई कि यदि जर्मनी ने पांच दिन के अंदर संधि पर हस्ताक्षर नहीं किए तो पुनः युद्ध छेड़ दिया जाएगा। जर्मनी की तत्कालीन शिडमान सरकार ने संधि को अस्वीकार करते हुए त्यागपत्र दे दिया। अंत में गुस्टावबौर ने नई सरकार बनाई और संधि को स्वीकार किया। 28 जून, 1919 को नई सरकार के प्रतिनिधियों ने वर्साय के शीशमहल में संधि पर हस्ताक्षर किए। हस्ताक्षर करने के बाद जर्मन प्रतिनिधि ने कहा, ''हमारे प्रति फैलाई गई उग्र घृणा की भावना से हम आज सुपरिचित हैं। मेरा देश दबाव के कारण आत्म-समर्पण कर रहा है, किंतु वह यह कभी नहीं भूलेगा कि यह अन्यायपूर्ण संधि है।''

वर्साय की संधि में 15 भाग, 439 धाराएं और 80,000 शब्द थे। इस संधि-पत्र में जर्मनी के साथ की गई व्यवस्थाओं के अतिरिक्त राष्ट्रसंघ, अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन और अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय का संविधान तथा उससे संबंधित व्यवस्थाएं भी सम्मिलित थीं।

राष्ट्रसंघ संबंधी प्रसंविदा– राष्ट्रसंघ का निर्माण पेरिस शांति सम्मेलन की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी और यह वर्साय संधि का एक अभिन्न अंग था। वर्साय संधि के प्रथम भाग का संबंध राष्ट्रसंघ के गठन से ही है। इसका विवरण आगे दिया गया है।

टिप्पणी

प्रादेशिक व्यवस्था– वर्साय संधि की प्रादेशिक व्यवस्था के अनुसार–

1. आल्सेस–लोरेन के प्रदेश जर्मनी से छीनकर पुनः फ्रांस को दे दिए गए।
2. जर्मन आक्रमण से बेल्जियम को जो क्षति पहुंची थी, उसकी पूर्ति के लिए मार्सनेट, यूपेन और मालमेडी के जर्मन गांव बेल्जियम को सौंप दिए गए।
3. उत्तरी जर्मनी के श्लेसविग प्रांत में जनमत संग्रह कराया गया और उसके आधार पर उत्तरी श्लेसविग डेनमार्क को दे दिया गया। दक्षिणी श्लेसविग जर्मनी के पास ही रखा गया।
4. जर्मनी के सार प्रदेश पर राजनीतिक सर्वोच्च सत्ता जो जर्मनी की ही मानी गई, परंतु उसकी शासन-व्यवस्था राष्ट्रसंघ के एक आयोग को सौंपी गई। 15 वर्ष बाद, उस क्षेत्र के भाग्य का निर्णय जनमत संग्रह द्वारा करने की व्यवस्था की गई। सार प्रदेश की कोयला खानों पर फ्रांस का स्वामित्व स्वीकार किया गया। यह व्यवस्था भी की गई कि यदि 15 वर्ष बाद सार की जनता जनमत संग्रह द्वारा जर्मनी के साथ मिलने की इच्छा व्यक्त करे तो जर्मनी, फ्रांस को निश्चित मूल्य देकर इन कोयला खानों को पुनः खरीद ले।
5. जर्मनी की पूर्वी सीमा पर सबसे अधिक हानि उठानी पड़ी। उसे पश्मिची प्रशा, पोजन तथा साइलेशिया का एक बड़ा भाग पोलैंड को सौंपना पड़ा। इस व्यवस्था से नवनिर्मित पोलैंड को बाल्टिक सागर तक एक गलियारा मिल गया परंतु इससे पूर्वी प्रशा का जर्मन क्षेत्र शेष जर्मनी से अलग-थलग पड़ गया।
6. जर्मनी के डेजिंग बंदरगाह तथा नगर एवं उसके आसपास का 700 वर्गमील का क्षेत्र राष्ट्रसंघ के नियंत्रण में रखा गया और डेजिंग को एक स्वतंत्र नगर बना दिया गया। एक अन्य संधि के द्वारा उसे पोलैंड के साथ एक चुंगी संघ में शामिल कर दिया गया और इस क्षेत्र के वैदेशिक संबंध पोलैंड को सौंप दिए गए।
7. जर्मनी के मेमल बंदरगाह और उसके आसपास का क्षेत्र लुथिआनिया को दे दिया गया।
8. दक्षिण में जर्मनी को अपना एक छोटा-सा क्षेत्र चेकोस्लोवाकिया को सौंपना पड़ा।
9. राइनलैंड प्रदेश में आगामी 15 वर्षों तक मित्र राष्ट्रों की सेना रखने का फैसला किया गया।
10. राइन नदी के बाएं तट का तथा 50 किलोमीटर तक दोनों तट का पूरी तरह से निःशस्त्रीकरण कर दिया गया। जर्मनी को अपने इस क्षेत्र में किसी भी प्रकार की किलेबंदी करने से मना कर दिया गया। ऐसा फ्रांस की सुरक्षा के आधार पर किया गया।

टिप्पणी

वर्साय की इस प्रादेशिक व्यवस्था के परिणामस्वरूप जर्मनी को यूरोप में 25,000 वर्गमील का क्षेत्र तथा लगभग 70 लाख नागरिकों से हाथ धोना पड़ा। इसके अलावा उसे 65 प्रतिशत कच्चे लोहे, 45 प्रतिशत कोयले, 72 प्रतिशत जस्ते और 57 प्रतिशत रांगे के बहुमूल्यवान भंडारों से हाथ धोना पड़ा।

11. जर्मनी का समस्त औपनिवेशिक साम्राज्य छीनकर राष्ट्रसंघ के नियंत्रणों में रख दिया गया। राष्ट्रसंघ ने जर्मन उपनिवेशों को अधिदेश पद्धति (मैंडेट सिस्टम) के अंतर्गत इंग्लैंड, फ्रांस, बेल्जियम, दक्षिण अफ्रीका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड और जापान को सौंप दिया। इसके अलावा चीन के शांटुंग क्षेत्र में जर्मनी के सभी अधिकार जापान को सौंप दिए गए। इस प्रकार, जर्मनी को 90 लाख वर्गमील की भूमि तथा एक करोड़ तीस लाख की जनसंख्या वाले उपनिवेशों से हाथ धोना पड़ा जिससे उसकी आर्थिक स्थिति पूरी तरह से लड़खड़ा गई।

सैनिक व्यवस्था– फ्रांस की सुरक्षा को ध्यान में रखते हुए वर्साय व्यवस्था में जर्मनी की सैनिक शक्ति को पंगु बनाने का प्रयास किया गया। मुख्य व्यवस्था इस प्रकार की गई–

1. जर्मनी को अनिवार्य सैनिक सेवा समाप्त करने को कहा गया। यह व्यवस्था की गई कि 31 मार्च, 1920 के बाद कम-से-कम 12 वर्ष के लिए जर्मनी अपनी स्थल सेना में एक लाख से अधिक सैनिक नहीं रख सकेगा। यह शर्त भी रखी गई कि जर्मनी सैन्य अधिकारियों को कम-से-कम 25 वर्ष तक और सैनिकों को 12 वर्ष तक सैनिक सेवा में रहना पड़ेगा। यह व्यवस्था भी की गई कि जर्मनी एक वर्ष की अवधि में 5 प्रतिशत से अधिक सैनिकों को नहीं हटाएगा। ऐसा करने का उद्देश्य जर्मनी द्वारा अधिक-से-अधिक लोगों को सैनिक प्रशिक्षण देने से रोकना था।
2. जर्मनी के प्रधान सैनिक कार्यालय को बंद कर दिया गया और उसकी पुनर्स्थापना पर प्रतिबंध लगा दिया गया। इसके साथ ही जर्मनी में अस्त्र-शस्त्र, गोला-बारूद तथा अन्य युद्ध-सामग्री का उत्पादन सीमित कर दिया गया।
3. सभी प्रकार के टैंकों, भारी तोपों, सैनिक गाड़ियों तथा लड़ाकू वायुयानों पर प्रतिबंध लगा दिया गया। जर्मनी की वायुसेना को पूर्णतः समाप्त कर दिया गया।
4. जर्मनी की नौसैनिक शक्ति को भी सीमित कर दिया गया। जर्मनी को अब 10 हजार टन के 6 युद्ध पोतों, 5 क्रूजरों, 12 विध्वंसक पोतों और 12 तारपीडो नौकाओं से अधिक रखने की मनाही कर दी गई। जर्मनी को पनडुब्बी रखने का निषेध कर दिया गया और मौजूदा पनडुब्बियां मित्र राष्ट्रों को सौंपने अथवा उन्हें नष्ट करने को कहा गया। नौ-सेना के सैनिकों तथा अधिकारियों की संख्या 15,000 तक सीमित कर दी गई। नये लड़ाकू जहाज बनाने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। हेलिगोलैंड बंदरगाह की किलेबंदी पर प्रतिबंध लगा दिया गया। जर्मनी को बाल्टिक तथा उत्तरी समुद्र तट पर किलेबंदी करने से भी मना कर दिया गया।
5. राइन नदी के बाएं किनारे पर तथा दाएं किनारे से 50 किलोमीटर भीतर तक के क्षेत्र का असैनिकीकरण कर दिया गया। इस क्षेत्र में स्थाई अथवा अस्थायी

तौर पर सेना रखने पर प्रतिबंध लगा दिया गया। इस क्षेत्र में किलेबंदी का भी निषेध किया गया।

6. वर्साय संधि की नि:शस्त्रीकरण संबंधी धाराओं का जर्मनी पालन कर रहा है अथवा नहीं, इसकी जांच के लिए मित्र राष्ट्रीय आयोगों की स्थापना की गई। इन आयोगों को व्यापक अधिकार दिए गए तथा इनकी व्यवस्था जर्मनी के व्यय पर की गई।

टिप्पणी

संक्षेप में, जर्मनी की सैनिक शक्ति को कुचल कर उसे कमजोर बनाने में मित्र राष्ट्रों ने कोई कसर बाकी नहीं रखी। इस संदर्भ में ई. एच. कार ने लिखा है, ''जर्मनी का जिस कठोरतापूर्वक और संपूर्ण रूप से नि:शस्त्रीकरण किया गया, उतना और किसी देश का कभी नहीं किया गया था। इसका उल्लेख लिखित रूप में प्राप्त आधुनिक इतिहास में नहीं मिलता।''

आर्थिक व्यवस्था– वर्साय व्यवस्था के अंतर्गत जो आर्थिक व्यवस्था की गई, उसकी मुख्य बातें इस प्रकार थीं–

1. क्षतिपूर्ति का स्वरूप और कुल वसूल की जाने वाली धनराशि का अंतिम निर्णय का काम एक 'क्षतिपूर्ति आयोग' को सौंपा गया और उसे 1 मई, 1921 तक अपनी रिपोर्ट देने को कहा गया। आयोग को वार्षिक किश्तों की राशि तथा अदायगी का ढंग तय करने को भी कहा गया।
2. आयोग की रिपोर्ट आने से पहले जर्मनी को 5 अरब डालर मूल्य का सोना, जहाज, अमानत, माल आदि मित्र राष्ट्रों को अदा करने के लिए कहा गया।
3. आयोग के मांग करने पर जर्मनी को पांच वर्षों तक मित्र राष्ट्रों को 20 लाख टन वजन तक जहाज बनाकर प्रतिवर्ष देने पड़ेंगे और यदि जर्मनी ऐसा नहीं कर पाता है तो आयोग को अपनी इच्छानुसार कार्रवाई करने का अधिकार होगा।
4. जर्मनी 1600 अथवा इससे अधिक टन भार ढोने की क्षमता वाले सभी व्यापारिक जहाज मित्र राष्ट्रों को सौंप दे।
5. क्षतिपूर्ति के अंतर्गत जर्मनी फ्रांस को 70 लाख टन कोयला प्रतिवर्ष के हिसाब से दस वर्ष तक देगा। इसी प्रकार, बेल्जियम को 80 लाख टन प्रतिवर्ष के हिसाब से और इटली को 45 लाख टन प्रतिवर्ष देगा। इस कोयले की कीमत संबंधित राष्ट्र अदा करेंगे। कोयले की कीमत जर्मनी से मिलने वाली क्षतिपूर्ति की राशि में से कम कर दी जाएगी। यह भी व्यवस्था की गई कि जर्मनी आगामी तीस वर्षों में फ्रांस को 30,000 टन अमोनिया सल्फेट; 35,000 टन वेल्जोल और 50,000 टन कोलतार देगा। इनका मूल्य भी क्षतिपूर्ति की राशि में से कम कर दिया जाएगा।
6. युद्धकाल में मित्र राष्ट्रों के जो क्षेत्र क्षतिग्रस्त हुए, उनके पुनर्निर्माण के लिए जर्मनी ने आवश्यक मात्रा में मशीनें, औजार, पत्थर, ईंट, लकड़ी का सामान, स्टील, सीमेंट, चूना आदि देने का वचन दिया। फ्रांस और बेल्जियम को भारी संख्या में पशुधन–गाय, बैल, भेड़ें, बकरियां, घोड़े आदि देना भी स्वीकार किया।

टिप्पणी

7. जर्मन उपनिवेशों तथा मित्र राष्ट्रों में जर्मनी की जो सरकारी पूंजी थी, उसे जब्त करने की व्यवस्था की गई। मोरक्को, मिस्र और चीन में जर्मनी को जो व्यापारिक विशेषाधिकार मिले हुए थे, ये सब समाप्त कर दिए गए।

8. जर्मनी को अपने पनडुब्बी-बेतार के तार मित्र राष्ट्रों को सौंपने के लिए विवश किया गया।

9. स्विट्जरलैंड और चेकोस्लोवाकिया, जो चारों ओर स्थल से घिरे हुए हैं, को समुद्र तट तक पहुंचने की सुविधा देने की दृष्टि से जर्मनी की एल्ब, ओडर, नीमन और डेन्यूब नदियों का अंतर्राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। इस प्रकार जर्मनी की विख्यात कील नहर को भी सभी देशों के जहाजों के लिए खोल दिया गया। चेकोस्लोवाकिया को जर्मनी के बंदरगाहों हैम्बर्ग और स्टैडिन को उपयोग में लाने की सुविधा दी गई।

10. युद्ध काल में बेल्जियम ने मित्र राष्ट्रों से जो कर्ज लिया था, उस कर्जे का भार जर्मनी पर डाल दिया गया और उसे उस कर्ज के बराबर धनराशि बेल्जियम को चुकाने को कहा गया।

11. 1870-71 के फ्रांस-प्रशा युद्ध तथा प्रथम विश्व युद्ध में जर्मन अधिकारी फ्रांस तथा बेल्जियम से जो विजयोपहार, अभिलेख, ऐतिहासिक स्मारिकाएं या कलाकृतियां ले गए थे– वे सब लौटाने को कहा गया।

कानूनी व्यवस्था– भूतपूर्व जर्मन सम्राट विलियम द्वितीय को सार्वजनिक तौर पर अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता तथा संधियों की पवित्रता का उल्लंघन करने का दोषी ठहराया गया तथा उस पर मुकदमा चलाने के लिए पांच न्यायाधीशों की एक विशेष अदालत कायम की गई। परंतु नीदरलैंड की सरकार ने अपने राजनीतिक शरणार्थी (विलियम द्वितीय) को सौंपने से इनकार कर दिया, इसलिए उसके विरुद्ध मुकदमा नहीं चलाया जा सका। परंतु लगभग 100 जर्मनियों पर सैनिक न्यायालयों में मुकदमा चलाया गया। सुनवाई के बाद केवल 12 जर्मन अधिकारियों को दोषी पाया गया और उन्हें साधारण सजाएं दी गईं।

अन्य व्यवस्थाएं– युद्धकाल में जर्मनी और रूस के मध्य संपन्न ब्रेस्टलिटोवस्क की संधि को अमान्य ठहराया गया। बेल्जियम, पोलैंड, यूगोस्लाविया और चेकोस्लोवाकिया की स्वतंत्रता को मान्यता दी गई। जर्मनी को कहा गया कि वह अपनी सेनाओं को अपनी नई सीमाओं के अंतर्गत रखे। संधि की शर्तों को पूरा कराने के लिए राइन के पश्चिम स्थित जर्मन क्षेत्र में मित्र राष्ट्रों की सेना को नियुक्त करने की व्यवस्था की गई। यह व्यवस्था 15 वर्षों के लिए थी परंतु मित्र राष्ट्रों ने जून, 1930 तक अपनी सेनाएं हटा लीं।

वर्साय व्यवस्था का जर्मनी पर प्रभाव– वर्साय व्यवस्था ने जर्मनी को राजनीतिक, आर्थिक एवं सैनिक दृष्टि से पंगु राष्ट्र बना दिया। लैंगसम ने लिखा है, ''इससे यूरोप में जर्मन प्रदेश का आठवां भाग और लगभग 70 लाख जनसंख्या कम हो गई; उसके सारे उपनिवेश, 15 प्रतिशत कृषि भूमि, 12 प्रतिशत मवेशी और 10 प्रतिशत कारखाने छिन गए। उसके व्यापारिक जहाज 57 लाख टन से घटकर 5 लाख टन रह गए। इंग्लैंड से टक्कर लेने की क्षमता रखने वाली उसकी नौ-सेना बिलकुल नष्ट हो गई और स्थल सेना भी एक लाख सैनिकों तक सीमित कर दी गई। उसे अपने कोयले के 2/5वें भाग से,

टिप्पणी

लोहे के 2/3वें भाग से, जस्ते के 7/10वें भाग से तथा सीसे के आधे से अधिक भाग से वंचित होना पड़ा। वर्साय की प्रादेशिक व्यवस्थाओं ने उसके उद्योग-धंधों और व्यापार को विनष्ट कर दिया। उपनिवेशों के छिन जाने से उसे रबड़ एवं तेल की भारी कमी का सामना करना पड़ा। क्षतिपूर्ति के लिए उसने कोरे चैक पर हस्ताक्षर कर दिए।'' वर्साय संधि से होने वाले इस महाविनाश को जर्मन जनता कभी न भुला सकी।

क्या वर्साय व्यवस्था द्वितीय विश्व युद्ध का कारण थी?

जर्मन जनता के लिए वर्साय व्यवस्था एक राष्ट्रीय अभिशाप थी। इस प्रकार की कठोर एवं अपमानजनक व्यवस्था को कोई भी स्वाभिमानी राष्ट्र एक लंबे समय तक बर्दाश्त नहीं कर सकता था। अत: यह स्वाभाविक ही था कि जर्मनी अपने अपमान को धोने के लिए पुन: युद्ध की तैयारी करे। जर्मनी की कैथोलिक सेंटर पार्टी के एर्जबर्गर ने विराम संधि के समय कहा था, ''जर्मन जाति कष्ट सहेगी, परंतु मरेगी नहीं।'' मित्र राष्ट्रों के अनेक नेता भी इस सत्य से सुपरिचित थे। फ्रांस के क्लीमेंशो ने 1919 में ही कहा था, ''6 महीने में, एक साल में, पांच साल में, जब वे चाहेंगे, हम पर पुन: आक्रमण करेंगे।'' इसी प्रकार, मार्शल फौच ने कहा था, ''वर्साय की संधि, संधि नहीं अपितु 20 वर्षों के लिए एक विराम-संधि है।'' दोनों नेताओं की भविष्यवाणियां सत्य सिद्ध हुईं। जर्मनी को जैसे-जैसे अवसर मिलता गया, वह वर्साय संधि की शर्तों का अतिक्रमण करता गया। परिणाम यह निकला कि कुछ ही वर्षों बाद यूरोप का राजनीतिक वातावरण इतना अधिक अशांत एवं तनावपूर्ण हो गया कि संसार को प्रथम महायुद्ध से भी भयंकर दूसरे महायुद्ध की ज्वाला में झुलसना पड़ा।

यह सही है कि वर्साय की अन्यायमूलक, प्रतिशोधात्मक और विश्वासघातक आरोपित संधि द्वितीय विश्व युद्ध के लिए उत्तरदायी थी। परंतु इसके लिए मित्र राष्ट्रों को भी उतना ही उत्तरदायी ठहराया जाना चाहिए, जिन्होंने इस संधि की शर्तों का कठोरता के साथ पालन करवाने में कोई विशेष रुचि नहीं ली। इतना ही नहीं, अपितु उनकी सहमति से संधि की शर्तों में संशोधन भी किए गए और उनके देखते-देखते वर्साय व्यवस्था को पंगु भी बना दिया गया। उदाहरणार्थ, 1926 में जर्मनी को राष्ट्रसंघ की सदस्यता प्रदान करने की दृष्टि से संधि के प्रथम भाग में संशोधन किया गया। क्षतिपूर्ति की राशि में समय-समय पर कमी की जाती रही और अंत में 1932 में लोसान सम्मेलन द्वारा इस अध्याय को ही समाप्त कर दिया गया। संधि के लिए जिन गारंटियों की व्यवस्था की गई थी, उन्हें भी 1930 में समाप्त कर दिया गया और 1935-36 में हिटलर ने नि:शस्त्रीकरण के प्रतिबंधों को भी समाप्त कर दिया और 1936 में उसने राइन प्रदेश के असैनिकीकरण संबंधी उपबंधों को तोड़कर इस प्रदेश में जर्मन सेनाएं भेज दीं। इसके बाद हिटलर वर्साय संधि की अन्य व्यवस्थाओं को भी पंगु बनाता गया। आस्ट्रिया को जर्मन साम्राज्य में मिला लिया गया और चेकोस्लोवाकिया को हड़प लिया गया। परंतु मित्र राष्ट्र चुपचाप देखते रहे और केवल विरोध-पत्र भिजवाते रहे। इससे हिटलर का हौसला बढ़ता गया। अंत में जब हिटलर ने वर्साय व्यवस्था के एक अन्य क्षेत्र–पोलिस गलियारा और डेजिंग के मामले में भी आक्रामक कार्रवाई करने का प्रयास किया तो द्वितीय महायुद्ध छिड़ गया। इससे स्पष्ट है कि यदि मित्र राष्ट्रों ने शुरू से ही हिटलर के विरुद्ध सख्त कदम उठाया होता तो वह वर्साय की धाराओं को तोड़ने का साहस नहीं जुटा पाता। फिर भी, इसमें कोई संदेह नहीं कि वर्साय की संधि में दूसरे विश्व युद्ध के कीटाणु निहित थे।

टिप्पणी

वर्साय की संधि और विल्सन के चौदह सूत्र

जर्मनी ने विल्सन के चौदह सूत्रों के आधार पर आत्मसमर्पण किया था। वर्साय की संधि में उपर्युक्त सूत्रों का पालन हुआ या नहीं? इस पर विद्वानों में गहरा मतभेद है और किसी सर्वमान्य निर्णय पर पहुंचना बहुत ही कठिन है। जर्मनी तथा पश्चिम के कुछ विचारकों का मत है कि वर्साय संधि में विल्सन के सभी सूत्रों को उठाकर ताक पर रख दिया गया। इसके विपरीत लॉयड जॉर्ज ने कहा था कि संधि में ऐसी कोई बात नहीं है जो युद्ध समाप्ति के पूर्व मित्र राष्ट्रों द्वारा की गई घोषणाओं के प्रतिकूल हो। प्रोफेसर गैथोर्न हार्डी का मत है कि जर्मनी के इस आरोप का कि वर्साय की संधि में विल्सन के सूत्रों का परित्याग कर दिया गया, बलपूर्वक खंडन करना चाहिए। इस संधि में चौदह सूत्रों का अधिकतम पालन किया गया। इसी प्रकार, डॉरु सेटन वाटसन ने भी प्रमाणित किया है कि वर्साय संधि में केवल इटली की सीमांत वाली नौवीं शर्त को छोड़कर चौदह सूत्रों की शेष सभी शर्तों का पालन हुआ है। ब्रिटिश विदेश विभाग के सदस्य हेरोल्ड विकलसन, जिसने शांति समझौते के निर्माण में भाग लिया था, का मत है कि चौदह सूत्रों में से चार का ही पालन किया गया और अन्यों को लागू नहीं किया गया। पालन की जाने वाली शर्तें थीं–सातवीं, आठवीं, दसवीं और ग्यारहवीं। जे.एल. कारविन के मतानुसार ''चौदह-सूत्र चौदह-निराशाएं बन गई हैं, यद्यपि शोक की बात यह है कि अमेरिका की सहमति के बिना इतनी दुखदायी तथा भविष्य के लिए दुर्भाग्यशाली संधियों के स्वप्न नहीं लिए जा सकते थे।'' प्रोफेसर लैंगसम ने बीच का रास्ता अपनाते हुए लिखा है कि विल्सन के 14 सूत्रों में से पांच (7, 8, 11, 13 और 14) का पालन हुआ, चार (5, 6, 9 और 10) का पालन इस तरह से किया गया कि उससे मित्र राष्ट्रों को लाभ पहुंचे और पांच (1, 2, 3, 4 और 12) की अवहेलना की गई।

जो लोग यह मानते हैं कि वर्साय संधि में चौदह-सूत्रों का उल्लंघन नहीं हुआ, न ही जर्मनी के साथ किसी प्रकार का विश्वासघात किया गया, वे अपने मत के समर्थन में निम्न तर्क देते हैं–

1. विल्सन के 14 सूत्रों में से केवल 5, 7, 8 और 13 का ही जर्मनी से संबंध था और वर्साय संधि में इन चारों का पालन किया गया।
2. विल्सन के सूत्र उनके राजनीतिक भाषणों के अंश मात्र थे, उनके पीछे कानूनी आधार नहीं था। इसके अलावा, उनके सूत्र इतने अधिक अस्पष्ट थे कि उनके कई अर्थ लगाए जा सकते थे। उदाहरणार्थ, नि:शस्त्रीकरण को ही लें। विल्सन का कहना था कि राष्ट्रीय अस्त्र-शस्त्रों को 'घरेलू सुरक्षा के अनुरूप निम्नतम बिंदु' तक कम कर दिया जाए। परंतु इसकी स्पष्ट व्याख्या करना बहुत ही कठिन काम था।
3. विल्सन के सूत्रों का संबंध किसी एक देश अथवा संधि तक सीमित नहीं था। उनका उद्देश्य विश्व में एक नई व्यवस्था स्थापित करने से था।
4. विल्सन के सूत्र परस्पर-विरोधी थे। अत: उनका पालन करना असंभव था। उदाहरणार्थ–विल्सन के सूत्रों में आत्मनिर्णय के सिद्धांत पर जोर दिया गया था, परंतु दूसरी तरफ जर्मनी और आस्ट्रिया के मिलन पर रोक लगा दी गई। यह आत्मनिर्णय के विरुद्ध बात थी।

टिप्पणी

5. विल्सन के 14 सूत्रों को जर्मनी ने तत्काल स्वीकार नहीं किया था। यदि जर्मनी ने तत्काल आत्मसमर्पण कर दिया होता तो वह न्याय प्राप्त करने का आंशिक पात्र हो सकता था। परंतु उसने ऐसा नहीं किया था।

6. यह भी याद रखना चाहिए कि मित्र राष्ट्रों ने विल्सन के सभी सूत्रों को कभी स्वीकृति प्रदान न की थी। इंग्लैंड और फ्रांस ने तो स्पष्ट रूप से संशोधन प्रस्तुत कर दिए थे। यहां एक बात ध्यान रखने योग्य यह है कि विल्सन एक मित्र राष्ट्र का शासनाध्यक्ष मात्र था और संधि के आधारभूत सिद्धांतों को तय करने का अंतिम अधिकार सभी प्रमुख मित्र राष्ट्रों में निहित था। अतः केवल विल्सन के सूत्रों पर अंतिम निर्णय का सवाल ही नहीं उठता।

7. शांति-निर्माताओं को एक-दो विजेताओं को ही नहीं अपितु 27 विजेता राष्ट्रों को संतुष्ट करना था और उन सभी के राष्ट्रीय स्वार्थ एक-जैसे नहीं थे। इसके विपरीत जर्मनी को केवल अपने हितों की चिंता थी और जब उन हितों पर कुठाराघात हुआ तो उसने वर्साय संधि पर नाना प्रकार के आरोप लगाने शुरू कर दिए। इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि वर्साय की संधि का दोष कहां था?

इस प्रकार, वर्साय संधि पर विल्सन का प्रभाव एक अत्यंत ही विवादास्पद विषय है और इस पर किसी सर्वमान्य निष्कर्ष पर पहुंचना अत्यंत कठिन है। विल्सन के सिद्धांतों का पालन हुआ अथवा नहीं, यह कहना कठिन हो सकता है, परंतु इसमें कोई संदेह नहीं कि उसके आदर्शों और सिद्धांतों का वर्साय व्यवस्था पर गहरा प्रभाव पड़ा।

अन्य शांति संधियां– जनवरी, 1919 में जब पेरिस शांति सम्मेलन शुरू हुआ, तब आस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य समाप्त हो चुका था। युद्ध विराम की चर्चा के साथ ही हैब्सबर्ग साम्राज्य एक आंतरिक क्रांति के द्वारा अलग-अलग टुकड़ों में बंट गया। इटली ने आस्ट्रिया साम्राज्य के इटालियन भाषा-भाषी क्षेत्रों को हड़प लिया। रूमानिया ने मुबोविना और ट्रांसिलवेनिया के क्षेत्र ले लिए। गेलिशिया के पोल लोगों ने जर्मन व रूसी पोलों के साथ मिलकर पोलैंड का नया राज्य स्थापित कर लिया। सर्व, क्रीट तथ स्लोवानी जाति के लोगों ने यूगोस्लाविया के साथ मिलना पसन्द किया। बोहेमिया के चेक लोगों ने हंगरी के स्लोवाक लोगों के साथ मिलकर 'चेकोस्लोवाकिया' का नया राज्य स्थापित किया। आस्ट्रिया और हंगरी ने हैब्सबर्ग के पुराने राजवंश से संबंध-विच्छेद कर लिया। 16 नवम्बर, 1918 को हंगरी की राष्ट्रीय समिति ने काउण्ट केरोलवी के नेतृत्व में हंगरी जनतंत्र की घोषणा कर दी। 12 नवम्बर को आस्ट्रिया में भी जनतंत्र की घोषणा कर दी गई। शांति निर्माताओं को यह वस्तुस्थिति स्वीकार करनी पड़ी।

युद्धकाल में मित्र राष्ट्रों ने आस्ट्रिया-हंगरी के हैब्सबर्ग साम्राज्य का विभाजन स्वीकार कर लिया था। इसी प्रकार, उन्होंने इटली तथा रूमानिया के साथ संधि करके उन्हें बहुत से क्षेत्र देना स्वीकार कर लिया था। 1917 की रूसी क्रांति के बाद वे स्वतंत्र पोलैंड के निर्माण की बात स्वीकार कर चुके थे। इसी प्रकार, युद्ध के अंतिम दिनों में मित्र राष्ट्र चेकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया आंदोलन कर चुके थे। अतः जब पेरिस में शांति सम्मेलन शुरू हुआ तब आस्ट्रिया-हंगरी सम्राज्य को बनाए रखने का सवाल ही नहीं उठा, क्योंकि युद्ध काल में ही उसके विभाजन की बात तय हो चुकी थी। अब तो केवल सीमा निर्धारण तथा आस्ट्रिया-हंगरी के वित्तीय उत्तरदायित्वों को बांटने का काम ही शेष रह गया

टिप्पणी

था। परंतु नई सीमाओं का निर्धारण कार्य कठिनाइयों से भरा हुआ था। सीमा-संबंधी विवादों में मित्र राष्ट्रों ने सामान्यतः शत्रु राष्ट्रों की तुलना में अपने साथी राष्ट्रों का पक्ष लिया। इससे उनके साथी राष्ट्रों को काफी लाभ पहुंचा।

सेंट जर्मेन की संधि–वर्साय संधि के बाद सबसे पहले सेंट जर्मेन में 10 सितम्बर, 1919 को आस्ट्रिया के साथ हुई पूरक संधि पर हस्ताक्षर किए गए। इस संधि का प्रारूप आस्ट्रियन प्रतिनिधिमंडल को जून, 1919 में ही दे दिया गया था। इस संधि में 381 धाराएं थीं। इस संधि में राष्ट्रसंघ, अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ की व्यवस्थाएं वर्साय संधि के समान ही थीं। संधि की प्रस्तावना में आस्ट्रिया-हंगरी के पुराने राजतंत्र को समाप्त करके लोकतांत्रिक शासन की स्थापना का उल्लेख किया गया है। इस संधि के द्वारा ब्रेनर को इटली का सीमांत माना गया। परिणामस्वरूप टिरोल, जिसमें वाटजन तथा ट्रेंट भी सम्मिलित थे, आस्ट्रिया के अधिकार से निकलकर इटली के अंतर्गत चले गए। इनके अलावा उसे ट्रीस्टे, इस्ट्रिया तथा क्वानेरी की खाड़ी में स्थित केसों तथा लूसिन द्वीप भी इटली को सौंपने पड़े। यूगोस्लाविया को आस्ट्रिया से बोसनिया–हर्जीगोविना, डाल्मेशियाई समुद्र तट तथा द्वीप प्राप्त हुए। चेकोस्लोवाकिया को बोहेमिया, मोरेविया, आस्ट्रियाई साइलेशिया का बहुत बड़ा भाग और निचला आस्ट्रियाई प्रदेश मिला। पोलैंड को गैलीशिया का क्षेत्र तथा रुमानिया को बुकोविना प्राप्त हुआ। हंगरी को आस्ट्रिया से पृथक करके स्वतंत्र राज्य बना दिया गया। इस संधि के परिणामस्वरूप आस्ट्रिया का क्षेत्रफल 1,15,000 वर्गमील से घटकर केवल 32,000 वर्गमील रह गया। इसी प्रकार, उसकी जनसंख्या तीन करोड़ से घटकर लगभग पैंसठ लाख ही रह गई।

आस्ट्रिया की सैनिक व्यवस्था में भी कई प्रकार के परिवर्तन किए गए। उसकी सेना को घटाकर केवल 30,000 स्वयंसेवकों तक सीमित कर दिया गया। सेना में नई भर्ती को मना कर दिया गया। युद्ध सामग्री की मात्रा निश्चित कर दी गई और लड़ाकू जहाजों की संख्या भी निर्धारित कर दी गई। जल सेना के नाम पर उसे डेन्यूब नदी में केवल तीन किश्तियां रखने की स्वीकृति दी गई। इस प्रकार, आस्ट्रिया पर भी निःशस्त्रीकरण की धाराओं को लागू किया गया।

आस्ट्रिया को जर्मनी के साथ मिलने से मना किया गया। उसे अपने देश के नाम में से 'जर्मन' शब्द हटाना पड़ा ताकि वह अपनी स्वतंत्रता का सौदा न कर सके। आस्ट्रिया की स्वाधीनता को राष्ट्रसंघ की परिषद की सहमति से ही समाप्त किया जा सकता था, और किसी तरह से नहीं। आस्ट्रिया को यह वचन भी देना पड़ा कि वह ऐसी कोई कार्रवाई नहीं करेगा जिससे उसकी स्वतंत्रता पर आंच आए। आस्ट्रिया द्वारा अर्पित प्रदेशों में सार्वजनिक संपत्ति के और सार्वजनिक ऋण के दायित्व के हस्तांतरण के लिए उसी प्रकार की न्यायोचित व्यवस्थाएं की गईं जैसी वर्साय संधि में की गई थी। जर्मनी की भांति आस्ट्रिया को भी युद्ध की जिम्मेदारी स्वीकार करनी पड़ी और आक्रमण के परिणामस्वरूप मित्र राष्ट्रों को हुई हानि एवं क्षति का हर्जाना देना स्वीकार करना पड़ा। उसे कितनी क्षतिपूर्ति देनी होगी–इसका निर्णय क्षतिपूर्ति आयोग पर छोड़ दिया गया। आस्ट्रिया को युद्ध अपराधियों को सौंपने के लिए कहा गया। उसकी राष्ट्रीय कला की निधियां बीस साल के लिए जब्त कर ली गईं। आस्ट्रिया को बिना किसी रोक-टोक के एड्रियाटिक सागर तक खुला मार्ग दिया गया। चेकोस्लोवाकिया को एड्रियाटिक की तरफ अपनी रेलगाड़ियों के लिए आस्ट्रिया की पटरियों का उपयोग करने की सुविधा दी गई।

टिप्पणी

सेंट जर्मेन की संधि के द्वारा भूतपूर्व आस्ट्रिया-हंगरी साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया और अवशिष्ट आस्ट्रियन साम्राज्य की आर्थिक अवस्था भी दयनीय हो गई। इस संधि का सबसे बड़ा दोष यह था कि इसने आस्ट्रियन-जर्मन लोगों को जर्मनी के साथ मिलने से मना कर दिया जिसका परिणाम आगे चलकर संपूर्ण यूरोप को भुगतना पड़ा।

ट्रियनों की संधि–वर्साय पार्क से सटे हुए ग्रांड ट्रियनों की लंबी गैलरी में 4 जून, 1920 को हंगरी के साथ जो संधि की गई वह 'ट्रियनों की संधि' कहलाई। आंतरिक गतिरोध के कारण हंगरी के साथ संधि में कुछ देर हो गई थी। नवम्बर, 1919 के पूर्व वहां कोई सुसंगठित सरकार ही कायम नहीं हो पाई। अंत में, हंगरी के प्रतिनिधिमंडल के नेता काउण्ट एलबर्ट एपोनी के साथ ट्रियनों की संधि संपन्न हुई। इस संधि के अंतर्गत हंगरी को अपने आधे क्षेत्रफल से हाथ धोना पड़ा। उसे 1532 वर्ग मील का बुर्जनलैंड का क्षेत्र आस्ट्रिया को देना पड़ा। किसी पराजित राष्ट्र को दूसरे राष्ट्र का क्षेत्र दिया जाना–यह एकमात्र अपवाद था। हंगरी को ट्रांसिल्वानिया और उसके आसपास का कुछ क्षेत्र रूमानिया को देना पड़ा। क्रोशिया का क्षेत्र यूगोस्लाविया को और स्लोवाकिया का क्षेत्र चेकोस्लोवाकिया को देना पड़ा। स्लाबोनिया तथा बानात का आधा भाग भी यूगोस्लाविया को प्राप्त हुआ। इस संधि से हंगरी की जनसंख्या 2 करोड़ 10 लाख से घटकर 73 लाख ही रह गई।

अन्य पराजित राष्ट्रों की भांति हंगरी को भी महायुद्ध के लिए जिम्मेवार ठहराया गया और उसको भी क्षतिपूर्ति की एक बड़ी राशि देने के लिए विवश किया गया। उस पर भी नि:शस्त्रीकरण की धाराएं लागू की गई। उसकी जल सेना नष्ट कर दी गई तथा स्थल सेना को 35 हजार सैनिकों तक सीमित कर दिया गया। हंगरी के समुद्री मार्ग फ्यूम के भाग्य का फैसला तत्काल नहीं हो पाया और इसका निर्णय इटली और यूगोस्लाविया के समझौते पर छोड़ दिया गया। 1924 के समझौते के द्वारा फ्यूम इटली को मिला और इसका प्रधान उपनगर सूशाक यूगोस्लाविया को प्राप्त हुआ।

न्यूइली की संधि–पेरिस के पास न्यूइली नामक स्थन पर 27 नवम्बर, 1919 को बल्गेरिया के साथ मित्र राष्ट्रों ने संधि संपन्न की। यह न्यूइली की संधि कहलाती है। इस संधि के अनुसार कृष्ण सागर पर स्थित उसका तटीय प्रदेश पहले की भांति बना रहा परंतु एजियाई समुद्र तट जिसमें थ्रेस सम्मिलित था, यूनान को देना पड़ा। यह क्षेत्र बल्गेरिया ने 1913 में तुर्की से प्राप्त किया था। इस क्षेत्र के चले जाने से बल्गेरिया एजियन सागर तक पहुंचने के मार्ग से वंचित हो गया। इसलिए संधि में बल्गेरिया को एजियन सागर के रास्ते अपना आर्थिक विनिमय जारी रखने की अनुमति दी गई। इसके अलावा उसे अपने पश्चिमी भाग के चार छोटे लेकिन महत्वपूर्ण और सामरिक क्षेत्र यूगोस्लाविया को देने पड़े। जिन राज्यों को बल्गेरिया के क्षेत्र अर्पित किए गए थे; उन पर बल्गेरिया के सरकारी ऋण का कुछ भाग चुकाने की जिम्मेदारी डाली गई। अन्य पराजित राष्ट्रों की भांति बल्गेरिया को भी अपना युद्ध अपराध स्वीकार करना पड़ा और उसके परिणामस्वरूप मित्र राष्ट्रों को जो नुकसान हुआ, उसकी पूर्ति के लिए 1 जनवरी, 1921 से 37 वर्ष की अवधि में 2 अरब 25 करोड़ स्वर्ण फ्रेंक की अदायगी का वचन देना पड़ा। उसकी सैन्य शक्ति को भी कम करके 36 हजार सैनिक तक सीमित कर दिया गया। उसकी नौ-सेना को पूरी तरह से समाप्त कर दिया गया और उसे बिना तारपीडो की चार कश्तियां तथा 6 मोटरवोट रखने की स्वीकृति दी गई। यह ठीक है कि अन्य पराजित देशों की तुलना

टिप्पणी

में बल्गेरिया को कम प्रादेशिक हानि उठानी पड़ी थी, फिर भी, उस जैसे छोटे से देश के लिए उतनी हानि भी अधिक थी और इस हानि के परिणामस्वरूप बाल्कन राज्यों में उसकी स्थिति काफी कमजोर हो गई। यद्यपि बल्गेरिया की जनता ने इस संधि का जबरदस्त विरोध किया था, परंतु मित्र राष्ट्रों पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

सेब्रे की संधि–युद्ध के दौरान ही मित्र राष्ट्रों के मध्य तुर्की साम्राज्य के विभाजन के बारे में गुप्त संधियां संपन्न हो चुकी थीं। परंतु रूसी क्रांति तथा रूस के युद्ध से पृथक हो जाने के कारण गुप्त संधियों को पूरी तरह से लागू करना संभव न रहा। जिस समय तुर्की ने आत्मसमर्पण किया था, उसकी राजधानी कुस्तुनतुनिया तथा जलडमरुमध्य क्षेत्र पर मित्र राष्ट्रों ने अधिकार जमा रखा था। तुर्की के अन्य प्रदेशों पर भी मित्र राष्ट्रों का अधिकार हो चुका था। अतः उसे विवश होकर 10 अगस्त, 1920 को सेब्रे की संधि पर हस्ताक्षर करने पड़े। परंतु तुर्की के सुल्तान ने उस संधि का कभी अनुसमर्थन नहीं किया, इसलिए अब इसका केवल ऐतिहासिक महत्व ही रह गया है। इस संधि के अंतर्गत तुर्की को मिस्र, सूडान, साइप्रस, ट्रिपोलीटानिया, मोरक्को, टयूनीशिया, अरब, फिलीस्तीन, मेसोपोटामिया और सीरिया पर से अपने सभी अधिकारों को छोड़ना पड़ा। इन क्षेत्रों को मित्र राष्ट्रों ने आपस में बांट लिया। यूनान को एशिया माइनर, स्मर्ना, पूर्वी थ्रेस और कई इजीयन द्वीप समूह मिले। फ्रांस को सीरिया और इंग्लैंड को मेसोपोटामिया (वर्तमान इराक) और फिलस्तीन मिला। हेजाज के राजा को स्वतंत्र शासक मान लिया गया। इटली को रोड्स तथा डोडेकनीज टापू मिले। जलडमरुमध्य क्षेत्र का अंतर्राष्ट्रीयकरण तथा सीमावर्ती क्षेत्र का विसैन्यीकरण कर दिया गया। आर्मीनिया को स्वतंत्रता प्रदान की गई तथा कुर्दिस्तान को स्वतंत्रता देने का आश्वासन दिया गया। कुस्तुनतुनिया, अलेक्जेन्ड्रिया, स्मर्ना आदि बंदरगाहों तथा भरित्सा नदी पर अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण स्थापित कर दिया गया। तुर्की की सेना को घटाकर 50 हजार सैनिकों तक सीमित कर दिया गया। उसकी नौ-सेना तथा वायुसेना को पूर्णतः नष्ट कर दिया गया। तुर्की की शोचनीय आर्थिक स्थिति को देखते हुए उससे क्षतिपूर्ति की राशि नहीं मांगी गई। तुर्की की भगौड़ी सरकार ने असहाय होकर इस संधि को स्वीकार कर लिया। परंतु अनातोलिया क्षेत्र के मामूली प्रदेश में स्थित अंकारा में मुस्तफा कमाल पाशा ने एक राष्ट्रीय सरकार का गठन किया और इस संधि को लागू करने से रोका। उसने दो वर्ष के संघर्ष के उपरांत यूनानियों को स्मर्ना तथा लघु-एशिया से निकाल बाहर किया। चूंकि मित्र राष्ट्र युद्ध से थक चुके थे अतः नवम्बर, 1922 में तुर्की के साथ लासेन की नई संधि संपन्न की गई। इस संधि के अनुसार सेब्रे की संधि का अंत कर दिया गया। तुर्की की राष्ट्रीय एकता एवं सम्प्रभुता को मान्यता दी गईं पूर्वी थ्रेस और स्मर्ना तुर्की को प्राप्त हुए एवं आर्मीनिया तथा कुर्दिस्तान का अंत कर दिया गया। तुर्की ने अपने भूतपूर्व गैर-तुर्क प्रदेशों को छोड़ दिया। सेब्रे की संधि की आर्थिक एवं सैनिक धाराओं को समाप्त कर दिया गया। इसी प्रकार, वैदेशिक विशेषाधिकारों का भी अंत कर दिया गया। खाड़ियों को अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण में रखा गया और खाड़ियों के तटवर्ती क्षेत्र का विसैन्यीकरण किया गया परंतु कुस्तुनतुनिया में तुर्की को बारह हजार सैनिक रखने का अधिकार मिल गया। लासेन की संधि तुर्की का दूसरा जन्म था। अब ओटोमन साम्राज्य का अंत हो गया और उसके भग्नावशेषों पर एक स्वतंत्र तुर्की का जन्म हुआ, जिसने राष्ट्रीय प्रगति के पथ पर अबाध गति से कदम बढ़ाए।

टिप्पणी

इस प्रकार, प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद विजेता राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने पेरिस शांति सम्मेलन में भावी संसार को युद्धों से सुरक्षित रखने की दृष्टि से अनेक शांति समझौते किए। परंतु दुर्भाग्यवश शांति सम्मेलन के तुरंत बाद से ही संसार का राजनीतिक वातावरण कटु होता गया। संयुक्त राज्य अमेरिका ने वर्साय-संधि को अस्वीकार कर दिया। उसने फ्रांस की गारंटी संधि भी अस्वीकार कर दी। इंग्लैंड ने भी अपना वचन पूरा नहीं किया। परिणाम यह निकला कि फ्रांस अपनी सुरक्षा की खोज में जुट गया जिससे यूरोप का राजनीतिक वातावरण क्षुब्ध हो उठा। सभी पक्षों ने संधि की शर्तों का पालन करने में ढील दे दी। परिणामस्वरूप बीस वर्षों के बाद ही संसार को दूसरे महायुद्ध का सामना करना पड़ा। फलतः जिस शांति व्यवस्था एवं समृद्धि को स्थापित करने के लिए इतना समय लगा और शक्ति व्यय की गई, वह सब व्यर्थ सिद्ध हुआ।

अपनी प्रगति जांचिए

3. प्रथम विश्व युद्ध कब प्रारंभ हुआ?

   (क) सन् 1914 (ख) सन् 1915

   (ग) सन् 1917 (घ) सन् 1918

4. प्रथम विश्व युद्ध कितने समय तक लड़ा गया।

   (क) चार साल, तीन महीने (ख) दो साल, दो महीने

   (ग) तीन साल, पांच महीने (घ) पांच साल, तीन महीने।

5. शांति सम्मेलन का पहला पूर्ण अधिवेशन कब प्रारंभ हुआ?

   (क) 18 जनवरी, 1915 (ख) 18 जनवरी, 1917

   (ग) 18 जनवरी, 1918 (घ) 18 जनवरी, 1919

1.4 रूस की क्रांति : समाजवादी राज्य की स्थापना, राजनीतिक एवं आर्थिक स्वरूप और पश्चिमी देशों में इसका प्रभाव एवं प्रतिक्रियाएं

1917 की रूसी क्रांति 20वीं शताब्दी के विश्व इतिहास की एक अत्यंत महत्वपूर्ण घटना है। इससे पूर्व मात्र फ्रांस की क्रांति (1789 ई.) ने विश्व में इतना बड़ा प्रभाव डाला था। 1789 ई. को फ्रांसीसी क्रांति ने विश्व को स्वतंत्रता, समानता तथा भ्रातृत्व का पाठ पढ़ाया था। 1917 ई. की रूसी क्रांति ने मात्र एकतंत्रीय शासन का ही अंत नहीं किया, अपितु सर्वसाधारण की महत्ता का भी प्रतिपादन किया। इस क्रांति से संसार में समाजवादी विचारधारा का प्रतिपादन हुआ।

क्रांति से पूर्व रूस :

यद्यपि 1905 ई. की क्रांति के द्वारा रूस में पार्लियामेंट की स्थापना हो गई, तथापि जनता की स्थिति में कोई बहुत अधिक सुधार नहीं हुआ था। भौगोलिक दृष्टि से संसार के सबसे बड़े देश रूस की साधारण जनता अशिक्षित और पिछड़ी थी। जनता के विभिन्न

टिप्पणी

वर्गों–कुलीन वर्ग, मध्यम वर्ग और मजदूर किसान वर्ग का आर्थिक और सामाजिक स्तर भिन्न-भिन्न था। वहां का सम्राट जार निकोलस द्वितीय शक्तिशाली और निरंकुश था। वह दैवी अधिकारों के सिद्धांत में विश्वास रखता था और जनता की इच्छा की कोई परवाह नहीं करता था। इससे वहां की जनता अत्यधिक दुखी थी और इसमें संदेह नहीं है कि इसके निवारण हेतु रूस की जनता के सामने केवल एक ही मार्ग था और वह था–क्रांति। क्रांति के द्वारा ही वह अपने कष्टों को दूर कर सकती थी तथा अच्छे भविष्य की कल्पना कर सकती थी। किसी भी क्रांति के पीछे उसके कारण जरूर होते हैं, जो कि वहां की जनता के सामने क्रांति के अलावा और कोई रास्ता नहीं छोड़ते। इसी प्रकार रूस की क्रांति के पीछे भी कई कारण उत्तरदायी थे।

1.4.1 रूस की क्रांति के कारण

1905 की रूसी क्रांति का प्रत्यक्ष रूप से अंत कर दिया गया था, लेकिन परोक्ष रूप में वह भूमिगत हो गयी और 1917 में उसका एक भयंकर विस्फोट के रूप में प्रादुर्भाव हुआ जिसने मानव मात्र के इतिहास को ही मोड़ दिया।

1. राजनीतिक कारण

1917 ई. की क्रांति के पीछे निम्नलिखित राजनीतिक कारण उत्तरदायी थे–

(क) **जारशाही की निरंकुशता**–किसी भी क्रांति के पीछे वहां के शासन की निरंकुशता काफी हद तक उत्तरदायी होती है। इसी प्रकार रूस के जार की निरंकुशता और स्वेच्छाचारी व्यवहार ने रूस की जनता को क्रांति के लिए मजबूर कर दिया। जार एलेक्जेंडर प्रथम के समय से ही रूस के जार निरंकुश शासन व दैवी अधिकारों के सिद्धांत में विश्वास करते थे। इसी प्रकार जार निकोलस द्वितीय (1894-1917 ई.) भी अपने पूर्वजों की ही भांति निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी था। जार निकोलस द्वितीय ने कठोर और दमनकारी नीति अपनाई। उसने रूस के नागरिकों को भाषण देने, लेखन तथा सभाएं आयोजित करने के अधिकार से वंचित कर रखा था। रूस में समाचार पत्रों और शिक्षण संस्थाओं पर उसने कठोर प्रतिबंध लगा रखे थे। जार अपनी आलोचना किसी भी कीमत पर नहीं सुनते थे। जो कोई भी जार की आलोचना करने का साहस करता, उसे कठोर दंड दिया जाता था, अतः जार के निरंकुश शासन के विरुद्ध रूसी लोगों में तीव्र आक्रोश था। रूसी नागरिक जार के शासन से बुरी तरह परेशान हो चुके थे और उस आक्रोश की अंतिम परिणति युद्ध के रूप में विश्व के सामने आई।

(ख) **जापान द्वारा रूस को पराजित करना**–रूस की जनता में पहले से ही जार के शासन के विरुद्ध तीव्र आक्रोश व्याप्त था, ठीक इसी समय रूस की एक छोटे से देश जापान से हार ने लोगों की आक्रोश रूपी ज्वाला में घी का काम किया। इससे रूस की अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में प्रतिष्ठा को गहरा आघात पहुंचा। इससे जारशाही की अयोग्यता स्पष्ट हो गई। जापान की सेना रूसी सेना के सामने काफी कम थी, परंतु 1904-05 ई. के युद्ध में जापान ने रूस को पराजित करके यह बात सिद्ध कर दी कि रूस की सेना भीड़ मात्र है। इस पराजय के बाद रूस के नागरिकों का असंतोष चरम सीमा पर था तथा सभी नागरिक जारशाही की समाप्ति की कामना करने लगे। इस आक्रोश तथा असंतोष का परिणाम था– क्रांति।

टिप्पणी

(ग) **1905 ई. में क्रांति का प्रभाव**–रूस में मजदूरों की दशा बड़ी ही शोचनीय थी। पूरे दिन काम करने के बाद भी उन्हें दो वक्त का भोजन तक प्राप्त नहीं हो पाता था। उन्हें ट्रेड यूनियनों को बनाने की भी स्वतंत्रता नहीं थी। मजदूर वर्ग अपनी इस दशा से बुरी तरह से परेशान हो चुका था, अतः अपनी दशा सुधारने के लिए 22 जनवरी, 1905 ई. को लगभग 2 लाख मजदूरों ने फादर गोपेन के नेतृत्व में जार निकोलस द्वितीय के राजप्रासाद के सामने प्रदर्शन किया और शासन में सुधारों की मांग की, लेकिन जार ने उनकी मांगों को सुनने व शासन में सुधार करने के बजाय सैनिकों को प्रदर्शनकारियों पर गोलियां चलाने का आदेश दे दिया। इस गोलाबारी में फादर गोपेन घायल हो गए और इसमें सैकड़ों मजदूर मारे गए। 22 जनवरी का वह रविवार का दिन जार की बर्बरता का प्रतीक चिह्न बन गया। इतिहास में यह घटना 'खूनी रविवार' के नाम से प्रसिद्ध है। इस घटना में रूस की जनता में आक्रोश और भी ज्यादा बढ़ गया तथा उन्होंने जार के निरंकुश शासन का अंत करने का निश्चय कर लिया। इस संबंध में मैक्सिम गोर्की ने अपने विचार प्रकट करते हुए कहा, ''मैं सोचता हूं कि यह रक्तपिपासु जार के अंत का प्रारंभ है।'' इतिहासकार 1905 ई. की इस क्रांति को जार के अंत की शुरुआत मानते हैं। इस घटना से लोग उत्तेजित हो गए तथा उन्होंने कई स्थानों पर विद्रोह भी कर दिया।

(घ) **ड्यूमा का अंत**–1905 ई. की क्रांति के कारण रूस की जनता अत्यधिक उत्तेजित हो गई थी तथा जनता ने कई स्थानों पर तो विद्रोह का झंडा भी उठा लिया था। इस समय की गंभीरता को देखते हुए जार ने लोगों को शांत करने के लिए बहुत से शासन सुधारों की घोषणा कर दी। घोषणा के अंतर्गत जनता से यह कहा गया कि रूस में ड्यूमा की स्थापना की जाएगी तथा ड्यूमा का गठन तो कर लिया गया, लेकिन जार ने ड्यूमा के प्रभाव को कम करने व नष्ट करने के लिए हर संभव प्रयास किए। जार यह चाहता था कि ड्यूमा के सदस्य उसके कहे अनुसार ही कानूनों का निर्माण करें, लेकिन ड्यूमा ने जारशाही की इच्छा के अनुसार कार्य नहीं किया, तो पहले ड्यूमा को 1906 ई. में और दूसरी बार 1907 ई. में भंग कर दिया गया। ड्यूमा के सदस्यों को चुनने का अधिकार (मताधिकार) बहुत ही सीमित कर दिया गया। 5 वर्षों में जारशाही ड्यूमा को चार बार भंग कर दिया। इससे रूस की जनता में घोर असंतोष उत्पन्न हो गया। 1905 ई. की क्रांति के फलस्वरूप जो अधिकार दिए गए थे, उन अधिकारों को अब छीन लिया गया, इस कारण भी रूस की जनता में आक्रोश व्याप्त था।

(ङ) **रासपुटीन के अत्याचार**–जारशाही के अत्याचारों से तो जनता परेशान थी ही, पर इसके साथ-साथ वह रासपुटीन के अत्याचारों से भी परेशान थी। रासपुटीन एक जर्मन साधु था। रासपुटीन का जार और जरीना पर बहुत प्रभाव था। अयोग्य और भ्रष्ट व्यक्ति जो उच्च पदों पर थे, उन्हें रासपुटीन का संरक्षण प्राप्त था तथा उसका संरक्षण प्राप्त होने के कारण वे पदाधिकारी जनता का शोषण करते थे तथा उन पर अत्याचार करते थे। साधारण जनता तो रासपुटीन के अत्याचारों के कारण उसके विरुद्ध थी, लेकिन साधारण जनता के साथ-साथ सामंत भी रासपुटीन से तंग आ चुके थे। वे रासपुटीन से अंत में इतने परेशान हो गए कि 1916 ई. में रासपुटीन की हत्या कर दी गई। इस प्रकार शासन में भ्रष्टाचार व भ्रष्ट लोगों का बोलबाला था, जिसके कारण भी जनता जारशाही के शासन का अंत कर देना चाहती थी। जार के शासन का अंत करने का जनता के पास केवल एक ही विकल्प था, वो विकल्प था–क्रांति।

टिप्पणी

(च) **स्टालिपिन की प्रतिक्रियावादी नीति**–तृतीय ड्यूमा के निर्वाचन के पश्चात स्टालिपिन रूस का नया प्रधानमंत्री बना। स्टालिपिन घोर प्रतिक्रियावादी था। यह कहा जाता है कि उसके समय में रूस में पुनः प्रतिक्रियावाद का युग शुरू हो गया। उसने क्रांतिकारियों का दमन करने के लिए विशेष प्रकार के सैनिक न्यायालयों को स्थापित किया। हजारों की संख्या में लोगों को साइबेरिया के बर्फीले इलाकों में भेज दिया गया। राष्ट्रीय अल्पसंख्यकों, मजदूरों तथा किसानों पर भी भारी अत्याचार किए गए। अंत में क्रांतिकारियों ने उसके अत्याचारों से जनता को मुक्ति दिलाने के लिए व उससे बहुत ज्यादा परेशान होकर 1911 ई. में उसकी हत्या कर दी।

(छ) **रूसी नौकरशाही की अयोग्यता**–रूस की क्रांति के पीछे जितना उत्तरदायित्व उच्च जार, जरीना और रासपुटीन आदि के अत्याचारों का है, उतना ही उत्तरदायित्व उच्च पदाधिकारियों की अयोग्यता व भ्रष्टता का भी है। रूस की नौकरशाही के उच्च पदाधिकारी कुलीन वर्ग के व्यक्ति होते थे, जो कि भ्रष्ट व स्वेच्छाचारी थे। ये जनता पर अत्याचार किया करते थे। इन पदाधिकारियों को जनता के दुख-सुख से कोई वास्ता नहीं था। उनका अगर किसी से वास्ता था, तो वो था अपनी जेबें भरने से, अपने स्वार्थों की पूर्ति से। ये लोग विलासितापूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। इन्हें जनता की नैतिक व भौतिक उन्नति में रुचि नहीं थी। उच्च पदाधिकारियों की अयोग्यता एवं भ्रष्टता के कारण ही प्रथम विश्वयुद्ध में रूस की सेना को भारी क्षति उठानी पड़ी थी। रसद व सैन्य सामग्री के अभाव में हजारों सैनिकों को मौत को अपने गले लगाना पड़ा, अतः ऐसी भ्रष्ट व अयोग्य नौकरशाही के कारण रूसी जनता में तीव्र असंतोष था।

(ज) **जरीना एलेक्जैण्ड्रा का प्रभाव :** रूस के जार निकोलस द्वितीय पर अपनी पत्नी महारानी एलेक्जैण्ड्रा का बहुत ज्यादा प्रभाव था। वह स्वयं एक अयोग्य शासक था, उसमें योग्यता, दूरदर्शिता का तथा इसके साथ-साथ राजनीतिक सूझबूझ का अभाव था। महारानी रासपुटीन नामक एक अंधविश्वासी साधु के प्रभाव में थी, अतः जार की अयोग्यता, भ्रष्ट अधिकारियों, रासपुटीन के अत्यधिक हस्तक्षेप के कारण प्रशासन में बेइमानी, रिश्वतखोरी तथा भ्रष्टता का ही बोलबाला था, इस कारण जनता में घोर असंतोष व्याप्त था।

(झ) **निहिलिस्ट आंदोलन :** जारशाही की निरंकुशता, अत्याचारों व स्वेच्छाचारिता से साधारण जनता के साथ-साथ निहिलिस्ट भी नाराज थे। इनका प्राचीन रूढ़ियों व अंधविश्वासों में तनिक भी विश्वास नहीं था। वे सामाजिक व धार्मिक रूढ़ियों को प्रगति के मार्ग में बंधन मानते थे, वे इन रूढ़ियों को समाप्त करके एक नवीन और प्रगतिशील समाज की स्थापना करना चाहते थे। वे अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए हिंसात्मक साधनों का भी प्रयोग करते थे। 1881 ई. में जार एलेक्जेंडर द्वितीय की हत्या कर दी गई। उसकी हत्या के लिए निहिलिस्टों को ही दोषी ठहराया गया और उनका कठोरतापूर्वक दमन करना शुरू कर दिया गया। उनके दमन के लिए काफी कोशिशें की गईं, लेकिन उनकी दमनकारी नीति के बावजूद निहिलिस्टों ने गुप्त रूप से अपनी गतिविधियां जारी रखीं।

(ञ) **समाजवाद का विकास :** उपर्युक्त सभी राजनीतिक कारणों के अलावा समाजवाद के विकास के कारण भी रूस की क्रांति हुई। 1883 ई. के बाद से ही

टिप्पणी

समाजवादियों का प्रभाव बढ़ने लगा था। कुछ समय बाद ही समाजवादी दो दलों में विभक्त हो गए। इनमें पहला दल था– क्रांतिकारी समाजवादी दल तथा दूसरा दल था– समाजवादी लोकतंत्र दल। कुछ समय बाद ही लोकतंत्र दल भी दो भागों में विभाजित हो गया। ये दो भाग थे– बोल्शेविक तथा मेन्शेविक। बोल्शेविक नेताओं में प्रमुख नेता लेनिन, स्टालिन तथा ट्राटस्की आदि थे। यह दल रूस में सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतंत्र स्थापित करना चाहता था। जबकि मेन्शेविक मजदूर वर्ग के साथ-साथ अन्य वर्गों के सहयोग से रूस में जनतंत्र की स्थापना करना चाहता था।

जार ने समाजवादी विचारों के प्रसार को रोकने के लिए भरसक प्रयास किया और अनेक समाजवादी नेताओं को बंदी बनाया, लेकिन इसके अलावा रूस में समाजवादी विचारों का तीव्र गति से प्रसार हुआ। लेनिन को बंदी बनाकर साइबेरिया भेज दिया गया। 1900 ई. में उसे मुक्त कर दिया गया और देश से निर्वासित कर दिया गया।

2. सामाजिक कारण

1917 ई. की रूस की क्रांति के लिए सामाजिक कारण भी उत्तरदायी थे। इस संबंध में कार्ल मार्क्स का कथन है, ''प्रत्येक घटना के पीछे कोई न कोई आर्थिक कारण होता है।'' डॉ. के.एम. पन्निकर ने लिखा है, ''क्रांति सदैव भव्य प्रासादों व जीर्ण कुटियों से ही आरंभ होती है।'' 1917 ई. की क्रांति के सामाजिक कारण निम्नलिखित थे–

(क) **सामाजिक असमानता :** किसी भी समाज में अगर असमानता व्याप्त होती है, तो वहां पर उस वर्ग भेद व असमानता को समाप्त करने के लिए क्रांति अवश्य होती है। रूस में भी घोर सामाजिक असमानता व्याप्त थी। रूस का समाज मुख्यत: दो वर्गों में विभाजित था–पहला, अधिकारयुक्त तथा दूसरा, अधिकारविहीन वर्ग। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है कि इसमें एक वर्ग के पास अधिकार थे तथा जो अपनी इच्छानुसार उनका प्रयोग करने के लिए भी स्वतंत्र थे तथा अधिकतर लोग अपने उन अधिकारों का प्रयोग अपने स्वार्थों की पूर्ति में करते थे। अधिकारयुक्त वर्ग में जार और उसका परिवार, सामंतकुलीन, पदाधिकारी तथा धर्माधिकारी व्यक्ति सम्मिलित थे, लेकिन दूसरी तरफ अधिकारविहीन वर्ग के लोगों की दशा बड़ी शोचनीय थी। अधिकारविहीन वर्ग जहां कठोर परिश्रम करने के बाद भी भरपेट भोजन तक प्राप्त नहीं कर सकते थे, वहीं दूसरी तरफ अधिकारयुक्त वर्ग के पास भोग विलास के सभी साधन उपलब्ध थे तथा वे अपना जीवन बड़े ही विलासितापूर्ण तरीके से व्यतीत करते थे। जहां वे सभी साधनों से संपन्न थे, तो वहीं दूसरी तरफ अधिकारविहीन वर्ग, जिनमें मजदूर तथा कृषक दास आदि आते थे, साधनविहीन थे। अधिकारयुक्त वर्ग उन पर अत्याचार किया करते थे। अधिकतर भूमि व धन-संपत्ति पर अधिकारयुक्त वर्ग का ही अधिकार था।

(ख) **किसानों की दयनीय स्थिति :** रूस में सबसे ज्यादा खराब स्थिति अगर किसी वर्ग की थी, तो वह थी किसान वर्ग की। किसान वर्ग ही कुलीनों तथा सामंतों के अत्याचारों को सबसे ज्यादा झेलता था। किसान वर्ग ही सबसे ज्यादा था। रूस की 80 प्रतिशत जनता, अर्थात 18 करोड़ व्यक्ति किसान थे। कृषक दासों की स्वतंत्रता के बाद भी उनकी दशा में कोई सुधार नहीं हुआ। उस समय अधिकतर भूमि पर जमींदारों का अधिकार था तथा ये जमींदार इनसे ज्यादा से ज्यादा काम लेते थे, और उनका ज्यादा शोषण

टिप्पणी

करते थे, किंतु किसानों के पास उनकी अपनी भूमि नहीं थी, अतः वे जमींदारों की भूमि पर ही कार्य किया करते थे, इस कारण मजबूरन उन्हें उनके अत्याचारों को सहन करना पड़ता था। रूस के एक-तिहाई किसान भूमिहीन थे। जिन किसानों के पास जमीन थी, वहां भूमि अधिक उपजाऊ न होने के कारण पैदावार बहुत कम होती थी। किसान गंदी झोपड़ियों में रहते थे तथा रूखा-सूखा खाकर बड़ी कठिनाई से अपना जीवन यापन करते थे। किसान जमींदारों व सामंतों के अत्याचारों से बहुत ज्यादा परेशान हो चुके थे तथा उनके अत्याचारों से वे हर कीमत पर मुक्ति पाना चाहते थे। 1907 ई. में किसानों ने अनेक स्थानों पर विद्रोह कर दिया। कई स्थानों पर दंगे हुए। 1905 ई. के विद्रोहों व दंगों को देखते हुए किसानों को शांत करने के लिए व किसानों की स्थिति में सुधार करने के लिए बहुत से प्रयत्न किए गए तथा भूमि संबंधी सुधार भी किए गए, लेकिन वे प्रयास पर्याप्त नहीं थे। भूमिहीन किसानों की समस्या हल नहीं हो पाई। युद्धकालीन कष्टों ने किसानों की समस्या और असंतोष को और अधिक बढ़ा दिया तथा क्रांति का मार्ग प्रशस्त किया। इस प्रकार किसानों की खराब स्थिति ने किसानों को क्रांति में भाग लेने के लिए मजबूर कर दिया।

(ग) **रूस की रूसीकरण की नीति :** रूस में बहुत अधिक अल्पसंख्यक गैर-रूसी जातियां रहती थीं, जिनमें लेटिन रूसी, यूक्रेनी रूसी, श्वेत रूसी, पोल, फिनीज, यहूदी, स्लाव, तुर्क, मंगोल तथा आर्मीनियन आदि जातियां प्रमुख थीं। रूसी सरकार ने रूसीकरण की नीति को अपनाते हुए इन गैर-रूसी जातियों के साथ बड़ा कठोर व्यवहार किया। यहूदियों तथा आर्मीनियों पर भीषण अत्याचार किए गए। फिनलैंड तथा पोलैंड के लोग भी रूसीकरण की नीति के शिकार हुए, अतः रूसीकरण की नीति के कारण इन गैर-रूसी जातियों में तीव्र असंतोष था। 1905 ई. में जॉर्जिया, पोलैंड तथा बाल्टिक सागर में भीषण विद्रोह हुए, लेकिन जार ने इन विद्रोहों को कठोरतापूर्वक कुचल दिया। जारशाही की रूसीकरण की नीति ने गैर-रूसी जातियों को भी शासन विरोधी बना दिया और वे भी जारशाही के शासन के पतन की इच्छा रखने लगे तथा उसके शासन से मुक्ति पाने के लिए प्रयास करने लगे।

(घ) **समाज का पिछड़ापन :** समाज का पिछड़ापन भी क्रांति के लिए एक महत्वपूर्ण तत्व के रूप में होता है। रूस का समाज यूरोप के अन्य देशों की अपेक्षा काफी पिछड़ा हुआ था। इस समय अधिकांश लोग निम्न जीवन स्तर व्यतीत कर रहे थे। वे जीवन की आवश्यक सुविधाओं से वंचित थे। इस संबंध में लैंगसम का कथन है, ''1914 ई. में हर 1,000 रूसी जनता में 17 सामंत, 175 व्यापारी व नागरिक तथा 800 किसान होते थे।'' इस प्रकार से स्पष्ट है कि रूस एक विभिन्न लोगों का पिछड़ा हुआ देश था।

(ङ) **मध्यम वर्ग और बौद्धिक विचारधारा :** किसी भी क्रांति के पीछे जिसका सबसे ज्यादा हाथ होता है, वह है बौद्धिक विचारधारा। हर क्रांति से पहले बौद्धिक क्रांति अवश्य होती है तथा यही किसी क्रांति को आधार प्रदान करती है। रूस में भी फ्रांस की ही भांति पहले एक बौद्धिक क्रांति हुई, जिसका नेतृत्व मध्यम वर्ग कर रहा था। रूस के प्रसिद्ध लेखकों व विचारकों में टालस्टाय, बाकुनिन, तुर्गनेव, डोस्तोइविस्की, मैक्सिम गोर्की तथा लेनिन आदि थे। इन लेखकों के विचारों से लोग बड़े ही प्रभावित हुए तथा वे क्रांति

के लिए प्रेरित हुए। टालस्टाय की प्रसिद्ध पुस्तक 'वार एण्ड पीस' और गोर्की के उपन्यास 'द मदर' ने रूसी जनता के सुधारों के लिए मांग की, तब जारशाही ने सुधारों की मांग को ठुकरा दिया, तो जनता में तीव्र आक्रोश उत्पन्न हो गया।

टिप्पणी

3. आर्थिक कारण

1917 ई. की क्रांति के आर्थिक कारण निम्नलिखित थे :

(क) **मजदूरों में असंतोष :** रूस में मजदूरों की स्थिति बड़ी ही दयनीय थी। मजदूर जिन कारखानों में काम करते थे, वहां के मालिक मजदूरों से ज्यादा से ज्यादा काम कराते थे तथा वेतन बहुत ही कम देते थे। वे मजदूरों को इतनी कम राशि दिया करते थे कि जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं, जैसे–रोटी, कपड़ा और मकान भी प्राप्त नहीं कर सके थे। मिल मालिकों को मजदूरों के सुख-दुख व उनके स्वास्थ्य आदि में कोई दिलचस्पी नहीं थी। उनका उद्देश्य तो बस अधिक–से–अधिक मुनाफा कमाना था। इसके अतिरिक्त वे औरतों व बच्चों से आदमियों के बराबर काम लेते थे, मगर मेहनताना कम देते थे और यहां तक कि किसी मजदूर की काम करते समय दुर्घटना हो जाने पर उन्हें मालिकों की तरफ से मुआवजा भी नहीं दिया जाता था। अब मजदूर मालिकों के अत्याचारों से छुटकारा पाना चाहते थे। सरकार भी पूंजीपतियों का ही साथ देती थी, क्योंकि सरकार को पूंजीपतियों से ही फायदा होता था, न कि मजदूरों से। अत: क्रांतिकारी समाजवादी दल ने मजदूरों को पूंजीपतियों के विरुद्ध संगठित होने की प्रेरणा दी और 1902–03 ई. से मजदूरों ने हड़ताल करना शुरू कर दिया। 1905 ई. की क्रांति का सूत्रपात भी मजदूरों के जुलूस से ही हुआ। 1905 ई. में एक लाख साठ हजार मजदूरों ने जारशाही के विरुद्ध प्रदर्शन किया। मजदूर अपनी दयनीय स्थिति के लिए जारशाही और पूंजीपतियों को उत्तरदायी मानते थे, अत: उन्होंने संगठित होकर पूंजीवादी व्यवस्था तथा जारशाही के भ्रष्ट शासन के स्थान पर सर्वहारा वर्ग की सरकार स्थापित करने का निश्चय कर लिया। इस प्रकार मजदूरों की दयनीय स्थिति ने उनको पूंजीपतियों व जारशाही के विरुद्ध झंडा उठाने के लिए मजबूर कर दिया।

(ख) **कृषि की असंतोषजनक दशा :** रूस में कृषि की दशा भी असंतोषजनक थी। 1905 ई. में सरकार ने कुछ भूमि संबंधी सुधार अवश्य किए, परंतु वे सुधार पर्याप्त नहीं थे और उसके द्वारा किए गए प्रयासों से किसानों की समस्याओं का समाधान नहीं हो पाया तथा किसानों की समस्याएं पहले की ही भांति बनी रही। किसानों की स्थिति में कोई सुधार नहीं हुआ तथा वे जमींदारों के अत्याचारों को सहने के लिए मजबूर थे। अंत में विवश होकर रूस में 20 लाख किसानों ने गांव छोड़ दिया तथा 13 लाख लोगों ने अपनी जमीनें बेच दीं। अपनी दयनीय दशा से किसान बहुत परेशान हो गए थे तथा अब उनके पास विद्रोह करने के अलावा कोई विकल्प नहीं था। अंत में किसानों ने विद्रोह कर दिया। केवल 1910 ई. में कृषकों के 6,175 विद्रोहियों को बड़ी ही निर्दयतापूर्वक कुचला गया।

(ग) **औद्योगिक विकास :** रूस में जार एलेक्जेंडर तृतीय के समय में औद्योगिक क्रांति होने के कारण अनेक कल-कारखाने खोले गए तथा औद्योगिक क्षेत्र में इस समय बहुत विकास हुआ। रूस में 1913 ई. में प्रतिवर्ष 281 करोड़ टन कोयला, 28.30 टन लोहा और 24.30 लाख टन इस्पात का उत्पादन होने लगा। औद्योगिक उत्पादन 54

टिप्पणी

प्रतिशत तक बढ़ गया और भारी उद्योगों में 76 प्रतिशत वृद्धि हुई, अतः लाखों किसान गांव छोड़कर रोजगार की तलाश में शहर आ गए तथा वहीं पर बस गए। मालिकों ने उनकी दयनीय स्थिति का पूरा-पूरा फायदा उठाया और उनका शोषण करना शुरू कर दिया। अतः औद्योगिक विकास होते हुए भी मजदूरों की दशा शोचनीय थी। रूस में जैसे बेरोजगार किसानों की बाढ़-सी आ गई थी। उनके पास क्रांति के अलावा और कोई विकल्प भी नहीं था।

(घ) **रूसी व्यापार और वाणिज्य पर विदेशी पूंजी का प्रभाव :** रूसी व्यापार व उद्योगों में 80 प्रतिशत पूंजी विदेशी थी। 1900 ई. में देश की आय 17 हजार लाख रूबल थी, जो बढ़कर 1913 ई. में 34 हजार लाख रूबल, अर्थत दुगुनी हो गई थी, लेकिन यह सारी आमदनी जनता पर खर्च न होकर विलासिता के कार्यों में खर्च की जाती थी। सामान्य लोगों के पास न खाने के लिए खाना था, न ही रहने के लिए मकान थे। जनसाधारण की आर्थिक दशा शोचनीय बनी हुई थी। किसान, मजदूर तथा गैर-रूसी आदि सभी रूसी जारशाही को नष्ट करना चाहते थे तथा जारशाही को नष्ट करने के लिए एक हो गए व इन सबके एक हो जाने का परिणाम था– क्रांति।

4. तात्कालिक कारण

1914 ई. के प्रारंभ हुए विश्व युद्ध में रूस मित्र राष्ट्रों की ओर से लड़ा। युद्ध के प्रारंभिक काल में रूसी सेनाओं को कुछ सफलता जरूर मिली, परंतु शस्त्रों तथा खाद्य सामग्रियों की आपूर्ति समय पर न होने से विभिन्न मोर्चों पर रूसी सेना पराजित हुई। जार की जर्मन पत्नी को रूस के साथ कोई सहानुभूति नहीं थी, फलतः यह अफवाह फैल गई कि जार जर्मनी के साथ संधि करना चाहता है। जनता असंतुष्ट हो गई। उसने शासन में अनावश्यक हस्तक्षेप करने वाले रासपुटीन की हत्या कर दी। युद्ध हेतु भेजे जाने के कारण कृषकों की संख्या में कमी आई तथा कृषि में गिरावट आई। जनसाधारण में असंतोष उत्पन्न हो गया। 1916-17 ई. के शीतकाल में घोर असंतोष व्याप्त था। उधर सेनाओं की लगातार हार के अपमान से जनता क्षुब्ध थी, इधर ईंधन, अनाज और कपड़े की कमी हो गई थी। देश में अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गई। 1916-17 ई. में रूस में भयंकर अकाल पड़ा। कृषि का उत्पादन केवल 11.7 प्रतिशत रह गया। देश में कपड़ा, ईंधन और अनाज की कमी हो जाने से इन वस्तुओं के भाव बहुत बढ़ गए। गरीबों का तो जीना असंभव हो गया। जनता ने इस स्थिति के लिए जारशाही को उत्तरदायी ठहराया। इस प्रकार 1917 ई. की क्रांति का तात्कालिक कारण युद्ध में करारी हार और रोटी की कमी थी।

1.4.2 बोल्शेविक क्रांति की प्रमुख घटनाएं एवं उनके प्रभाव

रूस में सारा वातावरण सरकार के विरुद्ध हो गया। सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थितियां भी प्रतिकूल हो गई थीं। 1905 ई. की चिंगारी भी धीरे-धीरे अंदर-ही-अंदर सुलग रही थी। 7 मार्च, 1917 ई. को मजदूरों के एक संगठन ने जुलूस निकाला और राजधानी पहुंचे। उनके दमन के लिए सैनिकों को आदेश दिया गया, पर सैनिक भी विद्रोहियों से जा मिले। 8 मार्च को कपड़ा मिलों के मजदूरों ने हड़ताल कर दी। 9 मार्च से सार्वजनिक आंदोलन तेज हो गया। 10 मार्च को श्रमिकों ने पूर्ण हड़ताल कर दी। पार्लियामेंट ने निकोलस से त्याग-पत्र की मांग की। 14 मार्च, 1917 ई. को उदारवादी सरकार की स्थापना हुई और क्रांति सफल हो गई।

बोल्शेविक क्रांति के परिणाम

टिप्पणी

बोल्शेविक क्रांति का प्रभाव केवल रूस में ही नहीं, विश्व के विभिन्न क्षेत्रों पर भी इसका प्रभाव दिखाई देता है। इस संबंध में संक्षेप में यहां जानकारी दी जा रही है :

(1) जारशाही का अंत : रूस में लंबे समय तक जार का शासन था। जनता उसके अत्याचारों से तंग आ चुकी थी। इस क्रांति के द्वारा जार का शासन समाप्त हो गया और रूस को उससे मुक्ति मिली।

(2) साम्यवादी शासन की स्थापना : इस क्रांति ने जारशाही को समाप्त करके साम्यवादी शासन की स्थापना कर दी। साम्यवाद की स्थापना के साथ ही पूंजीवादी व्यवस्था का अंत हो गया। देश की समस्त संपत्ति जनता की संपत्ति हो गई।

(3) मित्र राष्ट्रों की संधियां टूटना : जार ने मित्र राष्ट्रों की ओर से युद्ध में भाग लिया था। बोल्शेविक दल युद्ध के पक्ष में नहीं था। उसने सत्ता में आते ही जार द्वारा की गई समस्त गुप्त संधियों को भंग कर दिया। इससे मित्र राष्ट्र रूस की नई सरकार के विरोधी हो गए।

(4) अंतर्राष्ट्रीय तनाव : रूस ने जार द्वारा की गई सभी संधियों को अमान्य करके मित्र राष्ट्रों को नाराज कर दिया था। साम्यवादी सरकार पूंजीवाद की कट्टर विरोधी थी और इस प्रकार दो विचारधाराओं के कारण अंतर्राष्ट्रीय तनाव में वृद्धि हुई।

(5) साम्यवादी विचारधारा का प्रचार : रूस में साम्यवादी सरकार की स्थापना के पश्चात साम्यवादी विचारधारा के प्रचार व प्रसार का कार्य बहुत तेजी से किया गया। रूस ने बहुत जल्दी प्रगति की और अपने सिद्धांतों के प्रचार-प्रसार पर पूरा ध्यान दिया। इससे पूंजीवादी देश रूस के विरोधी हो गए।

रूस की क्रांति ने अन्य देशों को भी क्रांति के लिए प्रेरित किया तथा साम्यवाद की विचारधारा का प्रचार व प्रसार हुआ।

(6) यूरोप में अधिनायकवाद का जन्म : रूसी क्रांति के फलस्वरूप यूरोप के अनेक देशों में अधिनायकवाद का उदय हुआ। रूस की साम्यवादी विचारधारा के परिणामस्वरूप यूरोप में साम्यवाद का हौवा खड़ा कर कुछ देशों में अधिनाकयवाद का उदय हुआ। जर्मनी में हिटलर के नेतृत्व में तथा इटली में मुसोलिनी के नेतृत्व में अधिनायकवादी सरकार की स्थापना हुई। स्पेन में जनरल फ्रेंको ने अपना अधिनायकतंत्र स्थापित किया।

(7) अंतर्राष्ट्रीय तनाव का जन्म : 1917 ई. की रूसी क्रांति के फलस्वरूप विश्व में पूंजीवादी और साम्यवादी गुटों की स्थापना हुई। रूसी क्रांति का एक प्रमुख उद्देश्य नवीन समाज की स्थापना करके विश्व क्रांति का नारा लगाना था। मित्र राष्ट्रों ने इसे रोकने का प्रयास किया। 1919 से 1939 ई. तक जो घटनाएं घटित हुईं, उनमें साम्यवादी तथा पूंजीवादी विचारधाराएं संपूर्ण विश्व को दो गुटों में बांटती दिखाई देती हैं। इस प्रकार विश्व में दो प्रमुख गुट अस्तित्व में आने से अंतर्राष्ट्रीय तनाव में वृद्धि हुई।

(8) अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ की स्थापना : रूसी क्रांति के परिणामस्वरूप राष्ट्र संघ के अंतर्गत 'अंतर्राष्ट्रीय श्रमिक संघ' नामक एक संस्था की स्थापना हुई। इसका प्रमुख

उद्देश्य श्रमिकों की दशा में सुधार करना था। यह संस्था आज भी संयुक्त राष्ट्र संघ में भी शामिल हैं।

टिप्पणी

(9) रूसी साम्राज्य के अधीन देश स्वतंत्र : रूस की क्रांति के परिणामस्वरूप साम्यवाद की स्थापना हुई। साम्यवाद, साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का घोर विरोधी है, परिणामस्वरूप रूसी साम्राज्य के अधीन देशों में मुख्यत: जॉर्जिया, एस्टोनिया, फिनलैंड और पोलैंड थे, इनका नवीन राष्ट्रों के रूप में उदय हुआ।

(10) सामाजिक क्षेत्र पर प्रभाव : रूस की क्रांति का सामाजिक क्षेत्र पर भी व्यापक प्रभाव पड़ा, ये प्रभाव निम्नलिखित हैं–

अ. शिक्षा का प्रसार : रूस की क्रांति के फलस्वरूप रूस में शिक्षा का तीव्र गति से प्रचार-प्रसार हुआ। अब अशिक्षितों का प्रतिशत सिर्फ बीस या उससे भी कम रह गया।

ब. स्वास्थ्य : जनता तथा कार्य करने वाली मदर्स को मुफ्त चिकित्सा व्यवस्था दी गई।

स. तलाक : रूस में अब तलाक प्रथा बंद कर दी गई, इससे नारियों का सम्मान बढ़ा।

द. महिलाओं की दशा में सुधाार : रूस की क्रांति के फलस्वरूप रूस की स्त्रियों की दशा में काफी सुधार हुआ। उन्होंने सैनिक, सांस्कृतिक तथा शैक्षणिक सभी क्षेत्रों में भाग लेना शुरू कर दिया। उन्हें बिना किसी भेदभाव के उच्च पदों पर नियुक्त किया जाने लगा। आज रूस में 50 प्रतिशत चिकित्सक स्त्रियां हैं। अनेक स्त्रियां सेना में जनरल हैं। कारखानों में फोरमैन, राजदूत और न्यायाधीश हैं।

(11) रूस एक विश्व शक्ति के रूप में : जो जापान से मात खा चुका था, प्रथम विश्व युद्ध में बुरी तरह से हार चुका था, वह रूस इस क्रांति के बाद विश्व शक्ति बन गया। क्रांति के परिणामस्वरूप नये जोश, उत्साह और उमंग से सभी रूसियों के कंधे से कंधा मिलाकर रूस को शीघ्र ही विश्व की एक शक्ति बना दिया, जो आज भी है।

1.4.3 रूस में समाजवादी राज्य की स्थापना

रूस में समाजवादी राज्य की स्थापना में लेनिन की भूमिका महत्वपूर्ण है। उसी के प्रयासों से यह कठिन कार्य संभव हो पाया, यहां लेनिन के जीवन में महत्वपूर्ण घटनाओं का वर्णन आवश्यक है–

लेनिन का जीवन और कार्य

लेनिन का नाम 'ब्लादिमीर इलिच उल्यानोव' था। उसका जन्म कजान प्रांत के सिमविस्क नगर में 1870 ई. में हुआ। उसके पिता शिक्षा विभाग से संबद्ध थे और उसका परिवार एक निम्न श्रेणी के सामंत वर्ग से संबंधित था। यह वंश अपनी क्रांतिकारी विचारधारा के लिए प्रसिद्ध था। वदिमर का भाई 1887 ई. में जार की हत्या के प्रयत्न में फांसी पर लटकाया गया। उसके परिवार पर पुलिस की कड़ी निगरानी थी। वदिमर ने मैट्रिक परीक्षा पास करने के बाद छात्र आंदोलन में भाग लिया और इसी कारण उसे वहां से भाग जाना पड़ा। उसने विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की तथा 1891 ई. में कानून की डिग्री प्राप्त

की। इन्हीं दिनों उसने कार्ल मार्क्स की 'कैपीटल' पढ़ी और उसकी धारणा बन गई कि रूस के लिए समाजवाद ही आवश्यक है।

टिप्पणी

उसने एक क्रांतिकारियों का दल बनाया और कुशलतापूर्वक कार्य करने लगा। उसे साइबेरिया में निष्कासित के रूप में भी समय व्यतीत करना पड़ा। सन् 1900 ई. में वह स्विट्जरलैंड गया। 1905 ई. से 1917 ई. तक विशेष रूप से वह अपने देश से बाहर रहकर क्रांतिकारी भावनाओं का प्रचार करता रहा। उसने अपनी राजनीतिक गतिविधियों को अधिक गतिशील बनाया। उसने बुद्धिजीवियों का सहयोग लेकर बुर्जुआ वर्ग को समाप्त कर दिया। उसे मजदूर व किसानों का पूरा सहयोग मिला। लेनिन का सबसे विश्वस्त सहयोगी ट्रोटस्की था। वह यहूदी परिवार से संबंधित था। वह लेनिन के विचारों का समर्थक था। उसी ने रूस में लाल फौज का गठन किया।

लेनिन को सोवियत दलों का अध्यक्ष बनाया गया, तो उसने अपने कुछ कार्यक्रम तैयार किए। वह राज्य को समाजवादी विचारधारा के साथ चलाना चाहता था। उसने मध्य यूरोपीय शक्तियों के साथ संधियां कीं। उसने अपने दल का विधिवत गठन किया। उसने 'पोलिटिकल ब्यूरो' की स्थापना की, जिसके हाथ में सर्वोच्च सत्ता होती थी। सोवियत सरकार ने भूमि, उत्पादन और वितरण की व्यवस्था का राष्ट्रीयकरण कर दिया। उसने विशुद्ध साम्यवाद की स्थापना का प्रयत्न किया, पर उससे लोग संतुष्ट नहीं हुए। उसने अपनी नीति में परिवर्तन किया। सरकार ने नई उदारवादी नीति को अपनाया तथा व्यक्तिगत संपत्ति के लिए भी कुछ अवसर उपलब्ध कराए। उद्योगों में विकेंद्रीकरण की नीति को प्रधानता दी गई।

लेनिन अपनी विदेश नीति द्वारा साम्यवाद का प्रचार व प्रसार करना चाहता था। वह पूंजीवाद के विरुद्ध एक संघर्ष छेड़ना चाहता था। 1924 ई. में लेनिन की मृत्यु हो गई। पेट्रोगोड नामक स्थान पर उसकी स्मृति में उसका नाम लेनिनग्राड कर दिया गया।

लेनिन के प्रमुख कार्य निम्नलिखित थे–

1. राज्य के स्वामित्व की स्थापना तथा किसानों को भूमि का स्वामी बनाना।
2. मजदूरों को कारखानों में प्रबंध दे दिया।
3. श्रम को प्रत्येक नागरिक के लिए अनिवार्य कर दिया गया।
4. पूंजीवाद की रूस में समाप्ति कर दी गई।
5. राज्य और चर्च को पृथक कर दिया गया तथा शिक्षा आदि का प्रबंध सरकार ने अपने हाथ में ले लिया।

बोल्शेविक क्रांति और लेनिन की भूमिका

10-13 अक्टूबर को बोल्शेविक दल की कार्यकारिणी ने लेनिन के आदेशानुसार सशस्त्र क्रांति द्वारा सत्ता हस्तगत करने का निर्णय किया और इस योजना को कार्यान्वित करने के लिए एक 'पोलित ब्यूरो' नियुक्त कर दिया। ट्राटस्की ने पेट्रोगाड सोवियत की 'सैनिक क्रांतिकारी समिति' नियुक्त कर दी। केरेन्स्की की सरकार की स्थिति गड़बड़ा गई थी, क्योंकि मेन्शेविक दल तथा क्रांतिकारी समाजवादी उनके मंत्रिमंडल से अलग हो चुके थे। बोल्शेविक नेताओं ने क्रांति की योजना को 25 अक्टूबर को होने वाले अखिल रूसी

टिप्पणी

सोवियत सम्मेलन के पहले कार्यान्वित करने का निश्चय किया। 23 अक्टूबर-5 नवम्बर को केरेन्स्की ने बोल्शेविक नेताओं को बंदी बनाने की आज्ञा निकाली, किंतु उस समय तक बोल्शेविक नेता क्रांति की तैयारियां पूरी कर चुके थे। केरेन्स्की के आदेश से उन्हें जनमत को शासन के विरुद्ध भड़काने का एक बहाना मिल गया। सैनिक क्रांतिकारी समिति के सदस्य ट्राटस्की, पोदवाइस्की और लाशेविच सशस्त्र आक्रमण की योजना तैयार कर चुके थे। 24-25 अक्टूबर व 6-7 नवम्बर की रात्रि को लाल रक्षकों और नियमित सैनिकों की टुकड़ियों ने टेलीफोन केंद्र, पोस्ट ऑफिस, बिजलीघर, रेलवे स्टेशन तथा नेशनल बैंक आदि प्रमुख स्थानों पर अधिकार कर लिया। 7 नवम्बर को प्रातःकाल केरेन्स्की राजधानी छोड़ कर भाग गया। अस्थाई सरकार के सभी मंत्री बंदी बना लिए गए। राजधानी में प्रमुख स्थानों पर कुछ इश्तहार चिपकाए गए, जिनसे यह घोषित किया गया था, ''अस्थाई सरकार को समाप्त कर दिया गया है और उसके स्थान पर सर्वहारा वर्ग की क्रांतिकारी समिति तथा पेट्रोग्राड के मेरीजन ने सत्ता ग्रहण कर ली है। इस प्रकार कुछ घंटों में बिना रक्तपात के रूस की राजधानी पर बोल्शेविक दल का आधिपत्य हो गया। केरेन्स्की सरकार के पतन का कारण उसके शत्रुओं का बल नहीं, स्वयं उसकी असहाय अवस्था थी।''

उसी दिन सायंकाल अखिल रूसी सम्मेलन का अधिवेशन आरंभ हुआ, जिसके 649 प्रतिनिधियां में से 390 बोल्शेविक थे। लेनिन कांग्रेस के समक्ष उपस्थित हुआ और उसके दो महत्वपूर्ण प्रस्ताव पास किए गए। पहले प्रस्ताव में युद्धरत सभी राष्ट्रों से युद्ध बंद करके शांति वार्ता आरंभ करने की अपील की गई और दूसरे प्रस्ताव के अनुसार भूमिपतियों की भूमि बिना मुआवजे के छीन लेने का निश्चय किया गया। कांग्रेस ने अस्थाई सरकार की समाप्ति एवं उसके स्थान पर नई सरकार के निर्माण का स्वागत किया।

26 अक्टूबर व 8 नवम्बर, 1917 ई. को नई सरकार के प्रथम मंत्रिमंडल (काउंसिल ऑफ पीपुल्स कामिसार्स) का गठन किया गया। लेनिन को परिषद का अध्यक्ष बनाया गया। इसके साथ ट्राटस्की विदेश मंत्री, स्टालिन राष्ट्रीय जातियों का मंत्री, राइकाव गृह मंत्री बनाया गया एवं मिल्यूतीन आदि को मंत्रिपरिषद में सम्मिलित किया गया।

लेनिन की सरकार ने निम्नलिखित कार्यक्रम बनाए–

1. केंद्रीय शक्तियों से तुरंत संधि करना।
2. राज्य में व्यापक राजनीतिक, सामाजिक व आर्थिक परिवर्तन करना।
3. ऐसी व्यवस्था करना, जिससे सर्वहारा वर्ग का अधिनायकतंत्र उस समय तक स्थाई रहे, जब तक कि देश की संपूर्ण जनता साम्यवादी शासन में भाग लेने योग्य न हो जाए।
4. सर्वहारा वर्ग की क्रांति का विश्वभर में प्रसार करना।

क्रांतिकारी समाजवादी दल को पूर्ण बहुमत

नई सरकार ने सबसे पहले संविधान सभा के चुनाव 12 व 15 नवम्बर को कराने की घोषणा की, क्योंकि अक्टूबर क्रांति से पहले कई बार बोल्शेविक दल के नेता संविधान

टिप्पणी

सभा आमंत्रित करने का आश्वासन दे चुके थे, किंतु चुनाव में सोशल रिवोल्यूशनरी (क्रांतिकारी समाजवादी दल) को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ और बोल्शेविक दल की स्थिति विषम हो गई, परंतु वह दल सत्ता छोड़ने के लिए तैयार नहीं था। उसने संविधान सभा का प्रथम अधिवेशन जनवरी, 1918 ई. तक स्थगित कर दिया और उसी बीच अपनी शक्ति को संगठित करने का प्रयत्न किया। इस बीच बोल्शेविक सरकार ने सभा के कुछ विरोधी सदस्यों को गिरफ्तार कर लिया। तथापि 5 से 13 जनवरी, 1918 ई. को संविधान सभा की पहली बैठक में 'क्रांतिकारी समाजवादी दल' का बहुमत बना रहा और उसी दल का एक सदस्य सभा का अध्यक्ष निर्वाचित हुआ। इसके पश्चात सभा ने कामगारों को छोड़कर अन्य सभी नागरिकों को निःशस्त्र करने का प्रस्ताव अस्वीकार कर लिया। इससे अप्रसन्न होकर बोल्शेविक दल के सदस्य सभा छोड़कर चले गए, तत्पश्चात बोल्शेविक सरकार ने इस 'प्रतिक्रियावादी सभा' को भंग कर दिया और उसका अधिवेशन कभी नहीं बुलाया गया।

लेनिन और उसकी नई आर्थिक नीति

अक्टूबर, 1917 की क्रांति के फलस्वरूप रूस में साम्यवादी शासन की स्थापना हुई। लेनिन ने उसका नेतृत्व किया और देश की आर्थिक स्थिति को पतन से बचाने के लिए नई आर्थिक नीतियों का आश्रय लिया गया। सर्वप्रथम राजकीय पूंजीवाद की नीति नवम्बर, 1917 से जुलाई, 1918 तक चालू रही; तत्पश्चात सन् 1918 के मध्य से मार्च, 1921 तक बौद्धिक साम्यवाद की नीति चली। उसके बाद लेनिन द्वारा नवीन आर्थिक नीति अपनाई गई जिसका सन् 1928 में अंतिम रूप से परित्याग करके 'नियोजित अर्थव्यवस्था' का मार्ग अपनाया गया।

लेनिन द्वारा नवीन आर्थिक नीति अपनाए जाने में उत्तरदायी कारण अथवा घटक

रूस गृह-युद्ध के पश्चात जीवित रहा, किंतु जीवित रहने के लिए उसे भयावह परिस्थितियों में से गुजरना पड़ा। सन् 1917 की बोल्शेविक क्रांति के पश्चात लेनिन ने राजकीय पूंजीवाद की जिस नीति को अपनाया, वह नवम्बर, 1917 से जुलाई, 1918 तक अर्थात क्रांति के प्रथम आठ महीनों तक ही चली। इस काल में सरकार ने संपूर्ण आर्थिक नियंत्रण व्यक्तिगत पूंजीपतियों से छीनकर अपने हाथ में ले लिया, तथापि उद्योगों के मालिक पूंजीपति ही बने रहे। देश के तमाम उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने के बजाय सरकार ने केवल उनका आंशिक प्रबंध ही अपने पास रखा। इसीलिए इस नीति को नियंत्रित पूंजीवाद भी कहते हैं। सरकार इस नीति को अपनी आशाओं के अनुकूल पालन नहीं करवा सकी, जनता पूर्ण राष्ट्रीयकरण के पक्ष में थी, अतः जनता ने गृह-युद्ध छेड़ दिया और सरकार ने सन् 1918 की 28 जून को इस नीति का परित्याग कर दिया। राजकीय पूंजीवाद के बाद बौद्धिक साम्यवाद का युग आया। यह नीति सन् 1918 के मध्य से मार्च, 1921 तक अपनाई गई। उत्पादन और अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों में विनाशकारी परिस्थितियों के कारण जब प्रतिक्रांति का भय उत्पन्न हो गया तो सरकार को राजकीय पूंजीवाद के स्थान पर बौद्धिक साम्यवाद की नीति अपनानी पड़ी जिसके अंतर्गत रूस ने दृढ़तापूर्वक साम्यवाद की ओर कदम बढ़ाए तथा बड़े पैमाने पर कुछ अभिनव प्रयोग किए। बौद्धिक साम्यवाद की मूलभूत विशेषताएं निम्नांकित थीं–

(1) राष्ट्रीयकरण

टिप्पणी

(2) प्रशासनिक केंद्रीयकरण,

(3) उत्पादन और वितरण पर सरकारी एकाधिकार,

(4) केंद्रीय सत्ता द्वारा माल का संग्रह करना एवं उद्योगों और सेवाओं में वितरण करना, तथा

(5) सैनिक संगठन को अनुप्राणित करना। इस दृष्टि से सोवियत सरकार द्वारा मजदूरों और किसानों की लालसेना का संगठन 30 नवम्बर, 1918 को लेनिन की अध्यक्षता में हुआ।

बौद्धिक साम्यवाद की शासन-व्यवस्था के अंतर्गत रूसी जनता में असंतोष व्याप्त रहा। शासकीय प्रयत्नों के बावजूद सोवियत अर्थव्यवस्था पूरी तरह अव्यवस्थित हो गई और देश की उत्पादन क्षमता बहुत ही घट गई। जनता का असंतोष सन् 1920-21 के दौरान एक के बाद एक कृषक-विद्रोहों के रूप में प्रकट हुआ। मार्च, 1921 के आरंभ में लाल नौ-सेना के नाविकों के बीच क्रौन्साटाइट में एक भयंकर उत्पात हुआ। यह एक ऐसा समूह था जो पहले बोल्शेविक आंदोलन का प्रमुख समर्थक था। विद्रोहियों की मुख्य मांग थी– संविधान सभा बुलाई जाए और व्यापार की स्वतंत्रता पुनः स्थापित की जाए। इस विद्रोह को सरकार ने शीघ्र ही कुचल दिया, तथापि स्थिति की गंभीरता को समझकर लेनिन ने नीति-परिवर्तन और दमनकारी पुलिस कार्रवाई का सहारा लेने का निश्चय कर लिया। नीति-परिवर्तन का निश्चय ही 'नवीन आर्थिक नीति' के रूप में फलित हुआ।

वास्तव में सन् 1917 की क्रांति के बाद रूस को जो झटके लगे, जो विनाशकारी आघात सहने पड़े, वे ही मुख्य रूप से नई आर्थिक नीति के प्रारंभ के लिए उत्तरदायी थे। इतिहासकार जॉर्ज बर्नादस्की के अनुसार, ''विध्वंस, विघटन, दुर्घटना और भुखमरी– ये बातें गृह-युद्ध ने एक ऐसे राष्ट्र के लिए विरासत में छोड़ी थीं जो विश्व-युद्ध के कारण पहले ही जर्जर हो चुका था।'' और इस विरासत से छुटकारा पाने के लिए ही लेनिन ने अंततोगत्वा नई आर्थिक नीति का सहारा लिया। इस नीति के विवेचन से पूर्व यह उचित होगा कि हम गृह-युद्ध-जनित विनाशकारी विरासत का वह चित्र प्रस्तुत करें जो जॉर्ज बर्नादस्की ने हमारे सामने रखा है। उन्हीं के शब्दों में–

''राष्ट्र के रूप में रूस जीवित रहा, किंतु उसे उसके लिए मानव की यातनाओं के रूप में भयंकर मूल्य चुकाना पड़ा।''

''उद्योग के निरंतर ह्रास और परिवहन-व्यवस्था के विघटन के कारण क्रमशः राष्ट्र पूर्णतः दुर्बल होता गया। प्रत्येक वर्ष औद्योगिक उत्पादन कम होता जाता था और सन् 1920 में वह सन् 1913 की तुलना में केवल 13.2 प्रतिशत रह गया। परिवहन-व्यवस्था के विघटन के कारण निर्मित वस्तुएं और अन्य प्रकार की वस्तुएं ओझल होने लगीं। सन् 1916 में दैनिक कार-ढुलाई 31,164 थी; सन् 1920 में 10,738। इन सब बातों का अर्थ था जनता के लिए कठिनाइयों और अभाव की वृद्धि। इस कमी का प्रभाव दैनिक उपयोग की लगभग सभी वस्तुओं पर पड़ा। उदाहरणार्थ, युद्ध के पहले प्रति व्यक्ति शक्कर तथा शीरे की खपत 4.87 स्वर्ण रूबल मूल्य की थी। सन् 1920 तक वह 24 स्वर्ण रूबल तक घट गई। वस्त्रों की युद्ध-पूर्व खपत प्रति व्यक्ति 677 स्वर्ण रूबल मूल्य की थी; सन् 1920 में वह केवल 91 में रह गई।''

टिप्पणी

''कृषि-उत्पादन में हुए विनाशकारी ह्रास से और भी गंभीर स्थिति उत्पन्न हो गई थी। सभी कृषि-योग्य भूमियां क्रांति के समय बड़ी संपदाओं के अभिभाजन के कारण कृषकों के हाथों में चली गई थीं। इस परिवर्तन से उनकी भूमि लगभग 31 प्रतिशत बढ़ गई थी। यद्यपि क्रांति ने कृषकों को भूमि दी जिसे पाने के वे इच्छुक थे, तथापि गृह-युद्ध के साथ अनेक सैनिक कठिनाइयां भी आई। जिनके कारण शासन साम्यवादी सिद्धांत की अक्षरश: प्रयुक्ति के लिए बाध्य हो गया तथा उनके समक्ष युद्ध-साम्यवाद की आर्थिक नीति भी आई जिससे वे घृणा करते थे। उनकी दृष्टि से नई पद्धति विनियमन और लूट का सम्मिश्रण थी जिसने भूमि पर कृषि करने की सभी पुरानी प्रेरणाओं को छीन लिया था। अब कृषक अपनी आवश्यकता से अधिक फसल उगाने के लिए इच्छुक नहीं था, इसलिए कुल कृषिगत क्षेत्र कम होता गया। सन् 1916 में ऐसे इलाके में जो बाद में सोवियत नियंत्रण में आ गया, 90,000,000 हेक्टेयर कृषिगत भूमि थी; सन् 1921 तक इस क्षेत्र में कृषिगत भूमि 60,000,000 हेक्टेयर रह गई। इसके अतिरिक्त बड़ी संपदाओं के नष्ट हो जाने से वहां उत्पादन सामान्यत: अच्छा होता था, प्रति एकड़ उपज में कमी हो गई और अनाज का संग्रह कृषिगत क्षेत्र की अपेक्षा भी बहुत कम हो गया। सन् 1916 में कुल 74,000,000 टन अनाज पैदा हुआ था; सन् 1919 में वह अनुमानित पैदावार केवल 30,000,000 टन थी। चारे की कमी से पशुओं की संख्या में अनिवार्यत: कमी हो जाती किंतु सोवियत शासन द्वारा अपनाई गई आर्थिक नीतियों ने गिरावट को और भी तीव्र और गहन कर दिया। सन् 1916 में घोड़ों की संख्या 31,000,000 थी जो सन् 1920 में 24,000,000 रह गई; और पशुओं की संख्या 50,000,000 से घटकर 37,000,000 से भी कम हो गई।''

''रूस की पहले से ही भयंकर रूप से क्षतिग्रस्त स्थिति में सन् 1920 और 1921 की अनावृष्टि से अकाल पड़ गया जिसके भयंकर परिणाम हुए। सन् 1920 और 1921 का संग्रह 18,000,000 टन हुआ; सन् 1921 में संपूर्ण दक्षिण-पूर्वी रूस में फसल खराब हो गई। अकाल के वर्षों में अर्थात सन् 1921-22 में 5,000,000 व्यक्तियों के मरने का अनुमान लगाया गया था। यह संख्या विश्व-युद्ध में मरे रूसियों की कुल संख्या से लगभग दोगुनी थी। यदि देश के बाहर से मुख्यत: संयुक्त राज्य अमेरिका से सहायता न मिलती तो मरने वालों की संख्या और भी अधिक हो जाती। इस कार्य में रत मुख्य संगठन था अमेरिकन रिलीफ एडमिनिस्ट्रेशन जो हर्बर्ट हूवर के अधीन था। उसने रूस को 61,566,231.53 डॉलर और 718,770 टन वस्तुओं की सहायता दी। अगस्त, 1922 के दौरान उसने प्रतिदिन 4,173,339 बच्चों और 6,316,958 वयस्कों को अर्थात 10,000,000 से भी अधिक व्यक्तियों को भोजन दिया। उसने अमेरिकी रेडक्रॉस और संयुक्त राज्य अमेरिका की सेना द्वारा दी गई 8,072,556.03 डॉलर मूल्य की औषधियां आदि भी भेजकर वितरित कीं।''

इस संपूर्ण पृष्ठभूमि के उपरांत हम उन कारणों को, जो नवीन आर्थिक नीति के लिए उत्तरदायी हुए, संकेत रूप में निम्नानुसार रख सकते हैं–

(1) युद्ध-समाप्ति के बाद श्रमिकों और किसानों में आर्थिक मतभेदों को शांत करने और समन्वयवादी मार्ग अपनाने के लिए नवीन आर्थिक योजना की आवश्यकता थी।

टिप्पणी

(2) किसान अपने उत्पादन की स्वतंत्र बिक्री चाहते थे। यह तभी संभव था जब बाजार व्यवस्था को पुनः आरंभ किया जाए। अतः नई आर्थिक नीति लागू करना आवश्यक हो गया।

(3) देश में व्याप्त व्यापारिक तथा आर्थिक असंतोष को मिटाने और अर्थव्यवस्था को सुधारने के लिए एक नई प्रभावशाली नीति जरूरी थी।

(4) जनता की व्यक्तिगत स्वतंत्रता की बढ़ती हुई मांग शांत करने के लिए भी एक नई और रचनात्मक आर्थिक नीति अपनाना आवश्यक था।

(5) राजकीय पूंजीवाद और यौद्धिक साम्यवाद की नीतियां असफल हो चुकी थीं और एक के बाद एक कृषक-विद्रोह होने लगे थे। मार्च, 1921 का लाल नौ-सेना का नाविक-विद्रोह बहुत ही चिंताजनक था।

नई आर्थिक नीति के उद्देश्य

विस्फोटक परिस्थितियों में लेनिन इस बात के लिए तैयार हो गया कि अपनी योजनाओं को समय की वास्तविकताओं के अनुकूल बनाने के लिए कोई भी समझौता कर लिया जाए बशर्ते कि ऐसा करने से स्थिति पर नियंत्रण पाया जा सके। लेनिन ने मार्च, 1921 में साम्यवादी दल के दसवें सम्मेलन में एक भाषण में कहा, ''हम ऐसी गरीबी, विनाश और श्रमिकों तथा कृषकों की शक्तियों के ह्रास की स्थिति में हैं कि उत्पादन को बढ़ाने के लिए सभी बातों को एक ओर रख देना चाहिए।'' उस घोषणा के साथ लेनिन ने नई आर्थिक नीति का निर्माण आरंभ कर दिया जो कालांतर में 'नेप (NEP)' के नाम से सुविख्यात हुई।

नई आर्थिक नीति के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित थे–

(1) ऐसे कार्यक्रमों पर विशेष महत्व देने का लक्ष्य निर्धारित किया गया जिनकी सहायता से (क) उत्पादन में वृद्धि हो सके, (ख) आंतरिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो सके, (ग) निर्यात-व्यापार पुनः प्रारंभ हो सके, (घ) कच्चे माल के उत्पादन में वृद्धि हो और औद्योगिक उत्पादन-व्यवस्था पुनर्संगठित हो सके, (ङ) कृषि-क्षेत्र में चहुंमुखी प्रगति की जा सके।

(2) दूसरा मुख्य उद्देश्य कृषक वर्ग में व्याप्त असंतोष को दूर करना था। लेनिन ने कहा, ''खेतिहर वर्ग की सहमति से ही रूस में समाजवादी क्रांति को बढ़ाया जा सकता है इसलिए कृषक वर्ग और सर्वहारा वर्ग (श्रमिक वर्ग) में सहयोग आवश्यक है।''

(3) इस नीति का तीसरा उद्देश्य मिश्रित अर्थव्यवस्था स्थापित करना था। इस नीति के अंतर्गत सीमित और आंशिक राष्ट्रीयकरण को ही स्थान दिया गया। समाजवादी तत्वों के विकास द्वारा पूंजीवादी तत्वों के विनाश पर बल दिया गया। इस तरह मिश्रित अर्थव्यवस्था निर्मित की गई। इसके मूल में यह भावना निहित थी कि पूंजीवाद और साम्यवाद के आपसी संघर्ष को जब तक आर्थिक क्षेत्र में नहीं लाया जाएगा तब तक साम्यवादी तत्वों की विजय नहीं हो सकेगी।

(4) नवीन आर्थिक नीति में जन-कल्याण का लक्ष्य सर्वोपरि था अर्थात जनता का असंतोष दूर हो, देश में सुख-समृद्धि बढ़े, क्रांति की विजय हो।

टिप्पणी

नवीन आर्थिक नीति तत्कालीन सरकार को क्षणिक विश्राम देने वाली नीति थी। उस समय की परिस्थितियां ऐसी थीं कि पूंजीवादी तत्वों को कुछ सहारा दिए बिना राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों में सुधार नहीं किया जा सकता था। टूयरिन के शब्दों में, ''नवीन आर्थिक नीति रूस को भावी विनाश और उसके आर्थिक जीवन को अव्यवस्था से बचाने तथा औद्योगिक एवं कृषि-क्षेत्रों की उत्पादन मात्रा को युद्धपूर्व के स्तर तक लाने में सफल हुई।''

लेनिन ने अपने दल और सहयोगियों के समक्ष सारी परिस्थितियों को स्पष्ट कर दिया– ''असली बात यह है कि कर्मक-वर्ग और कृषक-संबंध पर और उनके संघर्ष तथा समझौते पर ही हमारी सारी क्रांति के भाग्य का निर्णय होगा। दोनों वर्गों के विभिन्न स्वार्थ हैं। लघु कृषक वह नहीं चाहता, जो श्रमिक चाहता है। हम जानते हैं कि यदि अन्य देशों में क्रांति न फैले तो कृषकों के साथ समझौता होने से ही रूस में समाजवादी क्रांति की रक्षा हो सकेगी, हमें मध्यमवर्गीय श्रेणी के कृषकों को आर्थिक दृष्टि से संतुष्ट रखना होगा और खुले बाजार की ओर आना होगा। अन्यथा, अंतर्राष्ट्रीय क्रांति में रुकावट होने पर रूस में मजदूरों की शक्ति को कायम रखना असंभव हो जाएगा।''

संपूर्ण यूरोप में राजनीतिज्ञों और व्यापारिक हितधारियों ने सोवियत आर्थिक नीति के सारगर्भित अर्थ को समझने में भूल की। ''उनकी दृष्टि में नई आर्थिक नीति का अर्थ बोल्शेविकों का पूंजीवादी विश्व के सम्मुख आत्मसमर्पण मात्र था। उन्होंने इस नीति को शक्ति और राजनीतिक लोच या नमनीयता का लक्षण न मानकर रूस की दुर्बलता का लक्षण माना।'' लेकिन यह उनकी भूल थी, क्योंकि गंभीर कमियों के बावजूद नई आर्थिक नीति ने रूस में नूतन निर्माण का युग पैदा कर दिया और साम्यवादी क्रांति की जड़ें जमा दीं। इसके बाद नियोजन का मार्ग अपनाकर रूस शीघ्र ही विश्व के प्रथम श्रेणी के राष्ट्रों की पंक्ति में आ बैठा। नए आर्थिक नीतिकाल में ही पश्चिमी राष्ट्रों द्वारा सोवियत संघ को मान्यता प्रदान की गई।

नई आर्थिक नीति के कार्यक्रम

नई आर्थिक नीति के अंतर्गत विभिन्न क्षेत्रों में प्रभावी कार्यक्रम अपनाए गए। इस नीति ने कृषि को विशेष रूप से प्रभावित किया। कृषि-क्षेत्र में दो मुख्य उद्देश्य निर्धारित किए गए– किसानों का असंतोष दूर करना और कृषि-उत्पादन में यथासंभव अधिकतम वृद्धि करना। इन उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिए कृषि संबंधी अध्यादेश निकाले गए और अनेक ठोस कदम उठाए गए। अध्यादेशों में आंतरिक वाणिज्य में स्वतंत्र व्यापार को मान्यता दी गई; केवल विदेशी व्यापार सरकार के एकाधिकार के अंतर्गत रहा। यौद्धिक साम्यवाद की अनिवार्य अधिग्रहण की नीति का परित्याग करके कृषि-कर की व्यवस्था की गई। कराधान की एक निश्चित मात्रा निर्धारित की गई। बर्नादस्की के अनुसार, ''पहले कर वस्तु-रूप में निर्धारित किया जाता था और मुख्यत: अनाज के रूप में वसूल किया जाता था, बाद में वह राशि के रूप में चुकाया जाने वाला कर हो गया। अब कृषकों को यह अधिकार दे दिया गया कि वे अपनी अतिरिक्त फसल की व्यवस्था अपनी इच्छानुसार कर सकेंगे– अर्थात उसे खुले बाजार में बेच सकेंगे। उगाही के बदले में कर की प्रतिस्थापना करने वाली आज्ञप्ति ने आर्थिक पद्धति के पूर्ण परिवर्तन का मार्ग प्रशस्त कर दिया क्योंकि कृषक को अपना अनाज बेचने का अधिकार फिर से देकर सरकार ने एक ऐसी प्रक्रिया

टिप्पणी

आरंभ की जिससे निश्चय ही व्यापार की स्वतंत्रता का आरंभ होता था।'' कृषि उत्पादन को बढ़ाने के विभिन्न उपाय किए गए। भूमि के अंतिम अधिकार को समाज के हाथों में आरक्षित रखते हुए व्यक्तिगत प्रेरणा को बंधन-मुक्त कर दिया गया। किसानों को सामुदायिक या व्यक्तिगत रूप से खेती करने की छूट दी गई। उन्हें ऋण सुविधाएं प्रदान की गईं। किसानों को यह अधिकार दिया गया कि वे वेतन-भोगी मजदूर रख सकेंगे। नई आर्थिक नीति द्वारा कृषि-सहकारिता को भी प्रोत्साहन दिया गया।

कृषि की मुक्ति के साथ ही उद्योग में भी वैसा ही सुधार आरंभ किया गया। ''विशुद्ध समाजवादी तरीके के उत्पादन के स्थान पर 'राजकीय पूंजीवाद' की एक नई पद्धति स्थापित की गई। उद्योग के केंद्रीय एकीकृत प्रबंध के स्थान पर 'न्यासों' की एक पद्धति का उद्‌भव हुआ जिसमें बड़े पैमाने के उत्पादन पर तो राज्य ने अपना नियंत्रण बनाए रखा, किंतु छोटी उत्पादक इकाइयां अंशत: निजी नियंत्रण में लौटा दी गईं। रियासतों की पद्धति के आरंभ किए जाने के फलस्वरूप एक सीमित क्षेत्र में विदेशी पूंजी के विनियोजन की अनुमति दे दी गई। कारखानों को कच्चे माल और औजारों की पूर्ति नि:शुल्क करने की योजना वापस ले ली गई। अब प्रत्येक निर्माण-संयंत्र को, चाहे वह सरकारी स्वामित्व का हो या निजी स्वामित्व का, अपने उपयोग में लाई जाने वाली प्रत्येक वस्तु के लिए भुगतान करना पड़ता था। इन परिवर्तनों के फलस्वरूप मुद्रा का उसके उचित आर्थिक कार्य के लिए पुनरारंभ हुआ और उसके साथ ही साख और साहूकारी तंत्र की पुन: स्थापना हुई। सन् 1921 के अंत में एक सरकारी बैंक की स्थापना की गई जो परंपरानिष्ठ व्यापारिक आधार पर कार्य करता था।''

राष्ट्रीयकरण से उत्पन्न दोषों को दूर करने के लिए सरकार ने नवीन आर्थिक नीति के अंतर्गत मुक्त-व्यापार नीति को प्रोत्साहित किया। इस प्रकार छोटे पैमाने पर उत्पादन द्वारा आर्थिक अवस्थाओं की पूर्ति की दिशा में एक प्रभावशाली कदम उठाया गया। व्यापारियों को देशी व्यापार-क्षेत्र में लाभ कमाने की छूट दी गई। किसानों को स्वतंत्रता दी गई कि वे कर चुकाने के उपरांत शेष बचे खाद्यान्नों, कच्चे माल और चारे को इच्छानुसार बाजार में बेचकर अपनी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करें। कालांतर में श्रमिकों को भी इस प्रकार की सुविधा देना आवश्यक हो गया क्योंकि वस्तु विनिमय के अंतर्गत श्रमिकों को इस तरह की व्यवस्था न होने पर आवश्यक वस्तुएं मिलने में भारी कठिनाई आती थी। इस प्रकार के वस्तु-विनिमय को सुगम बनाने के लिए श्रमिकों को अपने उत्पादन का एक भाग कृषि पदार्थों से विनिमय करने के लिए अलग रखने का अधिकार दिया गया। उन्हें यह भी अधिकार दिया गया कि वे एक निश्चित आधार पर उत्पादन का कुछ भाग अपने पास रख सकेंगे। नवीन आर्थिक नीति के कारण देश में 'नेप मैन' नामक एक व्यापारी वर्ग का उदय हुआ जो भारतीय महाजन के समान था। कुछ समय बाद आर्थिक संकट के फलस्वरूप यह निश्चय किया गया कि व्यक्तिगत व्यापार को सीमित करके राज्य और सहकारी व्यापारिक संस्थान कायम किए जाएं।

सन् 1922 के उपरांत राजकीय एवं सहकारी संस्थाओं की संख्या में तेजी से विस्तार हुआ। औद्योगिक प्रन्यासों तथा प्रांतीय सरकारों द्वारा थोक व्यापार के लिए अपने संगठन बना लिए गए। प्रांतीय सरकारों द्वारा थोक तथा खुदरा व्यापार के लिए संस्थाएं भी बनाई गईं। सर्वोच्च आर्थिक परिषद 'वैसेन्खा' ने केंद्रीय स्तर पर व्यापारिक कंपनियां

टिप्पणी

स्थापित कीं। जहां सन् 1922 में कुल व्यापार की स्थिति इस प्रकार थी– व्यक्तिगत व्यापार 75.3 प्रतिशत, राज्य द्वारा व्यापार 14.4 प्रतिशत एवं सहकारी समितियों द्वारा व्यापार 10.3 प्रतिशत। इन विभिन्न आर्थिक परिवर्तनों के फलस्वरूप सन् 1928-29 में निजी व्यापारियों के हाथ में कुल थोक व्यापार का केवल 5 प्रतिशत भाग ही रह गया और फुटकर व्यापार-क्षेत्र में लगभग 20 प्रतिशत भाग। इस प्रकार कुल आंतरिक व्यापार का लगभग 80 प्रतिशत राजकीय और सहकारी संस्थाओं के हाथ में आ गया।

सोवियत सरकार ने नई नीति के अंतर्गत निर्यात की ओर अपना ध्यान केंद्रित किया। निजी व्यापारियों और सहकारी समितियों को भी विदेशी व्यापार में भाग लेने के अधिकार प्रदान किए गए। निर्यात को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से करों में भी छूट दी गई। मौद्रिक एवं बैंकिंग व्यवस्था पर सरकार का पूर्ण नियंत्रण रहा, फलस्वरूप अनुचित लाभ की प्रवृत्ति को सीमित किया जा सका। मुद्रा का नियंत्रण करने तथा विभिन्न औद्योगिक इकाइयों को ऋण देने के उद्देश्य से एक केंद्रीय बैंक 'गोसप्लान' की स्थापना की गई। इस राजकीय बैंक का उद्देश्य देश को अवमूल्यन के प्रभावों से बचाना, मुद्रा-प्रचलन को नियमित एवं नियंत्रित करना तथा कृषि, यातायात, उद्योग, व्यापार आदि को अल्पकाल के लिए साख प्रदान करना था। बैंकिंग व्यवस्था को उन्नत करने के लिए और भी अनेक प्रयत्न किए गए। सितम्बर, 1922 में 'औद्योगिक बैंक-प्रोम बैंक' खोलने की अनुमति दी गई। यह बैंक उद्योगों को अल्पकालिक और त्रिवर्षीय ऋण दे सकता था। फरवरी, 1922 में सहकारी समितियों ने मिलकर उपभोक्ता सहकारी बैंक तथा पोको बैंक स्थापित किया। बाद में यह बैंक जनवरी, 1923 में अखिल रूसी 'सहकारी बैंक-पोको बैंक' के रूप में परिवर्तित कर दिया गया। स्थानीय उद्योगों तथा कार्यक्रमों की वित्तीय सहायता के लिए म्यूनिस्फ बैंक और छोटे-छोटे निजी व्यापारियों की सहायतार्थ पारस्परिक साख संघ स्थापित किए गए।

नई आर्थिक नीति के राजनीतिक और आर्थिक परिणाम

नई आर्थिक नीति के राजनीतिक और आर्थिक परिणाम निम्न प्रकार हैं–

(क) राजनीतिक परिणाम

सन् 1921-27 की अवधि में अधिकांश उन राजनीतिक पद्धतियों और शासकीय तंत्रों का विकास हुआ जो सोवियत संघ में सन् 1936 तक प्रचलित रहे। 10 जुलाई, 1918 को पांचवीं सोवियत महासभा के अधिवेशन में रूसी समाजवादी संघीय सोवियत गणराज्य के लिए एक नया संविधान स्वीकार किया गया। इस संविधान के अनुसार वैयक्तिक भूमि-स्वामित्व समाप्त कर दिया गया। संविधान में लिखा गया है, ''जो काम नहीं करेगा, वह खाएगा भी नहीं।'' मताधिकार केवल श्रमिकों, कृषकों और सैनिकों को दिया गया। नगर सोवियतों तथा प्रांत सोवियतों के प्रतिनिधियों से संगठित अखिल रूसी संसद को देश के शासन की सर्वोच्च सत्ता प्रदान की गई। चर्च को राज्य से पृथक किया गया और स्कूलों में धार्मिक शिक्षा न देने की आज्ञा दी गई। रूसी संसद को केंद्रीय कार्यपालिका निर्वाचित करने का अधिकार दिया गया और कार्यपालिका को संसद के प्रति उत्तरदायी रखा गया।

सन् 1918 के संविधान के अनुसार रूस का शासन 6 वर्ष चला। इस अवधि में रूसी प्रशासन ने उन तत्वों से डटकर संघर्ष किया जो नवीन व्यवस्था के शत्रु थे। शनैः शनैः नवीन व्यवस्था की जड़ें मजबूती से जम गईं और यह भय जाता रहा कि प्राचीन

टिप्पणी

व्यवस्था की पुनरावृत्ति हो सकेगी। इस बीच ट्रांसकाकेशिया, वाइलो रूस तथा यूक्रेन नामक तीन अन्य गणतंत्र भी सोवियत संघ में सम्मिलित हो गए, अतः जुलाई, 1923 में प्राचीन संविधान के आधार पर एक नवीन संविधान का निर्माण किया गया जो जनवरी, 1924 में लागू हुआ। इसका नाम 'सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ' रखा गया। नया संविधान पारित होने के समय संघ में चार गणराज्य सम्मिलित थे– (1) रूसी समाजवादी संघीय सोवियत गणराज्य, (2) यूक्रैनी समाजवादी सोवियत गणराज्य, (3) बेलोरूसी समाजवादी सोवियत गणराज्य, और (4) ट्रांसकाकेशियाई समाजवादी संघीय सोवियत गणराज्य जिसमें जॉर्जिया, आर्मेनिया और अजरबेजान सम्मिलित थे। सन् 1924 में दो मध्य एशियाई सोवियत गणराज्य स्थापित हुए जिनके नाम थे ताजिक, कजाक और किरघिज। ट्रांसकोकेशियाई संघ का विघटन कर दिया गया और उसके तीन भागों में से प्रत्येक भाग को सर्वांगपूर्ण संघटक गणराज्य की प्रतिष्ठा प्रदान की गई। इन राज्यों के सम्मिलित होने के परिणामस्वरूप सन् 1929 तक संघ के संघटक गणराज्यों की संख्या 11 तक पहुंच गई।

सन् 1924 के संविधान में राज्य शक्ति के वितरण के सिद्धांत को अपनाया गया और प्रत्येक गणराज्य को यह अधिकार प्रदान किया गया कि वह जब चाहे संघ से अलग हो सकता है। इस संविधान के अनुसार सोवियत संघ कांग्रेस, केंद्रीय कार्यकारिणी समिति, प्रेसीडियम एवं पीपुल्स कमिस्सार कौंसिल की स्थापना की गई। सोवियत संघ कांग्रेस में समस्त गणराज्यों को सदस्यता दी गई। केंद्रीय कार्यकारिणी समिति में दो सदनों की व्यवस्था की गयी– दी यूनियन ऑफ सोवियत्स तथा दी सोवियत ऑफ नेशनलिटीज। यूनियन ऑफ सोवियत्स जनता का प्रतिनिधित्व करती थी तथा सदस्यों का चुनाव जनसंख्या के आधार पर होता था। सोवियत ऑफ नेशनलिटीज राज्यों का सदन था और यूनियन ऑफ सोवियत्स की अपेक्षा कहीं अधिक छोटा था। प्रेसीडियम में 27 सदस्यों की व्यवस्था की गई थी। उनमें से 9 सदस्य यूनियन ऑफ सोवियत्स, 9 सोवियत ऑफ नेशनलिटीज तथा शेष 9 दोनों सदनों की संयुक्त बैठक में चुने जाते थे। 'पीपुल्स कमिस्सार कौंसिल' संघ की कार्यकारिणी का कार्य करती थी। इसकी नियुक्ति केंद्रीय कार्यकारिणी समिति करती थी। इस कौंसिल के अध्यक्ष की स्थिति प्रधानमंत्री के समान थी। स्टालिन इसी पद पर नियुक्त था और इसी कारण वह समस्त सरकारी कार्यों का संचालन करता था।

सन् 1924 के संविधान के अंतर्गत रूस का शासन केवल 12 वर्ष चालू रहा। इस काल में नई आर्थिक नीति और पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा रूस ने बहुमुखी उन्नति की और समाज को समाजवादी बनाने संबंधी कार्य किए। फरवरी 1935 में स्टालिन की अध्यक्षता में एक नया संविधान आयोग गठित हुआ और नये संविधान का निर्माण किया गया जो 1936 का कास्टालिन संविधान कहलाया। अनेक संशोधनों के साथ यही संविधान आज भी जारी है। वर्तमान में सोवियत संघ में कुल 15 संघीय गणराज्य हैं।

(ख) आर्थिक परिणाम

नई आर्थिक नीति के अंतर्गत आर्थिक मोर्चे पर हितकारी परिणाम लगभग तत्काल स्पष्ट हो गया। कृषि और उद्योग में उत्पादन की स्थिति में सुधार होने लगा। जॉर्ज बर्नादस्की ने इस संबंध में प्रगति का जो विवरण दिया है, उसके निम्नलिखित अंश उल्लेखनीय हैं–

टिप्पणी

''कृषिगत क्षेत्र, जो सन् 1921 तक घटकर 60,000,000 हेक्टेयर तक आ गया था। सन् 1923 तक 65,000,000 हेक्टेयर तक बढ़ गया और सन् 1927 तक लगभग सन् 1916 के 90,000,000 हेक्टेयर के स्तर तक पहुंच गया। अनाज का संग्रह, जो सन् 1920 में अकाल के समय 18,000,000 टन था, सन् 1924 में 37,000,000 टन तक बढ़ गया और सन् 1926 तक दोगुना होकर 74,000,000 टन से भी अधिक हो गया। सन् 1926 तक पशुओं की संख्या में धीरे-धीरे 27,000,000 घोड़ों और 55,000,000 पशुओं की वृद्धि हुई। उद्योग की विभिन्न शाखाओं में उत्पादन के ऐसे ही लाभ परिलक्षित हुए। कोयले का उत्पादन जो सन् 1922-23 में 11,500,000 टन तक गिर गया था, सन् 1925-26 में 24,000,000 टन तक बढ़ गया। उसी अवधि में सूती कपड़े का उत्पादन 560,000,000 मीटर से बढ़कर बीस खरब मीटर तक हो गया। रूसी अर्थव्यवस्था युद्ध-साम्यवाद के घातक प्रतिबंधों से मुक्त होकर सुधार की दिशा में आगे बढ़ने लगी।''

''नई आर्थिक नीति के सुधारों ने सोवियत अर्थव्यवस्था को इतनी सफलता के साथ सशक्त किया कि सन् 1927 तक कई क्षेत्रों में उत्पादन सन् 1913 के स्तरों तक पहुंच गया और कुछ मामलों में उनसे भी कुछ अधिक हो गया। उदाहरणार्थ, सन् 1913 में उन इलाकों में, जो बाद में सोवियत के अधिकार में आ गए थे, उत्पादित कृषि-वस्तुओं का मूल्य कुल 12,790,000,000 रूबल था, सन् 1927 तक वह 12,775,000,000 रूबल तक पहुंच गया था। औद्योगिक उत्पादन, जिसका मूल्य सन् 1913 में 6,391,000,000 रूबल था, सन् 1927 तक 6,608,000,000 रूबल तक पहुंच गया था, कोयले का उत्पादन 29,000,000 मीट्रिक टन से 30,000,000 मीट्रिक टन तक और सूती कपड़े का निर्माण 2,238,000,000 मीटर से 2,342,000,000 मीटर तक पहुंच गया। आर्थिक मोर्चे पर सैद्धांतिक 'प्रत्यावर्तन' के कारण सोवियत संघ एक स्थिर अर्थव्यवस्था की ओर बढ़ रहा था।''

''नई आर्थिक नीति के आरंभ को सोवियत संघ के बाहर सामान्यत: एक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की ओर प्रत्यावर्तन के पहले कदम के रूप में माना गया था। यथार्थ में, यदि नई नीति में निहित प्रवृत्तियों का नियंत्रण सावधानीपूर्वक न किया जाता, तो सुधारों से निश्चय ही वही निष्कर्ष निकलता; किंतु सोवियत शासन खतरों के प्रति (अपने दृष्टिकोण से) पूर्णत: सचेत था और उसने स्थिति को नियंत्रण से बाहर न जाने देने के लिए असाधारण प्रयास किए। मार्च, 1922 में साम्यवादी दल के ग्यारहवें सम्मेलन में यह घोषणा की गई कि 'आर्थिक मोर्चे पर प्रत्यावर्तन' समाप्त कर दिया जाना चाहिए, तथापि बाद में नई आर्थिक नीति को उत्पादन-विनिमय के पुनरारंभ के संबंध में और निज्नी नोव्गोरोद् के महत्वपूर्ण वार्षिक मेले के संबंध में कई और भी रियायतें दी गईं। सन् 1922 के अंत तक 'प्रत्यावर्तन' को यथार्थ में समाप्त कर दिया गया; केवल मुद्रा-सुधार को जो उस समय प्रगति पर था और कुछ अस्थाई उपायों को, जो कृषकों के लिए हितकारी थे और जिन्हें सन् 1927 में रद्द कर दिया गया, छोड़ दिया गया था। इस समय से सन् 1927 तक रूस में जो आर्थिक पद्धति प्रचलित रही, वह एक संकर-आयोजना थी, वह न तो समाजवादी थी, न पूंजीवादी, बल्कि उन दोनों के बीच की थी। वह नई आर्थिक नीति के साथ आरंभ किए गए सभी सुधारों की सीमा तक वास्तविक समाजवादी पद्धति से भिन्न थी, वह पूंजीवादी स्वरूप से इसलिए भिन्न थी कि उसमें आर्थिक मामलों में, विशेषत: विदेशी व्यापार में, शासकीय नियंत्रण अंतर्निहित था।''

टिप्पणी

''इस अवधि के बढ़े हुए उत्पादन में शासकीय स्वामित्व के उद्योगों और निजी स्वामित्व के उद्योगों का भी सहयोग था, किंतु शासकीय उद्योगों की सापेक्ष्य शक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती गई। सन् 1923-24 में शासकीय उद्योगों का उत्पादन युद्ध पूर्व मूल्यों पर 2,400,000,000 स्वर्ण रूबल था, जब निजी उद्योगों का उत्पादन, जिनमें विदेशी रियायतदार भी सम्मिलित थे, लगभग उसका तिहाई था। दो वर्ष बाद शासकीय उद्योगों ने 5,333,000,000 रूबल मूल्य के माल का और निजी उद्योगों ने उसके एक चौथाई से भी कम मूल्य के माल का उत्पादन किया। यद्यपि उत्पादन को युद्ध-साम्यवाद के अधिक कठोर प्रतिबंधों से मुक्त कर दिया गया था, तथापि वास्तविक संचालन अब भी सोवियत शासन के अधीन था। वह विदेशी व्यापार के एकाधिकार का प्रयोग करता रहा और राजकीय आयोजना आयोग के माध्यम से कई वर्षों के लिए पहले से ही अर्थव्यवस्था के क्रम का विन्यास करता रहा।

'रूसी इतिहास का सर्वेक्षण' ग्रंथ के रचयिता बी. एच. समनर ने लिखा है कि रूस द्वारा अपनी बिगड़ी हुई स्थिति को शीघ्रता से संभाल लेना वस्तुतः आश्चर्यजनक था। कृषि को पुनर्जीवित करना इसका एक मुख्य कारण था, लेकिन इसके अतिरिक्त इस सफलता में निम्नलिखित कारणों का भारी योग रहा–

(1) दृढ़ एवं सहनशील जनता की परिवर्तनशीलता और चेतना सर्वोपरि कारण थी। ये बहुत ही निम्न स्तर के जीवनयापन के अभ्यस्त थे। इनको महान आपत्तियों का सामना करने की आदत पड़ गई थी। इनमें भाग्यवाद तथा उत्कट उत्साह का मिश्रण था।

(2) सोवियत संघ के अति समृद्ध प्राकृतिक साधनों के विभेद से ही सहायता मिली। सन् 1922 में पश्चिम दिशा को छोड़कर वे सभी विशाल प्रदेश इस संघ में थे, जो रूसी साम्राज्य के अंग थे। यंत्र, तकनीकी कुशलता और संगठन का पुनरुद्धार होने पर इन साधनों को शीघ्र ही काम में लाया जा सकता था। इन साधनों का अभी तक अंत नहीं हुआ था, यदा-कदा ही इनका उपयोग किया गया था, भले ही कुछ उद्योगों में साधन नष्ट कर दिए गए थे या उनके मूल यंत्र का मूल्य बहुत गिर चुका था।

(3) साम्यवादी दल के नेतृत्व ने नूतन व्यवस्था में पूर्ण विश्वास उत्पन्न कर दिया कि इस व्यवस्था का निर्माण पुनर्निर्मित और परिवर्तित अर्थव्यवस्था में होगा, जहां नूतन अनुशासन होगा और स्त्री-पुरुष सबके लिए समान नूतन शिक्षा होगी। इस शिक्षा ने बीसवीं शदी के पाश्चात्य विज्ञान की तकनीकी सफलता के विस्तार के कारण भौतिक साधनों की प्राप्ति पर अत्यंत बल दिया।

(4) उद्योग और परिवहन के पुनःनिर्माण के लिए यथेष्ठ विशेषज्ञ मिल सकते थे। ये सभी विशेषज्ञ गैर-साम्यवादी थे। ये सोवियत विशेषज्ञों को प्रशिक्षित कर सकते थे, जो भविष्य में गैर-साम्यवादियों का स्थान ग्रहण कर लें। लेनिन सदा इस बात का उपदेश देता था कि बुर्जुआ-सभ्यता से सीखना आवश्यक है। उनकी भौतिक उन्नति तथा वैज्ञानिक और कलात्मक विरासत को अपनाना चाहिए, जिससे उन्हें समाजवादी समाज की आवश्यकताओं में परिवर्तित किया जा सके। किंतु युद्ध और गृह-युद्ध के कारण देश की हालत खराब थी। क्रांति की सामान्य प्रकृति ही ऐसी थी कि पुनर्निर्माण बहुत कठिन था। क्रांति में तोड़-फोड़ की प्रवृत्ति प्रबल थी तथा बुर्जुआ के नाम से ही लोगों को घृणा थी। इस कारण निर्माण में कठिनाई और अधिक हो गई थी कि जिन बुर्जुआ लोगों की सहायता से काम

करना था, वे सदा शंका की दृष्टि से देखे जाते थे और वे जाति-बहिष्कृत तकनीकी वर्ग के समझे जाते थे।

टिप्पणी

(5) विदेशों से सहायता अनेक रूपों में मिली। इसका अच्छा प्रभाव हुआ। विदेशी विशेषज्ञों में मुख्यत: जर्मन और अमेरिकी कारीगरों ने विशिष्ट कार्य किया। पश्चिमी यूरोप से राजनीतिक शत्रुता के कारण अधिक वित्तीय ऋण लेना असंभव हो गया था। साम्यवादी दल के अधिकांश लोग इस प्रकार से ऋण लेने के एकदम विरुद्ध थे, क्योंकि ऐसा करने से ही जारशाही रूस पश्चिमी वित्त-पूंजी का गुलाम बन चुका था। तब भी अधिक आवश्यकता पड़ने पर विदेशों से कुछ ऋण लेना ही पड़ा और यह कर्ज अल्प अवधि के लिए लिया गया। उद्योगों में पुन: यंत्र बैठाने के लिए यह आवश्यक था और इससे विदेशों से व्यापार भी छोटे पैमाने पर पुनर्जीवित हो जाता। विदेशी संस्थाओं को कुछ रियायत भी दी गई, किंतु इनका बोझ भारी नहीं था और अंतत: उनका अंत हो गया, क्योंकि धीरे-धीरे उनके ऊपर प्रतिबंध लगते गए।

(6) कठिन परिश्रम के बाद प्रतिद्वंद्वी दलों के संघर्ष के बीच क्रमश: एक ऐसा केंद्रीय सरकारी साधन प्राप्त हुआ, जिसे वर्तमान नौकरशाही तथा दल द्वारा लागू विभिन्न नियंत्रणों को कार्य-रूप में परिणत करने में सफलता मिली। सन् 1924 से ही इन नियंत्रणों का लक्ष्य, मूल्य में लगातार कमी करना तथा उत्पादन में योजना द्वारा वृद्धि करना था। उसी वर्ष नये सिक्के की स्थापना हुई। इसके पहले मुद्रास्फीति आसमान पर पहुंच चुकी थी और नोटों को कैंची से कतरने का अभियान चला, क्योंकि कारखानों में बने सामान और खाद्य वस्तुओं के मूल्य में बहुत अंतर हो गया था। आर्थिक नीति-निर्देशन तथा व्यापार और उद्योग की प्रशासन-क्रिया को केंद्रित करने का प्रयास त्याग दिया गया। व्यापार और उद्योग के प्रशासन को विशेष रूप से विकेंद्रित कर दिया गया। अब लोग कारखानों का प्रबंध समिति के द्वारा करने के पक्ष में नहीं थे। मजदूरों का अनुशासन अब सुधरने लगा। श्रमिकों का उद्योग पर नियंत्रण पहले बाधक प्रतीत होता था, अब धीरे-धीरे उत्पादन की वृद्धि में बदलने लगा। अंतत: सन् 1923 में सोवियत संघ का एक ऐसा संविधान बना जिससे आर्थिक पुनर्विकास की गति और दिशा मास्को में केंद्रित हो गई।''

नूतन आर्थिक नीति के प्रभाव से उत्पादन प्राय: सन् 1914 के स्तर पर पहुंच गया और पुनर्जीवित हो गया। कुछ बातों में तो उत्पादन सन् 1914 के स्तर से अधिक हो गया। यह महत्वपूर्ण प्रगति थी। इससे अनेक बाह्य प्रेक्षकों की भविष्यवाणी झूठी हो गई। नूतन आर्थिक नीति ने कम-से-कम शहर और देहात के मध्य अस्थाई रूप से झगड़ों को अंत करने का आधार दिया। इससे सभी प्रकार की उन्नति संभव थी। किंतु इससे औद्योगिक समाजीकरण तथा अनियंत्रित व्यक्तिगत कृषि के अंतर्निहित विरोध को अनेक तरह से बल मिला। सन् 1927 में पुनर्निर्माण एक हद तक पहुंच चुका था। अब विद्युतीकरण तथा औद्योगिक विस्तार के विशाल कार्यक्रम तक पहुंचना संभव था जो सदा से लेनिन का संदेश रहा है।

नई आर्थिक नीति के घातक परिणाम

नई आर्थिक नीति के कुछ अशुभ और घातक परिणाम भी निकले। इस नीति के कार्यान्वयन के दौरान देश को अनेक आर्थिक संकटों का सामना करना पड़ा जिनमें से प्रमुख तीन थे–

(क) ईंधन संकट

(ख) बिक्री संकट

(ग) कैंची संकट

टिप्पणी

(क) ईंधन संकट– नई आर्थिक नीति प्रारंभ करते समय देश के सामने ईंधन की कमी की विकट समस्या थी, अत: यातायात के क्षेत्र में भीषण संकट उत्पन्न हो गया और उद्योगों की स्थिति दयनीय होती गई। सूती वस्त्र कारखानों को सन् 1921 में उनकी कुल आवश्यकता का केवल सात प्रतिशत ईंधन प्राप्त हुआ, अत: 67 में से 51 कारखाने बंद हो गए। इसी प्रकार ईंधन के अभाव के कारण सीमेंट का उत्पादन युद्ध पूर्व के उत्पादन की तुलना में केवल 9.1 प्रतिशत रह गया। सरकार ने तुरंत ही अनेक प्रभावशाली कदम उठाए जिसके फलस्वरूप यह संकट धीरे-धीरे दूर होने लगा और सन् 1922 के अंत तक इस पर पूरी विजय पा ली गई।

(ख) बिक्री संकट– किंतु इसी वर्ष बिक्री संकट का सामना भी करना पड़ा। सन् 1922 के प्रारंभ में एक ओर तो औद्योगिक प्रन्यासों के पास कार्यशील पूंजी का अभाव हो गया और दूसरी ओर बिना बिक्री निर्मित वस्तुओं का भंडार जमा होने की समस्या उत्पन्न हो गई। उस उत्पादन के विक्रय और कच्चे पदार्थों के क्रय के लिए औद्योगिक प्रन्यास सभी उपलब्ध साधनों को काम में लेते हुए परस्पर भीषण प्रतियोगिता में संलग्न हो गए। खाद्य पदार्थों और कच्चे माल की मांग अधिक होने से उनके मूल्य तेजी से बढ़ते गए जबकि औद्योगिक वस्तुओं की मांग कम होने से उनके मूल्य गिरते चले गए। संपूर्ण औद्योगिक उत्पादन पर बड़ा ही प्रतिकूल सामूहिक प्रभाव पड़ा। कच्चे माल का मूल्य अधिक होने तथा ऋण की पर्याप्त सुविधा न मिलने के फलस्वरूप औद्योगिक प्रतिष्ठान विवश हो गए कि वे अपना माल कम मूल्य पर ही बेच दें। बिक्री संकट मुख्यतया गांवों और शहरों के बीच आर्थिक असंतुलन का परिणाम था जिसे दूर करने के लिए कच्चे माल की वितरण व्यवस्था में सुधार किया गया। अतिआवश्यक मिलों को छोड़कर अन्य मिलों को बंद किया गया ताकि कच्चे माल की कमी दूर हो एवं गला-काट प्रतियोगिता को समाप्त करने के लिए औद्योगिक ट्रस्टों द्वारा व्यावसायिक सिंडीकेटों का निर्माण किया गया। इन उपायों के फलस्वरूप सन् 1922 के मध्य से स्थिति में सुधार होने लगा।

(ग) कैंची संकट– किंतु जब औद्योगिक और कृषि पदार्थों के मूल्य का संबंध तेजी से प्रतिकूल दिशा में जाने लगा तो अगले ही वर्ष सन् 1923 में भीषण कैंची संकट उत्पन्न हो गया। वास्तव में बिक्री संकट ही कैंची संकट के रूप में प्रतिफलित हुआ। औद्योगिक एवं कृषि पदार्थों के मूल्यों की विषम स्थिति ही इस संकट के लिए उत्तरदायी थी। दोनों उत्पादनों के मूल्य में सामंजस्य रहने पर ही स्वस्थ और संतुलित अर्थव्यवस्था पनप सकती थी, लेकिन सन् 1922-23 में स्थिति एकदम विपरीत हो गई। मई, 1922 के बाद औद्योगिक वस्तुओं के मूल्य कृषि पदार्थों के मुकाबले तेजी से गिरते गए जिसके फलस्वरूप विख्यात कैंची संकट उत्पन्न हुआ। औद्योगिक और कृषि-उत्पादन के मूल्य कैंची की दो पत्तियों की तरह चल रहे थे

टिप्पणी

और यह चाल अर्थव्यवस्था को काटने वाली अर्थात इसके लिए घातक थी, अत: इस स्थिति को कैंची संकट के नाम से पुकारा गया। स्थिति इतनी बिगड़ गई कि फरवरी, 1923 में औद्योगिक वस्तुओं तथा कृषि पदार्थों के मूल्यों में 3:1 का अनुपात हो गया। कैंची संकट से उत्पन्न राजनीतिक और आर्थिक खतरों का मुकाबला करने के लिए सरकार ने दो-तरफा प्रयास किया। यह नीति अपनाई गई कि कुछ औद्योगिक वस्तुओं के मूल्य घटाए जाएं और कुछ कृषि पदार्थों के मूल्य बढ़ाए जाएं। विभिन्न उपायों के फलस्वरूप सन् 1924 तक कैंची संकट मिटने लगा जिससे औद्योगिक तथा कृषि-उत्पादन के मूल्यों का अंतर निरंतर कम होता गया। सन् 1928 तक सरकारी तौर पर संकट की समाप्ति की घोषणा कर दी गई। लेकिन वास्तविकता यह थी कि कैंची संकट कुछ समय तक और चला। व्यापारिक संतुलन किसानों के विपरीत बना रहा और अंत में स्टालिन को राशनिंग का सहारा लेना पड़ा।

1.4.4 रूसी क्रांति का पश्चिमी देशों पर प्रभाव एवं प्रतिक्रियाएं

यह स्वाभाविक था कि बोल्शेविक सरकार की नीतियों एवं कार्यों का विरोध रूस के भीतर होने के साथ–साथ विदेशों में भी हो। क्योंकि जिस प्रकार वोल्शेविकों के द्वारा किये गये अत्याचार से रूस का पूंजीपति वर्ग, पादरी और नौकरशाही लोग नाराज थे। उसी प्रकार अनेक मित्र राष्ट्र भी अप्रसन्न थे; इसके मुख्य कारण निम्नलिखत हैं–

1. रूस ने युद्ध से अलग होकर जर्मनी के साथ संधि करके मित्र राष्ट्रों के साथ विश्वासघात किया। इसके अतिरिक्त इस संधि के हो जाने से जर्मनी पूर्वी मोर्चे से निश्चिंत होकर अपनी पूरी शक्ति पश्चिमी मोर्चे पर लगा दी। इससे मित्र राष्ट्रों को काफी क्षति पहुंची।
2. जारशाही शासन के अन्तर्गत बोल्शेविक सरकार द्वारा लिए गए विदेशी ऋणों को पूर्ण रूप से अस्वीकार कर दिया गया।
3. जार के शासनकाल में बोल्शेविक सरकार द्वारा की गयी गुप्त संधियों को अस्वीकार कर दिया गया, जिससे विश्व में मित्र राष्ट्रों की प्रतिष्ठा को हानि पहुंची।
4. विश्व के मजदूर वर्ग को साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित करके बोल्शेविक सरकार पूंजीवादी सरकारों का तख्ता पलटना चाहती थी।

उपरोक्त कारणों से असंतुष्ट होकर मित्रराष्ट्र रूस से बोल्शेविक सरकार को समाप्त करना चाहते थे। अतः उन्होंने रूस के क्रांतिविरोधियों की सहायता से अपने उद्देश्य को पूरा करने का प्रयास किया। वे रूस के क्रांतिविरोधियों की बोल्शेविक सरकार के विरुद्ध मदद करने लगे। अतः क्रांतिविरोधियों ने रूस में कई स्थानों पर बोल्शेविकों की 'लाल सरकार' के विरुद्ध 'श्वेत सरकार' स्थापित कर ली। इसी प्रकार की श्वेत सरकारें फिनलैण्ड और रूस की पश्चिमी सीमा पर स्थापित कर ली गयीं। मित्र राष्ट्रों द्वारा रूस की सोवियत सरकार को अमान्य घोषित कर दिया गया। उन्होंने ब्रेस्टलिटोवस्क की संधि को अस्वीकार कर रूस पर आर्थिक प्रतिबन्ध लगा दिया।

इतना ही नहीं, अमेरिका ने आर्केजिल और बलाडीवास्टक को, फ्रांस ने ओडेसाले को रूसी आधिपत्य से स्वतंत्र कराने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। ब्रिटेन ने बाकू पर,

जापान ने पूर्वी साइबेरिया पर अपना अधिकार कर लिया। इधर पोलैण्ड ने रूस पर आक्रमण कर दिया।

टिप्पणी

इस तरह से मित्र राष्ट्रों ने सोवियत रूस की जनता में असंतोष फैलाकर रूस की सुरक्षा को खतरे में डालकर अव्यावहारिक कार्य किया और दोषारोपण सोवियत संघ पर कर दिया। क्योंकि बोल्शेविक नेता विश्व क्रांति की योजना बना रहे थे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने तीसरी अंतर्राष्ट्रीय (Third International) की स्थापना मास्को में की थी। यह एक स्वतंत्र संगठन था, जिसमें विश्व के सभी देशों के साम्यवादी प्रतिनिधि सम्मिलित थे। विश्व के पूंजीवादी देश इसे रूस के वैदेशिक विभाग का कार्यालय समझते थे। इसकी स्थापना विश्वव्यापी साम्यवादी समाज की रचना के लिए हुई थी। इसलिए विश्व के सभी पूंजीवादी देश इस संस्था के साथ–साथ रूस को भी संदेह की दृष्टि से देखते थे। इस दशा में साम्यवादी रूस और पूंजीवादी देशों के मध्य शत्रुता होना संभव था।

गृह युद्ध और विदेशी आक्रमण के कारण सन् 1921 ई. में रूस की दयनीय स्थिति थी। अतः आर्थिक संकट से उबरने के लिए लेनिन ने नयी आर्थिक नीति का सहारा लिया और उसने रूस की विदेशी नीति में परिवर्तन करना चाहा। रूस की पुनः स्थापना के लिए उसने विदेशी पूंजी निवेश को बढ़ावा दिया। उसका मानना था कि जब तक पूंजीवादी देशों का अस्तित्व है, तब तक सोवियत संघ का इन देशों के साथ किसी न किसी प्रकार से संबंध स्थापित करना आवश्यक है। किंतु कोई भी पूंजीवादी देश रूस से तब तक संबंध स्थापित करने को तैयार नहीं था जब तक कि रूस कामिन्टर्न के विश्वव्यापी प्रचार को न रोक ले। रूस के लिए पूंजीवादी देशों से व्यापारिक संबंध स्थापित करने का मार्ग तब खुल गया जब लेनिन इस संबंध में वचनबद्ध हो गया। स्टालिन ने जब विश्वशांति को रूस की विदेशी नीति का आधार बनाया, तब अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में रूस का महत्व बढ़ गया। इस तरह से धीरे–धीरे सोवियत संघ और पूंजीवादी देशों के मध्य विश्वास उत्पन्न हुआ। कुछ ही समय बाद अमेरिका सहित कई पूंजीवादी देशों ने रूस की सोवियत व्यवस्था को मान्यता दे दी और इस तरह विश्व राजनीति में उसका प्रभाव पढ गया।

अपनी प्रगति जांचिए

6. सन् 1917 की रूसी क्रांति किस शताब्दी के विश्व इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना है?

   (क) 15वीं शताब्दी (ख) 17वीं शताब्दी

   (ग) 18वीं शताब्दी (घ) 20वीं शताब्दी

7. सन् 1905 ई. की क्रांति के द्वारा किस राष्ट्रीय पार्लियामेंट की स्थापना हुई?

   (क) जापान (ख) रूस

   (ग) जर्मनी (घ) ब्रिटेन

8. वर्तमान में सोवियत संघ में कुल कितने गणराज्य हैं?

   (क) 11 (ख) 13

   (ग) 15 (घ) 17

1.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

टिप्पणी

1. (ग)
2. (ख)
3. (क)
4. (क)
5. (घ)
6. (घ)
7. (ख)
8. (ग)

1.6 सारांश

राष्ट्रवाद का जन्म भी सबसे पहले इंग्लैंड में ही हुआ था। इसके बाद राष्ट्रवाद की लहर यूरोप के अन्य देशों में फैली। ब्रिटेन में राष्ट्रवाद, उसकी औद्योगिक उपलब्धियों के कारण उत्पन्न राष्ट्रीय गौरव में देखा जा सकता है ब्रिटेन में राष्ट्रवाद के विकास का इतिहास, यूरोप के अन्य राष्ट्रों से भिन्न रहा है। यहां राष्ट्रवाद का जन्म क्रांति का परिणाम नहीं था, अपितु यह एक लम्बे समय से चली आ रही प्रक्रिया का परिणाम था।

19वीं सदी में यूरोप के अन्य राष्ट्र, उत्तरी अमेरिका और फिर धीरे-धीरे पूरे विश्व में आए। 18वीं सदी के अन्त तक का काल एक संक्रमण का काल था। हस्त-उत्पादन से मशीनी उत्पादन की ओर, यह एक त्वरित प्रक्रिया थी। यह प्रक्रिया वस्त्र उद्योग में सबसे पहले प्रारंभ हुई। इसके बाद लौह और कोयला उद्योग का मशीनीकरण हुआ। व्यापार के क्षेत्र में यह क्रांति नहरों के निर्माण, सड़कों का विस्तार एवं रेल यातायात के शुरू होने से हुई।

फ्रांसीसी क्रांति में अमूर्त राष्ट्रवाद ने अंत में व्यावहारिक एवं स्पष्ट रूप प्राप्त किया। फ्रांसीसी क्रांतिकारियों ने ऐसे अनेक कदम उठाए जिनसे फ्रांसीसी जनता में सामूहिक पहचान बनाई जा सके। संविधान में एक मातृभूमि और नागरिकता के भाव को, सामूहिक समुदाय के अंतर्गत, समान अधिकारों को प्रोत्साहन दिया गया।

राष्ट्रवाद देश के प्रति लोगों में समर्पण की भावना है। यूरोपीय देशों में राष्ट्रवाद का विकास नेपोलियन युद्धों की ही देन थी और यही राष्ट्रवाद, नेपोलियन के साम्राज्य के पतन का कारण बना।

18वीं सदी के अंत और 19वीं सदी के आरंभ में, राष्ट्रवाद एक क्रांतिकारी शक्ति थी, जिससे लोगों ने तानाशाही राजतंत्रों के विरुद्ध क्रांति करके गुलामी की बेड़ियों को उखाड़ फेंका। इन क्रांतियों का नेतृत्व पूंजीपतियों ने किया। इस क्रांतिकारी शक्ति

की अभिव्यक्ति फ्रांस की क्रांति में हुई, जो आगे चलकर यूरोप के अन्य राष्ट्रों में फैली।

टिप्पणी

19वीं सदी के मध्य में, सबसे पहले अमेरिका ने जापान के दरवाजे खटखटाये और उसकी स्वतंत्रता के लिए खतरा पैदा किया। अमेरिका को नए बाजार की तलाश थी। अत: 1853 में पैरी के नेतृत्व में अमेरिका का एक जहाज जापान के उरागा बन्दरगाह पहुंचा।

1870 ई. के बाद और अस्सी के दशक में विशेषकर औपनिवेशिक समस्या एक बार फिर उभरी। इसके अनंतर दो दशकों में ही, 1900 ई. तक, विकसित देशों ने लगभग सारे संसार को आपस में बांट लिया। 1900 ई. का संसार का नक्शा यदि कोई देखे तो आठ या दस रंगों में उनके आधिपत्य वाले इलाके दिखाए गए मिलेंगे।

साम्राज्यवाद के इस नये दौर में यूरोपीय व्यापारी स्थानीय तरीकों से उत्पादित माल के स्थानीय सौदागरों से खरीद-फरोख्त करने मात्र से संतुष्ट न थे। वे एक विशेष प्रकार का या ऐसे परिमाण में सामान चाहते थे जिसकी आपूर्ति कर पाना स्थानीय कारीगरों के लिए मुश्किल था।

रूस गृह-युद्ध के पश्चात जीवित रहा, किंतु जीवित रहने के लिए उसे भयावह परिस्थितियों में से गुजरना पड़ा। सन् 1917 की बोल्शेविक क्रांति के पश्चात लेनिन ने राजकीय पूंजीवाद की जिस नीति को अपनाया, वह नवम्बर, 1917 से जुलाई, 1918 तक अर्थात क्रांति के प्रथम आठ महीनों तक ही चली।

नई आर्थिक नीति के अंतर्गत विभिन्न क्षेत्रों में प्रभावी कार्यक्रम अपनाए गए। इस नीति ने कृषि को विशेष रूप से प्रभावित किया। कृषि-क्षेत्र में दो मुख्य उद्देश्य निर्धारित किए गए– किसानों का असंतोष दूर करना और कृषि-उत्पादन में यथासंभव अधिकतम वृद्धि करना। इन उद्देश्यों की पूर्ति करने के लिए कृषि संबंधी अध्यादेश निकाले गए और अनेक ठोस कदम उठाए गए। अध्यादेशों में आंतरिक वाणिज्य में स्वतंत्र व्यापार को मान्यता दी गई; केवल विदेशी व्यापार सरकार के एकाधिकार के अंतर्गत रहा।

सन् 1924 के संविधान के अंतर्गत रूस का शासन केवल 12 वर्ष चालू रहा। इस काल में नई आर्थिक नीति और पंचवर्षीय योजनाओं द्वारा रूस ने बहुमुखी उन्नति की और समाज को समाजवादी बनाने संबंधी कार्य किए। फरवरी 1935 में स्टालिन की अध्यक्षता में एक नया संविधान आयोग गठित हुआ और नये संविधान का निर्माण किया गया जो 1936 का कास्टालिन संविधान कहलाया। अनेक संशोधनों के साथ यही संविधान आज भी जारी है।

साम्यवादी दल के नेतृत्व ने नूतन व्यवस्था में पूर्ण विश्वास उत्पन्न कर दिया कि इस व्यवस्था का निर्माण पुनर्निर्मित और परिवर्तित अर्थव्यवस्था में होगा, जहां नूतन अनुशासन होगा और स्त्री-पुरुष सबके लिए समान नूतन शिक्षा होगी। इस शिक्षा ने बीसवीं सदी के पाश्चात्य विज्ञान की तकनीकी सफलता के विस्तार के कारण भौतिक साधनों की प्राप्ति पर अत्यंत बल दिया।

1.7 मुख्य शब्दावली

टिप्पणी

- **मुनाफा** : लाभ, फायदा
- **आजीवन** : जीवन भर
- **स्वामित्व** : मालिकाना
- **विश्वस्त** : विश्वास करने योग्य
- **तालमेल** : सामंजस्य
- **आविर्भाव** : उद्‌भव, उत्पत्ति
- **निर्वहन** : निर्वाह
- **बागड़ोर** : लगाम, जिम्मेदारी

1.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. किस प्रकार से इंग्लैंड की संसद में अंग्रेज प्रतिनिधियों का वर्चस्व था?
2. पूंजीवाद से क्या तात्पर्य है? संक्षेप में बताइए।
3. जर्मनी में पूंजीवाद का विकास किस प्रकार हुआ?
4. साम्राज्यवाद से आप क्या समझते हैं।
5. वर्साय व्यवस्था का जर्मनी पर क्या प्रभाव पड़ा?
6. रूसी क्रांति का पश्चिमी देशों पर क्या प्रभाव पड़ा।
7. लेनिन द्वारा नवीन आर्थिक नीति अपनाए जाने वाले घटकों को समझाइए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. ब्रिटेन में राष्ट्रवाद और पूंजीवाद के विकास का वर्णन कीजिए।
2. फ्रांस में राष्ट्रवाद और पूंजीवाद के विकास की समीक्षा कीजिए।
3. प्रथम विश्व युद्ध की उत्पत्ति और कारणों का उल्लेख कीजिए।
4. प्रथम विश्य युद्ध के प्रभाव की विवेचना कीजिए।
5. शांति सम्मेलन के मूल आधारों का वर्णन कीजिए।
6. रूस की क्रांति के राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक कारणों पर प्रकाश डालिए।
7. बोल्शेविक क्रांति की प्रमुख घटनाओं एवं उनके प्रभावों पर प्रकाश डालिए।

1.9 सहायक पाठ्य सामग्री

केनेथ वॉल्ट्ज, 2001, थियरी ऑफ इंटरनेशनल पॉलिटिक्स। वेवलैण्ड प्रेस इंकोर्पोरेशन।

मार्टिन होलिस और स्टीव स्मिथ, 1991, एक्सप्लेनिंग एण्ड अण्डरस्टैण्डिंग इंटरनेशनल रिलेशंस। ऑक्सफोर्डः ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस।

टिप्पणी

रॉबर्ट जैक्सन और जॉर्ज सोरेन्सन, 2013, इंट्रोडक्शन टू इंटरनेशनल रिलेशंसः थियरीज एण्ड अप्रोचेज, 5वां संस्करण। ऑक्सफोर्डः ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस।

रॉबर्ट किओहेन, 2005, आफ्टर हीजेमनीः कोपरेशन एण्ड डिस्कोर्ड इन द वर्ल्ड पॉलिटिकल इकॉनोमी। न्यू जर्सीः प्रिंसटन यूनीवर्सिटी प्रेस।

रॉबर्ट किओहेन और जोसेपफ नाय, 2011, पॉवर एण्ड इंटरडिपेन्डेन्स, चौथा संस्करण। न्यूयॉर्कः लोंगमैन।

इकाई 2 दो युद्धों के मध्य विश्व

टिप्पणी

संरचना

2.0 परिचय
2.1 उद्देश्य
2.2 दो युद्धों के मध्य विश्व की स्थिति
2.3 राष्ट्रसंघ की कार्य प्रणाली एवं सामूहिक सुरक्षा
  2.3.1 राष्ट्रसंघ के उद्देश्य एवं कार्य प्रणाली
  2.3.2 सामूहिक सुरक्षा
2.4 पूंजीवाद में संकट : महामंदी, युद्ध क्षतिपूर्ति और निःशस्त्रीकरण की समस्या
  2.4.1 महामंदी
  2.4.2 युद्ध क्षति पूर्ति और निःशस्त्रीकरण की समस्या
2.5 जर्मनी, इटली एवं जापान में अधिनायक तंत्र का विकास
  2.5.1 जर्मनी में अधिनायक तंत्र का विकास
  2.5.2 इटली में मुसोलिनी एवं फासीवाद का उदय
  2.5.3 जापान में अधिनायक तंत्र की स्थापना
2.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
2.7 सारांश
2.8 मुख्य शब्दावली
2.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
2.10 सहायक पाठ्य सामग्री

2.0 परिचय

विनाशकारी प्रथम विश्वयुद्ध का अंत 11 नवंबर, 1919 ई. को हुआ। इसके उपरांत सबकी निगाहें पेरिस में होने वाली शांति वार्ता पर टिकी हुई थीं। जितना कठिन कार्य विश्वयुद्ध को जीतना था उससे कहीं कठिन कार्य भविष्य में शांति–व्यवस्था स्थापित करना था। 1919 ई. में विजयी राष्ट्रों ने पेरिस में एक सम्मेलन आयोजित किया, जो इतिहास में पेरिस शांति सम्मेलन के नाम से प्रसिद्ध है।

प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान ही 1917 ई. में रूस में साम्यवादी क्रांति हो गई जो 20वीं शताब्दी की अति महत्वपूर्ण घटना मानी जाती है। इस क्रांति ने नई विचारधारा को जन्म दिया। इसने संसार को हिला दिया और पूंजीवाद के लिए महान संकट पैदा कर दिया। इसके कारणों और परिणामों की इस इकाई में विस्तृत जांच होगी।

'उगते सूरज का देश' के नाम से प्रसिद्ध देश जापान 19वीं शताब्दी के मध्य तक विश्व में अज्ञात देश था। आज वह दुनिया की शक्तिशाली अर्थव्यवस्थाओं में से एक है। मेइजी पुनर्स्थापना को जापान के इतिहास में अत्यंत महत्वपूर्ण घटना माना जाता है।

अमेरिका के राष्ट्रपति वुडरो विल्सन के आदर्शवादी विचारों से प्रभावित होकर आम जनता तक कुछ नेताओं ने प्रथम विश्वयुद्ध को 'सभी युद्धों को समाप्त करने वाला युद्ध' (The War to End All Wars) की संज्ञा दी थी। राष्ट्रसंघ से भी यह उम्मीद की जा रही थी कि वह अपने शांति प्रयासों द्वारा न्याय और समृद्धि के नए युग का सूत्रपात

टिप्पणी

करेगा परंतु ये उम्मीदें धीरे–धीरे धूमिल पड़ने लगीं, क्योंकि बदली हुई महा परिस्थितियों ने भारी संकट और तनाव उत्पन्न करना आरंभ कर दिया। शीघ्र ही यह स्पष्ट हो गया कि यह काल्पनिक शांति वास्तव में बहुत कमजोर थी। इस शांति को सबसे बड़ा खतरा यूरोप में उत्पन्न हुए भारी महा और व्यापारिक तनाव से पैदा हुआ, क्योंकि इसी तनाव ने केंद्रीय यूरोप में अधिनायकवाद के स्थापित होने की पृष्ठभूमि तैयार की। राजनीतिक अस्थिरता, महा कठिनाइयों तथा बेरोजगारी के कारण लोग फासीवादी और नाजीवादी विचारधाराओं के प्रति सरलता से आकर्षित होने लगे। अतः फासीवाद और नाजीवाद के उत्थान से राष्ट्रसंघ के प्रयासों को गहरा धक्का लगा और सैन्यवादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिला जिसने द्वितीय विश्वयुद्ध को अवश्यंभावी बना दिया।

इस इकाई में दो युद्धों के मध्य विश्व की स्थिति किस प्रकार की थी इसका विस्तार से वर्णन किया गया है।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- संयुक्त राष्ट्रसंघ की कार्यप्रणाली को समझ पाएंगे;
- सामूहिक सुरक्षा की विवेचना कर पाएंगे;
- निःशस्त्रीकरण की समस्या का आकलन कर पाएंगे;
- जर्मनी, इटली एवं जापान में अधिनायक तंत्र के विकास को समझ पाएंगे।
- दो युद्धों के मध्य विश्व की स्थिति का आकलन कर पाएंगे;

2.2 दो युद्धों के मध्य विश्व की स्थिति

प्रथम विश्वयुद्ध शुरू होने से पहले यूरोप में बहुत सी अंतर्राष्ट्रीय समस्याएं थीं जिनके कारण विभिन्न राज्यों में असंतोष एवं विरोध बना रहता था। जर्मनी और फ्रांस के बीच एल्सेस और लौरेन की समस्या थी। पोलैंड के देशभक्तों की यह आकांक्षा थी कि उनका एक अलग स्वतंत्र राज्य स्थापित होना चाहिए। रूस, ऑस्ट्रिया और जर्मनी ने पोलैंड का अंग–भंग करके उसे अनेक टुकड़ों में बांट दिया था। क्रोशिया, बोस्निया और स्लोवेनिया भी यह समझते थे कि सलावों का अपना अलग राज्य होना चाहिए और ऑस्ट्रिया–हंगरी के साम्राज्य के तहत उनका रहना राष्ट्रीयता के सिद्धांत के खिलाफ है। इसी प्रकार चेक (Czech) लोग भी यही समझते थे। इटली भी अपने कुछ प्रदेशों को ऑस्ट्रिया के आधिपत्य से मुक्त कराना चाहता था। बाल्कन प्रायद्वीप के विभिन्न राज्य अपनी–अपनी सीमाओं से असंतुष्ट थे।

गौरतलब है कि जब वर्साय की संधि पर हस्ताक्षर हो रहे थे तो उस समय भी जर्मनी के प्रतिनिधिमंडल के साथ सामान्य शिष्टाचार के नियमों का पालन नहीं किया गया और उन्हें अपराधियों की तरह हॉल के अंदर–बाहर ले जाया गया। लैंगसैम के अनुसार, "वर्साय संधि में जर्मनी को अपराध स्वीकार करने को मजबूर किया गया था इसलिए उसके लिए इसके विरुद्ध विद्रोह करना और उनसे बदला लेना जिन्होंने ऐसा किया था, राष्ट्रीय प्रतिष्ठा का सवाल बन गया।" कुछ ही समय बाद जर्मन राष्ट्रवादियों

ने संधि की शर्तों को तोड़ने के नारे लगाने शुरू कर दिए। इस संधि की अवज्ञा, उल्लंघन और अंत की बात करते ही हिटलर एक लोकप्रिय तानाशाह बन गया।

टिप्पणी

जर्मनी सिर्फ एक लाख सैनिकों से कैसे संतुष्ट हो सकता था? सीमित व्यावसायिक जहाजों और शस्त्रों को जर्मनी कैसे स्वीकार कर सकता था? इस संधि में जर्मनी को हर तरह से दबाया गया था। उसके उपनिवेश छीन लिये गए। उसकी व्यापारिक सुविधाओं पर नियंत्रण लगाया गया। उसका राज्य क्षेत्र अन्य राज्यों को दे दिया गया। उस पर युद्ध की क्षतिपूर्ति का बोझ लाद दिया गया। उसकी सैनिक शक्ति क्षीण कर दी गई। उसे युद्ध के लिए दोषी ठहराया गया। यह एकतरफा दबाव अनैतिक ही नहीं अव्यावहारिक भी था।

जर्मनी को ही युद्ध के लिए जिम्मेदार ठहराना सर्वथा गलत था। आज तो अंग्रेज इतिहासकार भी मानते हैं कि युद्ध के लिए एक पक्ष को जिम्मेदार मानना गलत और ऐतिहासिक तथ्यों के विपरीत है। इसलिए युद्ध की क्षति के लिए उस पर इतना भारी बोझ डालना गलती और अदूरदर्शिता थी। चर्चिल जैसा साम्राज्यवादी भी इस संधि की महा शर्तों को अनुचित मानता है। इस संधि के महा पक्ष का विवेचन प्रसिद्ध अंग्रेज अर्थशास्त्री जॉन मेनार्ड कींस (John Maynard Keynes) ने किया है। उन्होंने भी इस संधि को अविवेकपूर्ण बताया है। उनका मानना है कि संधि की शर्तें बहुत कठोर थीं और इसने जर्मनी के अस्तित्व को ही खतरे में डाल दिया था।

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात इटली में फासीवाद और जर्मनी में नाजीवाद का उद्‌भव हुआ। वास्तव में ये दोनों एक ही विचारधारा के दो भिन्न–भिन्न नाम हैं। फासिस्ट शब्द की उत्पत्ति लैटिन लातीनी भाषा के शब्द 'फासिओ' (Fascio) से हुई है जिसका मतलब 'शाही डंडों का गट्‌ठा' (Bundle of Royal Sticks) है। प्राचीन काल में रोम के शासक जब युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद अपनी राजधानी में प्रवेश करते थे तब उनके हाथ में शाही डंडों का गट्‌ठा होता था जो उनकी निरंकुशता का द्योतक होता था। फासीवादी विचारधारा भी प्राचीन रोमन सम्राटों की भांति निरंकुश शासन की स्थापना की समर्थक थी जिसमें सभी नागरिकों के लिए सरकार की आज्ञा की अनुपालना जरूरी हो और उसकी नीति की आलोचना या विरोध करने की मनाही हो। यानी यह विचारधारा अपनी प्रकृति में बहुत उग्र होती है। इस विचारधारा के अनुसार, 'सब कुछ राज्य के भीतर है और इसके बाहर कुछ नहीं' उनका नारा था, विश्वास करो, आज्ञा का पालन करो और संघर्ष करो।' निरंतर संघर्ष करना ही वे जीवन का एक मात्र लक्ष्य समझते थे।

फासीवाद का कोई निश्चित राजनीतिक दर्शन नहीं था। अनेक राजनीतिक विशारदों ने इसे मूलतः प्रयोगात्मक और अनुभव मूलक माना है। फासीवाद, व्यक्तिगत स्वतंत्रता के लोकतंत्रीय सिद्धांत का प्रबल विरोधी था। देखा जाए तो प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात इस अधिनायकवादी विचारधारा का रुझान विश्व के अनेक राष्ट्रों जैसे– पोलैंड, ऑस्ट्रिया, हंगरी आदि में उभरे परंतु इसका सर्वाधिक उग्र रूप इटली और जर्मनी में देखने को मिला।

इटली की जनता को प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात अच्छे दिनों की आशा थी। इटली की सरकार ने युद्ध के दौरान जनता का पूरा समर्थन और सहयोग प्राप्त करने के लिए उसे निर्धनता हटाने का आश्वासन दिया था। सैनिकों और किसानों की महा

टिप्पणी

समस्याओं को दूर करने का भी सरकार ने वचन दिया था। परंतु युद्ध के पश्चात इटली की आंतरिक महा स्थिति अत्यंत शोचनीय हो गई। सरकार लोगों को दिये गए वचनों को पूरा न कर सकी। महा संकट और अधिक गहरा गया। निर्धनता, बेरोजगारी, महंगाई और अव्यवस्था से लोगों में असंतोष और घबराहट फैल रही थी। युद्ध की समाप्ति के बाद लौटे सैनिक सर्वहारा बन गए थे तथा सरकार की अकर्मण्यता से क्षुब्ध थे। व्यापारिक क्षेत्र में अवनति हो गई थी। युद्ध के समय लिया गया विदेशी ऋण बहुत ज्यादा था जिसे ब्याज सहित लौटाना बहुत कठिन हो गया था। युद्ध सामग्री की मांग खत्म हो चुकी थी। अतः उद्योगों में मंदी आई और बहुत से उद्योग बंद हो जाने से हजारों मजदूर बेकार हो गए। इस स्थिति में अव्यवस्था बढ़ती चली गई। वस्तुओं की कीमतें आसमान छूने लगीं। इतिहासकार हैजन के अनुसार, "पश्चिमी यूरोप के जितने देश युद्ध में विजयी हुए उनमें से इटली एक ऐसा देश था जिसका तत्कालीन इतिहास सबसे ज्यादा अशांत था।" सरकार ने इस महा संकट का समाधान करने के लिए कोई ठोस कदम नहीं उठाए। समाज के विभिन्न वर्गों के लोगों में आई असंतुष्टता ने जनता को फासीवादी विचारधारा की ओर आकर्षित किया जिसने फासीवादी सिद्धांतों द्वारा महा संकट दूर करने का आश्वासन दिया।

ऊपरलिखित परिस्थितियों में फासीवाद का प्रादुर्भाव हुआ। देश को बरबाद होते देखकर कुछ विचारशील व्यक्ति जिनमें व्यवसायी, जमींदार, युद्ध से अवकाश प्राप्त सैनिक, शिक्षक, डॉक्टर और अन्य बुद्धिजीवी शामिल थे, काफी दुखी और चिंतित हुए तथा अपने देश और राष्ट्रीय संस्थाओं की रक्षा के लिए आगे बढ़े। उनका उद्देश्य भ्रष्ट और दुर्बल सरकार को हटाकर इटली को विनाश के गर्त से बचाना था। अतः उन्होंने अपने संगठन बनाने शुरू कर दिए। इन्हीं संगठनों को फासिओ (Fascio) कहा गया। आरंभ में यह दल शक्तिशाली नहीं था परंतु धीरे–धीरे देश की परिस्थितियों ने इसे प्रोत्साहित किया। यह सौभाग्य था कि इस दल को मुसोलिनी जैसा एक कुशल नेता मिल गया, जिसके नेतृत्व में फासीवादी दल की विचारधारा इटली में जोर पकड़ने लगी।

प्रथम विश्वयुद्ध को लेकर मुसोलिनी का साम्यवादियों से तीव्र मतभेद हो गया। समाजवादी प्रथम विश्वयुद्ध के खिलाफ थे क्योंकि वे उसे पूंजीवादियों का आपसी झगड़ा समझ रहे थे। मुसोलिनी का भी आरंभ में यही विचार था परंतु बाद में उसने युद्ध में एक मौका देखा ताकि इटली ऑस्ट्रिया के अधीन अपने इटालियन प्रदेशों को वापस ले सके और वह इटली के युद्ध में शामिल होने का हिमायती बन गया। उसकी इस युद्ध समर्थक नीति के कारण उसे समाजवादी दल से हटना पड़ा और वह औद्योगिक नगर मिलान से एक नया दैनिक समाचारपत्र 'इटली की जनता' निकालने लगा। युद्ध के पश्चात की स्थिति पर विचार करने के लिए उसने पुराने सैनिकों को बुलाया और 23 मार्च, 1919 ई. को 'फासियो डी कम्बेटिमेंटो' नामक दल बनाया जो फासीवादी दल के नाम से विख्यात हुआ। लकड़ी के बंधे बोझ को अपना चिह्न और एकता का प्रतीक बनाकर मुसोलिनी ने उग्रवादी नारों के साथ परिवर्तन का एक 'क्रांतिकारी कार्यक्रम' प्रस्तुत किया। ज्यों–ज्यों इटली में महा संकट गहराया और सरकार असफल होती गई, त्यों–त्यों मुसोलिनी का प्रभाव भी बढ़ता गया।

1920 ई. के उत्तरार्ध में मुसोलिनी ने समाजवादियों और साम्यवादियों को खुले रूप से चुनौती देने का निश्चय किया। उसको यह भी विश्वास हो गया था कि

टिप्पणी

साम्यवादियों की हिंसात्मक क्रांति को रोकने के लिए उसे बल–प्रयोग और हिंसात्मक साधनों का सहारा लेना पड़ेगा। अतः उसने इटली के विभिन्न भागों में फासीवादियों के सशस्त्र समूह तैयार किये। सभी फासीवादियों को वर्दी (काली कमीज) पहनने और सैनिकों के समान अनुशासित ढंग से कार्य करने के आदेश दिये गए। 1922 ई. तक मुसोलिनी अपने प्रमुख विरोधी साम्यवादियों का दमन करने में सफल हो गया। इटली की सरकार ने इनके विरुद्ध कोई कार्रवाई नहीं की। संभवतः वह साम्यवादियों के विरुद्ध किये गए कार्यों से खुश थी और इसलिए उदासीन बनी रही। इतिहासकारों का यह मानना है कि यह सरकार की बहुत बड़ी भूल थी क्योंकि इससे फासीवादियों के हौसले बढ़ते चले गए। मुसोलिनी ने पहले साम्यवादियों और फिर इटली की सरकार का ही अंत कर दिया।

सत्ता हस्तगत करने के बाद मुसोलिनी को सर्वप्रथम देश की अत्यंत निराशाजनक और गंभीर स्थिति का सामना करना पड़ा। वह जानता था कि इटली को एक सशक्त राष्ट्र बनाने के लिए एक सक्रिय आंतरिक नीति अपनाई जाए तो महा कठिनाइयों पर काबू पाया जा सकता है। मुख्य तौर पर उसकी गृह नीति के दो लक्ष्य थे– एक तो सुनिश्चित फासीवादी योजना के अनुसार कानून और दंड के बल पर समस्त वर्गों का राष्ट्र निर्माण के लिए सहयोग प्राप्त करना तथा दूसरा, धर्म, शिक्षा एवं संस्कृति के माध्यम से उग्र राष्ट्रवाद तथा फासीवादी तंत्र को सुदृढ़ करना।

मुसोलिनी की आंतरिक नीति के अंतर्गत अर्थव्यवस्था का पुनः गठन एक महत्वपूर्ण कदम था। फासीवादी उदार महा नीति के विरोधी थे तथा औद्योगिक व्यवस्था में राज्य के हस्तक्षेप को उचित मानते थे। अतः मुसोलिनी ने बुनियादी उद्योगों जैसे रेलवे, लोहा, अस्त्र–शस्त्र आदि का राष्ट्रीयकरण कर दिया। औद्योगिक क्षेत्र में उत्पादन बढ़ाने, नए उद्योगों को प्रोत्साहन देने तथा विदेशी व्यापार को बढ़ाने के लिए अनेक प्रयास किये गए। फासीवादी वर्ग संघर्ष के तीव्र विरोधी थे। उनकी इच्छा थी कि पूंजीपति और मजदूर परस्पर सहयोग और परामर्श से व्यवसायों का संचालन करें। इसके लिए उसने सिंडीकेट व्यवस्था शुरू की, जिसके तहत पूंजीपतियों और मजदूरों के अलग–अलग सिंडीकेट (संघ) बनाए गए। किसी भी समस्या का समाधान करने के लिए दोनों सिंडीकेटों को मिलकर निर्णय करना पड़ता था। इसके फलस्वरूप सरकार को औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने में सहायता मिली। महा व्यवस्था पर और ज्यादा नियंत्रण करने के लिए सिंडीकेट व्यवस्था को राष्ट्रव्यापी रूप दिया गया। कुल 13 राष्ट्रीय सिंडीकेट बनाए गए जो निगम मंत्री के अधीन थे। इनके सदस्य केवल फासीवादी ही हो सकते थे। इन सिंडीकेटों की इकाइयां प्रांतीय और स्थानीय स्तर की थीं।

जब सिंडीकेट व्यवस्था से मजदूरों की दशा में कोई उल्लेखनीय सुधार नहीं हुआ तो मुसोलिनी ने 1927 ई. में श्रम अधिकार संघ (Charter of Labour) लागू किया। इसके तहत श्रम को सरकारी कर्तव्य मानकार राज्य ने उसके हितों को ध्यान में रखा। इसमें वेतन सहित अवकाश, चिकित्सा सहायता, बुढ़ापे, दुर्घटना और मृत्यु संबंधी बीमे आदि की सुविधाएं प्रदान की गईं। मजदूरों के लिए 6 दिनों का सप्ताह यानी रविवार की छुट्टी और 8 घंटे का प्रतिदिन कार्य निश्चित किया गया। इसके अलावा मजदूरों को निजी संपत्ति रखने का अधिकार भी दिया गया।

नाजी दल का आकस्मिक उत्कर्ष और उसकी लोकप्रियता जर्मनी और यूरोपीय इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना मानी जाती है। प्रथम विश्वयुद्ध में पराजित होने से

जर्मन लोगों को गहरा आघात लगा था। इस पर पेरिस शांति सम्मेलन में जर्मनी के साथ अपमानजनक व्यवहार और संधि की शर्तों ने जर्मन लोगों के आत्मसम्मान को बहुत ठेस पहुंचाई थी जिसने नाजीवादी को पनपने का मौका दिया।

टिप्पणी

द्वितीय विश्वयुद्ध (1939–45 ई.) प्रथम विश्वयुद्ध से भी ज्यादा भयानक और विनाशकारी था। विश्व का कोई भी राष्ट्र इससे अछूता नहीं रहा। वैसे युद्धों का इतिहास भिन्न–भिन्न मतों के आधार पर और भिन्न–भिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए लिखा जाता रहा है। द्वितीय विश्वयुद्ध की ऐतिहासिक व्याख्याएं प्रायः स्वयं आगामी शीत युद्ध का हथियार और कारण बनीं। फ्रांस जैसे पराजित देशों में युद्ध काल पर पुस्तकें घरेलू राजनीति से प्रभावित होती थीं। द्वितीय विश्वयुद्ध को संभव बनाने में हिटलर और जर्मनी की सक्रिय भूमिका रही, परंतु इस युद्ध को ''हिटलर का व्यक्तिगत युद्ध'' (Hitler's Personal War) की संज्ञा देना उचित नहीं होगा, क्योंकि इस पद–संज्ञा से युद्ध के अन्य कारणों, देशों और व्यक्तियों की उपेक्षा होगी।

वास्तव में अन्य देश और व्यक्ति द्वितीय महायुद्ध की उत्पत्ति के लिए प्रत्यक्ष रूप से जिम्मेदार नहीं थे, परंतु उन पर यह आरोप लगाया जा सकता है कि उन्होंने युद्ध रोकने का प्रयास नहीं किया। अतः एक नया, अपक्षपाती एवं संतुलित शोध, निःसंदेह इन समस्याओं को समझने में लाभकारी होगा।

निष्कर्ष के तौर पर हम कह सकते हैं कि पेरिस शांति सम्मेलन में वर्साय की संधि तथा चार अन्य संधियों के अंतर्गत यूरोप के मानचित्र की पुनर्रचना की गई। परंतु इस शांति सम्मेलन से शांति स्थापित नहीं हो सकी और इसके विपरीत विक्षोभ ही पैदा हुआ जो विश्व को बीस वर्षों में ही द्वितीय विश्वयुद्ध की ओर ले गया। शांति सम्मेलन के निर्णय तीव्र विवाद के विषय हैं। अन्यायपूर्ण और न्यायपूर्ण की परिभाषा विजयी और पराजित राष्ट्र अपने–अपने दृष्टिकोण और तरीके से कर रहे थे। पराजित देश जर्मनी वर्साय की संधि को अपमानजनक, अन्यायपूर्ण, कपटपूर्ण और स्वार्थपूर्ण बता रहा था तो मित्र राष्ट्र उसे न्यायोचित बता रहे थे। वास्तव में मित्र राष्ट्र पराजित राष्ट्रों के भू–भाग, उपनिवेश तथा अधिक धन प्राप्ति की लालसा लिए हुए थे। इसके अतिरिक्त जर्मनी पुनः शक्तिशाली न हो जाए इसके लिए वह उसे कमजोर करने का प्रयास कर रहे थे। शांति की यह कूटनीति अशांति का आधार थी। कुल मिलाकर हम यह कह सकते हैं कि पेरिस शांति सम्मेलन के दिखावे खोखले थे। इस संधि में भावी घृणा के बीज (Seeds of Future discord) निहित थे।

1917 ई. की रूस की क्रांति यूरोप की ही नहीं बल्कि संपूर्ण विश्व की एक युगांतरकारी घटना मानी जाती है। इस क्रांति के आगे विश्व की अन्य क्रांतियों का महत्व कम हो जाता है। इतिहासकार एच. जी. वेल्स ने इसे इस्लाम के उदय के बाद सबसे महत्वपूर्ण घटना बताया है। अमेरिकी विद्वान वाल्श ने रोमन साम्राज्य के पतन के पश्चात नवंबर क्रांति को सबसे उल्लेखनीय घटना माना है। प्रो. लास्की ने इसे ईसा के जन्म के बाद की सबसे महत्वपूर्ण घटना माना है। यदि हम क्रांति के सिद्धांत, कार्यक्षेत्र, विस्तार का ध्यान से पर्यवेक्षण करें तो यह वास्तव में विश्व की महानतम घटना उतरती है। इस क्रांति ने वर्गहीन समाज की रचना की, श्रमिकों में एकता उत्पन्न करके उन्हें पूंजीपति मालिकों के शोषण से मुक्त किया। इसी प्रकार गरीब किसानों को दमनकारी जमींदारों के चंगुल से मुक्त करा कर उन्हें कृषि के लिए भूमि उपलब्ध

टिप्पणी

कराई। इस क्रांति ने तत्कालीन साम्राज्यवाद और पूंजीवाद पर खुला प्रहार किया। इसने एक नई विचारधारा, साम्यवाद का सृजन कर मानव समाज को नया रूप प्रदान किया। यह विचारधारा अपने में इतनी प्रबल साबित हुई कि यह रूस की चारदीवारी को लांघकर शीघ्र ही अंतर्राष्ट्रीय महत्व की बन गई।

अपनी प्रगति जांचिए

1. प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात जर्मनी में किसका उद्‌भव हुआ?
   (क) नाजीवाद (ख) पूंजीवाद
   (ग) साम्राज्यवाद (घ) फांसीवाद
2. मुसोलिनी ने किस सन् में श्रम अधिकार संघ लागू किया?
   (क) सन् 1922 (ख) सन् 1923
   (ग) सन् 1925 (घ) सन् 1927
3. द्वितीय विश्व युद्ध कब समाप्त हुआ?
   (क) सन् 1939 (ख) सन् 1943
   (ग) सन् 1945 (घ) सन् 1947

2.3 राष्ट्रसंघ की कार्य प्रणाली एवं सामूहिक सुरक्षा

अमेरिका के राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने अपने 14 सूत्रों में से एक सूत्र में कहा था कि 'छोटे बड़े सभी राष्ट्रों को समान रूप से राजनीतिक स्वतंत्रता तथा प्रादेशिक अखण्डता का आश्वासन देने के लिये राष्ट्र संघ की स्थापना की जाये।' इस प्रकार विल्सन महोदय ने विश्वशांति की स्थापना के लिये एक अन्तर्राष्ट्रीय संस्था की स्थापना पर बल दिया था। वस्तुतः विल्सन के सूत्रों के आधार पर ही प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी ने आत्म समर्पण किया था। इसी आधार पर 10 जनवरी, 1920 ई. को राष्ट्र संघ की विधिवत स्थापना हुई।

वास्तव में पेरिस शांति सम्मेलन में शांति संधियों के अलावा फ्रांस की सुरक्षा की मांग एक प्रमुख तत्व था। 1871 की फ्रेंकफर्ट की संधि में जर्मनी ने फ्रांस को अत्यधिक अपमानित किया था। फ्रांस ने उसका बदला 1919ई. की वर्साय संधि द्वारा लिया। अब भविष्य में वर्साय की संधि के अपमान का बदला जर्मनी–फ्रांस से न ले इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए फ्रांस की सुरक्षा की मांग सामने आयी। इसलिए आवश्यक था कि भविष्य की शांति के लिये राष्ट्र संघ जैसी संस्था की स्थापना की जाये।

प्रारम्भ में राष्ट्र संघ ने कई महत्वपूर्ण कार्य किये, मगर बाद में यह अपने उद्देश्य में सफल न हो सका। विश्व की महाशक्तियों ने अपने स्वार्थों के चलते इसकी अनदेखी की और यह असफल हुआ। इस सबकी विस्तृत विवेचना आगे की जायेगी।

2.3.1 राष्ट्रसंघ के उद्देश्य एवं कार्य प्रणाली

22 जनवरी, 1917ई. को अमेरिका के राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने अमेरिकी सीनेट में भाषण देते हुए 'World League of Peace' की विचारधारा को प्रस्तुत किया था। 8 जनवरी,

टिप्पणी

1918 को जब उन्होंने प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति हेतु अपना 14 सूत्रीय कार्यक्रम प्रस्तुत किया तो उसके अन्तिम 14वें सूत्र में राष्ट्रसंघ की स्थापना पर जोर दिया गया था। इसी पृष्ठभूमि के चलते 10 जनवरी, 1920ई. को राष्ट्र संघ की स्थापना हुई। इस समय उसके सदस्य देशों की संख्या 26 थी।

राष्ट्र संघ के प्रमुख उद्देश्य निम्नलिखित थे–

1. अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग हेतु विश्व के सभी राष्ट्रों को प्रोत्साहित करना, ताकि भविष्य में युद्ध की विभीषिका से बचा जा सके।
2. अन्तर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा की स्थापना।
3. विभिन्न देशों के आपसी विवादों को शांतिपूर्वक सुलझाना।
4. युद्ध के विनाश को रोकने हेतु विश्व के देशों को निःशस्त्रीकरण हेतु तैयार करना।
5. विश्व के देशों को अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का पालन करने हेतु तैयार करना। सभी संधियों एवं समझौतों को ईमानदारीपूर्वक लागू करने हेतु देशों को सहमत करना।
6. यथास्थिति (Status Quo) बनाये रखने का प्रयास करना।
7. अल्प संख्यकों (Minorities) के हितों की सुरक्षा करना। स्वतंत्र नगर डेंफिग एवं सार घाटों के शासन प्रबंध को देखना। मैन्डेट प्रणाली (Mandat System) पर नियन्त्रण रखना।
8. पेरिस शांति सम्मेलन में सम्पन्न की गई संधियों के निर्णयों को लागू करना।

राष्ट्रसंघ का संगठन

राष्ट्रसंघ के संगठन के अंतर्गत प्रमुख अंग निम्नलिखित थे–

1. **साधारण सभा**– राष्ट्रसंघ के सभी राष्ट्र साधारण सभा के सदस्य थे। प्रत्येक राष्ट्र अपने तीन प्रतिनिधि इसमें भेज सकता था। जेनेवा में प्रतिवर्ष इसका सम्मेलन होता था। किसी भी निर्णय पर प्रत्येक राष्ट्र को एक मत देने का अधिकार था। साधारण सभा की छह समितियां थीं। आवश्यकता पड़ने पर राष्ट्रसंघ का विशेष अधिवेशन भी होता था।

   साधारण सभा के प्रमुख कार्य निम्न थे–

   (i) नवीन सदस्यों को चुनना।

   (ii) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के लिये न्यायाधीश चुनना।

   (iii) मुख्य सचिव मनोनीत करना।

   (iv) कानून बनाना एवं उनमें संशोधन करना।

   (v) राष्ट्रसंघ की अन्य संस्थाओं के कार्यों की निगरानी करना।

2. **परिषद्**– राष्ट्रसंघ की परिषद् में पांच स्थायी एवं चार अस्थायी सदस्य थे। 1934ई. तक अस्थायी सदस्यों की संख्या बढ़कर 11 हो गई थी। परिषद् एक शक्ति सम्पन्न संस्था थी। इसका अधिवेशन वर्ष में तीन बार होता था।

साधारण सभा की तरह आवश्यकता पड़ने पर इसकी भी विशेष बैठक बुलाई जा सकती थी। परिषद् के प्रमुख कार्य निम्नानुसार थे–

(i) विश्व शांति से संबंधित किसी भी समस्या पर विचार–विमर्श करना।

(ii) साधारण सभा द्वारा किये गये फैसलों को कार्यरूप देना।

(iii) मुख्य सचिव मनोनीत करना।

(iv) मुख्य सचिव के अधीन नियुक्त अन्य अधिकारियों की नियुक्ति की पुष्टि करना।

(v) बाह्य आक्रमणों से सदस्य राष्ट्रों की प्रादेशिक अखण्डता की रक्षा करना। परिषद् को राष्ट्रसंघ की कार्यपालिका कहा जा सकता है।

टिप्पणी

3. **अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय**– अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर विभिन्न देशों के मध्य के पारस्परिक झगड़ों को निपटाने एवं विश्व शांति की स्थापना के उद्देश्य से एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की स्थापना की गई। इसमें कुल 15 न्यायाधीश थे। इसका मुख्यालय हेग (Hague) में रखा गया। 1922 से 1944 के मध्य अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय ने 32 फैसले दिये।

4. **अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन**– मजदूर हितों की रक्षा के लिए अन्तर्राष्ट्रीय मजदूर संगठन की स्थापना की गई। इसके प्रमुख उद्देश्य निम्न थे–

- विश्व के श्रमिकों को संतुष्ट करना।
- मजदूरों की दशा सुधारने के प्रयास करना।
- मजदूरों को आर्थिक सुरक्षा प्रदान करना।
- उत्पादन की नीतियां निर्धारित करते समय श्रमिकों की राय लेना।
- श्रमिकों के परिवार के कल्याणार्थ योजनाएं निर्मित करना।

ILO का मुख्यालय जेनेवा (Geneva) में रखा गया। 1939ई. तक 57 राष्ट्रों ने इसकी सदस्यता प्राप्त की। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् संयुक्त राष्ट्र संघ ने इसे अपना लिया।

5. **स्थायी सचिवालय**– सचिवालय का प्रमुख महासचिव (Secretary General) कहलाता है। सचिवालय का कार्यालय जेनेवा (Geneva) में था। सचिवालय के प्रमुख कार्य निम्न थे–

(i) राष्ट्रसंघ की कार्यवाही को लेखाबद्ध करना।

(ii) राष्ट्रसंघ हेतु आवश्यकतानुसार सूचनाएं उपलब्ध करना।

(iii) सभी प्रकार के पत्र व्यवहार करना।

राष्ट्रसंघ की असफलता के कारण

राष्ट्रसंघ की स्थापना विश्व इतिहास की एक महत्वपूर्ण व युगान्तरकारी घटना थी। 8 जनवरी, 1918 ई. की अमेरिकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन की घोषणा के अनुरूप 14 फरवरी, 1919 ई. को राष्ट्रसंघ आयोग ने राष्ट्रसंघ का अंतिम प्रारूप तैयार किया। 10 जनवरी, 1920 ई. को राष्ट्रसंघ वैधानिक रूप से अस्तित्व में आ गया।

टिप्पणी

किसी साम्राज्य के उत्थान एवं पतन की भांति ही राष्ट्रसंघ का भी उत्थान एवं पतन निम्न ग्राफ द्वारा देखा जा सकता है–

इस ग्राफ द्वारा इतिहासकार E.H. कार महोदय के इस कथन की पुष्टि होती है कि 1924 ई. से 1930 ई. की अवधि में राष्ट्रसंघ अपनी प्रतिष्ठा के सर्वोच्च शिखर पर था। उसके बाद राष्ट्रसंघ का पतन आरम्भ हो गया।

'जहां विलना विवाद ने राष्ट्रसंघ की विवशता को जगजाहिर किया, वहीं मंचूरिया संकट राष्ट्रसंघ की दुर्बलता का द्योतक बना। इसके बाद कोर्फू विवाद ने राष्ट्रसंघ को पूर्णतः नपुंसक की श्रेणी में ला खड़ा किया। रूस फिनलैण्ड युद्ध एवं हिटलर के अभियानों ने राष्ट्रसंघ की अन्त्येष्टि क्रिया सम्पन्न की।'

राष्ट्रसंघ की असफलता के लिए कोई एक कारण जिम्मेदार न होकर अनेक कारणों की शृंखला जिम्मेदार थी। ये कारण अग्रानुसार हैं–

1. **अमेरिका का राष्ट्रसंघ में सम्मिलित न होना**– राष्ट्रसंघ की असफलता का सर्वप्रमुख कारण यह भी था कि इसका जन्मदाता अमेरिका ही इसका सदस्य नहीं बना। अमेरिका के पृथक रहने से राष्ट्रसंघ का स्वरूप भू–मण्डलीय न होकर मात्र एक गोलार्द्ध तक सीमित रह गया। इस तारतम्य में गैथॉन हार्डी ने उचित ही लिखा है– "एक बालक यूरोप के दरवाजे पर अनाथ की भांति छोड़ दिया गया, जिसके चेहरे–मोहरे से अमेरिकन पैतृकता स्पष्टतः परिलक्षित होती थी।"
2. **राष्ट्रसंघ की संवैधानिक दुर्बलता**– राष्ट्रसंघ के संविधान में कुछ ऐसे मूलभूत दोष थे जिनके कारण सफलता प्रारम्भ से ही संदिग्ध थी। अनुच्छेद की 12वीं धारा कहती थी कि सदस्यों को तब तक युद्ध नहीं करना चाहिए जब तक कि विवाचकों के निर्णय को 3 माह न हो जायें, धारा 13 का अनुच्छेद 4 कहता था कि ''सदस्य देश संघ के उस सदस्य के विरुद्ध युद्ध नहीं करेंगे, जो झगड़े के अदालती निर्णय का अनुपालन करता है।'' संघ की प्रसंविदा के विभिन्न सिद्धांतों – राष्ट्रीय प्रभुसत्ता एवं तृतीय पक्ष के निर्णय का समन्वय करने का प्रयास किया गया। यह प्रयास हानिकारक सिद्ध हुआ। ऐसे कई संवैधानिक दोषों के कारण राष्ट्रसंघ की शक्ति कम हुई।

   प्रोफेसर डन ने उक्त संवैधानिक दोषों को देखकर कहा था कि धारा 19 'आरम्भ से ही मृतक पत्र है।'
3. **राष्ट्रसंघ के सिद्धांतों में अविश्वास**– राष्ट्रसंघ की प्रसंविदा के वैधानिक दोषों से प्रायः राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य परिचित थे। फ्रांस को राष्ट्रसंघ में विश्वास नहीं था। इसके विपरीत जॉन व्हिटेकर ने कहा था कि 'राष्ट्रसंघ फ्रांस विदेश मंत्रालय की शाखा जैसा था।' उधर इंग्लैण्ड को भी राष्ट्रसंघ में विश्वास न था, ऐसी स्थिति में राष्ट्रसंघ की सफलता असंदिग्ध ही थी। जर्मनी इसे विजेता राष्ट्रों का संघ कहता था। इटली इसे संतुष्ट राष्ट्रों का संघ कहता था। लेनिन ने पूंजीवादी देशों का हथियार कहा।
4. **वर्साय की संधि पर आधारित होना**– पेरिस शांति सम्मेलन में ही वर्साय इत्यादि शांति सन्धियां हुईं एवं इसी सम्मेलन में राष्ट्रसंघ स्थापित हुआ। जिन

टिप्पणी

देशों के मन में शांति संधियों के विरुद्ध घृणा व्याप्त हो, 'वे लोग' राष्ट्रसंघ से भी कोई लगाव नहीं रखते थे। वे लोग राष्ट्रसंघ को बड़े राष्ट्रों की कठपुतली मानते थे। राष्ट्रसंघ का जन्म वर्साय की संधि के समय हुआ था। इसीलिये नार्मन वेंटविच ने लिखा था– 'राष्ट्रसंघ एक बदनाम मां की बदनाम पुत्री थी।' ('League of Nations was the dishonourable daughter of a disreputed mother.')

5. **राष्ट्रसंघ के पास सैन्य शक्ति का अभाव**– राष्ट्रसंघ के पास अपनी कोई सेना नहीं थी। किसी भी विवाद के समय, आक्रामक कार्यवाही करने वाले देश को दण्डित करने के लिये राष्ट्रसंघ के पास कोई सैन्य शक्ति नहीं थी। राष्ट्रसंघ के विधान के अनुसार कोई भी राष्ट्र इसकी सदस्यता कभी भी त्याग सकता था। जब तक राष्ट्रों के स्वार्थ, राष्ट्रसंघ से जुड़े थे तब तक वे उसके सदस्य बने रहे, जैसे ही राष्ट्रसंघ उनके स्वार्थों में आड़े आया, उन राष्ट्रों ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता त्याग दी। वस्तुतः राष्ट्रसंघ के पास सैन्य शक्ति का अभाव भी राष्ट्रसंघ की असफलता का कारण बना।

6. **राष्ट्रसंघ गुटबंदी का अखाड़ा बना**– राष्ट्रसंघ की स्थापना का मूल उद्देश्य विश्वशांति की स्थापना करना था। विश्वशांति की स्थापना तभी संभव थी जब तक कि प्रत्येक राष्ट्र विश्वशांति हेतु प्रतिबद्ध न हो। यदि बड़े राष्ट्र वास्तव में विश्वशांति हेतु प्रतिबद्ध होते, तो जर्मनी पर वर्साय जैसी अपमानजनक संधि कदापि न थोपते। बड़े राष्ट्रों ने राष्ट्रसंघ की आड़ में अपने स्वार्थ साधे और राष्ट्रसंघ को अपनी गुटबंदी का अखाड़ा बनाया। गुटबंदी के कारण ही राष्ट्रसंघ कई विवादों को हल न कर सका।

7. **अधिनायकों का उदय**– 1919 ई. के पेरिस शांति सम्मेलन में दो विरोधाभासी निर्णय लिये गये। एक ओर तो वर्साय जैसी प्रतिशोधात्मक संधि जर्मनी पर लादी गई, दूसरी ओर विश्वशांति की स्थापना के प्रयासार्थ राष्ट्रसंघ की स्थापना की गई। शांति सम्मेलन के कर्ता–धर्ताओं ने बीज तो बबूल के बोये और आशा कर रहे थे कि उसके पेड़ पर आम के फल लगेंगे। यह सम्भव न था। 1930 में यह बीज, बबूल का पेड़ बना। राष्ट्रसंघ लाचार की तरह इस बबूल के पेड़ में उगने वाले कांटों को देखता रहा। जर्मनी एवं इटली में अधिनायकवाद का उदय पेरिस शांति सम्मेलन की नीतियों का ही परिणाम था। जर्मनी, इटली, स्पेन, जापान में अन्ततः अधिनायकवाद का उदय हुआ। ये अधिनायक राष्ट्रसंघ की अनदेखी कर विभिन्न देशों पर आक्रमण व अधिकार करते रहे। राष्ट्रसंघ की असफलता जग जाहिर हो गई।

8. **आर्थिक मंदी**– 1929 ई. में आयी आर्थिक मंदी से रूस अप्रभावित रहा था। रूस के अलावा पूंजीवादी देश इस मंदी से प्रभावित रहे। अतः पूंजीवादी राष्ट्रों ब्रिटेन एवं फ्रांस आदि ने रूसी साम्यवाद के भय को रोकने के लिए अधिनायकवादी शक्तियों के प्रति तुष्टीकरण की नीति अपनायी। इस राजनीतिक दांव–पेंच के चलते राष्ट्रसंघ मूकदर्शक बना देखता रहा।

राष्ट्रसंघ की असफलता के महत्वपूर्ण कारणों में अमेरिका व रूस का इससे अलग रहना था। पेरिस शांति सम्मेलन में रूस का बहिष्कार किया गया था। अमेरिका

टिप्पणी

तो राष्ट्रसंघ का सदस्य बना ही नहीं और रूस को राष्ट्रसंघ से बाहर रखा गया। इन दो महाशक्तियों की गैर मौजूदगी के कारण भी राष्ट्रसंघ असफल रहा। हिटलर एवं मुसोलिनी छोटे–छोटे देशों पर आक्रमण करते रहे। इन्होंने ब्रिटेन व फ्रांस को समझाया कि वे रूस साम्यवाद के प्रसार को रोकने के लिये ऐसा कर रहे हैं। इस तरह ब्रिटेन व फ्रांस ने इन अधिनायकवादी शक्तियों के प्रति तुष्टीकरण की नीति अपनाई। राष्ट्रसंघ इस राजनीतिक दांव–पेच के बीच फंस कर रह गया। राष्ट्रसंघ के पास सैन्य शक्ति का अभाव भी उसकी असफलता के लिये एक सीमा तक उत्तरदायी था।

राष्ट्रसंघ के पास सैन्य शक्ति का अभाव भी उसकी असफलता के लिये एक सीमा तक उत्तरदायी था। राष्ट्रसंघ की असफलता का निष्कर्ष शूमा ने इन शब्दों में प्रस्तुत किया है–

'संघ की सफलता के लिये आवश्यक था कि सदस्य राज्यों में इसके प्रति निष्ठा, बुद्धिमत्ता और साहस होता, किन्तु इनका अभाव था। यही कारण था कि जेनेवा की झील के तट पर एरियाना पार्क में निर्मित उसका भव्य महल शीघ्र ही उसका सुन्दर समाधि स्थल बन गया।'

2.3.2 सामूहिक सुरक्षा

प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्ध के दुष्प्रभावों को देखते हुए विश्वभर में सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा उत्पन्न हुई। सभी राष्ट्रों की सुरक्षा तथा विश्व शांति हेतु अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में सामूहिक सुरक्षा का महत्व अनुभव किया गया। इस विषय में संयुक्त राष्ट्र संघ ने विभिन्न प्रावधानों को प्रस्तुत किया। यद्यपि शक्तिशाली राष्ट्रों की शक्ति इन प्रावधानों से भी ऊपर थी लेकिन अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कुछ हद तक शक्ति पर अंकुश लगाना संभव हुआ है। यूएन चार्टर के प्रमुख प्रावधान इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं।

विश्व में युद्धों को रोकने के लिए सामूहिक सुरक्षा को एक कारगर माध्यम माना गया है। इसकी सटीक परिभाषा दें तो इसका अर्थ है एक के लिए सब और सबके लिए एक। यानी किसी भी राष्ट्र की शांति व सुरक्षा हेतु सभी सामूहिक कार्यवाही करने को तैयार रहेंगे। इसमें सर्वप्रथम बात यह है कि सामूहिक सुरक्षा पर्याप्त मात्रा में होनी चाहिए ताकि आक्रमणकारी युद्ध न कर सके और यदि करें तो भी उसे पराजय का मुंह देखना पड़े। सामूहिक सुरक्षा के सफल प्रबंध के लिए सम्बद्ध राष्ट्रों को अपने विरोधी विचारों से मुक्ति पानी होगी। सभी राष्ट्रों में सामूहिक सुरक्षा संबंधित कार्यवाही हेतु परस्पर विरोधी विचारों से स्वयं को अलग रखना होगा। सम्बद्ध सभी राष्ट्रों की इसमें पूरी आस्था होनी चाहिए। सभी राष्ट्र सामूहिक सुरक्षा से अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में यथास्थिति बनाए रखने के पक्षधर होते हैं।

विशेषताएं

इसकी विशेषताएं ''एक के लिए सब और सबसे लिए एक'' के सिद्धांत पर आधारित हैं।

- सभी मतभेदों को शांति पूर्ण तरीकों द्वारा हल किया जाता है। बल का प्रयोग अंतिम विकल्प के रूप में किया जाता है।

टिप्पणी

- सामूहिक सुरक्षा शांति को अखंडनीय एवं अविच्छिन्न मानती है।
- शक्ति प्रयोग को भंग करने वालों के प्रति निवारक के रूप में होता है।
- सुरक्षा सभी राष्ट्रों के लिए उसकी सर्वोपरि प्राथमिकता है।
- सभी राष्ट्रों का सहयोग आवश्यक है।
- अंतर्राष्ट्रीय राजनीति शांति को यथाशक्ति बनाए रखने का प्रयास किया जाता है।

राष्ट्रसंघ व सामूहिक सुरक्षा

राष्ट्रसंघ के संविदा के अनुच्छेद 10-16 के अंतर्गत निम्न बातों का वर्णन किया गया है–

- सभी सदस्यों की प्रादेशिक एवं राजनीतिक स्वतंत्रता के सम्मान के खतरे की स्थिति में परिषद् उचित कार्यवाही के लिए कदम उठा सकती है।
- विवादों को न्यायिक प्रक्रिया द्वारा हल करने के प्रयास किए जाएंगे परंतु कम से कम 90 दिनों तक राज्यों को युद्ध का अधिकार न होगा।
- जब अन्य तरीकों से समस्या हल न हुई तो परिषद् सामूहिक सुरक्षा हेतु उपयुक्त कदम उठा सकती है।

उद्देश्य अच्छा होते हुए भी अमेरिका द्वारा राष्ट्र संघ का सदस्य न बनना, जर्मनी व फ्रांस के मतभेद वहीं रहना, सोवियत संघ का संगठन से बाहर रहना, परिषद् की सदस्यता बदलते रहना। जापान, जर्मनी, इटली द्वारा इसकी खुली अवमानना इसकी विफलता के कारण हैं। अत: सामूहिक सुरक्षा के विकास व इसे लागू करने के संदर्भ में राष्ट्र संघ पूर्व रूप से दुविधाग्रस्त था तथा प्रारंभ से ही शक्तिहीन रहा।

संयुक्त राष्ट्र संघ व सामूहिक सुरक्षा

सम्पूर्ण चार्टर में सामूहिक सुरक्षा का प्रयोग नहीं किया गया है, परंतु अध्याय-7 में संयुक्त कार्यवाही ही सामूहिक सुरक्षा का स्वरूप है।

संयुक्त राष्ट्र चार्टर में इसके उद्देश्यों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि अंतर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा हेतु संयुक्त राष्ट्र सामूहिक कार्यवाही करेगी। 1950 में कोरिया में संकट के समय महासभा द्वारा शांति के लिए एकता प्रस्ताव के माध्यम से यह व्यवस्था की गई कि अंतर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा के खतरे की आंशका होने पर सुरक्षा परिषद् कोई कार्यवाही नहीं करता है तो महासभा संयुक्त राष्ट्रसंघ को कार्यवाही हेतु कह सकती है।

इसमें दण्डात्मक कार्यवाही की भी व्याख्या की गई है कि आक्रमणकारी राज्य विश्व शांति के लिए खतरा न बने। अनुच्छेद 42 में घेराबंदी की व्यवस्था की गई है। इस प्रकार अन्य सभी कार्यवाहियों की विफलता के बाद युद्ध की कार्यवाही को स्वीकृत किया गया है।

मूल्यांकन

सैद्धांतिक रूप से इसकी सफलता के संदर्भ में कई प्रश्न उठाए गए हैं। क्या सभी राष्ट्र आक्रमणकारी को पहचानते हैं? क्या आक्रमण को रोकने के लिए सभी पूर्ण रूप से इच्छुक

टिप्पणी

हैं? क्या सामूहिक समूह आक्रमणकारी से अधिक शक्तिशाली है? क्या विश्वशांति शक्ति विस्तार से संभव है? क्या सभी देश राष्ट्रहितों को भुलाकर एकजुट हो सकेंगे? आदि।

व्यावहारिक रूप से देखें तो भी शीत युद्ध और उत्तर शीत युद्ध कालों में भी सामूहिक सुरक्षा की अवहेलना हुई है।

वास्तविकता तो यह है कि शीत युद्धोतर युग में अमेरिका के एकमात्र शक्ति होने के कारण उसकी किसी भी कार्यवाही को रोक पाना असंभव है। अत: अमेरिका द्वारा किए गए सभी आक्रमण उचित माने जाएंगे।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि सिद्धांत और व्यवहार दोनों ही परिस्थितियों में अब सामूहिक सुरक्षा के आधार पर शक्ति पर अंकुश लगाना कठिन है। शीत युद्ध काल में भी यह बात सही थी और शीत युद्ध के बाद के काल में भी यह बात सही है। इसके साथ-साथ परमाणु, जैविक और रासायनिक हथियारों के संदर्भ में भी युद्धों को रोकना कठिन होता जा रहा है। अत: इस सिद्धांत हेतु शक्ति पर सीमाएं लगाना कारगर नहीं रहा।

अंतर्राष्ट्रीय कानून

अंतर्राष्ट्रीय कानून को परिभाषित करते हुए जे. जी. स्टार्क कहते हैं कि यह एक ऐसे कानून का समूह है जिसके अधिकांश भाग का निर्माण सिद्धांतों और आचरण के नियमों से हुआ है जिसके संबंध में राज्य यह अनुभव करते हैं कि वे उसका पालन करने को बाध्य हैं। ओपनहाइम का मानना है कि अंतर्राष्ट्रीय कानून उन परंपरागत एवं परस्पर समझौतों से निर्मित अभिसमयात्मक नियमों का ऐसा संग्रह है जिन्हें सभ्य राष्ट्र अपने व्यवहार में पालने योग्य समझते हैं।

एक और विद्वान ह्यूज भी कुछ ऐसी ही बातों पर जोर देते हुए लिखते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय कानून ऐसे सिद्धांतों का समूह है जिनको सभ्य राष्ट्र पारस्परिक व्यवहार में प्रयोग करना बाध्यकारी समझते हैं। यह कानून प्रभुसत्ता संपन्न राष्ट्रों की स्वीकृति पर निर्भर रहता है।

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि यह एक तरफ जहां राष्ट्रों, अंतर्राष्ट्रीय संगठनों, उनसे जुड़े व्यक्तियों, राष्ट्रोपरि संस्थाओं आदि सभी के अध्ययन का समावेश कर रहा है वहीं दूसरी ओर विश्व समुदाय के लिए बाध्यकारी संहिता का हिस्सा बनता जा रहा है।

शक्ति संघर्ष को कम करने तथा अराजकता की स्थिति को दूर करने हेतु कुछ ऐसे नियमों की व्यवस्था अनिवार्य हो गई है। परमाणु, जैविक और सामयिक हथियारों के विकास के दौर में राज्यों के मध्य समन्वय पैदा करना अनिवार्य नहीं अपितु विवशता बन गई है।

कुछ लोग हैं जो इसे कानून मानने को तैयार नहीं। इनका तर्क है कि इनके पीछे बाध्यकारी शक्ति नहीं होती, यह संप्रभु का आदेश नहीं है। इसको बनाने वाले विधानमंडल का अभाव है। इसकी व्याख्या करने वाली न्यायपालिका जैसी संस्था नहीं है। इसकी संहिता का अभाव है।

लेकिन इसे कानून मानने के पक्षधरों की दलीलें इस प्रकार हैं, नैतिकता के नियम ज्यादा प्रभावी होते हैं। कानून को न मानने का मतलब इसके अस्तित्व को नकारना नहीं है। सभी राष्ट्र व्यवहार में इसका पालन करते हैं इसके निर्माण की संस्थाएं (संयुक्त राष्ट्र) उपलब्ध हैं, अंतर्राष्ट्रीय न्यायपालिका भी है।

टिप्पणी

इस प्रकार भले ही इसका विषय क्षेत्र, अध्ययन पद्धति, कानून निर्माण व्यवस्था आदि राष्ट्रीय कानूनों के समकक्ष न हों तो भी अंतर्राष्ट्रीय कानून के इस अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता।

अंतर्राष्ट्रीय कानून बेशक कमजोर है पर शक्ति पर अंकुश रखने में कई प्रकार की भूमिका निभाता है।

राज्य कानूनों का पालन इसलिए करते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में अराजकता न पनपे। बढ़ते अंतर्राष्ट्रीय खतरों को देखते हुए यह शक्ति पर अंकुश रखता है। अंतर्राष्ट्रीय कानून का उल्लंघन करने वाला अपने को विश्व जनमत के विरुद्ध पाता है। अंतर्राष्ट्रीय कानून के आधार पर राज्यों के विरुद्ध कार्यवाही भी हो सकती है। समय-समय पर अंतर्राष्ट्रीय संधि व समझौतों पर हस्ताक्षर किए जाते हैं और इनका उल्लंघन करने वालों पर दण्डात्मक कार्यवाही की जाती है। इसलिए कोई भी राज्य यह जोखिम नहीं उठाना चाहता।

अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता

अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता से अभिप्राय है कि राष्ट्र के उन कुछ मूल्यों का पालन करते हुए विश्व में वही कार्य करना जो करने योग्य हो। दरअसल व्यक्ति की नैतिकता और राष्ट्र की नैतिकता दोनों अलग-अलग होती हैं। कह सकते हैं कि अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता उन मानदण्डों तथा मूल्यों का संग्रह है जिसका दूसरे राष्ट्रों से व्यवहार करते समय पालन करना राष्ट्र एवं अंतर्राष्ट्रीय समुदाय अपरिहार्य समझता है।

विद्वानों का मत यह भी है कि विभिन्न बाध्यताओं के बावजूद भी अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता का अस्तित्व बना रहता है।

अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ में विवादों के समाधान हेतु युद्ध के विकल्प को नकारा गया है। समस्याओं को राजनयिक रूप से सुलझाने के प्रयास रहते हैं। यदि कभी युद्ध करना भी पड़े तो अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता का समर्थन लेना अनिवार्य है।

प्रत्येक राष्ट्र यह समझता है कि उसे तब तक विश्व जनमत का समर्थन नहीं हो सकता जब तक वह उसे अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता हेतु सही न सिद्ध कर दे।

वर्तमान में शस्त्रों के आधुनिकतम स्वरूप से युद्ध केवल दो के बीच सीमित न रहकर संपूर्ण मानवता के विनाश तक जा पंहुचते हैं। ऐसा न हो इसके लिए आज नैतिकता के दायरे में ही संयोजन करना महत्वपूर्ण हो गया है।

राजनीतिक, महा या सामरिक हर दृष्टि से एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से आगे निकलकर खुद को सर्वोच्च स्थान पर देखना चाहता है। सभी राष्ट्र शक्ति संचय की दृष्टि से अधिक से अधिक शक्तिशाली बनने की कोशिश करते हैं। ऐसी स्थिति में अंतर्राष्ट्रीय कानून एवं नैतिकता के द्वारा ही विश्व व्यवस्था को सुनिश्चित व सुव्ययस्थित ढंग से रखा जा सकता है।

विश्व जनमत

मारगेन्थाऊ का मानना है कि विश्व जनमत राष्ट्रोपरि होता है तथा विभिन्न राष्ट्रों के सदस्यों को कुछ मूल अंतर्राष्ट्रीय मामलों में सर्वसम्मति से एकीकृत करता है।

दरअसल यह बात ज्यादा स्पष्ट अभिव्यक्ति नहीं देती। अलग-अलग राष्ट्रों द्वारा जनमत की अभिव्यक्ति अपने राष्ट्रहितों के द्वारा प्रभावित होती है। इसलिए कई विषयों पर एक राष्ट्र

एक प्रकार की राय देता है तो दूसरा राष्ट्र ठीक इसके विपरीत। ऐसे में सत्य क्या है भ्रामक है। इसलिए कई विषयों पर जनमत संगठित हो जाता है तो कई अन्य विषयों पर ऐसा नहीं हो पाता।

टिप्पणी

मारगेन्थाऊ इसके कारण मानते हैं। विश्व में मनोवैज्ञानिक एकता का अभाव है। स्वतंत्रता, शांति और व्यवस्था–ये तीनों बातें विश्व जनमत का मूल आधार हैं और जनमत का प्रतीक भी। नैतिक और राजनीतिक मूल्यांकनों में दृष्टिकोण और राय अलग-अलग है इस कारण एक समान विश्व जनमत तैयार नहीं हो पाता।

विश्व में औद्योगीकरण के बाद भी एकीकरण की आशंका बनी रहती है। विकास के बावजूद भी व्यापारिक हित इतने सशक्त हो जाते हैं कि राज्यों के अंदर एक सहमति विकसित नहीं हो पाती।

राज्यों के बहुआयामी विकास के बाद भी राष्ट्रीय हित ही सर्वोत्तम समझे जाते हैं इस कारण भी विश्व जनमत के निर्माण में व्यवधान पड़ता है।

अपनी प्रगति जांचिए

4. राष्ट्रसंघ की स्थापना कब हुई?

   (क) 10 जनवरी, 1919 (ख) 10 जनवरी, 1920

   (ग) 10 जनवरी, 1922 (घ) 10 जनवरी, 1925

5. राष्ट्रसंघ की परिषद में सन् 1934 ई. तक अस्थायी सदस्यों की संख्या कितनी हो गई थी?

   (क) 5 (ख) 7

   (ग) 9 (घ) 11

6. अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय का मुख्यालय कहां पर स्थित है?

   (क) जेनेवा (ख) स्विटजरलैंड

   (ग) हेग (घ) वाशिंगटन

2.4 पूंजीवाद में संकट : महामंदी, युद्ध क्षतिपूर्ति और निःशस्त्रीकरण की समस्या

यूरोप प्रथम महायुद्ध से उत्पन्न महा कठिनाइयों पर विजय 1929 ई. तक पा चुका था। लगभग सभी देशों का बजट संतुलित हो गया था, उनकी मुद्रा भी संतुलित हो गई थी और कारखानों में उत्पाद भी बढ़ने लगा था। रूस भी क्रांतिजन्य भीषण कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर अपने नव-निर्माण की योजनाओं को कार्यान्वित करने में जुटा हुआ था। जर्मनी फिर से अपने पैरों पर खड़ा हो गया था। इस समय सर्वत्र आशावादी वातावरण बना हुआ था और जैसा कि सर आर्थर साल्टर ने कहा था, ''संसार की दशा पहले से बहुत अच्छी थी और वह अभूतपूर्व गति से समृद्धि की ओर बढ़ता जा रहा था जिसकी पहले कल्पना भी नहीं की जा सकती थी।'' परंतु यह सब ऊपरी चमक-दमक थी।

पूंजीवाद में संकट

टिप्पणी

अक्टूबर, 1929 में संसार की परिस्थिति अचानक बदल गई। संयुक्त राज्य अमेरिका के शेयर बाजार में इतनी जोरदार गिरावट आरंभ हुई कि उसके परिणामस्वरूप सभी वस्तुओं की कीमतें भी तेजी के साथ गिरने लगीं। सभी देशों में मुद्रा का मूल्य भी गिरने लगा। बैंकों के लिए रुपया अदा करना कठिन हो गया। अनेक बैंक दिवालिए हो गए; बहुत से उद्योग-धंधे बंद हो गए और लाखों मजदूर बेकार हो गए। बड़े-बड़े गोदामों में सामान भरा पड़ा था परंतु ग्राहकों का भारी अभाव था। लोगों को सभी प्रकार के सामान की आवश्यकता थी परंतु उनके पास पैसा नहीं था। जनता की दयनीय महा स्थिति के कारण सरकारें पूरे कर भी वसूल न कर पाती थीं जिससे उनकी आय में भारी कमी आती गई और बजट असंतुलित होते गए। कनाडा के खेतों में अनाज तथा ब्राजील के खेतों में कहवा की उपज जलाई जाने लगी। इस भयंकर महा संकट ने संसार का व्यापार भी आधा कर दिया। यह भीषण महामंदी जो 1929 में शुरू हुई थी, 1931 में चरम सीमा पर जा पहुंची और काफी उपचार के बाद भी 1934 तक उसका प्रभाव बना रहा। यह एक अभूतपूर्व घटना थी जिसने समूचे विश्व को विशेष कर पश्चिमी संसार को बुरी तरह से डस लिया था।

पूंजीवाद संकट के कारण– पूंजीवाद संकट के कारणों के विषय में भिन्न-भिन्न अर्थशास्त्रियों के विभिन्न मतों की विभिन्नता के कारण उत्तरदायी कारणों का सही विश्लेषण करना कठिन कार्य है। कुछ प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं–

1. **महायुद्ध से उत्पन्न परिस्थितियां–** कुछ विद्वानों के अनुसार महा संकट का एक कारण प्रथम विश्व युद्ध से उत्पन्न परिस्थितियां हैं। इन लोगों का तर्क है कि इससे पूर्व लड़े गए युद्धों–नेपोलियन के युद्ध, अमेरिका का गृह-युद्ध और फ्रेंकों-प्रशियन युद्ध के बाद भी महा संकट आया था। इसी प्रकार, प्रथम महायुद्ध की समाप्ति के बाद भी ऐसा होना स्वाभाविक ही था। इसका कारण बताते हुए जे.बी. कांडलिफ ने लिखा है, ''युद्ध के समय सैनिक सामग्री की मांग बढ़ जाने से उद्योगों का विस्तार होता है, बहुत से लोग सेना में भर्ती हो जाते हैं, अत: मजदूरी की दर, रोजगार तथा मुनाफे में वृद्धि होती है। युद्ध की समाप्ति के बाद कुछ समय तक यह वृद्धि बनी रहती है; किंतु उसके बाद मंदी आ जाती है।'' प्रथम महायुद्ध का स्वरूप जितना भयंकर था, उसी अनुपात में महामंदी ने भी सारे संसार को हतप्रभ कर दिया।
2. **क्षतिपूर्ति और युद्ध-ऋण–** क्षतिपूर्ति और युद्ध ऋणों की समस्याओं ने भी महा संकट को आहूत करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। यूरोप के मित्र राष्ट्रों को जर्मनी से क्षतिपूर्ति प्राप्त होने की आशा थी। अब यह आशा निराशा में बदल गई तो उन्होंने युद्ध-ऋण चुकाने में असमर्थता प्रकट की। तब अमेरिका ने उनको महा सहायता देना बंद कर दिया। परिणाम यह निकला कि सभी का व्यापार-वाणिज्य कम हो गया और सभी की अर्थव्यवस्था लड़खड़ाने लग गई जिससे कोई राष्ट्र महा संकट की भीषणता का यथाशीघ्र उपचार न कर सका।
3. **कृषि एवं उद्योगों का यंत्रीकरण–** कुछ अर्थशास्त्रियों के मतानुसार कृषि-उपज एवं औद्योगिक वस्तुओं का आवश्यकता से अधिक उत्पादन महा संकट का एक मुख्य कारण था। युद्धकाल में बढ़ती हुई मांग को पूरा करने के लिए कृषि

टिप्पणी

औद्योगिक क्षेत्र में उत्पादन को अधिक-से-अधिक बढ़ाने की दृष्टि से यंत्रों का अधिक-से-अधिक प्रयोग किया जाने लगा। इसमें कोई संदेह नहीं कि नये प्रकार के यंत्रों के प्रयोग तथा वैज्ञानिकीकरण से उत्पादन में अभूतपूर्व वृद्धि हुई। इस संबंध में विलियम ग्रीन ने लिखा है कि 1919 में श्रमिक जिस काम को 52 घंटों में करता था, अब 1930 में वह उसी काम को 30 घंटों में करने लगा। परंतु इससे बेकारी बढ़ी। बेकारी बढ़ने से उत्पादन के मूल्यों में भी गिरावट आने लगी। यह एक संयोग की बात थी कि औद्योगिक एवं कृषि के क्षेत्र में मंदी ऐसे समय में आई जब कई देशों की महा स्थिति एवं महा क्षमता में भारी कमी आ चुकी थी। अत: वे देश इस महामंदी के शिकार बन गए और उनकी दुर्दशा ने अन्य यूरोपीय देशों को भी प्रभावित किया। इस प्रकार, बढ़ती हुई बेकारी महा संकट का एक कारण बन गई।

4. **उत्पादन की अधिकता और क्रय-शक्ति में गिरावट–** प्रथम विश्व युद्ध के दौरान तथा कुछ वर्षों बाद तक उत्पादन में निरंतर वृद्धि होती गई और दूसरी तरफ बेरोजगारी में भी उतनी ही तेजी से वृद्धि हुई। बेकारी बढ़ने से लोगों, विशेषकर श्रमिकों की क्रय-शक्ति में जबरदस्त गिरावट आई। दूसरी ओर प्रतिस्पर्धा के चक्कर में वस्तुओं का उत्पादन इतनी अधिक मात्रा में हुआ कि सारे गोदाम भर गए। जब तक तैयार माल की खपत न हो तब तक नया उत्पादन संभव नहीं था क्योंकि जो कुछ पूंजी थी, वह उसमें फंस चुकी थी। अत: कारखानों में मजदूरों की छंटनी शुरू हो गई और तैयार माल को मूल्य गिराकर बेचने का प्रयास किया गया जिससे महामंदी की गति को बल मिला। ज्यों-ज्यों क्रय-शक्ति में कमी आती गई त्यों-त्यों महामंदी का स्वरूप भयंकर होता गया। बाजारों तथा गोदामों में सामान भरा पड़ा था, परंतु लोगों के पास खरीदने लायक पैसे न थे।

5. **स्वर्ण की कमी–** अनेक अर्थशास्त्रियों का मत है कि विश्वव्यापी महा संकट का एक मुख्य कारण बहुत से देशों में स्वर्ण की कमी थी। युद्धकाल में अमेरिका ने अपने व्यापार-वाणिज्य से काफी मुनाफा कमाया और उसने अपने बाजारों से सामान खरीदने के लिए मित्र राष्ट्रों को कर्ज भी दिया। इस कर्ज की अदायगी अब सोने के रूप में हो रही थी। वैसे युद्धकाल में बहुत-से देशों ने स्वर्ण मान का परित्याग कर दिया था, परंतु 1923-24 की अवधि में अधिकांश देशों ने स्वर्ण-मान को पुन: अपना लिया था। क्षतिपूर्ति का अधिकांश भाग फ्रांस को प्राप्त हो रहा था और अमेरिका को युद्ध ऋणों का। अत: धीरे-धीरे संसार का 60 प्रतिशत सोना अमेरिका और फ्रांस में जमा हो गया। इससे संसार में सोने की कमी हो गई। सोने की कमी से विभिन्न राज्यों में स्वर्ण सिक्कों का मूल्य बढ़ गया और दूसरी वस्तुओं की कीमतें गिर गईं। इसका अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर घातक प्रभाव पड़ा। लैंगसम का मानना है कि चांदी अत्यधिक परिमाण में होने से चीन तथा भारत जैसे देशों को, जहां सिक्के का आधार सोने की जगह चांदी था, खरीदने की ताकत कम हो गई और सारी कठिनाई की जड़ यही कमी थी। कुछ लोगों ने अति उत्पादन के कारण; चांदी का मूल्य घट जाने को महा संकट के लिए उत्तरदायी माना है। वेन्स का भी मानना है कि चांदी की क्रय-शक्ति काफी कम हो गई जिससे अंतर्राष्ट्रीय व्यापार पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा।

टिप्पणी

6. **महा राष्ट्रीयता–** कुछ लोगों की राय में संकुचित महा राष्ट्रीयता भी इस महा संकट के लिए उत्तरदायी थी। महायुद्ध के पश्चात सभी देशों ने महा राष्ट्रीयता एवं आत्मनिर्भरता का मार्ग अपनाया। इस नीति के पीछे उनका मूल उद्देश्य अपनी-अपनी महा उन्नति करना था और इसके लिए उन्होंने जो कदम उठाए वे अत्यधिक संकीर्ण तथा स्वार्थपूर्ण थे। उन्होंने अपने देश में बाहरी देशों से आने वाले माल पर बड़े-बड़े सीमा-शुल्क लगाए, विदेशों से आयात की मात्रा निश्चित कर दी, विदेशी वस्तुओं के स्थान पर स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग पर जोर दिया, नये-नये अप्रवास नियंत्रण संबंधी कानून लागू किए गए तथा विदेशी राज्यों के विरुद्ध अन्य कई प्रकार से महा पक्षपात की नीति अपनाई। इंग्लैंड जो अभी तक 'मुक्त व्यापार' का समर्थक था, वह भी अपने राष्ट्रीय उद्योगों की सुरक्षा की दृष्टि से संरक्षण की नीति अपनाने लग गया। इसका बुरा प्रभाव उन देशों पर पड़ा जो क्षतिपूर्ति अथवा युद्ध ऋणों की अदायगी कर रहे थे; क्योंकि उन्हें अनुकूल व्यापार-अन्तर की अत्यधिक आवश्यकता थी।

7. **वाल स्ट्रीट संकट–** उपर्युक्त कारणों ने महा संकट की पृष्ठभूमि तैयार कर दी थी। अक्टूबर, 1929 में अमेरिका के प्रसिद्ध शेयर बाजार वाल स्ट्रीट में अचानक शेयरों का मूल्य 50 अरब डालर गिर जाना–इस महा संकट का तात्कालिक कारण बन गया। अमेरिका के अर्थ-विशेषज्ञ प्रोफेसर फाकनर के अनुसार महायुद्ध के बाद अमेरिका की समृद्धि तेजी से बढ़ी, जिसने वहां के कई पूंजीपतियों में अपनी पूंजी सट्टे पर लगाने की प्रवृत्ति को बढ़ावा दिया। इससे शुरू-शुरू में बहुत से लोगों को काफी मुनाफा हुआ। फिर क्या था, लोगों में शेयर खरीदने की होड़-सी मच गई और शेयरों की कीमत तीन से लेकर बीस गुना बढ़ गई। परंतु 21 अक्टूबर, 1929 से अचानक शेयरों के भाव और भी तेजी से गिर गए। अमेरिकन सरकार ने कुछ कदम भी उठाए परंतु तब तक काफी देर हो चुकी थी। ऐसी स्थिति में अमेरिका ने यूरोपीय देशों को ऋण देना बंद कर दिया जिससे अनेक यूरोपीय राज्यों की अर्थव्यवस्था लड़खड़ा कर मृतप्राय हो गई। इसका प्रभाव विश्व के अन्य भागों पर भी पड़ा। इस प्रकार, अमेरिका के शेयर बाजार के पतन ने महा संकट को व्यापक और अनिष्टकारी बना दिया।

पूंजीवाद संकट का प्रसार

अमेरिका द्वारा ऋण-बंद की घोषणा के साथ ही यूरोपीय समृद्धि का स्रोत सूख गया तथा पुनर्निर्माण की गति भी अवरुद्ध हो गई। यूरोपीय देशों को दोहरे संकट का सामना करना पड़ा। एक तरफ तो अमेरिकी ऋण-बंद हो गया और दूसरी तरफ वस्तुओं की कीमतों में भारी कमी आ जाने से व्यापार भी कम हो गया। इसके अलावा उन्हें क्षतिपूर्ति और युद्ध-ऋणों का भुगतान स्वर्ण के रूप में करना पड़ा। स्वर्ण की कमी होते ही उनकी मुद्राओं का भाव भी गिरने लगा जिससे परिस्थिति और भी बिगड़ गई। 1930 में अमेरिका ने अपनी अर्थव्यवस्था को पुनः ठीक करने की दृष्टि से भारी मात्रा में आयात-कर लगा दिए। इससे यूरोपीय देशों का विदेशी व्यापार और भी कम हो गया। परिणाम यह निकला कि यूरोपीय राज्यों की अर्थव्यवस्था अस्त-व्यस्त हो गई। पूंजी और मुद्रा की कमी से कल-कारखाने बंद होने लगे। लाखों मजदूर बेरोजगार हो गए। अधिकांश राज्यों के बजट भी असंतुलित हो गए।

टिप्पणी

यद्यपि संकट के प्रथम लक्षण जर्मनी में देखने को मिले परंतु महा संकट का पहला शिकार आस्ट्रिया हुआ। 11 मई, 1931 को लोगों को पता चला कि आस्ट्रिया का सबसे बड़ा गैर-सरकारी बैंक 'क्रेडिट आन्स्टाट' का दिवाला निकलने ही वाला है। इसका परिणाम यह निकला कि संपूर्ण मध्य यूरोपीय राज्यों की साख हिल गई और लोग यह मानने लगे कि इन राज्यों से अब ऋण की वापसी की आशा करना व्यर्थ होगा। इससे जर्मनी विशेष रूप से प्रभावित हुआ क्योंकि वहां बैंक कारोबार पहले ही नाजुक स्थिति के दौर से गुजर रहा था। आस्ट्रिया की सरकार ने लोगों को सांत्वना देने के लिए एक आदेश जारी कर यह घोषणा की कि बैंक के विदेशी दायित्वों का उत्तरदायित्व वह अपने ऊपर लेती है। परंतु महा संकट इतना व्यापक और भयंकर था कि सरकार के आश्वासन के बाद भी स्थिति में सुधार नहीं हो पाया। जर्मनी में तो लोगों में इतना अधिक भय व्याप्त हो गया कि केवल तीन सप्ताहों में विदेशी पूंजीपतियों ने जर्मन राइख बैंक से पांच करोड़ पौंड मूल्य का अपना जमा सोना वापस निकाल लिया। विदेशी पूंजीपतियों की गतिविधियों का प्रभाव जर्मन साहूकारों पर भी पड़ा और वे भी अपने देश की सबसे बड़ी वित्तीय संस्था 'डारम्सटाडर तथा नेशनल बैंक' से किसी-न-किसी बहाने से भारी मात्रा में अपना धन निकालने लगे। बिगड़ती हुई स्थिति को देखकर बैंक को ही बंद कर देना पड़ा। इसके बाद सुरक्षात्मक कदम के रूप में सरकार ने राइख बैंक के अलावा अन्य सभी बैंकों को अनिश्चित अवधि के लिए बंद कर दिया। बैंकों के कारोबार के बंद होते ही महा संकट चरमोत्कर्ष पर पहुंच गया। लोगों के असंतोष की सीमा न रही। विशेषकर मध्य वर्ग इससे बुरी तरह प्रभावित हुआ।

आस्ट्रिया और जर्मनी में बैंकों के फेल हो जाने का प्रभाव ब्रिटेन पर भी पड़ा और वहां भी लोग 'बैंक ऑफ इंग्लैंड' से अपना धन निकालने लगे; क्योंकि लोगों को अब बैंकों में विश्वास नहीं रहा। जुलाई, 1931 में बैंक ऑफ इंग्लैंड की स्थिति डांवाडोल होने लगी। तब अगस्त मास में उसने अमेरिकन एवं फ्रांसीसी बैंक से 5 करोड़ पौंड ऋण लेकर अपनी साख को बनाए रखा। फिर भी, लोगों को अविश्वास बना रहा और वे निरंतर अपना धन बैंक ऑफ इंग्लैंड से निकालते ही रहे। इस महा संकट का मुकाबला करने के लिए प्रधानमंत्री मेकडोनेल्ड ने त्याग-पत्र देकर विरोधी दलों को अपने साथ लेकर एक 'राष्ट्रीय सरकार' का गठन किया। परंतु लोगों का अविश्वास दूर नहीं हुआ और केवल 18 सितम्बर, 1931 के दिन 1,80,00,000 पौंड की धनराशि बैंक से वापस ले ली गई। विवश होकर ब्रिटिश सरकार ने स्वर्णमान के परित्याग की घोषणा कर दी जिससे पौंड की विनिमय दर एक-चौथाई कम हो गई। इससे इंग्लैंड को तो लाभ हुआ परंतु अन्य यूरोपीय राज्यों पर इसका प्रतिकूल प्रभाव पड़ा। वहां कीमतों में पहले ही गिरावट चल रही थी। अब और अधिक गिरावट आ गई। यूरोप के अधिकांश स्टॉक-एक्सचेंज बंद हो गए और कई देशों ने स्वर्णमान को त्याग दिया। अमेरिका, फ्रांस, इटली आदि कुछ देशों ने ही स्वर्णमान को बनाए रखा।

आर्थिक संकट के परिणाम– 1929-34 की अवधि का यह महा संकट विश्व इतिहास की एक अभूतपूर्व घटना थी। इसके परिणाम भी उतने ही महत्वपूर्ण एवं दूरगामी सिद्ध हुए। संक्षेप में इसके परिणाम इस प्रकार रहे–

1. **महा राष्ट्रवाद–** अंतर्राष्ट्रीय सहयोग का विकास करने की दृष्टि से राष्ट्रसंघ की स्थापना की गई थी। महा संकट ने इस अंतर्राष्ट्रीयतावाद की भावना को

टिप्पणी

बहुत अधिक क्षति पहुंचाई। विभिन्न देशों ने महा संकट से निपटने के लिए महा राष्ट्रवाद का सहारा लिया और उन्होंने अनेक प्रकार के कानून एवं व्यवस्थाएं बनाईं। स्वदेशी उद्योग-धंधों को संरक्षण प्रदान किया गया, उन्हें हर प्रकार की सहायता दी गई, विदेशी आयात की सीमा निर्धारित कर दी गई और सीमा-शुल्कों में वृद्धि कर दी गई। इन नाना उपायों की सहायता से वे कुछ समय के लिए अपने-अपने देश की अर्थव्यवस्था को बचाए रखने में सफल तो रहे, परंतु इससे उन्हें कोई विशेष लाभ भी नहीं मिला; क्योंकि इस प्रकार की बाधाओं ने अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को ठप्प कर दिया और स्वदेशी बाजार विदेशी वस्तुओं से भर गए। उनकी मांग भी कम होती गई। इस प्रकार के महा राष्ट्रवाद ने उस अंतर्राष्ट्रीय सौहार्द्र की भावना का गला घोंट दिया, जो विश्व शांति को बनाए रखने के लिए आवश्यक थी। राजनीतिक दृष्टिकोण से महा संकट का यह सबसे बुरा परिणाम था जिसने अंतर्राष्ट्रीय अविश्वास को बढ़ाने में महत्वपूर्ण सहयोग दिया।

2. **राष्ट्रसंघ को आघात–** राष्ट्रसंघ की सफलता अंतर्राष्ट्रीय सहयोग एवं सद्भाव पर निर्भर थी। महा संकट ने अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की उपेक्षा करके राष्ट्रसंघ को पंगु बना दिया। महा संकट ने राष्ट्रसंघ की प्रमुख शक्तियों को इतना अधिक निर्बल बना दिया कि जब सामूहिक सुरक्षा के लिए आक्रामक देशों के विरुद्ध कठोर कदम उठाने का समय आया तो वे ऐसा करने का साहस नहीं जुटा पाए। दूसरी तरफ इस संकट ने अमेरिका को पृथकतावादी नीति अपनाने के लिए विवश कर दिया और शनैः शनैः वह यूरोपीय राजनीति से दूर हटता चला गया। फ्रांस में राजनीतिक अस्थिरता पैदा हो गई और कोई भी मंत्रिमंडल अधिक समय के लिए सत्ता में नहीं रह पाया। इन सबका परिणाम यह हुआ कि यूरोप की प्रमुख शक्तियां जिन पर राष्ट्रसंघ की सफलता निर्भर करती थी, सामूहिक सुरक्षा की खातिर सुदृढ़ कदम न उठा पाई जिससे अंततोगत्वा राष्ट्रसंघ का पतन हो गया।

3. **लोकतंत्रीय शासन-व्यवस्था को आघात–** महा संकट का सबसे प्रबल आघात लोकतंत्रीय शासन-व्यवस्था को सहन करना पड़ा। महामंदी के कारण जनता के सभी वर्गों को बेकारी, भुखमरी तथा अन्य कठिनाइयों का सामना करना पड़ा जिससे उनमें निराशा, अस्थिरता और असुरक्षा की वृद्धि हुई। कई देशों की लोकतांत्रिक सरकारें मंदी से उत्पन्न कठिनाइयों का ठीक से समाधान नहीं कर पाईं जिससे जनता का लोकतांत्रिक शासन-व्यवस्था से ही विश्वास जाता रहा। जिन देशों में जनता को मत देने का अधिकार प्राप्त था, वहां उन्होंने नये निर्वाचनों में महामंदी के दौरान सत्तारूढ़ राजनीतिक दलों तथा उनके नेताओं के विरुद्ध मतदान करके उन्हें सत्ताच्युत करके अपने आक्रोश का प्रदर्शन किया। श्रमिक, निर्धन, किसान तथा मध्यम वर्ग तो लोकतंत्रीय व्यवस्था से इतना अधिक असंतुष्ट हो गया कि उसका झुकाव साम्यवाद अथवा अधिनायकवाद की ओर तेजी से बढ़ने लगा। जनता के इस परिवर्तित रुझान ने कई राज्यों में लोकतंत्रीय शासन-व्यवस्था को खोखला बना दिया।

4. **अधिनायकवाद का उदय–** लोकतंत्रीय शासन-व्यवस्था के प्रति जनता में व्याप्त असंतोष ने यूरोप के कुछ राज्यों में अधिनायकों के उत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त

टिप्पणी

कर दिया। 1920-24 की प्रथम मंदी ने इटली में मुसोलिनी को अपना फासिस्ट शासन स्थापित करने में सहयोग दिया। 1929-31 के महा संकट ने विश्व के अनेक देशों में राजनीतिक उथल-पुथल मचा दी। महा संकट से निपटने के लिए प्रत्येक देश की सरकार के लिए समस्त महा जीवन को सीधे अपने नियंत्रण में लेने तथा अनेक अप्रिय कदम उठाने के लिए विवश कर दिया गया। इस प्रकार, अपने आप कई देशों में अधिनायकवादी शासन से मिलती-जुलती शासन-व्यवस्थाएं अस्तित्व में आ गईं। इन उपायों के बाद भी जब जनता को कष्टों से मुक्ति न मिली तो उसमें यह आशा उत्पन्न हुई कि शायद सरकार को बदल देने से कुछ राहत मिल जाएगी। जिन देशों में प्रजातंत्र अपनी जड़ें सुदृढ़ नहीं कर पाया था, वहां बहुत आसानी के साथ अधिनायकों ने शासन पर अधिकार कर लिया। जर्मनी, आस्ट्रिया, पोलैंड, यूगोस्लाविया, रूमानिया, बुल्गारिया, यूनान, पुर्तगाल आदि देशों में महा संकट के बाद लोकतंत्रीय शासन जनता का विश्वास खोता गया और उपर्युक्त देशों में अधिनाकयवादी शासन के प्रति विश्वास सुदृढ़ होता गया।

5. **राजकीय नियंत्रण में वृद्धि–** महा संकट का एक अशुभ परिणाम महा जीवन में राजकीय मामलों में कम-से-कम हस्तक्षेप के समर्थक थे। लोगों को औद्योगिक क्षेत्र तथा व्यापार-वाणिज्य में काफी स्वतंत्रता थी। परंतु महा संकट के परिणामस्वरूप जब बेरोजगारी बढ़ने लगी और कीमतें गिरने लगीं तथा उद्योग-धंधे चौपट होने लगे तो लोगों की दयनीय स्थिति में सुधार लाने और अपने देश की अर्थव्यवस्था को छिन्न-भिन्न होने से बचाने के लिए सरकारों को महा जीवन में हस्तक्षेप करने के लिए विवश हो जाना पड़ा। जनता भी इस बात की मांग कर रही थी कि देश की महा स्थिति को सुधारने की दिशा में सरकार को कठोर कदम उठाने चाहिए। अत: सरकारों ने अपने कानूनों के द्वारा महा जीवन का नियंत्रण करना शुरू किया। इंग्लैंड ने भी 'उन्मुक्त व्यापार' की नीति का परित्याग करके 'संरक्षण की नीति' को अपनाया। अमेरिका जैसा धनी देश जो अपनी उदारता के लिए विख्यात था, को रुजवेल्ट की 'नई व्यवस्था' (न्यू डील) की नीति अपनानी पड़ी। इससे राष्ट्रपति को अमेरिका के महा जीवन में हस्तक्षेप करने के असाधारण अधिकार मिल गए। राजकीय नियंत्रण में अत्यधिक वृद्धि से प्रजातांत्रिक आदर्शों के विपरीत तानाशाही प्रवृत्ति पर जनमत का नियंत्रण तो समाप्त हो ही जाता है, परंतु अंतर्राष्ट्रीय सौहार्द्र का स्रोत भी सूख जाता है। उससे अंतर्राष्ट्रीय तनाव की वृद्धि होती है जो युद्ध की ओर धकेलने में सहयोग देती है।

6. **युद्ध सामग्री के उत्पादन में वृद्धि–** महा संकट ने अंतर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना को नष्ट कर दिया जिससे कई देशों को अपनी सुरक्षा की चिंता लग गई। इससे मुक्ति पाने के लिए उन्होंने अपनी सैनिक शक्ति को बढ़ाने का निश्चय किया। इसके लिए नि:शस्त्रीकरण की भावना को त्याग कर युद्ध सामग्री का अधिकाधिक उत्पादन किया जाने लगा। युद्ध सामग्री के उत्पादन में वृद्धि के साथ पूंजीवाद के निहित स्वार्थ भी जुड़े हुए थे। दूसरे देशों को अस्त्र-शस्त्र बेचकर वे भारी मुनाफा कमाने की ताक में थे। सरकारों द्वारा युद्ध-सामग्री के

उत्पादन में रुचि लेने का एक कारण बेरोजगारों को काम देना भी था। जो भी कारण रहे हों, युद्ध सामग्री के अत्यधिक उत्पादन ने शस्त्रीकरण की दौड़ को बढ़ावा दिया जिसने अंत में समूचे विश्व को युद्ध की ज्वाला में झोंक दिया।

टिप्पणी

7. **साम्यवाद का प्रसार–** महामंदी ने लोगों को अत्यधिक निर्धन बना दिया। उनकी क्रय-शक्ति निम्नतम बिंदु तक पहुंची जिससे उनकी स्थिति दयनीय हो गई। भुखमरी ने उनको साम्यवाद की ओर अग्रसर किया। क्योंकि उनका विश्वास था कि साम्यवादी शासन के अंतर्गत पूंजीवादी व्यवस्था का लोप हो जाएगा और रूसी मजदूरों तथा किसानों की भांति उनकी दयनीय स्थिति का भी अंत हो जाएगा। साम्यवादी कामिन्टर्न ने भी स्थिति का लाभ उठाते हुए अपनी प्रचारात्मक गतिविधियों को तेज कर दिया। परिणाम यह निकला कि फ्रांस तथा पूर्वी यूरोपीय देशों में साम्यवादी दल अपनी जड़ें जमाने में कामयाब हो गए। श्रमिक वर्ग और जनता के मध्यम वर्ग साम्यवाद की तरफ विशेष रूप से आकर्षित हुए। यह भी एक संयोग की बात थी कि महामंदी के दौरान जहां यूरोप के प्रजातांत्रिक पूंजीवादी देशों की अर्थव्यवस्था विनाश की ओर अग्रसर हुई, वहीं साम्यवादी रूस पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा और वह उत्तरोत्तर औद्योगिक प्रगति की राह पर आगे ही बढ़ता रहा। सोवियत रूस की इस प्रगति ने भी साम्यवाद के प्रसार में महत्वपूर्ण योगदान दिया।

8. **तुष्टीकरण की नीति–** साम्यवाद के बढ़ते हुए प्रभाव एवं प्रसार से यूरोप की पूंजीवादी सरकारें आतंकित हो उठीं और उन्हें अपना अस्तित्व खतरे में पड़ता हुआ दिखाई दिया। परिणामस्वरूप उन्होंने सामूहिक सहयोग एवं सुरक्षा की नीति को त्याग कर तुष्टीकरण की नीति को अपनाया। इस नीति का मुख्य ध्येय नवोदित फासिस्ट शक्तियों को साम्यवाद से लड़ाकर दोनों को कमजोर बनाना था। परंतु इस नीति के कारण उन्हें राष्ट्रसंघ के सिद्धांतों तथा वर्साय संधि की भी उपेक्षा करनी पड़ी। फासिस्ट शक्तियों ने पूंजीवादी लोकतंत्रों की इस कमजोरी का भरपूर फायदा उठाया।

9. **जापान में सैन्यवाद–** महा संकट ने जापान की अर्थव्यवस्था को भी भारी नुकसान पहुंचाया। उदारवादी सरकार महा समस्या का समुचित समाधन न कर सकी। पूंजीवादी तत्वों ने सैन्य अधिकारियों के साथ मिलकर उदारवादी सरकार को नीति-परिवर्तन के लिए विवश कर दिया। अब व्यापारिक विस्तार तथा उससे लाभ कमाने के स्थान पर शक्ति द्वारा लूट की नीति अपनाई गई। प्रो. टायनबी ने लिखा है, ''दीर्घकालीन विश्वव्यापी मंदी से पीड़ित जापानी जनता ने अंत में व्यापारिक-विस्तार की नीति को छोड़कर सैनिक-विजय की नीति के पोषक सैनिक नेतृत्व को स्वीकार कर लिया।'' 1931 में जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण करके अपनी सैनिक विजय की नीति का परिचय दे ही दिया।

10. **इटली का अबीसीनिया पर आक्रमण–** सैनिक विजय के माध्यम से महा संकट को दूर करने की दोहरी सफलता से इटली के अधिनायक मुसोलिनी ने भी इसी मार्ग को अपनाने का निश्चय किया। क्योंकि इससे विजित देश के महा स्रोतों का शोषण करके अपने देश की महा स्थिति को तो सुधारा ही जा सकता था, साथ ही साम्राज्य विस्तार का भी अच्छा प्रलोभन था। इसके अलावा किसी

अन्य देश पर आक्रमण कर जनता का ध्यान महा समस्याओं से हटाने का भी एक अच्छा तरीका था। परिणामस्वरूप इटली ने अबीसीनिया पर आक्रमण कर उसे जीत लिया।

टिप्पणी

11. **जर्मनी में हिटलर का उत्कर्ष–** जर्मनी में हिटलर के उत्कर्ष के लिए अनेक कारण उत्तरदायी थे, परंतु महा संकट ने उसके उदय का मार्ग जल्दी प्रशस्त कर दिया। जर्मनी में महा संकट अन्य देशों की तुलना में कहीं अधिक गंभीर था और जर्मन जनता को जितनी बर्बादी सहन करनी पड़ी उतनी शायद ही किसी अन्य देश की जनता ने सही थी। गैथोर्न हार्डी तो महा संकट से उत्पन्न निराशा को हिटलर के उत्कर्ष का एक प्रमुख कारण मानते हैं। मई 1928 में हिटलर के नात्सीदल को रीष्टाग के चुनावों में केवल 12 स्थान प्राप्त हुए थे। सितम्बर, 1930 के चुनावों में उसे 107 स्थान मिले और जुलाई, 1932 के चुनावों में 230 स्थान मिले और इसके कुछ महीने के बाद ही शासन सत्ता हिटलर के हाथ में आ गई। हिटलर की नीतियों ने द्वितीय महायुद्ध को आहूत किया। इस दृष्टि से बहुत से इतिहासकार महा संकट को दूसरे विश्वयुद्ध के लिए एक सीमा तक उत्तरदायी मानते हैं।

समीक्षा– उपर्युक्त विश्लेषण से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि महा संकट ने आने वाले समय में सभी देशों की प्रशासन-व्यवस्था तथा वैदेशिक नीतियों को काफी सीमा तक प्रभावित किया और इस प्रभाव का परिणाम अंतर्राष्ट्रीय सहयोग और सामूहिक सुरक्षा के अवसान के रूप में सामने आया। महा संकट के दूरगामी परिणामों की चर्चा करते हुए बेन्स ने लिखा है, ''इससे उत्पन्न राजनीतिक उथल-पुथल का विस्तार सरकार को नियंत्रित करने वाले दलों में परिवर्तन मात्र से लेकर ऐसी यथार्थ क्रांति तक था जैसी कि जर्मनी में तब हुई जब नाजी लोगों ने सत्ता हथिया ली। इसके अतिरिक्त अपनी आंतरिक कठिनाइयों के समाधान में व्यस्त होने के कारण, प्रजातंत्रीय राज्यों के नेता, आक्रामक कार्रवाई, जो वास्तव में द्वितीय महायुद्ध की प्रस्तावनाएं ही थीं, को प्रारंभिक अवस्था में रोकने के लिए कोई प्रभावशाली कदम उठाने में झिझकते रहे।'' प्रजातंत्रीय राज्यों की निष्क्रियता तथा दब्बू नीति के कारण सामूहिक सुरक्षा की व्यवस्था का लोप हो गया और राष्ट्रसंघ की निर्बलता एवं निरर्थकता भी स्पष्ट हो गई।

गैथोर्न हार्डी ने महा संकट के परिणामों की समीक्षा करते हुए लिखा है, ''अंत में, हमें राजनीतिक घटनाओं के परस्पर व्यवहार से जनित कठिनाइयों को समझना होगा। राजनीतिक भय उस महा सहयोग में रुकावट डालते हैं, जो पुनरुद्धार के लिए परमावश्यक है और उस विश्वास की पुन:स्थापना में रुकावट डालते हैं जिसके बिना महा सहयोग नहीं हो सकता। पुन: शस्त्रीकरण के कारण उत्पन्न समृद्धि ने आधारभूत मंदी की मौजूदगी पर पर्दा डाल दिया। दूसरी ओर, महा कठिनाइयों में अति व्यस्तता के कारण राजनीतिज्ञों के मस्तिष्क उन राजनीतिक खतरों से दूर रहे, जो उस समय मौजूद थे। परिणामत: राष्ट्रसंघ के बीच ऐसी दीवारें खड़ी हो गईं जिनके फलस्वरूप ऐसा कोई संयुक्त प्रयास असंभव हो गया जो संसार को सुरक्षा प्रदान कर सकता था।''

इस प्रकार, यह बात स्पष्ट हो जाती है कि दो विश्व युद्धों के मध्य महा संकट केवल यूरोप के इतिहास में ही नहीं अपितु विश्व इतिहास की एक महत्वपूर्ण घटना थी जिसने प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से समूचे विश्व को अस्त-व्यस्त कर दिया।

टिप्पणी

सामाजिक संकट– प्रथम विश्व युद्ध के बाद पहली समस्या यूरोप के पुनर्निर्माण की थी। युद्ध के दौरान खानें बर्बाद कर दी गईं, रेलमार्ग छिन्न-भिन्न कर दिए गए। कारखानों में मशीनें तोड़-फोड़ दी गईं, मकान आदि ध्वस्त हो गए। लाखों लोग बेघर हो गए। इस सामाजिक संकट ने अधिकांश यूरोपीय देशों को गंभीर संकट में डाल दिया। युद्ध के दौरान एक करोड़ तीस लाख सैनिक मारे गए। लाखों नागरिकों को भी अपने प्राणों से हाथ धोना पड़ा। परिणामस्वरूप कई यूरोपीय देशों में विशेष रूप से फ्रांस में पुरुषों की कमी हो गई जिससे जनशक्ति को भारी धक्का लगा।

दूसरी महत्वपूर्ण समस्या बेरोजगारी की थी। युद्ध के दौरान अनेक कारखाने, उद्योग-धंधे आदि नष्ट हो गए। युद्ध की समाप्ति के बाद लगभग सभी देशों में बड़े पैमाने पर सैनिकों की छंटनी की गई। उपर्युक्त दोनों कारणों के परिणामस्वरूप बहुत से देशों में बेरोजगारी की विकराल समस्या उठ खड़ी हुई।

महायुद्ध के दौरान लाखों नवयुवकों को महाविद्यालयों और विश्वविद्यालयों को छोड़कर सेना में भर्ती होना पड़ा। शिक्षा के सरकारी व्यय में भारी कमी की गई जिससे बहुत-सी शिक्षण संस्थाएं बंद हो गईं। युद्धोपरांत शिक्षा की व्यवस्था को पुनः सुचारु बनाना भी एक गंभीर समस्या थी।

आर्थिक संकट ने लोगों की बेरोजगारी और भुखमरी को और बढ़ावा दिया जिससे सामाजिक जीवन में अनेक प्रकार की नई समस्याएं उत्पन्न हो गईं।

2.4.1 महामंदी

1929 ई. से 1932 ई. के मध्य न केवल जर्मनी जैसे पराजित राष्ट्र वरन अमेरिका जैसा धनी राष्ट्र भी महामंदी से न बच सका। महा संकट इस सीमा तक पहुंच गया कि कनाडा में अनाज तथा ब्राजील में फसलों के उत्पादन को नष्ट किया जाने लगा। 1931 ई. में ऐसा प्रतीत होने लगा कि अमेरिका व फ्रांस के अतिरिक्त प्रायः समस्त देश दिवालिया हो जाएंगे। यद्यपि हूबर मुहलत जैसी कुछ योजनाओं के तहत महामंदी कम करने हेतु प्रयास किया गया, परंतु सभी प्रयास असफल साबित हुए। 21 सितंबर, 1931 ई. को ब्रिटेन को भी स्वर्णमान समाप्त करना पड़ा। ऐसी परिस्थिति में भारत, जापान, रोडेशिया तथा अन्य देशों को भी स्वर्णमान को त्यागना पड़ा। इस विश्वव्यापी समस्या को सुलझाने हेतु लंदन में विश्व अर्थ सम्मेलन का भी आयोजन किया गया जिसमें 64 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। 1933 ई. में नवीन सुधारों के परिणामस्वरूप महामंदी समाप्त हो सकी।

महामंदी के कारण

1929–32 ई. की महामंदी के कारण निम्नलिखित थे–

1. **प्रथम विश्वयुद्ध**– यह तो सत्य है कि युद्ध के पश्चात महामंदी आती है। अतः प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात भी यही हुआ। युद्ध में युद्ध संबंधी आवश्यकता हेतु अनेक प्रकार के उत्पादन प्रारंभ हुए परंतु युद्ध समाप्ति पर उत्पादनों की मांगों में कमी आ गई। परिणामस्वरूप महामंदी प्रारंभ हुई। जे. बी. कांडलिफ के शब्दों में– "युद्ध के समय सैनिक आवश्यकताओं की मांग बढ़वाने के कारण उद्योग धंधों का असाधारण विस्तार होता है। मजदूरों की कमी आ

टिप्पणी

जाती है। मजदूरी की दर, मुनाफे और रोजगार बढ़ जाते हैं। युद्ध की समाप्ति के पश्चात कुछ समय तो यह तेजी से बढ़ती रहती है परंतु उसके बाद मंदी आ जाती है।"

2. **क्षतिपूर्ति तथा युद्ध–ऋणों की समस्या**– क्षतिपूर्ति तथा ऋणों की समस्या ने भी महामंदी को प्रोत्साहन दिया। युद्ध के पश्चात जर्मनी महा रूप से टूट गया था वह इस स्थिति में नहीं था कि वह क्षतिपूर्ति दे सके। इसके अतिरिक्त फ्रांस ने भी जर्मनी के औद्योगिक केंद्र रूस पर अधिकार कर लिया था जिससे जर्मनी की महा व्यवस्था गड़बड़ा गई थी। अमेरिका के लिए युद्ध ऋण को कोई भी राष्ट्र लौटाने का सामर्थ्य नहीं रखता था। अतः क्षतिपूर्ति एवं युद्ध ऋण ने महा संकट को और प्रोत्साहित किया।

3. **अधिक उत्पादन तथा कम खपत**– आवश्यकता से अधिक उत्पादन एवं उत्पादनानुसार मांग कम होने से भी महा संकट और गहरा गया। बाजार में वस्तुओं की पूर्ति तो अधिक थी परंतु शक्ति कम हो गई थी क्योंकि युद्ध समाप्ति के पश्चात युद्ध के सामान की अब आवश्यकता नहीं थी।

4. **रोजगार की समस्या**– युद्ध समाप्ति के पश्चात युद्ध से निकाले गए सैनिक तथा युद्ध संबंधी कारखानों से निकाले गए मजदूर जब बेकार हो गए तो उनकी क्रयशक्ति कम हो गई और माल की खपत भी कम होने लगी और कारखानों में उत्पादन अधिक इकट्ठा होने लगा। परिणामतः कारखानों को बंद कर देना पड़ा। इससे बेरोजगारी बढ़ने लगी जिससे महामंदी को प्रोत्साहन मिला।

5. **स्वचालित मशीनों का प्रयोग**– विश्वयुद्ध के समय कृषकों व मजदूरों के सैनिक बन जाने के पश्चात इनके स्थान की पूर्ति हेतु स्वचालित मशीनों का आविष्कार करना पड़ा। मशीनों द्वारा उत्पादन में वृद्धि हो गई। इससे युद्धोपरांत बेरोजगारी फैली जिसने महामंदी को बढ़ावा दिया।

6. **स्वर्णमान का पुनः प्रचलन**– युद्ध के पूर्व यूरोप के प्रमुख देशों में स्वर्णमान स्थापित था परंतु युद्ध के समय अनेक देशों ने स्वर्णमान त्याग दिया था। परिणामस्वरूप सोने की मांग में कमी आई और वस्तुओं के भाव बढ़ गए। परंतु 1925 ई. के पश्चात फिर से अनेक देशों ने स्वर्णमान अपनाया। अमेरिका सभी देशों से अपना ऋण लेने हेतु उत्सुक था परंतु उस माल के रूप में राशि लेने से अमेरिका ने इनकार कर दिया। अत्यधिक सोना अमेरिका चले जाने के कारण सोने का अभाव हो गया। परिणामस्वरूप सोने की कीमत बढ़ गई और वस्तुओं की कीमत गिर गई।

7. **राष्ट्रीयता तथा आत्मनिर्भरता**– विश्वयुद्ध से पूर्व अमेरिका, जर्मनी, ब्रिटेन इत्यादि प्रमुख राष्ट्र ही विश्व की प्रमुख महा आवश्यकताओं की वस्तुओं का उत्पादन करते थे, परंतु युद्ध के पश्चात अनेक छोटे–छोटे देशों में राष्ट्रीयता का भाव उत्पन्न हुआ तथा विदेशी माल का बहिष्कार प्रारंभ हो गया। अनेक देशों की सरकारें स्वयं को आत्मनिर्भर बनाने हेतु उत्पादन बढ़ाने लगी थी। विनिमय व आयात पर रुकावटें लगाने हेतु आयात कर व कोटा निर्धारित

करने का आश्रय लिया गया। परिणामतः अत्यधिक माल इकट्ठा हो गया जिससे महामंदी उत्पन्न हो गई।

8. **अमेरिकन शेयर बाजार में महा संकट**– महामंदी का एक कारण यह भी था कि अमेरिका के न्यूयॉर्क में शेयर बाजार का संकट था। 1929 ई. को न्यूयॉर्क स्टॉक एक्सचेंज में शेयरों का मूल्य गिरकर 50 अरब डॉलर रह गया जिससे पूरी दुनिया में महामंदी फैल गई क्योंकि अमेरिका ऋण देने वाला सबसे बड़ा महाजन देश था। अतः उसके यहां महामंदी आ जाने से उसने अन्य देशों को ऋण देना बंद कर दिया था।

टिप्पणी

यूरोप एवं उसकी विरासत पर महामंदी के प्रभाव

1929 से 1923 के दौरान की महामंदी के परिणाम अत्यंत विश्वव्यापी हुए। 1931 ई. में जनता ने बैंक ऑफ इंग्लैंड से अपना संचित धन निकालना प्रारंभ कर दिया। यद्यपि यह घोषणा की गई थी कि बैंक ऑफ फ्रांस एवं न्यूयॉर्क के फैडरल रिजर्व बैंक ने ढाई–ढाई करोड़ पौंड का ऋण बैंक ऑफ इंग्लैंड को दिया है परंतु इसका जनता पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। अंततः इंग्लैंड को भी स्वर्णमान गिराना पड़ा। 1933 ई. में अंतर्राष्ट्रीय व्यापार मात्र 40 प्रतिशत ही रह गया था। सभी वर्ग असंतुष्ट थे।

महामंदी के राजनीतिक परिणाम– महामंदी के प्रमुख राजनीतिक परिणाम निम्नलिखित हैं–

1. **आर्थिक राष्ट्रवाद का उदय**– अनेक राष्ट्रों ने महामंदी से निबटने हेतु अनेक अंतर्देशीय उत्पादनों को प्रोत्साहित किया। परिणामस्वरूप विदेशी सहयोग की कमी के साथ अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को हानि पहुंची जिससे महा राष्ट्रवाद की भावना को प्रोत्साहन मिला।
2. **प्रजातंत्र के लिए संकट**– महा संकट ने प्रजातांत्रिक राज्यों को भी संकट में डाल दिया। अनेकानेक समस्याएं जैसे बेरोजगारी, असंतोष, असुरक्षा व अस्थिरता से लोकतंत्र लड़खड़ा उठा। जनता का लोकतांत्रिक व्यवस्था व संसदीय प्रणाली पर से विश्वास उठ गया और वह सत्तारूढ़ दलों को पदच्युत करने की मांग करने लगी। श्रमिक व अन्य वर्ग साम्यवाद तथा फासीवाद आदि को प्रभावित करने लगे। अतः प्रजातांत्रिक प्रणाली संकट में पड़ गई।
3. **राष्ट्र संघ पर संकट**– राष्ट्र संघ पर भी भयानक संकट उत्पन्न हो गया। राष्ट्र संघ प्रारंभ से ही अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के आदर्श पर स्थापित था परंतु संकुचित महा राष्ट्रवाद के द्वारा अंतर्राष्ट्रीय सहयोग और अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का अंत हो गया। भ्रातृत्व की भावना नष्ट हो गई एवं अधिनायकवाद का उदय हुआ। इन कारणों से राष्ट्रसंघ का भी पतन हो गया।
4. **अधिनायकवाद का उदय**– जनता प्रजातंत्र का विरोध करने लगी थी परिणामस्वरूप तानाशाही का उदय हुआ। हिटलर ने नाजीवाद, मुसोलिनी ने फासीवाद का प्रारंभ कर, प्रजातंत्र को समाप्त कर दिया। इसके अतिरिक्त पोलैंड, यूगोस्लोवाकिया, रोमानिया, बुल्गारिया, यूनान में भी प्रजातंत्र का अंत हो गया एवं राजतंत्र स्थापित हुआ।

टिप्पणी

5. **शस्त्रीकरण के प्रयास**– महामंदी के कारण आपसी सौहार्द एवं विश्वास लगभग नष्ट हो गया। पारस्परिक संदेह एवं अविश्वास के कारण प्रत्येक राष्ट्र हथियारों के निर्माण में लग गया। पूंजीवादी देश धन प्राप्त करने हेतु शस्त्रों के निर्माण में लग गये। अधिक हथियारों के उत्पादन ने संसार को फिर द्वितीय विश्वयुद्ध की ओर ढकेल दिया।

6. **साम्यवाद की प्रगति**– महामंदी के कारण जनता को अनेकानेक कष्ट उठाने पड़े जिसे पूंजीवादी व संपन्न देश भी समाप्त न कर सके। अतः जनता पूंजीवादी व्यवस्था को असफल समझने लगी और साम्यवादी व्यवस्था की ओर आकृष्ट हुई। फ्रांस व यूरोप के पूर्वी भागों में साम्यवाद बड़ी तेजी से उन्नति कर रहा था। कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की गतिविधियां लगातार बढ़ती जा रही थीं। रूस जो एक साम्यवादी देश था वहां बेरोजगारी नहीं थी और इस देश की प्रगति भी दिनोंदिन हो रही थी। अतः जनता की साम्यवाद के प्रति आस्था बढ़ गई थी।

7. **जापान में सैन्यवाद का उदय**– जापान में महामंदी इतनी बढ़ गई थी कि जनता ने इस मंदी से परेशान होकर सैन्यवाद का आश्रय लेना प्रारंभ कर दिया। लूटमार के परिणामस्वरूप 1936 ई. में जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण कर दिया।

8. **इटली का एबीसीनिया पर हमला**– जापान के कार्यों से प्रोत्साहित होकर इटली ने एबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया। इटली में घोर निर्धनता व्याप्त थी। वहां के तानाशाह ने निर्धनता समाप्त करने का वादा तो कर दिया था परंतु निर्धनता एक साथ समाप्त नहीं होती अतः इटली ने एबीसीनिया पर आक्रमण कर दिया।

9. **द्वितीय विश्वयुद्ध**– इस महामंदी ने द्वितीय विश्वयुद्ध को जन्म दिया क्योंकि इस महामंदी ने अधिनायकवाद को जन्म दिया जिसने द्वितीय विश्वयुद्ध को जन्म दिया।

अंत में यह कहा जा सकता है कि इस महामंदी के परिणाम अत्यंत विश्वव्यापी रहे। एस. क्लीमेंट ने विश्व व्यापी महामंदी के परिणामों के संबंध में लिखा है– "भय और नैराश्य, अनिश्चितता और अस्थिरता महामंदी के परिणाम थे। नाजीवाद तथा फासीवाद अनिश्चितता के परिणाम थे। इन नये वादों ने ही प्रजातंत्र के विरुद्ध शत्रुतापूर्ण प्रचार किया।"

मंदी का महादौर

जैसे–जैसे लोगों की नौकरी व घर छिन गए, वे अर्थव्यवस्था पर बोझ साबित होने लगे। क्योंकि उनकी खरीद सामर्थ्य बहुत कम थी लगभग न के बराबर थी, इसलिए वे उपभोग को भी नहीं बढ़ा रहे थे, जिससे अर्थव्यवस्था को कुछ प्रोत्साहन मिल पाता। दूसरे शब्दों में, वे वस्तुओं की मांग को घटा रहे थे। फिर वे काम की तलाश में भी थे। वे कम से कम वेतन पर काम करने को तैयार हो जाते जिससे भत्तों/वेतन का स्तर भी कम रहता। कम भत्तों का अर्थ है वस्तुओं की आपूर्ति में कमी।

टिप्पणी

बचत, घर, व्यापार, खेत– सब छिन गए–1920 के दशक के दौरान अमेरिकियों ने खूब अपव्यय किया। इसके पीछे सोच यही थी कि किसी न किसी दिन वे अपने सारे बिलों का भुगतान कर ही देंगे। जब स्टॉक मार्केट गिरा तो बहुत से लोग दिवालिया होने से बच नहीं पाए। बैंकों की महा स्थिरता भी चरमरा गई और बहुत से बैंक बंद हो गए। इसके साथ–साथ उनके ग्राहकों की बचत भी डूब गई।

कृषि उत्पादों का मूल्य गिरना–कृषि उत्पादों की कीमतें पहले विश्वयुद्ध के बाद से ही गिर रही थीं जिससे जगजाहिर था कि कृषि उत्पाद मांग से अधिक उपलब्ध थे। जब अर्थव्यवस्था ढह गई तो इन उत्पादों की कीमतें बहुत कम हो गईं जिससे किसानों का जीवन कठिन हो गया। किसानों ने 'फॉर्म्स हॉली डे' आंदोलन शुरू कर दिया। इसका अर्थ था कि किसानों को छुट्टी लेनी चाहिए ताकि उत्पादन कम हो और उनके उत्पाद का मूल्य बढ़ सके।

औद्योगिक लाभ का गिरना–औद्योगिक मुनाफा मूलतः उत्पाद की बिक्री पर निर्भर करता है। बड़े स्तर पर वस्तुओं के उत्पादन की तकनीकें 1920 के दशक में विकसित हो चुकी थीं। लेकिन मंदी के दौरान जब स्टॉक मार्केट गिर गया, तो न ही लोग खरीदने के इच्छुक थे न ही देश। इस तरह बहुत सी औद्योगिक इकाइयां घाटे में आ गईं और बंद हो गईं।

बेरोजगारी बढ़ना–बाजार में कृषि व औद्योगिक वस्तुओं की मांग में भारी कमी के कारण कृषि और उद्योग दोनों क्षेत्रों में मजदूरों की छंटनी कर दी गई। कुछ ही समय में हजारों लोग बेरोजगार हो गए।

स्टॉक मार्केट के टूटने से पहले, अमेरिका अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर फंड के प्रवाह को संचालित कर रहा था–अमेरिका जर्मनी को उधार देता तो जर्मनी ब्रिटेन व फ्रांस का उधार चुकता करता और फिर ब्रिटेन व फ्रांस उसी पैसे का इस्तेमाल अमेरिका का उधार चुकाने में करते जो उसने प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान लिया था। स्टॉक मार्केट गिरने के बाद जर्मनी को अमेरिका से उधार नहीं मिल पाया और नतीजतन ब्रिटेन व फ्रांस भी अमेरिका को युद्ध के दौरान लिया उधार नहीं चुका पाए।

बैंक विफल हो गए–बहुत से बैंकों ने स्टॉक मार्केट के सट्टे/अनुमान पर भारी निवेश किया हुआ था। कुछ बैंकों का ऐसा उधार भी बकाया था, जिन्हें चुकाया नहीं जा सकता, जिसे 'बैड डैब्ट' (Bad Debt) कहा जाता है। जब स्टॉक मार्केट गिरा, तो इन बैंकों की कमर टूट गई।

अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था का चरमराना–प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका विश्व के सबसे बड़े व्रैफडिटर के रूप में उभरा था। वह अन्य देशों को भुगतान की अपेक्षा उधार ज्यादा देता था। जब अमेरिका की अर्थव्यवस्था ढही तो दुनिया के लगभग हर देश (सोवियत संघ के अतिरिक्त) की अर्थव्यवस्था हिल गई और सभी देशों ने अपनी–अपनी अर्थ–सुरक्षा के कदम कड़े कर दिए जिससे अंतर्राष्ट्रीय बाजार की गतिविधियों पर भी बुरा प्रभाव पड़ा।

2.4.2 युद्ध क्षति पूर्ति और निःशस्त्रीकरण की समस्या

प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात विश्व एक ऐसे वातावरण की कल्पना में था जहां शांति हो और भविष्य में युद्ध का पुनः सामना न हो। इस प्रयास में पेरिज शांति सम्मेलन और

टिप्पणी

राष्ट्रसंघ की स्थापना ने कुछ प्रयास किये परंतु उसके परिणाम सुखद नहीं थे। विश्व के राष्ट्रों ने इस दिशा में प्रयास किये और हथियारों की दौड़ में शामिल राष्ट्रों को निशस्त्रीकरण की डोर में बांधने का प्रयास किया। जिसका उद्देश्य विश्व को शांति के साथ सुरक्षित करना था।

युद्ध क्षति पूर्ति : विश्वव्यापी महा संकट को हल करने की दिशा में पहला कदम फ्रांस के विदेश मंत्री ब्रियां ने उठाया। 1930 में उसने एक यूरोपीय संघ की स्थापना का प्रस्ताव रखा। राष्ट्रसंघ ने उसके प्रस्ताव पर विचार करने के लिए एक समिति गठित की, जिसकी पहली बैठक जनवरी, 1931 में हुई। समिति ने व्यापारिक बाधाओं को दूर करने पर विचार किया परंतु उसे इस काम में सफलता नहीं मिली। आस्ट्रिया ने भी क्षेत्रीय समझौतों का प्रस्ताव रखा। कुछ देशों ने इस संबंध में प्रयास भी किए परंतु उनका कोई परिणाम नहीं निकला। मार्च, 1931 में आस्ट्रिया और जर्मनी ने सीमा-शुल्क संघ बनाने के लिए समझौता कर लिया परंतु फ्रांस, इटली आदि के विरोध के कारण संघ की योजना कार्यान्वित नहीं हो पाई। ऐसा करना वर्साय संधि के प्रतिकूल था, इसलिए विरोध किया गया था।

अंत में, राष्ट्रसंघ के तत्वावधान में एक सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया गया। यह सम्मेलन जून, 1933 में लोसान में बुलाया गया जिसमें अमेरिका के प्रतिनिधियों ने भी भाग लिया। सम्मेलन में दो मुख्य समस्याओं पर विचार किया गया। पहली थी क्षतिपूर्ति की और दूसरी, युद्ध-ऋणों से संबंधित थी। मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी से ली जाने वाली क्षतिपूर्ति को हमेशा के लिए समाप्त कर देने का निर्णय लिया और बदले में जर्मनी यूरोप के पुनर्निर्माण के लिए तीन अरब मार्क देने को तैयार हुआ। इसके साथ ही यह शर्त भी लगा दी गई कि यदि अमेरिका युद्ध-ऋणों में इसी अनुपात में कटौती नहीं करेगा तो यह समझौता स्वीकार्य नहीं माना जाएगा। अमेरिका ने ऐसा करना स्वीकार नहीं किया। अतः लोसान सम्मेलन का निर्णय भी कार्यान्वित नहीं हो पाया। इसी सम्मेलन में राष्ट्रसंघ से एक विश्व सम्मेलन बुलाने का अनुरोध किया गया जिसमें मौजूदा महा संकट से मुक्त होने के उपायों पर विचार किया जा सके।

लोसान सम्मेलन के अनुरोध को स्वीकार करते हुए राष्ट्रसंघ ने जून, 1933 में एक सम्मेलन लंदन में आयोजित किया जिसमें 64 राज्यों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। सम्मेलन में सर्वप्रथम मुद्रा में स्थिरता लाने के संबंध में विचार किया गया और इसके साथ ही अंतर्राष्ट्रीय व्यापार क्षेत्र में विभिन्न बाधाओं, विशेषकर सीमा-शुल्कों में कमी करने पर भी विचार किया गया। जो देश (फ्रांस, इटली, बेल्जियम, हालैंड आदि) अभी तक स्वर्णमान को अपनाए हुए थे, वे इस बात पर अड़ गए कि आयात-करों को कम करने के विषय में समझौता करने के लिए मुद्रा में स्थिरता लाई जाए। परंतु इस समय तक अमेरिका की बैंकिंग-व्यवस्था भी छिन्न-भिन्न हो चुकी थी और बेरोजगारों की संख्या में काफी वृद्धि हो गई थी। अतः राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने चार दिन के लिए अमेरिका के सभी बैंक बंद कर दिए। अप्रैल, 1933 में अमेरिका ने डालर का सोने से संबंध-विच्छेद कर दिया। इसलिए लंदन सम्मेलन में अमेरिकी प्रतिनिधिमंडल ने घोषणा की कि वाशिंगटन सरकार की राय में अभी मुद्रा स्थिरता लाने का प्रयास करने का समय नहीं है। अमेरिका की इस घोषणा ने वास्तव में सम्मेलन को विफल बना दिया; यद्यपि सम्मेलन 27 जुलाई तक चलता रहा। इस प्रकार यह सम्मेलन असफल रहा।

टिप्पणी

परंतु इस समय तक महा संकट की उग्रता कम हो चुकी थी। कई देशों ने मुद्रा प्रसार की दृष्टि से अपनी मुद्रा का अवमूल्यन कर दिया जिससे वस्तुओं की कीमतें बढ़ गईं। कुछ राज्यों ने युद्ध सामग्री का उत्पादन बढ़ाकर बेकारी की समस्या को हल करने का प्रयास किया। अब गोदामों में भरा माल भी बिक चुका था। उद्योग-धंधे फिर से चलने लगे। इन सबके मिले-जुले परिणामस्वरूप धीरे-धीरे महा संकट अपने-आप ही कम होता गया।

"शस्त्र" युद्ध के लिए कच्चे माल के समान है। जैसे बिना आंखों के देखा नहीं जा सकता वैसे ही शस्त्रों के बिना युद्ध नहीं हो सकता। जिन देशों ने नि:शस्त्रीकरण किया हो उनके मध्य तकनीकी तौर पर युद्ध होना असंभव है।

शस्त्रों की परंपरा पुरानी है आदिमानव द्वारा प्रथम शस्त्र के रूप में पत्थरों का प्रयोग किया गया। जैसे-जैसे विकास हुआ शस्त्रों का रूप भी आधुनिक होता गया। युद्ध की विभीषिका ने कई प्रतिष्ठित वंशों को समाप्त किया। प्रथम विश्व ने तो मानव अस्तित्व को हिला कर रखा दिया, तब विश्व के कूटनीतिज्ञों एवं मानवतावादियों ने विश्व शांति एवं सुरक्षा का स्वप्न देखा और उसे नि:शस्त्रीकरण के द्वारा पूरा करने का प्रयास किया। 1919 से 1933 तक काफी प्रयास किये गये। दो विश्वयुद्धों के बीच अंतर्राष्ट्रीय नि:शस्त्रीकरण के प्रयास असफलता की कहानी बनकर रह गये।

नि:शस्त्रीकरण की परिभाषा

नि:शस्त्रीकरण वह कार्यक्रम है जिसका उद्देश्य शस्त्रों के अस्तित्व और उनकी प्रकृति से उत्पन्न कुछ विशिष्ट खतरों को कम या समाप्त कर देना था। नि:शस्त्रीकरण शस्त्र दौड़ समाप्त करना, सभी या कुछ विशेष प्रकार के हथियारों को कम करना या समाप्त करना है।

नि:शस्त्रीकरण को अनेक विद्वानों ने इस प्रकार परिभाषित किया है–

बेंजामिन वी. कोहेन– "नि:शस्त्रीकरण को ऐसी स्थितियां पैदा करने वाली प्रक्रिया माना जा सकता है, जो राष्ट्रों के लिए शांति को खतरे में डालने या तोड़ने को कठिन बना देता है, न कि सौदेबाजी की एक प्रक्रिया के रूप में जो युद्ध की तैयारी के लिए किये जाने वाले व्यय को कम करता है।"

हैन्स जे. मोर्गेन्थो– "नि:शस्त्रीकरण शस्त्र–दौड़ समाप्त करने, सभी या कुछ विशेष प्रकार के हथियारों को कम करना या समाप्त करना है।"

वी.वी. डायक– "कोई भी नियमन या परिसीमन जिसका संबंध सशस्त्र शक्ति से हो उसे नि:शस्त्रीकरण का उपाय माना जाता है।"

वाशिंगटन (अमेरिका) स्थित Institute for Defense Analyses के विशेषज्ञों के अनुसार– "कोई योजना जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से नि:शस्त्रीकरण के किसी एक पहलू, जैसे शस्त्रों की योजना प्रणाली उनके नियंत्रण, उनकी सहायता के लिए पूरकयंत्रों के निर्माण, प्रयोग, वितरण, गुप्त सूचनाएं एकत्र करने के संयत्र, सेना के संख्यात्मक स्वरूप आदि को नियमित करने से संबंधित हो, नि:शस्त्रीकरण की श्रेणी में आता है।"

दो विश्वयुद्धों के बीच में निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता

टिप्पणी

विश्व दो युद्धों की विभीषिका देख चुका है। पुनः इस प्रकार के युद्धों का सामना न करना पड़े इसलिए निःशस्त्रीकरण की प्रक्रिया का जन्म हुआ क्योंकि शस्त्र ही कहीं न कहीं युद्ध के लिए परिस्थितियां उत्पन्न करते हैं। निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता पर निम्नलिखित तर्क दिये गये हैं।

(1) **सैनिक तर्क**– शस्त्र युद्धों को जन्म देते हैं। शस्त्र निर्माण की प्रक्रिया राष्ट्रों के बीच है एवं भय को उत्पन्न करते हैं, जिसका अंतिम परिणाम युद्ध होता है। इससे यह धारणा भी उत्पन्न होती है कि लोग लड़ते हैं, क्योंकि उनके पास हथियार हैं परंतु यह तर्क बहुत न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता है।

(2) **आर्थिक तर्क**– शस्त्रों के निर्माण पर खर्च होने वाली धन राशि का प्रयोग आर्थिक विकास या अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को बढ़ाने के लिए किया जा सकता है। वर्तमान में विश्व जनसामान्य के न्यूनतम विकास की समस्या से जूझ रहा है और जहां जनसंख्या के एक बड़े भाग की न्यूनतम आवश्यकताएं भी पूरी नहीं हो पा रही हैं। 16 अप्रैल, 1953 को दिये गये एक व्याख्यान में तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति आइजन हावर ने कहा– "प्रत्येक बंदूक जो बनायी जाती है, प्रत्येक नौसैनिक पोत जो छोड़ा जाता है, प्रत्येक रॉकेट जो प्रक्षेपित किया जाता है अंततः उनमें कुछ हरण करता है, जो भूखे हैं लेकिन जिन्हें भोजन नहीं मिलता, जो शीतपीड़ित हैं, लेकिन जिनके पास वस्त्र नहीं हैं, यह संसार हथियारों में मात्र धन नहीं खर्च कर रहा है वरन यह अपने श्रमिकों का पसीना अपने वैज्ञानिकों की प्रतिभा और अपने बच्चों की आशा खर्च कर रहा है।"

(3) **नैतिक तर्क**– नीतिशास्त्री और आदर्शवादी नैतिक आधार पर शस्त्रों के संग्रहण और शस्त्रों की दौड़ का विरोध करते हैं। युद्ध के नैतिक अनौचित्य में विश्वास रखने वाले विचारकों के मत हैं कि शस्त्र रखने का अर्थ है युद्ध की मौन स्वीकृति और यह मौन स्वीकृति युद्ध को बल देती है।

(4) **निरंतर तनाव का वातावरणः**– शस्त्रीकरण की बढ़ती हुई दौड़ के कारण संपूर्ण विश्व में निरंतर आतंक तथा तनाव का वातावरण बना हुआ है, इससे समस्याओं के शांतिपूर्ण समाधान में बाधा पहुंचती है। शीत युद्ध से अधिक उग्रता आती है।

(5) **शस्त्रीकरण मृत्यु का पैगाम हैः**– शस्त्रीकरण के क्षेत्र में होने वाली आश्चर्यजनक क्रांति ने संपूर्ण मानवता को जीवन और मृत्यु के चौराहे पर लाकर खड़ा कर दिया है। तकनीकी आविष्कारों ने इतने भयानक शस्त्रों का निर्माण कर दिया है कि कुछ ही मिनटों में संपूर्ण विश्व को नष्ट किया जा सकता है।

(6) **शस्त्रीकरण से अन्य देशों में हस्तक्षेप**– शस्त्रीकरण दूसरे देशों द्वारा हस्तक्षेप करने का भी मार्ग प्रशस्त करता है। विश्व के छोटे राष्ट्र बड़े राष्ट्रों से शस्त्र तथा हथियारों की टेक्नोलॉजी का आयात करते हैं। आमतौर से यह देखा गया है कि बड़े राष्ट्र शस्त्र निर्यात और शस्त्र सहायता को राजनीतिक दबाव के साधन के रूप में प्रयुक्त करते हैं ताकि परोक्ष रूप से प्राप्तकर्ता देश

टिप्पणी

दाता देशों के चंगुल में फंसे रहें। यह नहीं शस्त्र सहायता तथा शस्त्र निर्यात के नाम पर बड़ी शक्तियां छोटे देशों की अर्थव्यवस्था में घुसपैठ करती हैं।

इस प्रकार द्वितीय विश्व के पश्चात महाशक्तियों के बीच शस्त्रीकरण की प्रतिस्पर्धा की शुरुआत हुई। महाशक्तियों की इस प्रतिस्पर्धा ने भी निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता को बल दिया और अंतर्राष्ट्रीय समाज निःशस्त्रीकरण की प्रक्रिया की आवश्यकता महसूस करने लगे। विश्व में शांति और युद्ध को रोकने के लिए निःशस्त्रीकरण अत्यंत आवश्यक है।

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात कूटनीतिज्ञ एवं मानववादी काफी चिंतित थे कि इस दिशा में क्या उपाय किए जाएं।

निःशस्त्रीकरण की आवश्यकता के कारण निम्नलिखित हैं–

1. विश्व के समस्त राजनीतिज्ञों का नैतिक कर्तव्य था कि वे जनता को युद्ध की विभीषिका से बचायें।
2. युद्ध के कारण महा संकट उत्पन्न होता है एवं लोकहित कार्यों में रुकावट आती है।
3. विश्व को युद्ध के आतंक से मुक्ति दिलाना।
4. विश्व को शांति एवं सुरक्षात्मक दृष्टिकोण देना।

निःशस्त्रीकरण के प्रारंभिक प्रयास

कांट ने अपनी पुस्तक (Perpetual Peace 1795) में कहा कि सेनाओं की तैनाती को समाप्त करना शांति की पहली शर्त है। वेस्टफेलिया (Westphalia) की संधि में किले बंदी को समाप्त करने की बात कही गई।

रूस के जार के प्रयासों से 'हेग' में दो निःशस्त्रीकरण सम्मेलन का आयोजन किया गया जिसमें प्रथम में 27 देशों ने एवं द्वितीय में 47 देशों ने भाग लिया। इसमें विषैली गैसों के प्रयोग पर प्रतिबंध लगाया गया।

निःशस्त्रीकरण के प्रथम प्रयास

1. पेरिस शांति सम्मेलन 1919 में विल्सन के चौथे सूत्र में कहा गया कि शस्त्र उतने ही रखे जायें जितने सुरक्षा के लिए आवश्यक हैं।
2. राष्ट्र संघ ने सलाह दी कि जब तक देशों को उनकी सुरक्षा का आश्वासन नहीं दिया जायेगा निःशस्त्रीकरण संभव नहीं है।
3. 1924 में लीग द्वारा बनाये गये घोषणा पत्र में युद्ध को पूर्णतः बंद करने, आक्रान्त निश्चित करने, उनके विरुद्ध कार्यवाही करने आदि के लिए लीग ने न्यायालय के समक्ष रखने की बात कही।
4. जेनेवा सम्मेलन – 1932 में राष्ट्र संघ के अंतर्गत 3 फरवरी 1932 को 65 देशों का सम्मेलन जेनेवा में आयोजित किया गया इसमें युद्धों को रोकना एवं शस्त्रों के प्रयोग पर नियंत्रण की बात हुई तथा रेडियो, फिल्मों तथा समाचारपत्रों द्वारा पारस्परिक मैत्री भावना कर निःशस्त्रीकरण करने की बात कही गई।

टिप्पणी

निःशस्त्रीकरण के अन्य प्रयास

निःशस्त्रीकरण के अन्य प्रयासों को निम्न प्रकार से समझाया गया हैः–

1. वाशिंगटन सम्मेलन– यह सम्मेलन अमेरिका के राष्ट्रपति हाडिंग ने 12 नवम्बर 1921 में वाशिंगटन में बुलाया। इसमें इंग्लैंड, फ्रांस, इटली, पुर्तगाल चीन, बेल्जियम आदि देश शामिल हुए। इस सम्मेलन में 7 संधियां हुई इसमें अमेरिका और इंग्लैंड के पास 52,500 टन के जंगी जहाज, जापान के पास 31,500 टन, फ्रांस के पास 17,500, टन इटली के पास 17,500 टन के जंगी जहाज होने चाहिए। नौ सेना शक्ति का अनुपात भी निश्चित कर दिया– अमेरिका एवं इंग्लैंड–5 जापान–3 फ्रांस एवं इटली 1.67।
2. चार देशों का समझौता– अमेरिका, फ्रांस, इंग्लैंड, जापान ने प्रशांत महासागर के क्षेत्र में युद्ध की स्थिति में आपसी बातचीत का निर्णय किया।
3. 1927 में जेनेवा में सम्मेलन हुआ जो बिना किसी निर्णय के साथ समाप्त हो गया।
4. मास्को सम्मेलन भी अपने उद्देश्य में सफल नहीं हो सका।
5. 1923 में अमेरिकी देशों द्वारा पांच वर्षों के लिए शस्त्रों की संख्या निश्चित करने का संकल्प लिया गया।
6. लंदन सम्मेलन : अमेरिका के राष्ट्रपति 'हर्बट हुवर' एवं इग्लैण्ड के प्रधानमंत्री मेकडोनल्ड के प्रयासों से लंदन सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमें फ्रांस, इटली एवं जापान शामिल हुए। बाद में फ्रांस एवं इटली इस संधि में अलग हो गये। यह समझौता अमेरिका, ब्रिटेन एवं जापान तक ही सीमित रहा।

   लंदन की संधि के प्रथम भाग में 1922 की वाशिंगटन–संधि की धाराओं को दोहराया गया एवं दूसरे भाग में तीनों देशों ने हस्ताक्षर किए एवं जवानों के अनुपात को निश्चित किया गया। आवश्यकता पड़ने पर युद्ध–पोतों के अनुपात को बढ़ाया जा सकता था। जापान ने कालान्तर में अमेरिका व ब्रिटेन की तरह नौ–सैनिक की मांग की जिसे स्वीकार नहीं किया गया परिणामतः जापान ने 1937 में अपने आप को इस संधि से पृथक कर लिया।

   जापान की इटली, जर्मनी की शक्तियों के चर्मोत्कर्ष ने यूरोपीय शक्तियों को पुनः सम्मेलन करने को मजबूर कर दिया। 9 दिसम्बर 1935 को अमेरिका, इंग्लैंड फ्रांस, इटली, जापान के प्रतिनिधि लंदन में एकत्रित हुए। परंतु आपसी विचार–विमर्श में मतैक्य नहीं होने पर यह समझौता कोई महत्वपूर्ण समझौता करने में सफल नहीं रहा।
7. अंगोरा घोषणा पत्र 1930 के द्वारा भी निःशस्त्रीकरण का प्रयास किया गया।

निःशस्त्रीकरण की असफलता

निःशस्त्रीकरण की असफलता के निम्न कारण हैं–

(1) निःशस्त्रीकरण दिखावा मात्र था।

(2) आपस में स्वार्थ एवं प्रतिस्पर्धा की भावना।

(3) राष्ट्र संघ की असफलता।

(4) हिटलर, मुसोलिनी का साम्राज्यवादी दृष्टिकोण।

(5) बड़े राष्ट्रों के द्वारा निःशस्त्रीकरण की नीतियां बनाना पर उनका पालन न करना।

(6) वैज्ञानिक खोजों ने निःशस्त्रीकरण की प्रक्रिया को असफल कर दिया।

टिप्पणी

इस प्रकार लंबे समय से चली आ रही निःशस्त्रीकरण की प्रक्रिया अंतर्राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाओं के कारण सफल नहीं हो सकी। तात्कालिक राजनीतिज्ञों द्वारा जो भी प्रयास किये गये वे इसलिए भी सफल नहीं हुए क्योंकि नियम बनाना आसान है पर उन पर चलना कठिन होता है। इसलिए उन्होंने नियम तो बनाये पर उनका क्रियान्वयन उचित ढंग से नहीं कर पाए।

अंततः हैन्स जे मोर्गेन्थो के शब्दों में कहा जा सकता है– "निःशस्त्रीकरण के प्रयासों का इतिहास अधिक असफलताओं और कम सफलताओं का इतिहास है।"

दो विश्व युद्धों के बीच यूरोपीय राष्ट्रों ने शांति एवं सुरक्षा के उद्देश्य से निःशस्त्रीकरण का प्रयास किया, परंतु हिटलर एवं मुसोलिनी की अधिनायकवादी नीतियों एवं तत्कालीन परिस्थितियों के कारण यह कार्य सफल नहीं हो सका और पुनः विश्व को द्वितीय विश्वयुद्ध के रूप में इसका सामना करना पड़ा। वर्तमान में भी इसमें खतरनाक नैतिक हथियारों (कोरोना) का सामना मानवजाति को करना पड़ रहा है।

अपनी प्रगति जांचिए

7. राष्ट्र संघ के द्वारा 3 फरवरी 1932 को 65 देशों का सम्मेलन कहां आयोजित किया गया?

(क) जापान (ख) फ्रांस

(ग) जेनेवा (घ) इंग्लैंड

8. अमेरिका के राष्ट्रपति द्वारा वाशिंगटन सम्मेलन कब बुलाया गया?

(क) 12 नवम्बर 1920 (ख) 15 नवम्बर 1920

(ग) 10 नवम्बर 1921 (घ) 12 नवम्बर 1921

9. जेनेवा सम्मेलन किस वर्ष हुआ?

(क) सन् 1923 (ख) सन् 1925

(ग) सन् 1927 (घ) सन् 1929

2.5 जर्मनी, इटली एवं जापान में अधिनायक तंत्र का विकास

प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी की पराजय के परिणामस्वरूप वहां की जनता को अनेक कष्टों का सामना करना पड़ा। इस निराशा और असंतोष के वातावरण में वहां राजतंत्र के विरुद्ध विद्रोह हो गया और 'कैसर विलियम द्वितीय' को देश छोड़कर भागना पड़ा।

राजतंत्र की समाप्ति के पश्चात वहां समाजवादी सक्रिय हुए। 'सोशल डेमोक्रेटिव दल' के नेता फ्रैडरिक एबर्ट ने जर्मनी में गणराज्य की स्थापना की एवं वाइमर नामक स्थान पर वाइमर गणतंत्र की नींव रखी।

टिप्पणी

वाइमर गणतंत्र विदेश नीति के क्षेत्र में जर्मनी की उग्रवादी आकांक्षाओं को पूर्ण करने में सफल नहीं रहा और इसका लाभ एडोल्फ हिटलर ने उठाया और जर्मनी में नाजीदल के साथ अधिनायकतंत्र की नींव रखी।

प्रथम विश्व युद्ध में इटली ने मित्र राष्ट्रों का साथ दिया, जिस उद्देश्य से इटली ने उनका साथ दिया वो अपेक्षा उसकी पूरी नहीं हुई इसका दोषारोपण इटलीवासियों ने अपनी सरकार पर थोप दिया। इन परिस्थितियों का लाभ उठाकर वेमिटो मुसोलिनी ने इटली में 'फासीवाद की स्थापना की। साम्राज्यवादी ताकतों का सामना करने एवं जापान को आधुनिक बनाने के लिए किए गए प्रयासों से वहां भी अधिनायकतंत्र की स्थापना के युग की शुरुआत हुई।

2.5.1 जर्मनी में अधिनायक तंत्र का विकास

प्रथम विश्व युद्ध में पराजय के पश्चात उसे वर्साय की अपमानजनक संधि पर हस्ताक्षर करने पड़े। जर्मनवासियों ने इसका संपूर्ण दोषारोपण राजतंत्र पर किया और कैसर विलियम द्वितीय के विरुद्ध क्रांति कर उसे देश छोड़ने पर विवश किया। राजतंत्र विरोधी क्रांति की सफलता ने वहां समाजवादियों को सक्रिय कर दिया।

अतः 'सोशल डेमोक्रेटिव' दल के नेता फ्रैडरिक एबर्ट ने जर्मनी में गणराज्य की स्थापना की वाइमर नामक स्थान पर संविधान की आधार शिला रखी। फ्रैडरिक एबर्ट को राष्ट्रपति एवं 'शीडमैन' को चांसलर नियुक्त किया। 11 अगस्त 1919 को नया संविधान लागू किया गया। संविधान के अनुसार कार्यपालिका का अध्यक्ष राष्ट्रपति को बनाया गया तथा बहुमत के नेता को चांसलर (प्रधानमंत्री) बनाया गया। द्वि सदनीय संसद की स्थापना की गई प्रथम 'राइरटस्टाग; द्वितीय 'राइरटस्ट्राट'

विशेषताएं

जर्मनी में अधिनायक तंत्र की विशेषताएं निम्न हैंः–

1. मजदूरों को हड़ताल करने और सामूहिक संगठन बनाने का अधिकार प्राप्त है।
2. सरकार किसी की भी संपति पर अधिकार कर सकती थी।
3. विवाह को नागरिक अनुबंध घोषित किया गया।
4. आर्थिक परिषद – ये नियम नहीं बना सकते थे, केवल सलाह दे सकते थे।

इस संविधान के द्वारा जर्मनी के अलग–अलग राज्यों को समाप्त करके केंड को शक्तिशाली बनाने का प्रयास किया गया।

समस्याएं

गणतंत्रवादी सरकार के दो विरोधी थे– साम्यवादी तथा राजतंत्रवादी। एबर्ट ने विरोधियों के विरुद्ध कार्यवाही की पर सफल नहीं रहा। जर्मनी की जनता धीरे–धीरे गणतंत्रीय सरकार की विरोधी बन गई। वर्साय की अपमान जनक संधि पर हस्ताक्षर

टिप्पणी

का दोषारोपण उसी पर किया। लोगों ने नारा लगाया कि वर्साय की संधि मुर्दाबाद। उनके लिए यह संधि अपमान का चिह्न थी। जर्मनी की आंतरिक व्यवस्था डगमगाने लगी। इस स्थिति का वर्णन करते हुए कार ओस्वाल्ड स्पेंगलर ने अपनी पुस्तक (The Decline of the west) में लिखा है – "सभी व्यक्ति भाग्यवादी हो गये थे कुछ लोग विश्वास करने लगे थे कि जर्मनी सभ्यता का अंत होने वाला है।" इस स्थिति से जर्मनी का युवा वर्ग जागृत हुआ और अपने देश के पुनर्निर्माण के लिए आंदोलित हुआ।

पतन

वाइमर गणतंत्र के लिए वर्साय को अपमानजनक संधि का जिम्मेदार ठहराया गया। जर्मनी का युवा वर्ग कभी भी उसका समर्थक नहीं बन सका। युद्ध के हर्जाने की एक बड़ी राशि को चुकाने में असमर्थता भी उसके पतन का कारण थी। जर्मनी की सरकार महा समस्याओं के निराकरण के मार्ग को खोज नहीं सकी और देश गरीबी और भुखमरी के दलदल में फंस गया। विश्व राजनीति में जर्मनी के साथ सम्मानजनक व्यवहार नहीं हो रहा था। वाइमर गणतंत्र प्रभावी विदेश नीति के संचालन में असफल थे। इस सबका प्रभाव वहां की जनता पर पड़ा और उसने एडोल्फ हिटलर जैसे योग्य नेता दिया। इन सारी परिस्थितियों ने जर्मनी में वाइमर गणतंत्र को समाप्त कर दिया।

विदेश नीति – 1919–1932 ई.

1. फ्रांस जर्मनी से डरा हुआ था वह उसे विकसित नहीं होने देना चाहता था
2. डावेस–प्लान– इस प्लान के अनुसार युद्ध के हर्जाने को कई किस्तों में जमा करना था।
3. लोकेर्नो संधि (Locrno Pact) – यह संधि फ्रांस की जर्मनी से सुरक्षा के लिए की गयी थी। यूरोपीय देशों ने फ्रांसीसी–जर्मनी सीमा का आश्वासन दिया।
4. जर्मनी को 'लीग ऑफ नेशन्स' का सदस्य बनाया एवं 'सुरक्षा परिषद (Security Council-Owen Young) के अधीन आयोग बनाया गया। उसने सिफारिश की जर्मनी का युद्ध कर तीन चौथाई घटा दिया जाये और शेष 58 वर्षीय किश्तें कर दी जायें। यह योजना 1929 से लागू हुई।

इस प्रकार वाइमर गणतंत्र आंतरिक एवं विदेश नीति में सफल नहीं हो सका। वह एक युवा उत्साही ऊर्जावान व्यक्तित्व की तलाश में था जो उसे शीघ्र ही मिल गया।

जर्मनी में हिटलर एवं नाजीवादी पार्टी का उत्थान

प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी पूर्णतः पराजित हुआ और वहां राजतंत्र की समाप्ति हुई। एबर्ट के नेतृत्व में वाइमर गणतंत्र की स्थापना हुई जो अपने आंतरिक एवं बाह्य लक्ष्य को पूर्ण करने में असफल रही। इसका लाभ जर्मनी में पनप रहे नाजी दल ने उठाया, जिसका नेता एडोल्फ हिटलर था।

हिटलर का जीवन परिचय

एडोल्फ हिटलर का जन्म आस्ट्रिया एवं वबेरिया की सीमा पर 'ब्रोनो' नामक नगर में एक लोहार परिवार में हुआ था। वह वास्तुकला की शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से

वियना गया परंतु विश्वविद्यालय की प्रवेश परीक्षा में असफल रहा। वह अपनी जीविका के लिए घरों में चित्रकारी करने लगा।

टिप्पणी

कालान्तर में वबेरिया की सेना में भर्ती हुआ और बहादुरी के कारण उसे आयरन क्रॉस (Iron Cross) प्राप्त हुआ। उसे विश्वास था कि प्रथम विश्व युद्ध में जर्मनी विजित होगा, उसकी पराजय ने उसे निराश किया। वह पांच वर्ष म्यूनिख में रहा और जर्मन मजदूर संघ का सदस्य बन गया। 1920 में इस दल का नाम 'नेशनल सोशलिस्ट जर्मन लेबर पार्टी' रखा गया। यह पार्टी 'नाजीवादी पार्टी' कहलाई।

जर्मनी में हिटलर एवं नाजीवादी पार्टी का उत्थान

राष्ट्रीय समाजवादी जर्मन श्रमिक दल (National Socialist German Workers Party) को संक्षेप में 'नाल्सी' या 'नाजी' दल कहा जाने लगा। 'नाल्सी' शब्द राष्ट्रीय और समाजवादी शब्द से बना था। इसका समाजवाद से कोई संबंध नहीं था। 1920 में उसने 25 सूत्रीय कार्यक्रम की घोषणा की एवं 'Volkischer beobachter' समाचार–पत्र प्रकाशित किया। उसने स्वास्तिक को अपने दल का चिह्न बनाया।

हिटलर के 25 सूत्रीय कार्यक्रम की प्रमुख बातें–

1. वर्साय की संधि को निरस्त करना।
2. जर्मनी के छीने गये उपनिवेशों को पुनः प्राप्त करना।
3. जर्मनी का पुनः शस्त्रीकरण करना।
4. यहूदियों को नागरिकता के अधिकारों से वंचित करना।
5. संसदात्मक शासन प्रणाली को समाप्त करना।
6. अंतर्राष्ट्रीयता के प्रचार व प्रसार को रोकना।
7. राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार करना।

वाइमर गणतंत्र के विरुद्ध विद्रोह करने के कारण उसे जेल की सजा हुई, जेल में रहते हुए उसने मेरा संघर्ष (Mein Kampf) पुस्तक की रचना की। प्रथम भाग 1925 में एवं द्वितीय भाग 1927 में प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक को 'नाजियों की बाइबिल' भी कहा जाता है।

नाजी दल का सैनिक संगठन : जेल से छूटने के पश्चात हिटलर ने पार्टी का संगठन नये सिरे से किया। उसने 'हिटलर यूथ सोसाइटी' की स्थापना की एवं इसके प्रचार के लिए 'पीपुल्स ऑब्जर्वर' (People's Observer) समाचार–पत्र प्रकाशित किया और उसने नाजी पार्टी को दो दलों में विभाजित किया।

(1) **एस.ए. (Strum Anteilungen) तूफानी दल**– यह शस्त्र दल आक्रामक स्वरूप था। इसके सैनिक भूरे रंग की कमीज पहनते थे जिस पर स्वास्तिक का चिह्न बना होता था।

(2) **एस.एस. (Schuiz Stufflen) विशिष्ट वर्ग का रक्षक**– इस दल के सदस्य काली कमीज पहनते थे जिसमें सफेद खोपड़ी का चिह्न बना होता था। ये दल के नेताओं के रक्षक होते थे।

टिप्पणी

हिटलर द्वारा सत्ता की प्राप्ति : हिटलर अपनी पार्टी के संगठन में पूरे प्रयास से जुट गया। हेजन के अनुसार– "उन्होंने विपत्ति तथा असंतोष के प्रत्येक कारण से लाभ उठाया।" इस दल के मानने वालों की संख्या दिन–प्रतिदिन बढ़ती चली गई और संसदीय निर्वाचनों में उनको 230 स्थान मिले।

हिटलर के मित्र फ्रांजवान पोपेन ने एक षडयंत्र रचा जो प्रजातंत्र चांसलर 'कुर्तबान' शलीचर के विरुद्ध था। पोपेन ने राष्ट्रपति हिण्डनबर्ग को वोल्शेपिज्य का भय दिखाकर हिटलर को चांसलर बनाने की सलाह दी। अतः हिण्डनबर्ग ने भयभीत होकर 30 जनवरी 1933 ई को हिटलर को प्रधानमंत्री एवं पोपेन को उपप्रधानमंत्री बनाया।

साम्यवादियों पर अग्निकांड का दोषारोपण कर जर्मनी में उन्हें प्रतिबंधित कर दिया एवं 1934 में एक आदेश के तहत अन्य सभी दलों को भी प्रतिबंधित कर दिया। 2 अगस्त 1934 को जनमत संग्रह के द्वारा राष्ट्रपति एवं प्रधानमंत्री पद को संयुक्त कर दिया उसे नाम दिया 'राइख फ्रयूरर' एवं उस पर वह स्वयं आसीन हो गया।

'गूच' के अनुसार– "जर्मनी की राष्ट्रीय विचारधारा और ऐतिहासिक परंपरा यहूदियों के प्रति जातीय विद्वेष, वर्साय व्यवस्था के लिए आवेशपूर्ण घृणा, हिटलर का आकर्षक व्यक्तित्व, उसकी महान वक्तृत्व कला (भाषण देने की कला) उसके साथियों की संगठन क्षमता – इन सबने मिलकर नाल्सी दल को शक्तिशाली बनाया।"

नाजीदल के उद्देश्य

(1) हिटलर वर्साय की संधि को समाप्त करना चाहता था,

(2) वे एक व्यक्ति के शासन पर विश्वास करते थे,

(3) वे वृहत्तर जर्मनी के निर्माण के साथ उसे विश्व शक्ति बनाना चाहते थे,

(4) निःशस्त्रीकरण जर्मनी के लिए नहीं होना चाहिए,

(5) यहूदियों को समाप्त करना,

(6) यहूदियों के अनुसार रोजगार उपलब्ध कराना,

(7) समाप्त औटोयोगिक इकाइयों का राष्ट्रीयकरण करना चाहिए,

(8) धर्म अपने आप में स्वतंत्र है परंतु अगर वह राष्ट्र की प्रगति में बाधक है तो उसे समाप्त कर देना चाहिए।

अधिनायकतंत्र की स्थापना : हिटलर का उद्देश्य जर्मनी का नाल्सीकरण करना था। उसने अपने उद्देश्य को पूरा करने के लिए हिंसा, शक्ति, छल–कपट सभी उपायों को अपनाया। उसने समाचार पत्रों का प्रकाशन बंद कर दिया। समस्त सरकारी प्रचार माध्यम नारसी दल के प्रचार कार्य में जुट गये। विरोधियों पर दबाव डालने के लिए हिटलर के गृहमंत्री हरमन गोंरिग ने आंतकवादी उपायों को अपनाया, राष्ट्रपति पर दबाव डालकर हिटलर ने नागरिक स्वतंत्रताओं पर प्रतिबंध लगा दिये। दमन के माहौल में ही जर्मनी में चुनाव हुए। चुनाव में नाजीदल को 647 में से 288 स्थान मिले। हिटलर को बहुमत नहीं मिला तो उसने साम्यवादियों को अयोग्य घोषित कर बंदी बना लिया। इस प्रकार उसने सत्ता हड़प ली।

इसके पश्चात उसने गणतंत्रीय झंडे को हटा दिया और संसदीय शासन को समाप्त कर दिया। जर्मनी में एक व्यक्ति एवं एक दल का शासन स्थापित हुआ। जर्मनी

का नाम तृतीय साम्राज्य रखा गया। नाजीदल ने उद्घोषणा की– "हिटलर या दल का नेता पूर्ण उत्तरदायित्व–संपन्न व्यक्ति है। उसकी इच्छा ही कानून है।"

टिप्पणी

हिटलर के अधीन गृहनीति एवं विदेश नीति

हिटलर ने सत्ता शक्ति के बल पर प्राप्त की और उसी के आधार पर बनाये रखने का प्रयास किया। उसने अधिनायकतंत्र को बनाये रखने के लिए निम्नलिखित कदम उठाये–

(1) **विरोधियों का दमन** : "हिटलर ने अपने विरोधियों का दमन इस तरह किया मानो कसाई, कसाई खाने में पशु का वध कर रहा है।" उसके दो शत्रु थे समाजवादी एवं यहूदी। इनको जेल में भेजकर कठोर यातनायें दी गई। उसके शत्रु कब्र में, जेल या श्रम–शिविरों में थे उसने चारों तरफ आतंक स्थापित कर दिया था।

(2) **एक दल का प्रशासन** : हिटलर ने समस्त राजनीतिक पार्टियों को समाप्त कर दिया। उसका कहना था– "The National Socialist Party in the State"।

(3) **लोक सेवा पुनः स्थापना अधिनियम** : इस नियम के अंतर्गत जिनके विवाह संबंध गैर आर्यों से हुए उन्हें नौकरियों से हटा दिया गया।

(4) **नागरिक स्वतंत्रताओं पर प्रतिबंध** : उसने नागरिक स्वतंत्रताओं पर आघात किया। भाषण और प्रकाशन की स्वतंत्रता को नष्ट कर दिया गया। विरोधी दलों के समाचार पत्रों के प्रकाशन पर रोक लगा दी गई। नाजी सिद्धांतों से असहमत हजारों नागरिकों को बंदी बना दिया गया।

(5) **गेस्टापो का आतंक** : यह एक गुप्तचर संगठन था जिसके द्वारा संदेह होने पर बंदी बनाकर यातना शिविरों में भेज दिया जाता था। जहां बंदियों को तरह– तरह की यातनाएं दी जाती थी।

(6) **युवा वर्ग को दल में शामिल करना** : 'हिटलर यूथ' संगठन के माध्यम से उसने युवा वर्ग पर नियंत्रण स्थापित किया। 1936 में जर्मनी के सभी युवक–युवतियों के लिए इसका सदस्य बनाना अनिवार्य कर दिया।

(7) **शिक्षा नीति** : सभी सरकारी पदों, शिक्षालयों, विश्वविद्यालयों आदि में गैर जर्मन को पदच्युत कर दिया। पाठय पुस्तक–स्कूल विश्वविद्यालय नाजीदल के सिद्धांतों से भर दी गई। नाजियों का मानना था– "नाजी मानते थे कि सच्चा एवं सही इतिहास उसे कहा जायेगा जो कि रक्त एवं भूमि से संबंधित हो।"

(8) **महा क्षेत्र** : महा दृष्टि को मजबूत बनाने के लिए हिटलर ने निम्नलिखित कार्य किये–

(1) 'श्रम शिविर' स्थापित कर बेरोजगारी की समस्या का समाधान किया।

(2) गैर जर्मन को पदों से हटा दिया गया।

(3) विवाहित स्त्रियों के उद्योगों में कार्य करने पर प्रतिबंध लगाया।

(4) सार्वजनिक हित के कार्यों की शुरुआत।

टिप्पणी

(5) शस्त्रीकरण की शुरुआत।

(6) श्रम नीति के अंतर्गत 'जर्मन श्रमिक मोर्चो' की स्थापना की गई। मई 1934 के अधिनियम द्वारा घटना प्रदर्शन तालाबंदी आदि निषेध कर दिये। श्रमिकों के मनोरंजन के लिए आनंद के माध्यम से शक्ति संस्था स्थापित की।

(7) उद्योग व्यापार तथा व्यवसाय नीति के माध्यम से हिटलर अपने देश को स्वावलम्बी बनाना चाहता था। उसने आयात में कमी, निर्यात में वृद्धि की, उद्योगों के लिए संरक्षण नीति बनाई, विदेशी ऋण और उसके ब्याज के भुगतान पर प्रतिबंध लगाया इन सभी नीतियों से जर्मनी का उत्पादन 12% तक बढ गया।

• **कैथोलिक्स से संबंध** : हिटलर कैथोलिक चर्च का विरोधी था। यद्यपि 1933 में उसने उनके साथ समझौता किया परंतु वह सफल नहीं हो सका। उसने कैथोलिक स्कूलों तथा उनके युवक संगठनों को कुचल दिया। सभी चर्चों को एकत्रित कर एक चर्च के अधीन कर दिया गया जिस पर सरकार का नियंत्रण था। इसका प्रधान लुडविग मुलर था।

• **कृषि नीति** : खाद्यान के क्षेत्र में जर्मनी को आत्मनिर्भर बनाने के लिए कृषि खेत्र में सुधार किया एवं 1933 में आनुवंशिक कृषि फार्म अधिनियम पारित किया जिसके अंतर्गत भूमि को आनुवंशिक बनाया गया। खाद्यान्न के उचित वितरण के लिए खाद्य निगम की स्थापना की।

हिटलर की गृह नीति ने समस्याओं के निराकरण में महत्वपूर्ण योगदान दिया। नाजीदल ने विरोधियों का दमन कर जर्मन युवा में उत्साह भर दिया और देश के आत्मसम्मान को बढ़ाया। परन्तु उसकी नीतियों ने विश्व में भय, घृणा और संदेह की स्थिति उत्पन्न कर दी। यह नैतिक पतन था जिसमें जर्मनी के प्रति विश्व का दृष्टिकोण सकारात्मक नहीं रहा। अंत में आर.आर. सेठी– 'ए हिस्ट्री ऑफ यूरोप' में लिखते हैं, "नाजी राज्य एक पुलिस राज्य था। नाजियों द्वारा हासिल किए गए आंतक द्वारा नियंत्रण का खतरा शायद इतिहास में अब तक ज्ञात किसी भी चीज से अधिक था।"

हिटलर की विदेश नीति

"तलवार को तैयार करना लोगों की गृहनीति के नेताओं का कार्य है तलवार के प्रयोग को सुनिश्चित करना तथा सैनिक–मित्र उपलब्ध करना विदेश नीति के नेताओं का कार्य है।"

नाजियों के अनुसार साहसिक कार्य युद्ध से बढ़कर और कुछ हो ही नहीं सकता युद्ध सर्वोच्च साहस एवं उद्देश्य होता है। इस उद्देश्य के साथ उसने अपनी विदेश नीति के लक्ष्यों को निर्धारित किया।

उद्देश्य

(1) जर्मन जाति का एकीकरण करना।

(2) वर्साय की संधि को समाप्त करना।

(3) जर्मनी की सर्वोच्चता को स्थापित करना।

(4) जर्मनी के खोये हुए क्षेत्रों को प्राप्त करना।

टिप्पणी

अपने उद्देश्य की प्राप्ति के लिए 'गोंरिग' वायुसेना सेनाध्यक्ष हिटलर – आंतरिक सुरक्षा प्रभारी, गोएबेल्स प्रचार कार्य प्रभारी नियुक्त किए गए।

(1) निःशस्त्रीकरण सम्मेलन तथा राष्ट्र संघ छोडना : 1932 में जेनेवा में निःशस्त्रीकरण सम्मेलन का आयोजन हुआ। हिटलर ने जर्मनी के लिए निःशस्त्रीकरण का प्रस्ताव रखा जिसका विरोध फ्रांस ने किया जिसके कारण 1933 में उसे राष्ट्रसंघ एवं निःशस्त्रीकरण सम्मेलन से अलग होने का नोटिस दे दिया गया। जनमत संग्रह में उसे राष्ट्रसंघ को छोड़ने के लिए 96.3% का समर्थन प्राप्त हुआ।

(2) वर्साय की संधि को तोड़ना : अधिनायक बनने के पश्चात 1935 में वर्साय की संधि को तोड़कर सैन्य शक्ति का विस्तार किया।

(3) पोलैण्ड–जर्मन अनाक्रमण समझौता (जनवरी 1934) : दोनों देशों के बीच 10 वर्ष के लिए अनाक्रमण समझौता (Non-aggression pact) किया जिसकी प्रमुख शर्त थी कि दोनों देश एक दूसरे पर आक्रमण नहीं करेंगे।

(4) चार राष्ट्रों के मध्य समझौता–1933 : हिटलर ने शांति प्रयास को दर्शाते हुए इंग्लैंड, फ्रांस व इटली के साथ शांति समझौता किया।

(5) सार की प्राप्ति : सार का क्षेत्र वर्साय की संधि के अनुसार राष्ट्रसंघ को सौंप दिया था। जनमत संग्रह द्वारा इसे जर्मनी को सौंप दिया। उस जनमत संग्रह में 90% मत जर्मनी के पक्ष में थे।

(6) अनिवार्य सैनिक सेवा लागू करना : वर्साय की संधि को तोड़ते हुए हिटलर ने 16 मार्च 1935 को जर्मनी में अनिवार्य सैनिक सेवा की घोषणा की।

(7) स्ट्रेसा सम्मेलन– 1935: हिटलर द्वारा अनिवार्य सैनिक की घोषणा से यूरोप के राष्ट्र भयभीत हो गये। फ्रांस, इंग्लैंड और इटली ने 'स्ट्रेसा' में सम्मेलन कर हिटलर की नीतियों की निंदा की परंतु इसका उस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

(8) एंग्लो–जर्मन नौसैनिक समझौता : 18 जून 1935 में हिटलर ने इंग्लैंड के साथ नौ सैनिक समझौता कर यूरोपीय राष्ट्रों को हैरान कर दिया। जिसके परिणाम स्वरूप स्ट्रेसा मोर्चा में फूट पड़ गई। इसके द्वारा इंग्लैंड ने हिटलर की सैनिक महत्वाकांक्षाओं का समर्थन कर दिया।

(9) राइन क्षेत्र का सैन्यीकरण : 1936 वर्साय की संधि के अनुसार राइन क्षेत्र को विसैन्यीकृत घोषित किया गया था। परंतु 7 मार्च 1936 ई. को हिटलर ने राइन क्षेत्र में अपनी सेनाएं भेज दी और राइनलैण्ड पर अधिकार कर लिया।

(10) स्पेन–में–अधिनायकतंत्र की स्थापना में मदद : जनरल फ्रैंको स्पेन में गणतंत्र को समाप्त कर अधिनायकतंत्र की स्थापना करना चाहता था जिसमें हिटलर ने मदद की।

(11) रोम–बर्लिन–टोकियो धुरी : स्पेन में अधिनायकतंत्र की स्थापना को लेकर इटली एवं जर्मनी मित्र बन गये। दोनों ने एक–दूसरे के हितों को समर्थन देना

टिप्पणी

शुरू किया। हिटलर ने मुसोलिनी की अबिसीनिया पर अधिकार को मान्यता दी तो मुसोलिनी ने भी हिटलर के आस्ट्रिया पर अधिकार को मान्यता दी। इधर सुदूर पूर्व में रूस के विरुद्ध वह मित्र की तलाश में था। जर्मनी इटली दोनों साम्यवाद के विरोधी थे।

अतः तीनों राष्ट्रों की महत्वाकांक्षा ने रोम–बर्लिन–टोक्यो धुरी संधि को जन्म दिया। 25 नवम्बर, 1936 में जर्मनी–जापान ने 'एन्टी कामिन्टर्न पैक्ट' पर समझौता किया। 6 नवम्बरख 1937 को इटली भी इसमें शामिल हो गया।

हिटलर ने इस संधि के बारे में कहा– "यह महान राजनीतिक विश्व त्रिकोण है जो तीन शक्तिहीन मूर्तियों में नहीं अपितु तीन ऐसे शक्तिशाली राष्ट्रों से बना है जो अपने अधिकार एवं हितों की रक्षा के लिए दृढ़ संकल्पित है।"

(12) आस्ट्रिया को हड़पना : हिटलर प्रारंभ से ही आस्ट्रिया पर अधिकार करना चाहता था। इस योजना के लिए उसने 'Anchullus' अथवा राज्यों के विकास की नीति अपनाई। 14 मार्च 1938 में वह आस्ट्रिया पहुंचा और जनमत संग्रह कराकर उसे अपने अधिकार में ले लिया। उसके इस कार्य पर पश्चिमी राष्ट्र रोने और चिल्लाने के सिवाय कुछ नहीं कर सके। "वफादार विधवाओं की भांति वे रोते और चिल्लाते रहे, परन्तु किया कुछ भी नहीं।"

(13) म्यूनिख समझौता, चेकोस्लोवाकिया का विघटन : वर्साय की संधि के द्वारा चेकोस्लोवाकिया नया राज्य बना। इस नये राज्य में चेकोस्लोवाकिया जातियों के अतिरिक्त जर्मन की संख्या सबसे अधिक थी। हिटलर जर्मन बहुल क्षेत्र जिसे 'सुडेटेंस' कहा जाता था उस पर अधिकार करना चाहता था। उसने इन्हें भड़काना शुरु कर दिया। परिणामस्वरूप चेकोस्लोवाकिया और जर्मनी के बीच युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो गई।

इंग्लैंड के प्रधानमंत्री चेकोस्लोवाकिया के हस्तक्षेप से दोनों देशों के मध्य समझौता कराया गया जिसे 'म्यूनिख समझौता कहा जाता है।

शर्तें :

(1) सुडेटेनलैंड पर जर्मनी का अधिकार हो गया।

(2) इंग्लैंड व फ्रांस ने चेकोस्लोवाकिया की सीमाओं की रक्षा का आश्वासन दिया।

(3) हिटलर ने स्वीकार किया कि वह अल्पसंख्यकों की समस्या का समाधान करेगा।

(4) हिटलर ने वचन दिया कि सुडेटेनलैंड यूरोप में उसका अंतिम विस्तार होगा।

म्यूनिख समझौता चेकोस्लोवाकिया के लिए एक बड़ा अपमान था। शूमैन ने लिखा है– "यह समझौता तुष्टीकरण की पराकाष्ठा और पश्चिमी प्रजातंत्र के लिए मृत्यु का वारण्ट था। यह सामूहिक सुरक्षा के अंत का प्रतीक था।" चेकोस्लोवाकिया के अपहरण के पश्चात हिटलर ने लिथुआनिया से 2 मार्च, 1939 को मेमल को छीन लिया।

टिप्पणी

(14) जर्मनी का इटली से फौलादी समझौता : सन् 1939 में हिटलर पोलैण्ड पर अधिकार करना चाहता था इसके लिए उसने मुसोलिनी के साथ 'फौलादी समझौता (Steel Pact) किया जिससे दोनों देश राजनीतिक एवं सैनिक रूप से जुड़ गए।

(15) रूस से संधि (23 अगस्त, 1939): हिटलर पोलैण्ड पर अधिकार करना चाहता था, उसे इसके लिए रूस से खतरा था। अतः अगस्त 1939 को उसने रूस के साथ समझौता कर लिया।

शर्तें

(1) दोनों एक दूसरे के मित्र रहेंगे।

(2) पोलैण्ड को जर्मनी एवं रूस में बांटा जायेगा।

(3) रूस जर्मनी को युद्ध सामग्री एवं खाद्य सामग्री देगा।

(4) बाल्टिक राज्यों में रूस की स्वतंत्रता घोषित की गई। यह संधि गुप्त संधि थी

(16) पोलैण्ड पर आक्रमण एवं द्वितीय विश्व युद्ध की शुरुआत : हिटलर ने पोलैण्ड से डांजिग के क्षेत्र की मांग की। इसमें वह आसानी से पूर्वी पोलैंड, जर्मनी और समुद्र से सीधा संबंध स्थापित कर सकता था। उसने 1934 का समझौता रद्द कर दिया। अतः उसने पोलिस सरकार पर यह आरोप लगाकर कि पोल जर्मनी के साथ अत्याचारपूर्ण व्यवहार करते हैं, 1 सितम्बर 1939 को पोलैण्ड पर आक्रमण कर द्वितीय विश्व युद्ध को जन्म दिया।

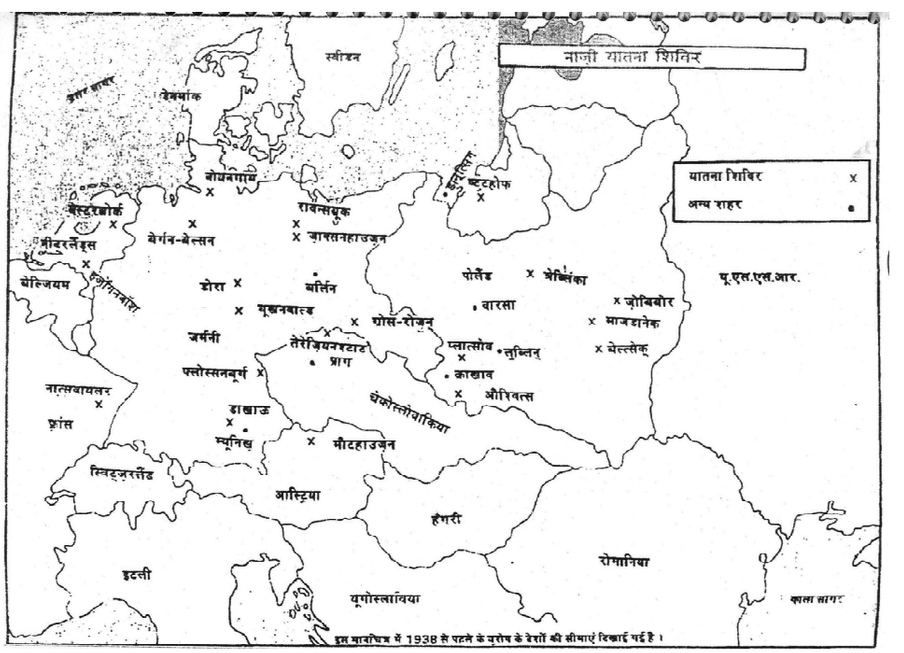

इन सभी विचारों का अध्ययन करने पर निष्कर्ष यही निकलता है कि उसकी विदेश नीति फ्रांस के प्रति शत्रुता, यहूदियों तथा साम्यवादियों का विनाश करना तथा यूरोप में जर्मनी का विस्तार करना था।

टिप्पणी

प्रथम विश्व युद्ध से अंसतुष्ट लोगों ने एक नई क्रांति द्वारा सत्ता में परिवर्तन का प्रयास किया, उसमें उन्हें सफलता भी मिली लेकिन अंततः उन्होंने द्वितीय विश्व युद्ध को आमंत्रित कर लिया। "मैं आक्रमण करूंगा, आत्म–समर्पण नहीं। समझौते की बात बच्चों जैसी है। दो ही चीजें हैं– विजय या पराजय। या तो इस संघर्ष में सफल होऊंगा या नष्ट हो जाऊंगा। मैं अपने देश की हार अपनी आंखों से कभी नहीं देखूंगा।" उसके इस कथन ने जर्मनी में अधिनायकवाद की समाप्ति कर दी।

2.5.2 इटली में मुसोलिनी एवं फासीवाद का उदय

"आज फासिज्म एक पार्टी है, एक फौज है, एक संस्था है, किंतु यह काफी नहीं है। इसे इटली की आत्मा बनकर रहना चाहिए।"

मुसोलिनी

मुसोलिनी एवं फासीवाद को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

फासीवाद का अर्थ एवं परिभाषा

फासीवाद का जन्म प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात इटली में हुआ था इसका जन्मदाता बेनिट मुसोलिनी था। फासीवाद अंग्रेजी के शब्द 'Fascism' का हिंदी रूपान्तरण है। अंग्रेजी का फेसिज्म लैटिन भाषा के शब्द फेसेस (Faces) से बना है। फेसेस शब्द का अर्थ 'छड़ियों के बंडल' तथा 'कुल्हाड़ी' है। फासिस्टवाद के ध्वज का भी यही चिह्न है। यह अनुशासन तथा सैनिक जीवन का प्रतीक है। फासीवाद की व्यवस्था करते हुये मुसोलिनी ने लिखा है– "फासीवाद कोई ऐसा सिद्धांत नहीं है जिसकी हर बात को विस्तारपूर्वक पहले से ही स्थिर कर लिया गया हो। फासीवाद का जन्म कार्य किये जाने की आवश्यकता के कारण हुआ है। अतः फासीवाद सैद्धांतिक होने के स्थान पर आरंभ से ही व्यावहारिक रहा है।"

फासीवाद के स्रोत : डार्विनवाद, बुद्धि विरोधवाद, परम्परावाद, आदर्शवाद इसके प्रमुख स्रोत थे।

फासीवाद के लक्षण एवं सिद्धांत

फांसीवाद के लक्षण एवं सिद्धांत को निम्न प्रकार से समझा जा सकता हैः–

(1) फासीवाद एक क्रमबद्ध दर्शन नहीं है इसलिए फासिस्टवादी विचार अस्पष्ट रूप से प्राप्त होते हैं।

(2) व्यक्ति का मूल्य केवल राष्ट्र में रहकर है, राष्ट्र से बाहर नहीं। मनुष्य का सर्वोत्तम कर्तव्य राष्ट्रीय उपासना है और मनुष्य के केवल उन्हीं कार्यों को सराहनीय माना जायेगा जिनसे राष्ट्र का गौरव बढ़े।

(3) राज्य एक दैवीय तथा नैतिक संस्था है

(4) राज्य एक यथार्थ तथा सर्वशक्तिमान संस्था है।

(5) एक दल और एक नेता में विश्वास।

(6) फासीवादी स्वतंत्रता को अधिकार न मानकर कर्तव्य मानते हैं।

टिप्पणी

(7) फासीवादी लोकतंत्र को मूर्खतापूर्ण, भ्रष्ट, काल्पनिक तथा अव्यावहारिक शासन व्यवस्था मानते हैं।

(8) फासीवाद अंतर्राष्ट्रीयता का विरोधी है। मुसोलिनी के शब्दों में, "अंतर्राष्ट्रीय शांति कायर का स्वप्न है।"

(9) फासीवादी शांति के शत्रु एवं युद्ध के समर्थक थे। मुसोलिनी का कहना था कि "युद्ध मनुष्य के लिए उतना ही आवश्यक है, जितना कि स्त्री के लिए मातृत्व।"

(10) तर्क और बुद्धिवाद में फासीवादियों को कोई विश्वास नहीं है। उनकी मान्यता है कि व्यक्ति तर्क स्वाभाविक प्रवृत्ति एवं प्रेरणा से काम करते हैं।

(11) धर्म तथा चर्च में विश्वास।

(12) परंपरावादी और जाति की श्रेष्ठता में विश्वास।

इस प्रकार फासीवाद एवं नाजीवाद के सिद्धांत एक ही थे। दोनों की उत्पत्ति की परिस्थितियां समान थी। जर्मनी में अधिनायक को 'फयूहरर' तथा इटली में 'डयूम' कहा जाता था। दोनों साम्राज्यवाद के समर्थक एवं शांति के विरोधी थे।

मुसोलिनी का जीवन परिचय एवं फासिस्ट शासन की स्थापना

बेनिटो मुसोलिनी (Benito Mussolini) का जन्म 1883 में उत्तरी इटली के रोमानिया नामक गांव में हुआ था। उसका पिता लोहार था व मां अध्यापिका थी। माता–पिता के विचारों का पूर्ण प्रभाव मुसोलिनी पर पड़ा। उसने अठारह वर्ष की उम्र में अध्यापन कार्य शुरू किया। समाजवादी विचारों से प्रभावित होकर किसानों को भड़काने के कारण उसे जेल जाना पड़ा।

उसने 'अवन्ति' समाजवादी पत्रिका एवं 'पोपोलोडी इटेलिया' पत्र निकाला और वह इटली की सेना में भर्ती हो गया। उसकी बहादुरी से प्रभावित होकर उसे 'कार्पोरल' की उपाधि मिली। उसने 'फासी डि कामबाटिमेंटो' (Fasci di Combattimento) दल बनाया। शीघ्र ही इसका प्रचार पूरे इटली में हो गया। 1921 तक संगठनों की संख्या 2,000 और सदस्यों की संख्या 3 लाख तक पहुंच गई। इसे मुसोलिनी ने सैनिक स्वरूप दिया। वे अलग झंडा या काली कुर्ती पहनते थे। मुसोलिनी इस दल का ड्यूस (Duce) था।

मुसोलिनी ने नेपलस में अस्त्र–शस्त्रों से लैस 40,000 स्वयं सेवकों की बैठक आयोजित की और कहा कि साम्यवाद से निपटने के लिए सत्ता उसके हाथों में सौंप दी जाये वरना रोम पर आक्रमण किया जाएगा। 1922 में मुसोलिनी ने विक्टर एमानुअल से सत्ता हथिया ली। उसने इसका विरोध भी नहीं किया। 1925 तक वह इटली का वास्तविक शासक बन गया।

मुसोलिनी की गृहनीति और अधिनायकतंत्र की स्थापना

फासीवादी सिद्धांतों को लागू करने के लिए उसने कठोरता के साथ गृहनीति के नियमों को लागू किया और फासिस्ट अधिनायकतंत्र की स्थापना की। उसका कहना था– "कल इटली में मंत्रिमंडल न होकर उसकी (मुसोलिनी) सरकार का निर्माण होगा।"

टिप्पणी

कार्य

(1) राजनीतिक क्षेत्र में फासीवादी सिद्धांतों को लागू किया व संसद के समस्त अधिकार अपने हाथ में ले लिए।

(2) संसद से नियम पारित कर वह वास्तविक शासक एवं तीनों सेनाओं का प्रमुख बन गया।

(3) शासन को व्यवस्थित रूप से चलाने के लिए उसे निम्न भागों में विभाजित किया–

(i) मिनिस्ट्री फांसीदल के बहुमत वाली कैबिनेट थी।

(ii) ग्राण्ड कौंसिल ऑफ फासिस्ट पार्टी – फासीदल की समिति थी।

(iii) पार्लियामेंट – (क) सीनेट, इसके सदस्य मुसोलिनी चुनता था।

(ख) चैम्बर ऑफ डिपुटीज – फासिस्ट पार्टी द्वारा इसके सदस्यों का चयन होता था।

(4) लेखन, भाषण, पत्रों पर सरकारी नियंत्रण स्थापित कर दिया।

(5) समस्त शिक्षा में फासीवादी सिद्धांतों को लागू किया गया।

(6) यहूदियों के पढ़ने, नौकरी एवं वैवाहिक गतिविधियों पर नियंत्रण स्थापित कर दिया।

(7) फासिस्ट विरोधियों को दंडित करने के लिए मुसोलिनी ने गुप्त पुलिस दल का गठन किया।

(8) उद्योगों तथा व्यवसायों पर नियंत्रण स्थापित किया। फासिस्ट विचारधारा को मानने वाले संघों को स्वीकृति दी गई।

(9) मुसोलिनी राज्य और चर्च के संघर्ष को देश के हित में नहीं मानता था वह चर्च की शक्ति का उपयोग राज्य की शक्ति बढ़ाने में करना चाहता था। इसके लिए उसने 'पोप पायस ग्यारहवें' से 11 फरवरी 1929 को पोप के लाटेरन प्रासाद में एक समझौता किया।

शर्तें

(i) रोम पर इटली की सरकार का अधिकार मान्य हुआ।

(ii) वेटिकन नगर पोप का स्वतंत्र नगर घोषित कर दिया।

(iii) पोप ने सवोय वंश को मान्यता प्रदान की।

(iv) कैथोलिक धर्म को इटली का राज्य धर्म स्वीकार किया गया।

(v) शिक्षालयों में धार्मिक शिक्षा अनिवार्य कर दी गई।

(vi) सरकार पादरियों को वेतन देगी।

इस समझौते ने रोमन प्रश्न को समाप्त कर दिया। पोप व इटली के मध्य संघर्ष का अंत हुआ। इसमें देश धार्मिक विवादों से हटकर राष्ट्रविकास में ध्यान दे सकेगा। पोप के कथन के इस संदर्भ में "इटली ने ईश्वर पा लिया है और ईश्वर को इटली मिल गया है।"

टिप्पणी

मुसोलिनी की विदेशनीति

मुसोलिनी इटली को विश्व की महान शक्तियों में शामिल कराना चाहता था। उसका मानना था कि "इटली का विस्तार उसके जीवन और मृत्यु का प्रश्न है, इटली का विस्तार होना चाहिए, नहीं तो उसका विनाश हो जायेगा।" मुसोलिनी की विदेश नीति फासिस्ट सिद्धांत पर आधारित थी।

विदेश नीति के उद्देश्य

(i) इटली के सम्मान और गौरव में वृद्धि करना।

(ii) शक्तिशाली विदेश नीति का संचालन करना।

(iii) साम्राज्य विस्तार करना।

(iv) प्राचीन रोमन साम्राज्य के गौरव की रक्षा करना।

(v) साम्यवाद एवं गणतंत्र वाद का विरोध करना।

(vi) इटली की सामुद्रिक शक्ति को दृढ़ करना।

(vii) वर्साय की संधि का प्रतिकार करना।

विदेश नीति के कार्य

विदेश नीति के कार्य निम्नलिखित हैः–

(1) रोड्स एवं डोडेकेनीज द्वीप समूहों पर अधिकार : ये द्वीप समूह भू–मध्य सागर में स्थित थे, जिन पर इटली का अधिकार था। 1920 की रोढ़ों की संधि से ये क्षेत्र यूनान को देने पड़े। मुसोलिनी ने इन दोनों द्वीपों पर अधिकार कर लिया। 1923 की लूसाने की संधि से मान्यता भी प्राप्त कर ली।

(2) कोर्फु विवाद : यूनान तथा अल्बानिया विवाद सुलझाने के लिए डीलिमिटेशन आयोग गठित किया गया। यूनान में 1923 में कुछ इटेलियन अधिकारियों की हत्या कर दी गई। मुसोलिनी ने इस हत्याकांड की जांच कराने को कहा। यूनान ने यह समस्या राष्ट्रसंघ के समक्ष रखी। मुसोलिनी ने नाराज होकर यूनान के कोर्फु पर बम वर्षा की और उस पर अधिकार कर लिया।

(3) फ्यूम पर अधिकार : फ्यूम पर इटली का दावा बहुत पुराना था। पेरिस शांति सम्मेलन में इटली के प्रधानमंत्री इस कार्य को पूर्ण नहीं कर पाए। वह कार्य 1924 में मुसोलिनी ने यूगोस्लोवाकिया से संधि कर पूर्ण कर लिया। एड्रियाटिक सागर के शीर्ष पर स्थित फ्यूम पर अधिकार कर लिया।

(4) अल्बानिया पर संरक्षण – टिराना की संधि : एड्रियाटिक के तट पर स्थित अल्बानिया का राजा अहमद–वे–जोगू था। देश की महा स्थिति खराब होने के कारण उसने मुसोलिनी से सहायता ली जिसमें उसका प्रभाव वहां स्थापित हो गया। 1927 में 20 वर्ष का रक्षात्मक समझौता टिराना की संधि के माध्यम से किया। इसमें अल्बानिया पर इटली का नियंत्रण स्थापित हो गया।

टिप्पणी

(5) रूस से संधि : सन् 1924 में मुसोलिनी ने रूस के साथ संधि की। उसने रूस की साम्यवादी सरकार को मान्यता प्रदान की एवं व्यापारिक समझौता किया। मुसोलिनी ने रूस को राष्ट्रसंघ का सदस्य बनाने के प्रयास किए। 1932 में संधि को पुनः दोहराया गया।

(6) अन्य देशों से संधियां : मुसोलिनी ने 1926 में रूमानिया, 1921 में स्पेन, 1928 में हंगरी, यूनान व तुर्की से संधि की एवं यूरोप में अपने महत्व को बढ़ाया।

(7) स्ट्रेसा संधि : यह संधि हिटलर के विरोध में 1935 में स्ट्रेसा नामक स्थान पर इंग्लैंड, इटली और फ्रांस के साथ की गई।

(8) रोम पैक्ट : इटली और फ्रांस के बीच उत्तरी अफ्रीका, पश्चिमी भूमध्य सागर तथा बल्कान क्षेत्र में प्रतिद्वन्द्विता थी। हिटलर के उत्कर्ष ने दोनों को करीब लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई जिसने फ्रांस एवं इटली के बीच रोम पैक्ट को जन्म दिया।

शर्तें

(i) फ्रांस के 44,500 वर्ग मील अफ्रीका क्षेत्र इटली को प्राप्त हो गये।

(ii) दोनों देशों में प्रतिद्वन्द्विता समाप्त हो गई।

(iii) आस्ट्रिया पर संकट आने पर दोनों देश विचार विमर्श करेंगे।

(iv) यूरोप की स्थिति यथावत रहेगी।

(9) एबीसीनिया पर अधिकार : एबीसीनिया अथवा इथोपिया पूर्वी अफ्रीका में स्थित था जिस पर मुसोलिनी अधिकार करना चाहता था। 5 दिसंबर 1934 को सोमालीलैण्ड के पास वालवाल नामक स्थान पर इटली और एबीसीनिया की सेनाओं में मुठभेड़ हुई और मुसोलिनी ने 1935 में उस पर आक्रमण कर दिया। राष्ट्रसंघ ने उसके विरुद्ध महा प्रतिबंध लगाये जो सफल नहीं हो सके।

1936 में मुसोलिनी की सेना ने एबीसीनिया की राजधानी आदिस अबाबा पर अधिकार कर वहां के शासक हेल हिलासी को देश छोड़ने को मजबूर कर दिया।

इस प्रकार मुसोलिया के खिलाफ कोई भी योजना कार्य नहीं कर सकी। कार ने लिखा है– "यह राष्ट्रसंघ के लिए भयंकर मार थी।"

गैरेट के शब्दों में, "अबीसीनिया की लाश ने यूरोप के जीवन को विषाक्त कर दिया।" सन् 1936 में इटली ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता का परित्याग कर दिया।

(10) इटली एवं जर्मनी के बीच समझौता : 2 अक्टूबर, 1936 को इटली एवं जर्मनी के बीच रोम–बर्लिन धुरी के साथ समझौता हुआ।

(11) स्पेन का गृहयुद्ध : स्पेन के गृहयुद्ध की शुरुआत 17 जुलाई, 1936 को हुई। इसका नेतृत्व 'जनरल फ्रेंको' ने किया। उसकी मदद हिटलर एवं मुसोलिनी ने की और स्पेन में अधिनायकतंत्र की स्थापना की।

टिप्पणी

(12) **इटली और इंग्लैंड के बीच समझौता** : 2 जून, 1937 को इटली ने इंग्लैंड के साथ समझौता किया जिसे सज्जन समझौता (Gentlemens Agreement) कहा जाता है।

(13) **एंटीकोमिन्टर्न पैक्ट** : एंटीकोमीमिन्टर्न पैक्ट में 6 नवम्बर, 1937 ई. को इटली इस रूस विरोधी समझौते में जर्मनी के साथ मिल गया।

(14) **इटली और जर्मनी के बीच समझौता** : 22 मई 1939 को इटली और जर्मनी के मध्य एक राजनीतिक समझौता हुआ इसे फौलादी समझौता (Steel Pact) के नाम से जाना जाता है।

(15) **द्वितीय विश्व युद्ध और इटली** : जर्मनी ने 1 सितंबर, 1939 को पोलैण्ड पर आक्रमण कर विश्वयुद्ध को जन्म दिया। 3 सिंतबर 1939 को ब्रिटेन व फ्रांस ने जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। 11 जून 1940 को इटली ने भी जर्मनी के पक्ष में युद्ध की घोषणा कर दी। प्रारंभ में उसे विजय मिली परंतु बाद में उसे असफलता प्राप्त हुई। 25 जुलाई, 1943 को उसे बंदी बना लिया और 18 अप्रैल 1945 को देश की जनता ने उसे उसकी प्रेयसी 'पेताच्ची' के साथ मृत्युदण्ड दे दिया।

मुसोलिनी ने साहस और निर्भरता के साथ शासन किया। उसने अपनी विदेश नीति के कारण जनता की आशाएं पूरी की और उसको अपना समर्थक बनाया। उसने अपने देश को शांति एवं गौरव दिया परंतु विस्तारवादी एवं आक्रमणात्मक विदेश नीति के द्वारा उसने अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में तनाव पैदा कर दिया जो कि द्वितीय विश्व युद्ध का एक महत्वपूर्ण कारण बना।

2.5.3 जापान में अधिनायक तंत्र की स्थापना

सुदूर पूर्व में जापान का शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उभरना यूरोपीय राष्ट्रों के लिए आश्चर्यजनक घटना थी। पेरिस शांति सम्मेलन में जापान के प्रतिनिधि के रूप में सैओन्जी सम्मिलित हुआ। अमेरिकी राष्ट्रपति बुड्रोविल्सन ने चीन में 'शांतुंग' प्रांत में जापानी दावों का विरोध किया। बाद में एक समझौते द्वारा निश्चित किया गया कि जापान शांतुंग में अपना अस्थायी अधिकार रख सकेगा। जापान के लिए यह एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी कि उसे 5 महाशक्तियों में स्थान दिया गया था।

चिकोशी यानगा ने लिखा है– "जापान ने पेरिस शांति सम्मेलन में भाग लेकर अपनी महाशक्ति बनने की महत्वाकांक्षा को पूरा किया। पश्चिम के राष्ट्रों ने विश्व राजनीति में जापान की बात सुनी।

टिप्पणी

जापान का औपनिवेशिक विस्तार
(1895-1918)

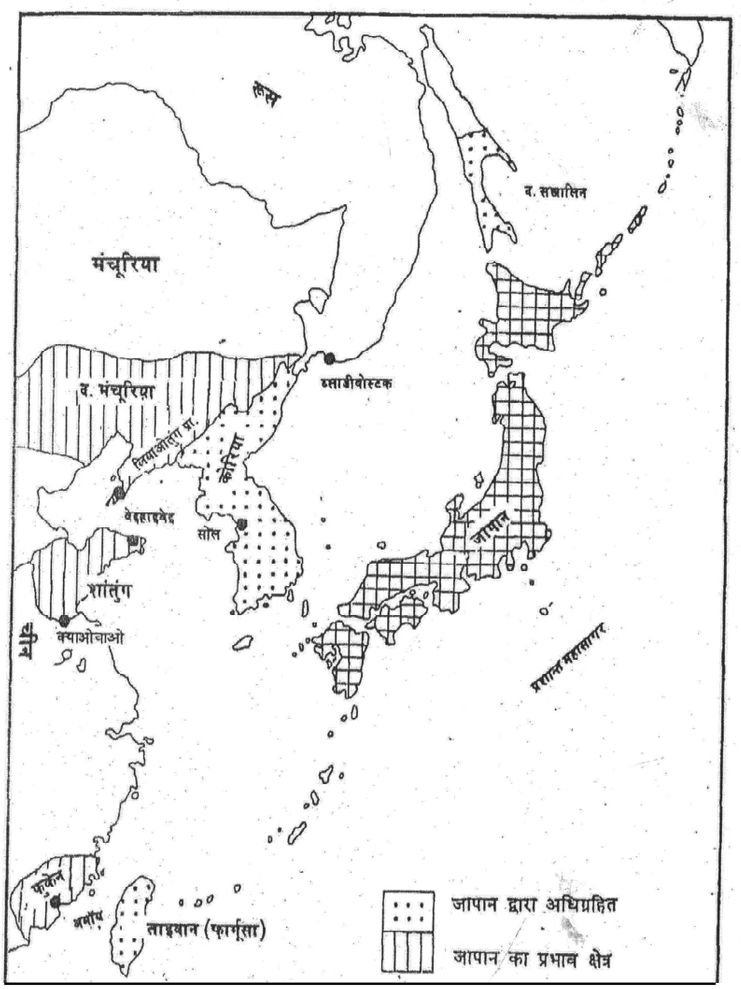

इस प्रकार प्रशांत महासागर एवं पूर्वी एशिया में जापान की शक्ति में वृद्धि हो गई।

जापान की विदेश नीति (1919 से 1945)

मेइजी पुनर्स्थापना तथा सैन्यवाद के उदय के परिणामस्वरूप जापान ने यूरोपीय राज्यों की साम्राज्यवादी दौड़ में सक्रिय भाग लिया। जापान के सैन्यवादी विकास और साम्राज्यवाद को बढ़ाने में इंग्लैंड से निरंतर प्रोत्साहन मिला। 1902 की आंगल–जापान संधि एवं रूस–जापान युद्ध (1904–5) में उसकी सैन्यवादी महत्वाकांक्षा में और वृद्धि हुई। जापान की अधिनायकवादी स्थापना को चार चरणों में बांटा जा सकता है–

(1) **विदेश नीति का प्रथम चरण (1919–1922)** : प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात पेरिस शांति सम्मेलन बुलाया गया जिसमें मित्र राष्ट्रों ने जापानी साम्राज्यवादी दावों को मान्यता प्रदान की यह जपानी सैन्यवाद की बड़ी सफलता थी–

वाशिंगटन सम्मेलन 1921–22 : सुदूर पूर्व में जापानी सैन्यवाद और उसकी महत्वाकांक्षा को अमेरिका संदेह की दृष्टि से देखने लगा। जापानी

टिप्पणी

महत्वाकांक्षा को नियंत्रित करने के लिए अमेरिका ने 'वाशिंगटन' सम्मेलन बुलाया इसमें जापान, बेल्जियम, फ्रांस, इटली, चीन, पुर्तगाल, ब्रिटेन आदि देश सम्मिलित हुए। यह सम्मेलन 12 नवम्बर 1921 से 6 फरवरी 1922 तक चला। इस सम्मेलन में 5 देशों के साथ एक पंचशक्ति नौ सैनिक संधि संपन्न हुई। इसके अनुसार 5 शक्तियों को बड़े जहाजों का अनुपात निश्चित कर दिया गया। नवशक्ति मुक्त द्वार समझौता द्वारा चीन की अखंडता का सम्मान किया गया।

(2) **विदेश नीति का द्वितीय चरण (1922–1927)**: इस अवधि में जापान ने वैदेशिक क्षेत्र में सहयोग की नीति को अपनाया। 1922 में महा संकट के समय अमेरिका ने जापान की सहायता की।

जापान ने वियना सम्मेलन में लिये गए निर्णयों का पालन किया। चीन–जापान के बीच के समझौते ने चीन को शांतुंग प्रदेश लौटा दिया। जापान ने नानकिंग मामले में ब्रिटेन तथा अमेरिका को सहयोग देने से इंकार किया। चीन एवं रूस से संबंध सुधारने का प्रयत्न किया एवं 1925 में रूस के साथ संधि की। उसने जेनेवा के नौसिक सम्मेलन में भाग लिया एवं लंदन की नौसैनिक संधि पर हस्ताक्षर किए। अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय एवं राष्ट्र संघ के साथ सहयोग किया।

(3) **विदेश नीति का तृतीय चरण (1927 से 1931)** : इस अवधि में जापान की विदेश नीति में परिवर्तन आया और उसका मानना था कि मंचूरिया, मंगोलिया और चीन पर विजय प्राप्त करना आवश्यक ही नहीं हैं, बल्कि संपूर्ण एशिया और दक्षिणी समुद्री राज्यों को जीतना भी अनिवार्य है। उसकी इस योजना को मुनरो सिद्धांत कहा जाता है 1929 में उदारवादी दल सत्ता में आने से जापान की नीति नम्र हो गई। इनुकाई सुयोशी के प्रधानमंत्री बनने से पुनः उसकी नीतियां सैनिकवादी हो गई और वहां सैन्यवाद के रूप में अधिनायकतंत्र की स्थापना हुई। क्लाइड एवं बीअर्स ने लिखा है– "सन् 1931 ई. के पश्चात जापान का राजनीतिक इतिहास सशक्त ऐतिहासिक सैनिक परंपराओं में पले और राजनीतिक विचारों वाले तानाशाही सैनिक वर्ग द्वारा संचालित उग्र राष्ट्रवाद का इतिहास था।"

(4) **विदेश नीति का चतुर्थ चरण (1931 से 1941)** : इस अवधि में जापान की विदेश नीति के उद्देश्य में चीन की महत्वाकांक्षाओं को रोकना, चीन में बढ़ते हुए रूस के प्रभाव को रोकना एवं महामंदी के इस दौर में नये बाजारों की खोज करना था–

(क) मंचूरिया अभियान 1931 : मंचुरिया संकट जापानी साम्राज्यवाद का पुनरुद्भव था। 1930 में लेफटीनेंट जनरल 'काई सी कूनीआकी' मेजर जनरल तातेकावा ने साकुराकाई सैनिक संस्था का गठन किया जिसका उद्देश्य जापान की सैनिक महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति करना था। यह अवसर उन्हें मंचूरिया के रूप में मिला। चीनी राष्ट्रवादी मंचूरिया को रक्षा की प्रथम पंक्ति एवं जापान उसे जीवनदायिनी संपर्क रेखा कहते थे।

टिप्पणी

(ख) राष्ट्रसंघ की सदस्यता से त्यागपत्र : 27 मार्च, 1933 ई. को जापान ने राष्ट्रसंघ से त्याग पत्र दे दिया।

(ग) चीन–जापान समझौता : 1933 में दोनों के मध्य समझौता हुआ जिसके अनुसार चीन की दीवार से पांच हजार वर्गमील क्षेत्र तक चीन की सेनाओं पर प्रतिबंध लगा दिया।

(घ) एशिया की नई व्यवस्था 1934 : इस घोषणा में स्पष्ट कहा गया कि पाश्चात्य देशों को चीन में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है। 'चीन छोड़ दो' की खुली धमकी दी गई। इस आदेश को 'अमाउ वक्तव्य' तनाका स्मरण पत्र की व्याख्या कहा जाता है।

(ङ) एन्टी–कॉमिन्टर्न पैक्ट (25 नवम्बर, 1936) : यह समझौता रूस के साम्यवादी प्रसार को रोकने के उद्देश्य से इटली जर्मनी के साथ किया गया। इसे रोम बर्लिन टोकियो धुरी भी कहा जाता है।

(च) चीन–जापान युद्ध 1937 : जापान की नीति दिन प्रतिदिन उग्र होती जा रही थी। इस युद्ध का प्रमुख कारण मंचुकाओं की कठपुतली सरकार को बनाये रखने के लिए मंगोलिया एवं उत्तरी चीन को आधिपत्य में रखना आवश्यक था।

'लुकुचिआओ' क्षेत्र में 7 जुलाई 1973 को चीन एवं जापानी सेनाओं के मध्य विवाद हो गया जिसके कारण द्वितीय चीन–जापान युद्ध शुरू हो गया। यह युद्ध 8 वर्ष तक चलता रहा।

(छ) द्वितीय विश्व युद्ध और जापान : 1 सिंतबर 1939 को द्वितीय विश्व युद्ध की शुरुआत हुई। जापान इस युद्ध में धुरी राष्ट्रों की तरफ से 1940 में शामिल हुआ उसने ब्रिटेन और अमेरिका के विरुद्ध युद्ध लड़ने का निर्णय लिया। साको–सेई–साकू सबको मारो फूँको बर्बाद करो का अनुसरण किया।

युद्ध के प्रारंभ में जापान को मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध सफलता मिली परंतु 1943 के पश्चात उसकी स्थिति में गिरावट आई। इसका सामना उसने अमेरिका द्वारा हिरोशिमा और नागासाकी पर बम गिराकर किया' और 1945 में उसे आत्म समर्पण के लिए बाध्य होना पड़ा।

इस प्रकार 20वीं शताब्दी में जापान हर दृष्टि से विश्व के शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उभरा। सामुद्रिक शक्ति में उसका स्थान तीसरा था। वह शक्तिशाली पाश्चात्य देशों में से किसी भी देश के साथ लोहा लेने में पूर्ण सक्षम था।

दो विश्व युद्धों के बीच जर्मनी, इटली, एवं जापान में अधिनायक तंत्र की स्थापना एवं उनका विश्व शक्ति के रूप में उभरकर आना विश्व के लिए स्पष्ट कर देने वाली घटना थी। इन समस्त तत्वों का समावेश प्रथम विश्व युद्ध में था जिसने इन देशों को अपनी सैनिक शक्ति मजबूत करने के लिए मजबूर किया। हिटलर और मुसोलिनी के योग्य नेतृत्व ने भी इस दिशा में महत्वपूर्ण योगदान दिया परंतु कालांतर में विश्व को पुनः एक और विश्व युद्ध का सामना करना पड़।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

10. 6 नवम्बर 1937 को एन्टी–कामिन्टर्न संधि में कौन सम्मिलित नहीं हुआ?

(क) जापान (ख) इटली

(ग) जर्मनी (घ) बुल्गारिया

11. किस सन् में जापान ने राष्ट्रसंघ की सदस्यता से त्याग पत्र दे दिया?

(क) 25 मार्च 1931 (ख) 26 मार्च 1932

(ग) 27 मार्च 1933 (घ) 28 मार्च 1934

12. अवन्ती पत्रिका के संपादक कौन थे?

(क) हिटलर (ख) मुसोलिनी

(ग) म्यूनिख (घ) वुड्रोविल्सन

2.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (क)
2. (घ)
3. (ग)
4. (ख)
5. (घ)
6. (ग)
7. (ग)
8. (घ)
9. (ग)
10. (घ)
11. (ग)
12. (ख)

2.7 सारांश

प्रथम विश्वयुद्ध शुरू होने से पहले यूरोप में बहुत सी अंतर्राष्ट्रीय समस्याएं थीं जिनके कारण विभिन्न राज्यों में असंतोष एवं विरोध बना रहता था। जर्मनी और फ्रांस के बीच एल्सेस और लौरेन की समस्या थी।

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात इटली में फासीवाद और जर्मनी में नाजीवाद का उद्‌भव हुआ। वास्तव में ये दोनों एक ही विचारधारा के दो भिन्न–भिन्न नाम हैं। फासिस्ट शब्द की उत्पत्ति लैटिन लातीनी भाषा के शब्द 'फासिओ' (Fascio) से हुई है जिसका मतलब

'शाही डंडों का गट्ठा' (Bundle of Royal Sticks) है। प्राचीन काल में रोम के शासक जब युद्ध में विजय प्राप्त करने के बाद अपनी राजधानी में प्रवेश करते थे तब उनके हाथ में शाही डंडों का गट्ठा होता था जो उनकी निरंकुशता का द्योतक होता था।

टिप्पणी

इटली की जनता को प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात अच्छे दिनों की आशा थी। इटली की सरकार ने युद्ध के दौरान जनता का पूरा समर्थन और सहयोग प्राप्त करने के लिए उसे निर्धनता हटाने का आश्वासन दिया था। सैनिकों और किसानों की महा समस्याओं को दूर करने का भी सरकार ने वचन दिया था।

विश्व संगठन की स्थापना के लिए दिए गए सारे सुझावों को 9 अक्टूबर, 1944 को प्रकाशित किया गया जिनमें 12 अध्याय थे लेकिन प्रस्तावना नहीं थी। वाशिंगटन के भवन 'डम्बर्टन ओक्स' में हुए इस सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र महासभा और सुरक्षा परिषद की कार्यप्रणाली पर सब सहमत थे परन्तु सुरक्षा परिषद की मतदान प्रणाली के विषय में सोवियत संघ और कुछ पश्चिमी राष्ट्रों के बीच मतभेद थे।

स्थानीय विवादों के समाधान के लिये सुरक्षा परिषद् प्रादेशिक संगठनों और अभिकरणों को माध्यम के रूप में प्रदान कर सकती है। इसके अतिरिक्त प्रादेशिक संगठन के अभिकरण अपने क्षेत्रों में शांति और सुरक्षा के लिए जो कदम उठाते हैं उनकी सूचना उन्हें नियमित रूप से सुरक्षा परिषद् को देनी पड़ती है।

संयुक्त राष्ट्र चार्टर में इसके उद्देश्यों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि अंतर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा हेतु संयुक्त राष्ट्र सामूहिक कार्यवाही करेगा। 1950 में कोरिया में संकट के समय महासभा द्वारा शांति के लिए एकता प्रस्ताव के माध्यम से यह व्यवस्था की गई कि अंतर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा के खतरे की आंशका होने पर सुरक्षा परिषद् कोई कार्यवाही नहीं करती है तो महासभा संयुक्त राष्ट्रसंघ को कार्यवाही हेतु कह सकती है।

प्रथम विश्व युद्ध में इटली ने मित्र राष्ट्रों का साथ दिया, जिस उद्देश्य से इटली ने उनका साथ दिया वो अपेक्षा उसकी पूरी नहीं हुई। इसका दोषारोपण इटलीवासियों ने अपनी सरकार पर थोप दिया। इन परिस्थितियों का लाभ उठाकर वेमिटो मुसोलिनी ने इटली में 'फासीवाद की स्थापना की। साम्राज्यवादी ताकतों का सामना करने एवं जापान को आधुनिक बनाने के लिए किए गए प्रयासों से वहां भी अधिनायकतंत्र की स्थापना के युग की शुरुआत हुई।

2.8 मुख्य शब्दावली

- **सुदृढ़ता** : मजबूती
- **स्वेच्छाचारिता** : स्वच्छता
- **द्विपक्षीय** : दो पक्षों के मध्य
- **बहुपक्षीय** : कई पक्षों के मध्य
- **प्रतिसंधि** : संधि के विरोध में की गई संधि
- **निरंकुश** : नियंत्रण से परे

टिप्पणी

- **प्रतिद्वंदी** : मित्रता
- **मैत्री** : मित्रता
- **आधारभूत** : बुनियादी

2.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. संयुक्त राष्ट्रसंघ से आप क्या समझते हैं?
2. महासभा के कार्य और शक्तियों को समझाइए।
3. सुरक्षा परिषद से क्या तात्पर्य है?
4. आर्थिक एवं सामाजिक परिषद के मुख्य उद्देश्य बताइए।
5. सामूहिक सुरक्षा की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
6. अंतर्राष्ट्रीय नैतिकता एवं विश्व जनमत पर टिप्पणी लिखिए।

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. संयुक्त राष्ट्रसंघ की संरचना और उसकी कार्यप्रणाली का उल्लेख कीजिए।
2. सुरक्षा परिषद को समझाते हुए इसकी ऐतिहासिक भूमिका तथा उपलब्धियों पर विस्तृत टिप्पणी लिखिए।
3. आर्थिक एवं सामाजिक परिषद के कार्यों का वर्णन कीजिए।
4. महासचिव के प्रमुख कार्यों का विश्लेषण कीजिए।
5. सामूहिक सुरक्षा को समझाते हुए अंतर्राष्ट्रीय कानूनों का उल्लेख कीजिए।
6. वे कौन से कारण थे जो 1929–32 की महामंदी के लिए उत्तरदायी बने? महामंदी के स्वरूप और इसके प्रभावों का भी उल्लेख कीजिए।

2.10 सहायक पाठ्य सामग्री

केनेथ वॉल्ट्ज, 2001, थियरी ऑफ इंटरनेशनल पॉलिटिक्स। वेवलैण्ड प्रेस इंकोर्पोरेशन।

मार्टिन होलिस और स्टीव स्मिथ, 1991, एक्सप्लेनिंग एण्ड अण्डरस्टैण्डिंग इंटरनेशनल रिलेशंस। ऑक्सफोर्डः ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस।

रॉबर्ट जैक्सन और जॉर्ज सोरेन्सन, 2013, इंट्रोडक्शन टू इंटरनेशनल रिलेशंसः थियरीज एण्ड अप्रोचेज, 5वां संस्करण। ऑक्सफोर्डः ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस।

रॉबर्ट किओहेन, 2005, आफ्टर हीजेमनीः कोपरेशन एण्ड डिस्कोर्ड इन द वर्ल्ड पॉलिटिकल इकॉनोमी। न्यू जर्सीः प्रिंसटन यूनीवर्सिटी प्रेस।

रॉबर्ट किओहेन और जोसेपफ नाय, 2011, पॉवर एण्ड इंटरडिपेन्डेन्स, चौथा संस्करण। न्यूयॉर्कः लोंगमैन।

इकाई 3 द्वितीय विश्वयुद्ध एवं नवीन राजनीतिक परिदृश्य

टिप्पणी

संरचना

3.0 परिचय
3.1 उद्देश्य
3.2 द्वितीय विश्वयुद्ध का आरंभ, प्रकृति और परिणाम
  3.2.1 द्वितीय विश्वयुद्ध आरंभ होने के कारण
  3.2.2 द्वितीय विश्वयुद्ध की प्रकृति
  3.2.3 द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणाम
3.3 राष्ट्रवादी आंदोलन और उपनिवेशवाद
  3.3.1 राष्ट्रीय आंदोलन की अवधारणा
  3.3.2 उपनिवेशवाद
3.4 चीन में साम्यवादी क्रांति और विश्व राजनीति पर उसके प्रभाव
  3.4.1 चीन में साम्यवादी क्रांति की पृष्ठभूमि
  3.4.2 चीन में साम्यवादी क्रांति का उदय
  3.4.3 विश्व राजनीति पर साम्यवादी क्रांति का प्रभाव
3.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
3.6 सारांश
3.7 मुख्य शब्दावली
3.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
3.9 सहायक पाठ्य सामग्री

3.0 परिचय

प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात पराजित जर्मनी ने वर्साय की सन्धि पर हस्ताक्षर किये। इसकी वजह से जर्मनी को अपनी भूमि के एक बड़े हिस्से से हाथ धोना पड़ा, उस पर दूसरे राज्यों पर कब्जा करने की पाबन्दी लगा दी गयी। सेना का आकार सीमित कर दिया गया और भारी क्षतिपूर्ति थोप दी गयी। रूस के गृहयुद्ध ने सोवियत संघ का निर्माण किया जो कि जल्द ही जोसेफ स्टालिन के नियंत्रण में आ गया। इटली में बेनिटो मुसोलिनी ने एक फासिस्ट तानाशाह के रूप में सत्ता पर कब्जा किया। नया रोमन साम्राज्य बनाने का वादा करते हुए 1920 के दशक के मध्य में चीन के कुओमिन्टांग (KMT) दल ने स्थानीय सरदारों के खिलाफ एक एकीकरण अभियान शुरू किया और कुछ हद तक चीन को एकीकृत भी कर दिया लेकिन जल्द ही अपने पूर्व चीनी कम्युनिस्ट सहयोगियों के साथ यह गृह युद्ध में उलझ गया। 1931 में तेजी से बढ रहे सैन्यवादी जापानी साम्राज्य की चीन पर प्रभाव डालने की लम्बे समय से मंशा थी युद्ध की शुरुआत को आमतौर पर 1 सितम्बर 1939 माना जाता है।

द्वितीय विश्वयुद्ध एक वैश्विक सैन्य संघर्ष था जिसमें सभी महान शक्तियों सहित दुनिया के अधिकांश देश शामिल थे जो दो परस्पर विरोधी सैन्य गठबन्धनों में संगठित थे। मित्र राष्ट्र एवं धुरी राष्ट्र के रूप में इस युद्ध में 10 करोड़ से ज्यादा सैन्य

टिप्पणी

कर्मी शामिल थे इस वजह से यह इतिहास का सबसे व्यापक युद्ध माना जाता है। पूर्ण युद्ध की अवस्था में प्रमुख सहभागियों ने नागरिक और सैन्य संसाधनों के बीच के अंतर को मिटाकर युद्ध प्रयास की सेवा में अपनी पूरी औद्योगिक, आर्थिक और वैज्ञानिक क्षमताओं को झोंक दिया। इसमें सात करोड़ से अधिक लोग मारे गए थे जिनमें से अधिकांश साधारण नागरिक थे इसलिए इसको मानव इतिहास का सबसे खूनी संघर्ष माना जाता है। जर्मनी द्वारा 1 सितंबर 1939 को पोलैंड पर आक्रमण के दो दिन बाद ब्रिटेन और फ्रांस ने जर्मनी के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी। जर्मनी के पोलैंड के ऊपर आक्रमण करने और परिणामस्वरूप ब्रिटिश साम्राज्य और राष्ट्रमंडल के अधिकांश देशों और फ्रांस द्वारा जर्मनी पर युद्ध की घोषणा के साथ कई देश इस तारीख से पहले ही युद्धरत थे। अन्य घटनाओं के परिणामस्वरूप और कई जो शुरुआत में शामिल नहीं थे बाद में युद्ध में शामिल हो गए। इस घटना ने द्वितीय विश्वयुद्ध की शुरुआत कर दी।

इस इकाई में द्वितीय विश्वयुद्ध का आरंभ, प्रकृति और परिणाम, राष्ट्रवादी आंदोलन और उपनिवेशवाद तथा चीन में साम्यवादी क्रांति और विश्व राजनीति पर उसके प्रभाव का अध्ययन किया गया है।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- द्वितीय विश्वयुद्ध के आरंभ, प्रकृति और परिणाम को जान पाएंगे;
- राष्ट्रवादी आंदोलन की समीक्षा कर पाएंगे;
- खिलाफत और असहयोग आंदोलन को समझ पाएंगे;
- उपनिवेशवाद का विश्लेषण कर पाएंगे;
- चीन में साम्यवादी क्रांति और विश्व राजनीति पर उसके प्रभावों का आकलन कर पाएंगे;

3.2 द्वितीय विश्वयुद्ध का आरंभ, प्रकृति और परिणाम

प्रथम विश्वयुद्ध से यूरोप की धरती रक्तरंजित हो गई थी। इससे पहले विश्व के किसी भी युद्ध में, न तो इतनी विशाल सेनाओं ने भाग लिया और न ही इतनी अधिक संख्या में सैनिक हताहत हुए। 1918 ई. में जब यह युद्ध समाप्त हुआ तो यूरोप तथा विश्व के अन्य देशों को यह आशा थी कि अब शांति के एक नये युग का सूत्रपात होगा तथा इस युद्ध को दी जाने वाली संज्ञा– 'सभी युद्धों को समाप्त करने वाला युद्ध' (The War to end all Wars) सार्थक होगी। 1919 ई. के पेरिस शांति सम्मेलन में विश्व के प्रमुख राजनीतिज्ञों ने ऐसी अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था बनाने की कोशिश की, जिससे शांति चिरस्थायी हो सके। परंतु 1931 ई. से कुछ ऐसी अपशकुनकारी घटनाओं का चक्र शुरू हुआ जिससे यूरोप में तनाव बढ़ने लगा और सामूहिक सुरक्षा (Collective Security) की व्यवस्था का व्यावहारिक रूप में अंत होने लगा। कुछ ही वर्षों में यह स्पष्ट दिखने लगा

टिप्पणी

कि इस महाद्वीप के प्रमुख देश युद्ध की ओर अग्रसर हैं। 1 सितंबर, 1939 ई. में हिटलर के पोलैंड पर आक्रमण ने एक ऐसी श्रृंखला प्रतिक्रिया (Chain reaction) आरंभ की, जिसने सभी विश्व शक्तियों को संघर्षरत कर दिया।

अब प्रश्न यह उठता है कि द्वितीय विश्वयुद्ध की उत्पत्ति के क्या कारण थे? कौन से ऐसे तत्व थे जिन्होंने विश्व को एक और प्राणनाशक युद्ध की ओर धकेल दिया? द्वितीय विश्वयुद्ध की उत्पत्ति को पूर्णरूपेण समझने के लिए 1933 ई. से पूर्व अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का निरीक्षण करना होगा। इस दौरान अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में असाधारण परिवर्तन हुए। इन परिवर्तनों में से सबसे महत्वपूर्ण, युद्ध के भय के विरुद्ध लोक–सम्मत भाव का विकास होना था। एक अग्रणी राजनीतिज्ञ ने 1931 ई. में राष्ट्रसंघ की सभा को बताया था कि 'विश्व इतिहास में शायद ही कोई ऐसा समय होगा कि जब युद्ध इतना कम संभावित लगता था जितना कि वह आज लगता है।' युद्ध विरोधी फिल्मों, कविताओं, उपन्यासों तथा नाटकों की लोकप्रियता बढ़ने लगी। परंतु 1914 से 1933 ई. के काल का अगर गहनता से अध्ययन किया जाए तो यह प्रतीत होता है कि 1918 ई. के पश्चात लोगों की युद्ध विरोधी भावनाओं ने राष्ट्रों की स्वार्थी अभिलाषाओं को परिवर्तित नहीं किया।

3.2.1 द्वितीय विश्वयुद्ध आरंभ होने के कारण

द्वितीय विश्वयुद्ध की उत्पत्ति के कारणों को हम तभी समझ सकते हैं जब हम दोनों विश्व युद्धों की समरसता और निरंतरता में विश्वास करें। यह कई बार कहा जाता है कि द्वितीय विश्वयुद्ध जो 1939 ई. में आरंभ हुआ, प्रथम विश्वयुद्ध की श्रृंखला थी जो 1918 ई. में समाप्त हुआ था। रॉबर्ट एरगांग (Robert Ergang) के अनुसार द्वितीय विश्वयुद्ध के मौलिक कारण प्रथम महायुद्ध के कारणों से कोई कम पेचीदा नहीं थे। वास्तव में दोनों युद्धों के बहुत से मौलिक कारण एक जैसे थे। आइए अब हम मानव इतिहास के इस सर्वाधिक प्राणनाशक युद्ध के कारणों का अवलोकन करें–

1. **वर्साय की संधि**– जॉर्ज फ्रांज विलिंग के अनुसार द्वितीय विश्वयुद्ध की तात्कालिक जड़ें 1919 ई. में प्रथम विश्वयुद्ध को समाप्त करने वाली पेरिस की संधि में निहित थीं। 1919 ई. की वर्साय की 'आरोपित एवं अपमानजनक' संधि पर, जर्मनी के प्रतिनिधियों ने मजबूर होकर हस्ताक्षर किये थे। वे इस संधि को दूषित दस्तावेज मानते रहे और उसके द्वारा लगाए गए प्रतिबंधों को समाप्त करना अपना पवित्र कर्तव्य मानते रहे। प्रोफेसर ए.जे.पी. टेलर का कहना है कि "प्रथम विश्वयुद्ध ने जर्मनी की समस्या को न केवल अनसुलझा छोड़ दिया, वरन अंत में उसे अधिक प्रखर बना दिया।"

   जर्मनी के प्रतिनिधियों एवं जर्मन प्रजा में इस संधि की 'युद्ध अपराध' (War Guilt) संबंधी धारा 231 के कारण भारी असंतोष व रोष व्याप्त था। प्रोफेसर रॉबर्ट एरगांग ने लिखा है, "इस व्यवस्था के अंतर्गत जर्मनी से उसके संपूर्ण औपनिवेशिक राज्य छीने जाने, पूर्वी–प्रशा से रोष, जर्मनी को पृथक करने वाले पोलिश–बरामदे (Polish Corridor) की स्थापना और डेनजिंग के जर्मनी से अलग किये जाने से, जर्मन लोगों में उनके प्रति किये जा रहे अन्याय की अनुभूति को प्रखर बना दिया।" चर्चिल ने लिखा था कि, "संधि की आर्थिक धाराएं अहितकारी एवं

टिप्पणी

मूर्खतापूर्ण थीं। उससे जुड़े हुए सभी लेन–देन को इतिहास में पागलपन की संज्ञा प्रदान की जाएगी। उन्होंने सैन्यवादी अभिशाप और आर्थिक संकट की उत्पत्ति में सहायता पहुंचाई।" पेरिस के शांति समझौते में 'नैतिक शक्ति' विद्यमान नहीं थी। जर्मनी का मानना था कि यह शांति समझौता वुडरो विल्सन के चौदह सूत्रीय कार्यक्रम में वर्णित मूल विश्वासों का उल्लंघन था। कहा जाता है कि वर्साय–व्यवस्था के कारण यूरोप का 'बाल्कनीकरण' (Balkanization) हो गया था। झूठी राष्ट्रीयता के नाम पर यूरोप के टुकड़े–टुकड़े कर दिये गए थे और पुराने साम्राज्यों के स्थान पर अनगिनत छोटे–छोटे राज्य उत्पन्न हो गए थे जो प्रायः भविष्य के खतरे के तूफानी केंद्र थे। प्रोफेसर लैंगसेम का कहना है कि "मध्य यूरोप के इस बाल्कनीकरण के द्वारा मित्र–राष्ट्रों ने नाजी जर्मनी के उत्कर्ष को उपेक्षाकृत सहज बना दिया।"

फ्रांस के मार्शल फाश ने उसी समय कहा था, "यह शांति–संधि नहीं है, यह केवल बीस वर्ष के लिए युद्ध विराम है" और ठीक बीस वर्ष पश्चात ही द्वितीय विश्वयुद्ध आरंभ हो गया। यह कोई भविष्यवाणी नहीं थी बल्कि स्थितियों की समझ रखने वाले एक दूरदर्शी का विश्लेषण था। कुछ विद्वानों के अनुसार यह संधि उन मापदंडों को स्थापित करने में असफल रही जो द्वितीय विश्वयुद्ध को टाल सकती थी।

2. **राष्ट्रसंघ की असफलता**– प्रथम विश्वयुद्ध में हुए विनाश के पश्चात प्रमुख देशों के राजनीतिज्ञों ने अंतर्राष्ट्रीय सहयोग और स्थायी शांति बनाये रखने के उद्देश्य से राष्ट्रसंघ की स्थापना की। लेकिन जब समय बीतने लगा और परीक्षा की घड़ी आई तो राष्ट्रसंघ बिल्कुल शक्तिहीन साबित हुआ। अपने प्रारंभिक वर्षों में, उसने छोटे–छोटे राष्ट्रों के पारस्परिक झगड़ों को निपटाने में बड़ी सफलता अर्जित की। लेकिन जब बड़े–बड़े राष्ट्रों का मामला आया तो राष्ट्रसंघ की शक्ति भ्रामक सिद्ध हुई। 'सामूहिक सुरक्षा' का सिद्धांत एक निरर्थक आदर्श बनकर रह गया और विश्व में सत्ता की राजनीति का पुनः आरंभ हो गया।

   यदि राष्ट्रसंघ वास्तव में सक्रिय एवं प्रभावशाली होता तो आक्रमणकारी देशों की गतिविधियों पर अंकुश लगाया जा सकता था। किंतु राष्ट्रसंघ के प्रमुख देशों की संकीर्ण, स्वार्थपूर्ण और दुरंगी नीति के फलस्वरूप वह 'सामूहिक सुरक्षा' का एक महत्वपूर्ण साधन बनने की बजाय 1939 ई. के आते–आते एक मिस्री ममी (Mummy) की तरह तामझाम के बावजूद निर्जीव संगठन बना रहा।

3. **निःशस्त्रीकरण के प्रयासों की विफलता**– जैसे–जैसे अस्त्र–शस्त्र भयावह और घातक होते गए हैं वैसे–वैसे उन पर नियंत्रण के विषय में गंभीरता से चिंतन करना अनिवार्य होता गया है। प्रथम महायुद्ध में हुए विनाश को देखकर विश्व के नेताओं ने यह अनुभव किया कि विश्व में शांति एवं सुरक्षा स्थापित करने हेतु शस्त्रों की होड़ को समाप्त करना आवश्यक था। वर्साय की संधि के अंतर्गत जर्मनी पर निःशस्त्रीकरण संबंधी शर्तें थोपी गई थीं। जर्मनी ने भी निःशस्त्रीकरण

टिप्पणी

आयोग (Preparatory Commission for the Disarmament Conference) की नियुक्ति की। 1932 ई. में आयोजित जेनेवा के निःशस्त्रीकरण सम्मेलन में जर्मनी के प्रतिनिधियों ने यह स्पष्ट कर दिया कि वह वर्साय की संधि में वर्णित शर्तें तभी स्वीकार करेगा जब विजयी देश स्वयं भी सैनिक शक्ति पर लगी सीमा का पालन करेंगे। शीघ्र ही जर्मनी की सत्ता हिटलर के हाथों में आ गई। उससे भयभीत होकर इंग्लैंड और फ्रांस ने अपनी सैनिक शक्ति घटाने से साफ इंकार कर दिया। अंततः 1933 ई. में जर्मनी राष्ट्रसंघ से निकल गया। इसके पश्चात छोटे–बड़े सभी देशों ने अपनी सैनिक शक्ति का विस्तार करना आरंभ कर दिया, और संसार उसी अंतर्राष्ट्रीय अराजकता की स्थिति में पहुंच गया, जिसमें यूरोप प्रथम विश्वयुद्ध से पहले था।

पुनः शस्त्रीकरण के कारण सभी देशों में भय और संदेह फैल गया, और अप्रैल 1919 ई. में राजनीतिज्ञों ने जिस कुचक्र को भंग करना चाहा था, वह एक बार फिर पूरा हो गया। देखते ही देखते यूरोप एक शस्त्रागार बन गया। इस सैनिक तैयारी को देखकर यह निष्कर्ष निकाला जाने लगा कि अब युद्ध अवश्यंभावी है और उसके लिए तैयार रहना ही ठीक है।

4. **आपात राजनीति का उदय**– प्रथम विश्वयुद्ध से राष्ट्रवादी भावना को बहुत बल मिला था और राष्ट्रीय राज्य (Nation State) की नींव मजबूत हुई। इसके अतिरिक्त इस युद्ध ने प्रजातांत्रिक आदर्शों एवं संस्थाओं को उन लोगों तक पहुंचा दिया था जो अब तक इनसे परिचित नहीं थे। इस युद्ध में जहां राजवंशीय राज्यों की हार हुई थी, वहीं जनतंत्र (जैसे ब्रिटेन, फ्रांस, संयुक्त राज्य अमेरिका) विजयी हुए। हालांकि इस सफलता के कई अन्य कारण भी थे, परंतु जनसामान्य को ऐसा प्रतीत हुआ कि युद्ध में विजय का श्रेय जनतंत्र को था जिसके फलस्वरूप जनतंत्र की लोकप्रियता में वृद्धि हुई और पराजित देशों में एक के बाद एक कई स्थानों पर प्रजातांत्रिक संविधान लागू हुए।

   परंतु महायुद्ध के बाद की विषम परिस्थितियों से वे सामना करने में असफल रहे और ये जनतंत्र राज्य देर तक नहीं टिक सके। जब नया जनतंत्र असफल हो गया और आर्थिक संकट के फलस्वरूप स्थिति बिगड़ने लगी तो यूरोप में आपात–राजनीति का प्रादुर्भाव हुआ। इस राजनीति के दो रूप सामने आए; पहला समाजवाद, विशेषतः साम्यवाद और दूसरा अधिनायकवाद।

5. **समाजवाद का विकास**– प्रथम महायुद्ध में कुछ लोग आर्थिक एवं अन्य प्रकार से लाभान्वित हुए थे, जबकि बहुत से लोगों को अपार कष्टों का सामना करना पड़ा था। इससे समाज में असंतोष और वैर–भाव जागृत हुए। समाजवादी दल, विशेषकर साम्यवादी दल ने इस असंतोष को फैलाया और उसे राजनीतिक आयाम प्रदान कर सशक्त बनाया। जब समाजवाद का प्रभाव बढ़ने लगा तो यूरोपीय पूंजीवाद ने उसके खिलाफ मुहिम तेज कर दी। कई देशों में राष्ट्रीयता के नाम पर तथा जर्मनी एवं इटली में समाजवाद का दमन करने के बहाने तानाशाह सरकारों की स्थापना हुई। रूस में साम्यवाद के उदय से पूंजीवादी

टिप्पणी

देश भयभीत हो गए। इन देशों ने तानाशाही के खिलाफ संयुक्त मोर्चा तैयार करने की बजाय हिटलर और मुसोलिनी को प्रोत्साहन देना आरंभ किया, क्योंकि ये तानाशाह समाजवाद का विद्रोह कर रहे थे। वास्तविकता तो यह है कि मित्र राष्ट्र जर्मनी से ज्यादा रूस से डरते थे। परिणामस्वरूप पश्चिमी देशों तथा रूस के मध्य वैमनस्य बढ़ता गया और युद्ध को सहारा देने वाली परिस्थितियों एवं शक्तियों को बल मिला।

6. **तानाशाही का प्रादुर्भाव**– 1920 और 1930 के दशक यूरोप के लाखों लोगों के लिए राजनीतिक अस्थिरता, आर्थिक कठिनाइयों, बेरोजगारी, विश्वास टूटने और विक्टोरिया समाज के मूल्य के विघटन के दशक थे। ऐसे लोग फासीवाद आंदोलन के विचारों और भ्रमों के प्रति आसानी से आकर्षित हो गए।

इटली में मुसोलिनी के अधीन फासीवाद, प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात 1918 से 1922 ई. के संकट की देन था, जिनमें सामाजिक–आर्थिक अनिश्चितता, राष्ट्रवादी असंतोष तथा समाज को एक सूत्र में बांधने वाली उदारपंथी राजनीति की असफलता ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ऐसे सामाजिक–आर्थिक वातावरण और राजनीतिक शून्यता के दौर में फासीवाद को अपनी जड़ें जमाने का अवसर मिला।

ऐसी ही परिस्थितियों में हिटलर लोगों को कष्टों से मुक्ति दिलाने वाले नेता के रूप में उभर कर सामने आया। उसने जर्मनी की अर्थव्यवस्था को इस प्रकार पुनर्गठित किया कि जिससे वह युद्ध के लिए आवश्यक सामग्री का निर्माण कर सके। अतः उसने वर्साय के सैनिक उपबंधों का परित्याग करके पुनः शस्त्रीकरण की घोषणा कर दी।

विचारधारात्मक स्तर पर नाजीवाद 1918 ई. की हार के मोहभंग के बाद जर्मनी में फैली रूढ़ीवादिता पर टिका हुआ था जो साम्यवाद विरोधी, जनतंत्र विरोधी तथा 19वीं सदी के नस्लवाद और अतिवादी दक्षिणपंथ पर आधारित था। हिटलर का नाजीवाद पराजित किंतु उग्र सैन्यवाद और साम्राज्यवाद से जुड़ा हुआ था। अधिकांश इतिहासकारों का मानना है कि नाजीवाद के उदय के पीछे हिटलर की अत्यंत महत्वपूर्ण भूमिका रही। किंतु मार्क्सवादी इतिहासकारों के अनुसार नाजी नेताओं का शक्तिवर्धन संपूर्ण जर्मन समाज की सैन्यकृत संरचना के कारण हुआ। यह मत काफी तर्कसंगत प्रतीत होता है। नाजी विचारधारा जर्मन नस्ल की उत्कृष्टता और जर्मनों के लिए अधिक भूमि और अधिकाधिक क्षेत्र की मांग पर आधारित थी।

इटली और जर्मनी ने स्पेन के गृहयुद्ध (1936 ई.) में जनरल फ्रैंकों की मदद की, जिससे कुछ ही समय पश्चात स्पेन में भी अधिनायकवाद की स्थापना हुई। फासीवादी एवं नाजीवादी अपनी राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए युद्ध को अपनी नीति का आवश्यक अंग मानते थे, अतः उनके उत्थान से राष्ट्रसंघ के शांति के प्रयासों को गहरा आघात लगा और सैन्यवादी प्रवृत्तियों को प्रोत्साहन मिला जिसने द्वितीय महायुद्ध को अवश्यंभावी बना दिया।

टिप्पणी

7. **तुष्टीकरण की नीति**– तानाशाहों के उत्थान के लिए ब्रिटेन और फ्रांस की तुष्टीकरण की नीति (Policy of Appeasement) महत्वपूर्ण रूप से जिम्मेदार थी। प्रथम विश्वयुद्ध में फ्रांस और ब्रिटेन ने मिलकर युद्ध किया था परंतु युद्ध की समाप्ति के बाद प्रमुख अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के संबंध में इन दोनों देशों में मतभेद उत्पन्न हो गए थे। इंग्लैंड, यूरोप में शक्ति–संतुलन की स्थापना में विश्वास रखता था। इसके विपरीत फ्रांस स्वयं को सुरक्षित रखकर यूरोप का सबसे शक्तिशाली देश बनना चाहता था। ब्रिटेन न तो जर्मनी को अधिक दुर्बल और न ही फ्रांस को अधिक शक्तिशाली देश बनाने के पक्ष में था। परिणामतः फ्रांस जर्मनी के प्रति कठोरता की नीति अपनाना चाहता था, किंतु ब्रिटेन के साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करने के पक्ष में था। वह अपने व्यापार की वृद्धि हेतु उसका औद्योगिक पुनर्निर्माण करना जरूरी समझता था। हिटलर के जर्मनी में शक्ति प्राप्त करने के बाद भी फ्रांस और ब्रिटेन में मतभेद कम न हो सके जिसके कारण अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में अशांति फैल गई।

1937 ई. में जब हिटलर मध्य यूरोपीय क्षेत्रों पर आधिपत्य जमाने में व्यस्त था, तब पश्चिमी जनतंत्र तुष्टीकरण की नीति के द्वारा शांति समझौते के लिए प्रयासरत थे। इस नीति के पीछे बुनियादी दर्शन यह था कि जिस व्यक्ति के पास कोई वस्तु या अधिकार हो और यदि उसे कुछ छोड़ने को कहा जाए तो अंततः अनिवार्य रूप में उसे कुछ न कुछ त्याग करना ही पड़ेगा। इस नीति के पीछे यह भी सोच थी कि जर्मनी की शिकायतें जायज हैं और उसके प्रति सहानुभूतिपूर्ण रवैया अपनाना चाहिए। इस सिद्धांत के समर्थकों के अनुसार हिटलर और मुसोलिनी के उद्देश्य सीमित थे। वे तो केवल 1919 ई. में किये गए अनुचित निश्चयों को सुधारना चाहते थे। ब्रिटेन के प्रधानमंत्री चैम्बरलेन ने आंग्ल–जर्मन गठबंधन बनाने के लिए इस नीति का अनुसरण करना आरंभ किया। उनका विचार था कि यदि अपने दावे को छोड़ इन देशों को उचित छूट दे दी जाए तो वे शांत हो जाएंगे। अपने–अपने देशों के लोगों में ऐसी शिकायतों का प्रचार करके ये तानाशाह समर्थन और शक्ति प्राप्त करते थे, अतः यदि उनकी शिकायतें दूर कर दी जाएं, तो उन्हें समर्थन मिलना बंद हो जाएगा।

ब्रिटेन ने जापान का विरोध (1931 ई. के मंचूरिया संकट से लेकर चीन–जापान युद्ध तक) इसलिए नहीं किया क्योंकि सुदूर और दक्षिण–पूर्वी एशिया में अपने व्यापारिक हितों की रक्षा का एकमात्र विकल्प यही था। अतः ऐसी परिस्थितियों में जापान से मित्रता लाभदायक थी तथा उसकी नाराजगी हानिकर सिद्ध हो सकती थी।

1938 ई. में जर्मनी ने ऑस्ट्रिया पर आक्रमण करके उस पर अधिकार कर लिया जिसका ब्रिटेन और फ्रांस ने कोई विरोध नहीं किया। उसके पश्चात चेम्बरलेन एवं दालादिये ने म्यूनिख समझौते द्वारा, चेकोस्लोवाकिया के अंग–भंग की सहमति देकर तुष्टीकरण को चरम सीमा तक पहुंचा दिया। परंतु इस नीति के कारण हिटलर की विस्तारवादी पिपासा में और वृद्धि हुई।

टिप्पणी

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद सोवियत संघ की सरकार ने जर्मनी से मिले युद्ध संबंधी दस्तावेज (Documents and Materials Relating to the Eve of the Second World War) प्रकाशित किए तथा उसी के साथ 'फाल्सीफायर्स ऑफ हिस्ट्री' नाम की पुस्तक भी छपी जिसमें यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया कि ब्रिटेन और फ्रांस के नेताओं ने सामूहिक सुरक्षा का परित्याग करके, तुष्टीकरण की नीति अपनाई, जो उसकी आक्रामक योजना को कार्यान्वित करने में सहायक सिद्ध हुई। ब्रिटेन और फ्रांस की सरकार की यही नीति, द्वितीय विश्वयुद्ध के लिए उत्तरदायी थी। प्रोफेसर डी.एफ. फ्लेमिंग (D.F. Fleming) ने भी सोवियत संघ के नेताओं के दृष्टिकोण का समर्थन करते हुए लिखा है कि, "चेम्बरलेन का गुट नाजी संकट का समाधान रूस के मैदानों में करना चाहता था... लंदन और पेरिस की सरकारों ने अगर जान–बूझकर हिटलर को यूराल तक आगे बढ़ने का प्रोत्साहन नहीं दिया तो भी उन्होंने हिटलर को सोवियत संघ पर आक्रमण करने के लिए आवश्यक शक्ति संचित करने का अवसर प्रदान किया।"

अतः तुष्टीकरण के पीछे सिद्धांत चाहे जो भी रहा हो और इस नीति का पालन करने वाले राष्ट्रों की चाहे जो भी मजबूरियां रही हों, अंत में यह नीति भ्रम साबित हुई। इस नीति ने 'सामूहिक सुरक्षा' की व्यवस्था को धराशायी कर दिया।

8. **राष्ट्रवाद**– द्वितीय विश्वयुद्ध के उद्‌भव के कारणों में उग्र राष्ट्रवाद और विशेषतः आर्थिक राष्ट्रवाद (Economic Nationalism) को एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। प्रथम महायुद्ध के विनाश को देखते हुए राजनीतिज्ञों को यह विश्वास हो गया था कि भविष्य में विश्व को इस संकट से बचाने हेतु परस्पर विरोधी राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाओं पर अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण स्थापित करना बहुत आवश्यक था। इसलिए वुडरो विल्सन ने राष्ट्रसंघ को, पेरिस की शांति व्यवस्था का अभिन्न अंग बनाया था। किंतु युद्ध के पश्चात, अंतर्राष्ट्रीयता की भावना पनप नहीं सकी और विभिन्न देश अपने राष्ट्रीय हितों और स्वार्थों को सर्वोपरि समझते रहे। जर्मनी, इटली और जापान में उग्र राष्ट्रवाद का बहुत प्रभाव था। यहां पर राष्ट्र की शक्ति एवं गौरव में वृद्धि ही एकमात्र उद्देश्य बन गया तथा उसकी प्राप्ति हेतु आर्थिक साधनों पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण स्थापित करके आक्रामक नीतियों का सहारा लिया जाने लगा। मुसोलिनी ने प्राचीन रोमन साम्राज्य के गौरव पर आधारित 'राष्ट्र की महानता की कल्पना' प्रस्तुत करके इटली में उग्र राष्ट्रवाद को प्रोत्साहन दिया। इसी तरह हिटलर ने सर्वश्रेष्ठ प्रजाति की भावना को राष्ट्र की महानता का आधार बनाया और वर्साय की अपमानजनक और अन्यायपूर्ण संधि का बदला लेने की इच्छा को उत्तेजित किया।

9. **आर्थिक महामंदी**– प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात जर्मनी और इटली की अर्थव्यवस्था चरमरा गई। लेकिन 1924 ई. के पश्चात कुछ ही वर्षों में जर्मनी और इटली की आर्थिक स्थिति में कुछ सुधार हुआ जिससे वहां पर आंतरिक असंतोष दब गया। परंतु 1929–30 ई. में शुरू होने वाली विश्वव्यापी आर्थिक मंदी के कारण सभी देशों की अर्थव्यवस्था अस्त–व्यस्त हो गई। इस संकट ने विश्व की राजनीतिक एवं

आर्थिक स्थिरता को सदा के लिए समाप्त कर दिया। जर्मनी, इटली और जापान जैसे असंतुष्ट देशों को तत्कालीन व्यवस्था के अंतर्गत अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने की आशा नहीं रही, अतः वे अपनी शक्ति का प्रयोग करके अधिकाधिक क्षेत्र प्राप्त करने के लिए तत्पर हो गए। हिटलर ने पूर्व की ओर विस्तार की योजना बनाई, मुसोलिनी ने भूमध्यसागरीय क्षेत्र में अपना प्रभुत्व बढ़ाने की कोशिश की तथा जापान ने चीन की तरफ अपना ध्यान केंद्रित किया।

अधिनायकतंत्र व्यवस्था के अंतर्गत राष्ट्र की संपूर्ण अर्थव्यवस्था अर्थात उत्पादन एवं वितरण के सभी साधनों पर राज्य का नियंत्रण स्थापित किया गया और 'आर्थिक आत्मनिर्भरता' की नीति अपनाई गई। इस प्रकार की नीति का उद्देश्य यह था कि युद्ध की स्थिति में एक राष्ट्र को किसी अन्य राष्ट्र पर निर्भर रहना पड़े, और आर्थिक प्रतिबंधों (Economic Sanctions) के द्वारा उसकी नीति को प्रभावित किया जा सके।

युद्ध से पूर्व का घटनाक्रम

युद्ध के तात्कालिक कारण उस समय के अंतर्राष्ट्रीय घटनाचक्र में दृष्टिगोचर हैं। फासीवादी शक्तियों द्वारा उत्पन्न युद्ध के खतरे को ब्रिटेन और फ्रांस के निर्णयात्मक एवं संयुक्त हस्तक्षेप द्वारा स्थगित किया जा सकता था। हिटलर के उदय, फासीवाद आंदोलन के विकास और यूरोप में सैनिकवादी गतिविधियों में अवश्यंभाविता जैसी कोई बात नहीं थी। 1920 और 1930 के दशकों का आर्थिक और राजनीतिक संकट फासीवाद के उदय और आक्रामक युद्धों में परिवर्तित न होता, अगर उदारवादी राजनीतिक शक्तियां इस संकट से निपटने की राह में अपनी शक्तियां केंद्रित कर देतीं।

चीन–जापान युद्ध– 1928–37 ई. के काल में पूर्वी–एशिया में बढ़ते हुए संघर्ष के कारण 1937 ई. में चीन–जापान युद्ध हुआ। आर्थिक मंदी के पश्चात अपनी आर्थिक व्यवस्था के पुनर्गठन हेतु जापान को पूंजी तथा कच्चे माल की प्राप्ति के लिए मंचूरिया पर नियंत्रण करने की आवश्यकता थी। चीन भी अपने लिए एक एशियाई साम्राज्य स्थापित करने का स्वप्न देख रहा था।

1930 के दशक में उत्पन्न उग्र–राष्ट्रवाद और सैन्यवाद की अभिव्यक्ति साम्राज्यवाद के रूप में होना निश्चित थी। इसकी झलक 1931 ई. में जापान द्वारा मंचूरिया पर आधिपत्य प्राप्त करने में दिखायी देती है। जापान द्वारा मंचूरिया की विजय ने सारे विश्व को यह सूचित कर दिया कि जो सत्ता की राजनीति विश्वयुद्ध के पश्चात किसी प्रकार कम से कम इतने नंगे रूप में बंद हो गई थी, अब पुनः आरंभ हो गई थी।

इटली का एबीसीनिया पर आक्रमण– इटली, अफ्रीका में औपनिवेशिक साम्राज्य की स्थापना करने में असफल रहा था। अक्टूबर, 1935 ई. में इटली ने इथोपिया पर आक्रमण कर दिया। राष्ट्रसंघ ने तत्काल रूप से इटली को आक्रामक घोषित करते हुए उस पर आर्थिक प्रतिबंध लगा दिये। इन प्रतिबंधों का कोई प्रभाव न पड़ा। इस युद्ध ने वास्तव में राष्ट्रसंघ को चोट पहुंचायी तथा मुसोलिनी को हिटलर के साथ ला खड़ा किया। परिणामस्वरूप 1936 ई. में रोम–बर्लिन धुरी अस्तित्व में आई। 1940 ई. में जब इसमें जापान सम्मिलित हुआ तो यह त्रिपक्षीय समझौते में बदल गया।

मई 1936 ई. में इस धुरी के आधार पर इस्पात का उपबंध बना। जर्मनी और इटली ने परस्पर सैनिक और राजनीतिक सहयोग का वादा किया। इस समझौते से विश्व शांति के लिए बड़े घातक परिणाम निकले।

टिप्पणी

स्पेन का गृहयुद्ध– जर्मनी और इटली को निकट लाने वाली एक और महत्वपूर्ण घटना थी स्पेन का गृहयुद्ध। 1936 ई. में लोकप्रिय मोर्चे (जिसमें समाजवादी, साम्यवादी और फासीवादी विरोधी दल थे) की गणतंत्रीय सरकार के विरुद्ध जनरल फ्रैंको के नेतृत्व में विद्रोह हुआ। यह गृह युद्ध जो तीन वर्षों तक चला, क्रांतिकारियों एवं प्रतिक्रियावादियों के बीच आंतरिक संघर्ष तथा अंतर्राष्ट्रीय झगड़े जो फासीवादी और जनतांत्रिक सरकारों के बीच थे, दोनों ही स्तर पर लड़ा जाता रहा। एक महत्वपूर्ण बिंदु पर पहुंचकर यह फासीवाद, साम्यवाद एवं उदारवाद के बीच विचारधारात्मक संघर्ष बन गया। वास्तव में स्पेन का यह घटनाचक्र विश्वयुद्ध की पृष्ठभूमि बन गया। दिसंबर, 1938 ई. में हिटलर और मुसोलिनी के सहयोग से जनरल फ्रैंको ने स्पेन में फासीवादी सरकार की स्थापना कर दी जिसे पश्चिमी जनतांत्रिक सरकारों ने मान्यता प्रदान कर दी। इसके साथ ही पश्चिमी देशों की जनतांत्रिक सरकारों के साथ सुरक्षा के सोवियत प्रयासों का भी अंत हो गया, क्योंकि ये फासीवादी ताकतों को रोकने में काफी कमजोर और संदेहपूर्ण सिद्ध हुए।

जर्मनी द्वारा ऑस्ट्रिया का अधिग्रहण– 1933–34 ई. के दौरान हिटलर ने जर्मनी में जनतांत्रिक मूल्य नष्ट कर दिये और संपूर्ण यूरोप को नाजीकृत करने की प्रक्रिया शुरू कर दी। इस प्रक्रिया का महत्वपूर्ण बिंदु मुसोलिनी के इथोपिया पर आक्रमण में हिटलर का समर्थन था। स्पेन के गृह युद्ध ने इस मित्रता को बल प्रदान किया। इस काल में हिटलर ने जर्मनी के पुनः शस्त्रीकरण और राइनलैंड में सैन्यीकरण का कार्य पूरा कर लिया था। फ्रांस और ब्रिटेन की तुष्टीकरण की नीति का लाभ उठाते हुए हिटलर ने 1938 ई. में ऑस्ट्रिया के साथ एकता (Anschluss of Union) स्थापित की। इसके पश्चात चेकोस्लोवाकिया का अंग–भंग हुआ तथा मार्च 1939 ई. तक उस पर पूर्णतः आधिपत्य कर लिया गया। हिटलर को इस उद्देश्य की प्राप्ति में ब्रिटेन का मौन समर्थन मिला।

जर्मनी का पोलैंड पर आक्रमण– हालांकि उल्लेखनीय बात यह थी कि जर्मनी का विस्तार स्लाव क्षेत्रों तक था। 'पोलैंड का दालान (बरामदा)' एक ऐसा विषय था जिस पर हिटलर ने जर्मनी की उग्र राष्ट्रवादी भावनाओं को भड़काया। इसी समय सोवियत संघ परिदृश्य पर उभरा। फासीवादी आक्रमणों का विरोध करने हेतु अपने लोकप्रिय मोर्चे के प्रस्ताव पर पश्चिमी जनतंत्रों की अपर्याप्त प्रतिक्रिया से स्टालिन का मोहभंग हुआ और उसने जर्मनी के साथ 1939 ई. में एक दूसरे पर आक्रमण न करने का समझौता कर लिया। केवल यही नहीं स्टालिन ने पोलैंड का विभाजन भी स्वीकार कर लिया। 1 सितंबर, 1939 ई. को पोलैंड पर जर्मनी के आक्रमण के साथ ही द्वितीय विश्वयुद्ध आरंभ हो गया। ब्रिटेन तथा फ्रांस ने दो दिन बाद ही पोलैंड के बचाव के लिए युद्ध में प्रवेश किया।

'पोलैंड का दालान (बरामदा)'

कारणों का विश्लेषण

द्वितीय विश्वयुद्ध के क्या कारण थे? इस प्रश्न का सबसे स्पष्ट उत्तर होगा– फासीवादी शक्तियों की आक्रामक नीति तथा उनके विस्तार के प्रयत्न। परंतु फिर प्रश्न यह उठता है कि फासीवादी राष्ट्रों की इस आक्रामक तथा विस्तारवादी नीति के क्या कारण थे? इसका उत्तर यह हो सकता है कि आक्रामक नीति तथा धन एवं शक्ति प्राप्त करने की लालसा फासीवाद का मूल सिद्धांत था। परंतु फिर कोई प्रश्न कर सकता है कि लोगों ने आक्रामक और विस्तारवादी सिद्धांत क्यों अपनाए? स्पष्ट कारणों पर यह निरंतर प्रश्न करना मूर्खतापूर्ण प्रतीत होता है, किंतु इन स्पष्ट कारणों से संतुष्ट न होना ही घटनाओं के अधिक मूलभूत कारणों को खोजने का एक प्रथम प्रयास है।

वास्तव में दोनों महायुद्धों के अंतर्निहित कारणों को हमें अपनी जीवन शैली में अवतरित औद्योगिकरण में तथा 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में उत्पन्न पूंजीवादी साम्राज्यवाद में खोजने होंगे। नवतकनीक, आधुनिक यातायात व संचार के साधनों तथा यूरोपीय जनसंख्या में हुई तेज वृद्धि के कारण सामाजिक एवं आर्थिक जीवन में बदलाव आये जिनसे आधुनिक पूंजीवादी अर्थव्यवस्था का जन्म हुआ। 19वीं सदी के दौरान इसी पूंजीवादी विश्वव्यापी अर्थव्यवस्था ने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों व हितों को अत्यधिक महत्वपूर्ण एवं गहन बना दिया। एक ओर तो इसने विभिन्न राष्ट्रों में निकटता स्थापित की लेकिन दूसरी ओर इसने विभिन्न राष्ट्रों के पुराने विवादों को जन्म दिया।

पूंजीवादी वैश्विक अर्थव्यवस्था से उत्पन्न विवादों ने ही जर्मन व ब्रिटिश साम्राज्यों के मध्य अंतर्राष्ट्रीय शत्रुता को बढ़ावा दिया। अन्य यूरोपीय देशों में संबंध अधिकाधिक तनावपूर्ण होते गए। इन देशों में विवाद तो पहले भी थे परंतु यूरोपीय देशों के मध्य निरंतर बढ़ते नये तनाव की जड़ व्यापारिक समृद्धि थी।

अमेरिका के राष्ट्रपति वुडरो विल्सन को सबसे शांतिप्रिय अमेरिकी राष्ट्रपति माना जाता है परंतु वे भी जानते थे कि संसाधनों एवं व्यापार पर नियंत्रण, सभी शक्तिशाली

टिप्पणी

देशों का लक्ष्य है। जर्मन नेता, प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी की अपमानजनक हार से काफी क्रोधित थे। 1919 ई. की वर्साय की संधि से वास्तव में प्रथम विश्वयुद्ध का अंत नहीं बल्कि इसकी निरंतरता चिह्नित हुई थी। क्रोधित जर्मनी ने पहले गुप्त रूप से, और बाद में खुलेआम व्यापारिक प्रतिबंधों को तोड़ने हेतु तथा वर्साय के अपमान से मुक्ति के लिए सेना लगाई। सकल राष्ट्रीय उत्पाद (GNP) के कम होने के कारण विश्व के प्रभावशाली देशों ने निर्यात कम करने एवं रोजगार का संरक्षण करने हेतु अपने व्यापारिक गुट (Trade Blocks) बना लिए।

सारांश रूप में कह सकते हैं कि वर्साय की संधि तथा आर्थिक महामंदी के दबाव में, यूरोप में राजनीतिक केंद्र का ह्रास अधिनायकवादी यूरोप की स्थापना में सहायक सिद्ध हुआ। जर्मनी की आक्रामक नीति के विरुद्ध ब्रिटेन और फ्रांस ने प्रतिक्रिया की और द्वितीय विश्वयुद्ध आरंभ हो गया। अगर हम पहले की घटनाओं पर विचार करें तो राजनीतिक वातावरण का बिगड़ना, अधिनायकवादी सरकारों का उत्थान तथा यूरोप में अंतरयुद्ध काल में हिंसा को देखते हुए 1914 से 1945 ई. तक के संपूर्ण काल को तीस वर्षीय युद्ध (Thirty Years War) कहा जा सकता है। परंतु भले ही द्वितीय महायुद्ध का बीजारोपण प्रथम महायुद्ध द्वारा हुआ हो परंतु मूलतः उसके कारण बीसवीं सदी के चौथे दशक की कूटनीति और उससे भी अधिक हिटलर की आक्रामक नीतियों में निहित हैं। अतः यह ध्यान रखना अति आवश्यक है कि दूसरे महायुद्ध के अल्पकालीन कारण भी थे और दीर्घकालीन भी।

3.2.2 द्वितीय विश्वयुद्ध की प्रकृति

प्रथम विश्वयुद्ध प्राचीन काल के समय लड़े जाने वाले आमने–सामने के युद्ध से सर्वथा भिन्न था। इस युद्ध में ऐसे वैज्ञानिकों तथा विनाशकारी अस्त्र–शस्त्रों का प्रयोग हुआ जिनके कारण इस युद्ध को मशीनों का युद्ध या यांत्रिकी युद्ध कहा जाता है। प्रथम विश्वयुद्ध में भी आधुनिक यंत्रों का प्रयोग किया गया था किंतु द्वितीय विश्वयुद्ध तक युद्ध कला का इतने व्यापक रूप से यंत्रीकरण किया जा चुका था कि प्रथम विश्वयुद्ध इस युद्ध की तुलना में कुछ भी न रहा। अतः दूसरे विश्वयुद्ध में विजय उसी को प्राप्त होने की संभावना थी जो अत्यधिक मात्रा में संहारकारी और विद्युत परिचालित यंत्रों का प्रयोग कर सके। हिटलर ने युद्ध आरंभ होने से पूर्व ही यांत्रिक अस्त्र शस्त्रों का संग्रह प्रचुर मात्रा में कर लिया था। इन यांत्रिक अस्त्र–शस्त्रों की अजेय शक्ति का भरोसा करके हिटलर ने युद्ध की ज्वाला को प्रचंड किया था। हिटलर की यह यंत्रीकृत रणनीति वज्रयुद्ध के नाम से जानी जाती थी। इसी वज्रयुद्ध के आधार पर ही जर्मन सेना को आरंभ में आश्चर्यजनक सफलता प्राप्त हुई। जर्मन सेना ने विद्युत गति से शत्रुओं पर हमला बोलकर उन्हें पराजित करने में सफलता प्राप्त की परंतु धीरे–धीरे मित्र राष्ट्रों ने भी यही रणनीति अपनाई और जर्मन सेनाओं के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करना आरंभ कर दिया। धीरे धीरे मित्र राष्ट्रों के वज्र प्रहार की गति और संख्या में वृद्धि होती गई। मित्र राष्ट्रों के आक्रमणों ने जर्मनी की विशाल सेना, बड़े–बड़े कल कारखानों और यातायात के साधनों पर संहारकारी वर्षा करके उन्हें नष्ट भ्रष्ट कर दिया।

टिप्पणी

3.2.3 द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणाम

द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणाम, प्रथम विश्वयुद्ध से अधिक निर्णायक सिद्ध हुए। इसके सिर्फ विनाशकारी प्रभाव ही नहीं हुए, बल्कि कुछ प्रभाव ऐसे भी हैं जिनसे विश्व इतिहास की धारा बदल गई तथा एक नए विश्व का उदय और विकास हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणाम निम्नलिखित थे–

यूरोपीय प्रभुत्व का अंत

द्वितीय विश्वयुद्ध के पूर्व तक यूरोप विश्व इतिहास का निर्माता था, किन्तु द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यूरोपीय राष्ट्र आर्थिक एवं राजनीतिक दृष्टि से अपाहिज हो चुके थे। विश्व समाज को अनुशासित करने वाला यूरोप अब समस्या प्रधान यूरोप बन गया। विश्वयुद्ध के बाद जर्मनी पूर्णतः पंगु हो चुका था, इटली सर्वनाश के कगार पर खडा सिसक रहा था तथा ब्रिटेन और फ्रांस की स्थिति तृतीय श्रेणी के राष्ट्रों जैसी हो गयी थी। अब विश्व में केवल दो ही महाशक्तियां रह गई थी – सोवियत रूस और संयुक्त राज्य अमेरिका। युद्ध के बाद ये दोनों ही प्रथम श्रेणी के राष्ट्रों के रूप में उभरकर सामने आए तथा विश्व के राष्ट्र तेजी से उनके प्रभाव क्षेत्रों में बंटने लगे। इस प्रकार विश्व राजनीति का नेतृत्व अब यूरोप के हाथों से निकलकर इन दो महाशक्तियों के हाथों में चला गया और ये दोनों ही राष्ट्र परस्पर विरोधी विचारधाराओं के प्रतीक बन गए। रूस साम्यवादी विचारधारा का पोषक बन गया और अमेरिका लोकतंत्र एवं पूंजीवादी आकांक्षाओं के लिये सहारा बन गया। विश्व राजनीतिक क्षितिज पर रूस और अमेरिका रूपी दो सितारे चमक उठे, जिन्होंने विश्व नेतृत्व की कुंजी यूरोप के हाथों से छीन ली और इस प्रकार विश्व में यूरोपियन प्रभुत्व का अंत हो गया।

औपनिवेशिक युग का अंत

द्वितीय विश्वयुद्ध (Second World War) के बाद सभी साम्राज्यवादी राज्यों को एक–एक कर अपने उपनिवेशों से हाथ धोना पड़ा। उपनिवेशों में राष्ट्रीयता की लहर तेज हो गई। स्वतंत्रता आंदोलन तेज हो गए। एशिया के अनेक देश यूरोपीय दासता से मुक्त हो गए। भारत भी अंग्रेजी दासता से मुक्त हो गया।

राष्ट्रीयता का नवजागरण

युद्ध के बाद यूरोपीय देशों के साम्राज्यों में राष्ट्रीयता की भावनाएं प्रज्ज्वलित हुई। एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रीय जागरण ने तो यूरोपीय राष्ट्रों के अवशिष्ट प्रभाव को भी समाप्त कर दिया। यूरोपीय देशों के साम्राज्यों में राष्ट्रीयता एवं नवजागरण की शक्तियां इतनी प्रबल हो उठी कि यूरोपीय राष्ट्रों के लिये अपने साम्राज्यों को बनाए रखना कठिन हो गया। पराजित राष्ट्रों–जर्मनी, इटली और जापान के साम्राज्य तो छीन ही लिये गये थे, किन्तु विजयी राष्ट्र भी अपने साम्राज्यों की रक्षा नहीं कर सके। परिस्थितियों से विवश होकर महायुद्ध के बाद ब्रिटिश सरकार ने अपनी नीति में परिवर्तन किया, जिससे भारत, बर्मा, पाकिस्तान, मलाया, मिस्र आदि देशों को स्वतंत्रता प्रदान की गयी। अफ्रीका के अनेक देशों को भी स्वतंत्रता प्राप्त हुई। फ्रेंच हिन्द चीन में फ्रांसीसी साम्राज्य समाप्त हो गया। कम्बोडिया, लाओस, वियतनाम आदि स्वतंत्र

टिप्पणी

हुए। हालैण्ड के उपनिवेशों – जावा, सुमात्रा, बोर्नियो आदि ने हिन्देशिया नामक संघराज्य की स्थापना की और वह भी स्वतंत्र हो गया।

साम्यवाद का तेजी से प्रसार

द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात सोवियत संघ के नेतृत्व में साम्यवाद का तेजी से प्रसार हुआ। पूर्वी यूरोप के अनेक देशों एशियाई देशों चीन, उत्तर कोरिया इत्यादि देशों में साम्यवाद का प्रसार हुआ।

संयुक्त राष्ट्र की स्थापना

द्वितीय विश्वयुद्ध (Second World War) के बाद एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन की आवश्यकता पुनः प्रतीत हुई, जिससे कि विश्व शांति बनाई रखी जा सके एवं विश्वयुद्ध की पुनरावृत्ति को रोका जा सके। अमेरिका की पहल पर 24 अक्टूबर 1945 को संयुक्त राष्ट्र नामक संस्था की स्थापना की गई।

धन–जन का भीषण संहार

द्वितीय विश्वयुद्ध (Second World War) में धन–जन की अत्यधिक क्षति हुई। इस युद्ध में दोनों पक्षों के 5 करोड़ से अधिक लोग मारे गए जिनमें सर्वाधिक संख्या सोवियत संघ की थी। लाखों लोग बेघर हो गए जिससे पुनर्वास की समस्या बढ़ गई। लाखों यहूदियों की हत्या कर दी गई। घायलों की गिनती नहीं की जा सकती थी। इंग्लैंड में लगभग 2000 करोड़ रुपए मूल्य की संपत्ति नष्ट हुई। सोवियत संघ की संपूर्ण राष्ट्रीय संपत्ति का चौथा भाग युद्ध की भेंट चढ़ गया।

फासीवादी शक्तियों का सफाया

युद्ध में पराजित होने के बाद धुरी राष्ट्रों के दुर्दिन आ गए। जर्मन साम्राज्य का बड़ा भाग उससे छिन गया। इटली को भी अपने सभी अफ्रीकी उपनिवेश खोने पड़े। जापान को भी उन क्षेत्रों को वापस करना पड़ा जिन पर वह अपना अधिकार जमाए हुए था। इन राष्ट्रों की आर्थिक एवं सैनिक स्थिति भी दयनीय हो गई।

युद्धोत्तर विश्व में सिद्धांतों का संघर्ष

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व में सिद्धांतों एवं आदर्शों पर बल देने की प्रवृत्ति एक प्रमुख विशेषता बन गई। युद्धोत्तर विश्व में विभिन्न सिद्धांतों एवं विचारधाराओं ने सिर उठाया, जिनमें कुछ में तो साम्य था तो कुछ में परस्पर विरोध। युद्धोत्तर विश्व में विभिन्न विचारधाराएं पल्लवित होती गयीं और अपनी शाखाओं और उपशाखाओं का विस्तार करती रही। युद्धोपरांत अमेरिका ने उदारवादी नीति अपनाई तथा आर्थिक दृष्टि से पस्त राष्ट्रों को आर्थिक पुनर्निर्माण के लिये सहायता प्रदान की। दूसरी ओर उसने पिछड़े हुए एशियाई राष्ट्रों को भी सहायता देने की नीति अपनाई। इस विचारधारा को अमेरिकन उदारवाद की संज्ञा दी जाती है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सोवियत रूस साम्यवाद को अमेरिकन उदारवाद की संज्ञा दी जाती है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सोवियत रूस साम्यवाद का प्रमुख केन्द्र बन गया जिसका एकमात्र लक्ष्य विश्व में साम्यवद का प्रसार करना हो गया।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

1. चीन–जापान युद्ध किस सन् में हुआ?

   (क) सन् 1930 (ख) सन् 1931

   (ग) सन् 1935 (घ) सन् 1937

2. किस सदी के मध्य से रूस–जर्मन संबंध यूरोपीय इतिहास का केंद्रीय तत्व रहा है?

   (क) 16वीं सदी (ख) 17वीं सदी

   (ग) 19वीं सदी (घ) 20वीं सदी

3.3 राष्ट्रवादी आंदोलन और उपनिवेशवाद

राष्ट्र शब्द किसी राष्ट्रीयता की सामान्य राजनीति का द्योतक है जो किसी सुनिश्चित स्वदेश के साथ जुड़ी तीव्रता, घनिष्ठता तथा सम्मान की भावना का संयुक्त रूप है।

लंबे समय तक भारत ब्रिटिश शासन का उपनिवेश रहा है। औपनिवेशिक नीतियों तथा ब्रिटिश शासन से मुक्ति हेतु उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ और एक संगठित आंदोलन की शुरुआत हुई। भारतीय इतिहास में ब्रिटिश शासन के विरुद्ध लंबे समय तक चल रहे इस आंदोलन को राष्ट्रीय आंदोलन के नाम से जाना जाता था। यद्यपि भारतीय स्वतंत्रता का प्रथम संघर्ष मई 1857 के विद्रोह को माना जाता है, किंतु इसकी औपचारिक शुरुआत 1885 ई. में कांग्रेस की स्थापना के साथ हुई। यह संघर्ष कई उतार–चढ़ावों से गुजरते हुए 15 अगस्त, 1947 तक अनवरत रूप से जारी रहा।

ई. बार्कर के अनुसार, "राष्ट्र किसी प्रदेश में रहने वाले लोगों का समूह है, जो विभिन्न नसलों से संबंधित होने पर सांझे इतिहास की धारा में अर्जित विचारों व भावनाओं में समान भागीदारी रखते हैं। सांझे विचारों और भावनाओं के अतिरिक्त, सामान्य इच्छा भी रखते हैं और उसके अनुरूप उस इच्छा की अभिव्यक्ति के लिए अपने अलग राष्ट्र का निर्माण करते हैं अथवा उसके निर्माण का प्रयास करते हैं।"

यद्यपि उन्नीसवीं शताब्दी का भारत विभिन्न जाति, धर्म, भाषा और क्षेत्रों में विभाजित था तथा ब्रिटिश शासकों ने भी इस विभाजन को बनाए रखने के लिये 'फूट डालो और शासन करो' की नीति को अपनाया। तथापि भारत एक भौगोलिक इकाई मात्र नहीं था, बल्कि इस विविधता में सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक चेतना भी अंतर्निहित थी, जिसने राष्ट्रीय आंदोलन के आरंभ, विकास एवं सफलता की ओर अग्रसर होने में सहायता प्रदान की। यह राष्ट्रीय चेतना ही थी, जिसने राष्ट्रवाद का विकास किया तथा भाषा, धर्म, जाति के बंधन को लांघते हुए लोगों को एक साथ बांध दिया। इस सूत्र में यद्यपि अंग्रेजों द्वारा स्थापित प्रशासनिक व्यवस्था तथा आधुनिक विचारों के एक सीमा तक प्रचार–प्रसार ने भी राष्ट्रवाद को प्रोत्साहित किया, किंतु ब्रिटिश शासन का कभी

भी यह उद्देश्य नहीं था कि भारत में राष्ट्रवाद का बीजारोपण हो बल्कि उन्होंने अपने औपनिवेशिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये ही कुछ सुधार किये, जिससे भारतीयों में राष्ट्रीय चेतना का विकास हुआ और वे राष्ट्रीय आंदोलन के लिये प्रेरित हुए।

टिप्पणी

उदारवादी चरण

भारत में राष्ट्रीय आंदोलन के एक नए युग का आरंभ भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के साथ ही हुआ। कांग्रेस का नेतृत्व जिन नेताओं के द्वारा किया गया उनका स्वभाव सरल एवं कार्य–प्रणाली उदार प्रकृति की थी, इसलिये राष्ट्रीय आंदोलन के प्रथम चरण को उदारवादी चरण के नाम से जाना जाता है। कांग्रेस के प्रारंभिक 20 वर्षों के काल को उदारवादी राष्ट्रीयता कहा जाता है, क्योंकि इस काल में कांग्रेस की नीतियां काफी उदार थीं। इस समय कांग्रेस पर समृद्धशाली मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों का प्रभाव था, जिनमें अधिकांश पत्रकार, वकील, इंजीनियर एवं डॉक्टर इत्यादि प्रमुख थे। ये उदारवादी नेता ब्रिटिश सरकार के प्रति निष्ठावान थे तथा उन्हें अपना शत्रु मानते थे। दादाभाई नौरोजी के इन शब्दों से अंग्रेजों के प्रति उनकी भावनाओं की मूर्त अभिव्यक्ति का पता चलता है– हम ब्रिटिश प्रजा हैं, हम अपने हक की मांग कर सकते हैं। अगर हमें ब्रिटेन की सर्वश्रेष्ठ संस्थाओं से वंचित रखा जाता है तो फिर भारत को अंग्रेजों के स्वामित्व में रहने से क्या लाभ? उदारवादी नेताओं में फिरोजशाह मेहता, बदरुद्दीन तैयबजी, व्योमेश चंद्र बनर्जी, सुरेंद्रनाथ बनर्जी, आनंद मोहन बोस और रमेशचंद्र दत्त प्रमुख थे। कालांतर में द्वारिकानाथ गांगुली, एम.जी. रानाडे, वीर राघवाचारी, आनंद चारलू और गोपालकृष्ण गोखले भी इसमें शामिल हो गए।

उदारवादियों की कार्य–प्रणाली

उदारवादियों को नरमपंथी के नाम से भी जाना जाता था। उनकी कार्य–प्रणाली एक विशिष्ट तरीके की थी, जिसमें वे अपने प्रतिवेदनों, भाषणों और लेखों के माध्यम से ब्रिटिश सरकार एवं उनके द्वारा स्थापित अंग्रेजी राज्य की प्रशंसा करते थे और अपनी मांगों को उनके पास रखते थे। वे अपनी उन मांगों को समाचार–पत्रों, पत्रिकाओं के माध्यम से स्पष्ट करते थे ताकि जनता पर भी उनके कार्यों का प्रभाव पड़े।

राष्ट्रीय आंदोलन का द्वितीय चरण

भारत के स्वतंत्रता संघर्ष में उदारवादियों, उग्रवादियों, महिलाओं तथा किसानों एवं मजदूरों ने अपना सर्वस्व योगदान दिया। परिणामस्वरूप निरंतरता एवं परिवर्तन का दौर शुरू हुआ। परिवर्तन के क्रम में सफलता एवं असफलता निरंतर बनी रही। आंदोलन के उद्देश्य की पूर्ति तुरंत न होकर जनता की जागृति, स्वतंत्रता के प्रति कर्तव्य, साम्राज्यवाद पर दबाव डालने और उसके लिये सर्वस्व न्योछावर करने की भावना तथा आत्म त्याग की भावना का विकास करने से होती है। उदारवादियों एवं क्रांतिकारियों की भूमिका के बारे में यदि इस पहलू के आधार पर विचार करें तो हम समझ सकते हैं कि उन्होंने भारत के युवकों में जागृति फैलाने और साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष में जुट जाने का आह्वान किया। अतः राष्ट्रीय आंदोलन एवं भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष भिन्न–भिन्न समय पर भिन्न–भिन्न वैचारिक आयामों से होकर गुजरे।

टिप्पणी

होमरूल आंदोलन

भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान 1916 ई. में बाल गंगाधर तिलक और श्रीमती एनी बेसेंट द्वारा 'अखिल भारतीय होमरूल लीग' की स्थापना की गई। इसी लीग के द्वारा ब्रिटिश शासन के खिलाफ होमरूल आंदोलन राष्ट्रीय स्तर पर चलाया गया। इस आंदोलन का मुख्य उद्देश्य ब्रिटिश साम्राज्य के अधीन रहते हुए संवैधानिक तरीके से स्वशासन को प्राप्त करना था। तिलक और एनी बेसेंट ने आयरलैंड के होमरूल आंदोलन से प्रेरणा लेते हुए भारत में इस आंदोलन का सूत्रपात किया था। इस आंदोलन के तहत स्वशासन के उद्देश्य को महत्व देते हुए धार्मिक स्वतंत्रता, राष्ट्रीय शिक्षा तथा राजनीतिक एवं सामाजिक सुधार को अपना आधारभूत कार्यक्रम बनाया गया और इस आंदोलन में दो अलग–अलग होमरूल लीगों की स्थापना की गई, पहला बाल गंगाधर तिलक द्वारा अप्रैल 1916 में पूना में तथा दूसरा सितंबर 1916 में एनी बेसेंट के द्वारा मद्रास में। दोनों होमरूल लीगों ने प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान भारत को होमरूल या स्वराज्य देने की मांग के पक्ष में भारत में जोरदार प्रचार किया। इसी आंदोलन के दौरान तिलक ने यह लोकप्रिय नारा दिया– "स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और मैं इसे लेकर रहूंगा।"

तिलक की होमरूल लीग

जून 1914 में तिलक 6 वर्ष के कारावास के बाद जेल से रिहा हुए और एक बार पुनः सक्रिय राजनीति में भाग लेने लगे, परंतु इस बार उन्होंने कांग्रेस से अलग एनी बेसेंट से मिलकर होमरूल आंदोलन शुरू करने की दिशा में प्रयास शुरू कर दिया। एनी बेसेंट कांग्रेस के नेतृत्व में आंदोलन शुरू करना चाहती थीं। अतः अप्रैल 1916 में तिलक ने बेलगांव (पूना) में होमरूल लीग की स्थापना की। तिलक द्वारा स्थापित होमरूल के अध्यक्ष जोसेफ बैपतिस्ता तथा सचिव एन.सी. केलकर थे। इस होमरूल लीग का कार्यक्षेत्र महाराष्ट्र (बंबई को छोड़कर), कर्नाटक, मध्य प्रांत एवं बरार तक फैला था। तिलक ने मराठी भाषा में केसरी और अंग्रेजी में मराठा नामक पत्रों के माध्यम से होमरूल की अवधारणा का प्रचार किया। उन्होंने संपूर्ण भारतवर्ष का भ्रमण कर स्वराज प्राप्ति के लिये जनमत तैयार करने का प्रयास किया।

एनी बेसेंट की होमरूल लीग

सितंबर 1916 में एनी बेसेंट ने भी ऑल इंडिया होमरूल लीग की स्थापना की। उनके द्वारा स्थापित लीग के सचिव जॉर्ज अरुंडेल थे तथा बी.पी. वाडिया, सी.पी. रामास्वामी अय्यर, जवाहरलाल नेहरू, वी. चक्रवर्ती तथा जे. बनर्जी जैसे प्रमुख लोकप्रिय नेता इसके सदस्य थे। एनी बेसेंट की लीग का मुख्यालय अडयार (मद्रास) में स्थापित किया गया था। उसने लीग को अखिल भारतीय स्वरूप प्रदान किया। तिलक के कार्य को छोड़कर लगभग संपूर्ण भारत में इस लीग की संस्थाएं सक्रिय हुई।

3.3.1 राष्ट्रीय आंदोलन की अवधारणा

दक्षिण अफ्रीका से गांधी जी जनवरी, 1915 ई. में भारत लौटे। दक्षिण अफ्रीका में उनकी सफलता के बारे में भारतीय जनमानस परिचित हो चुका था। अतः प्रत्येक व्यक्ति के

टिप्पणी

दिल में उनके प्रति आदर एवं श्रद्धा का भाव था। गांधी जी का विचार था कि किसी भी मुद्दे पर तब तक हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, जब तक समूची स्थिति का अध्ययन न कर लिया जाए। उनके राजनीतिक गुरु गोखले की भी यही सलाह थी। अतः गांधी जी का यह समय 'ठहरो और स्थिति का अध्ययन करो' का समय था।

1919 ई. में सर्वप्रथम मुसलमानों को अपने साथ रखने के लिए गांधी जी ने 'खिलाफत आंदोलन' का नेतृत्व किया। इसी समय असहयोग आंदोलन आरंभ किया। चौरी–चौरा कांड के पश्चात उन्होंने 'असहयोग आंदोलन' को वापस ले लिया था। 1929 ई. में 'सविनय अवज्ञा आंदोलन' शुरू किया। 1935 ई. में 'भारत सरकार अधिनियम' पारित हुआ तथा 1942 ई. में 'भारत छोड़ो आंदोलन' का आरंभ किया। लेकिन गांधी जी के इन विचारों का मतलब यह नहीं था कि वह चुपचाप बैठे रहेंगे। 1917 ई. और 1918 ई. के आरंभ में गांधी जी ने 3 संघर्षों– चंपारण, अहमदाबाद एवं खेड़ा आंदोलन का संचालन किया। गांधी जी ने उदारवादी नीति का हमेशा समर्थन किया तथा अपने आंदोलनों को सत्याग्रह का नाम दिया। अहिंसा और सत्याग्रह गांधी जी के विरोध की विशेष नीतियां थीं जिन्होंने अंग्रेजों को भारत को स्वतंत्रता देने के लिए विवश कर दिया।

खिलाफत आंदोलन

यूरोप में टर्की का खलीफा इसलामी संसार का धार्मिक नेता माना जाता था। टर्की ने प्रथम विश्वयुद्ध में ब्रिटेन के विरुद्ध जर्मनी के पक्ष में युद्ध किया था। युद्ध समाप्ति पर वह हारे हुए देशों की श्रेणी में खड़ा हुआ। तुर्की के साम्राज्य का विभाजन कर, बड़े–बड़े भाग मित्र राष्ट्रों ने परस्पर बांट लिए एवं खलीफा के पद का अंत कर दिया।

चूंकि इससे पूर्व ब्रिटेन के प्रधानमंत्री लॉयड जॉर्ज ने भारतीय मुसलमानों को, उनके धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप न करने का वचन दिया था, किंतु सेव्रे की संधि उनके वचन के ठीक विपरीत थी।

इस कार्य से 1918–19 ई. में भारतीय मुसलमान उत्तेजित हो उठे। उन्होंने खिलाफत आंदोलन प्रारंभ किया। इसका उद्देश्य इस्लाम के खलीफा सुलतान की शक्ति को पुनः स्थापित करना था। 31 अगस्त, 1919 ई. को सारे देश में 'खिलाफत दिवस' मनाया गया था।

लोकमान्य तिलक और महात्मा गांधी ने भी खिलाफत आंदोलन को हिंदू–मुस्लिम एकता को मजबूत बनाने और मुस्लिम जनता को राष्ट्रीय आंदोलन में लाने का सुनहरा मौका समझा।

अतएव 23 नवंबर, 1919 ई. में गांधी जी ने हिंदू और मुस्लिम दोनों वर्गों के नेताओं का एक सम्मेलन दिल्ली में बुलाया और खिलाफत आंदोलन का समर्थन किया। अखिल भारतीय खिलाफत कमेटी के प्रमुख नेता– अली बंधु, मौलाना आजाद, हकीम अजमल खां, हसन मोहानी थे।

मौलाना मोहम्मद अली, शौकत अली खिलाफत की धार्मिक संस्था और खलीफा के धार्मिक नेतृत्व की आवश्यकता और महत्व पर जोर देते थे, जबकि मौलाना आजाद इसके राजनीतिक पक्ष पर जोर देते थे।

टिप्पणी

जब मुस्तफा कमाल पाशा के नेतृत्व में टर्की में खलीफा की सत्ता समाप्त कर दी गई तो 1922 ई. में यह आंदोलन स्वतः ही समाप्त हो गया।

इस आंदोलन का प्रभाव खलीफा की स्थिति पर तो किंचित भी नहीं पड़ा, पर इससे गांधी जी और कांग्रेस को असहयोग आंदोलन में मुसलमानों का सहयोग और समर्थन अवश्य प्राप्त हो गया।

असहयोग आंदोलन

असहयोग आंदोलन के अवलोकन हेतु इसके संपूर्ण स्वरूप से परिचित होना आवश्यक है। इसके दो स्वरूप थे– एक रचनात्मक तो दूसरा विध्वंसात्मक।

रचनात्मक स्वरूप– इसके अंतर्गत– (1) स्वदेशी वस्तुओं के उपयोग को प्रोत्साहन, (2) असहयोग आंदोलन के संचालन के लिए तिलक कोष में एक करोड़ रुपये जमा करना, (3) अनेकानेक स्वयं–सेवकों को भर्ती करना, (4) 20 लाख चरखों को बेरोजगारों में वितरित करवाना था।

विध्वंसात्मक स्वरूप– इसके अंतर्गत विदेशी वस्तुओं और अंग्रेजी न्यायालयों, शिक्षण संस्थाओं आदि का बहिष्कार करना था।

असहयोग आंदोलन की संरचना

असहयोग आंदोलन की संरचना को सकारात्मक एवं नकारात्मक दो भागों में बांटा जा सकता है–

1. **सकारात्मक संरचना** : असहयोग आंदोलन की सकारात्मक संरचना निम्न पंक्तियों में वर्णित है–

   (क) संपूर्ण भारत में राष्ट्रीय स्कूल, कॉलेजों की स्थापना तथा राष्ट्रीय पंचायत के द्वारा आपसी विवादों का निपटारा।

   (ख) खादी और अन्य हस्तशिल्पों के माध्यम से 'स्वदेशी' को लोकप्रिय बनाना।

   (ग) हिंदुओं और मुसलमानों के बीच एकता व समरसता का विकास करना।

   (घ) अस्पृश्यता को समाप्त करना तथा हरिजन व दलित वर्ग के उत्थान के लिए सक्रिय प्रयास करना।

   (ङ) महिलाओं को राष्ट्र की मुख्य धारा में शामिल करना तथा उनके उत्थान का प्रयास करना।

2. **नकारात्मक संरचना** : असहयोग आंदोलन की नकारात्मक संरचना निम्न पंक्तियों में वर्णित है–

   (क) सरकारी स्कूलों, कॉलेजों, न्यायालयों तथा विधान सभाओं का बहिष्कार।

   (ख) विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार।

   (ग) सभी प्रकार की सरकारी उपाधियों, प्रतिष्ठापूर्ण पदों तथा स्थानीय निकायों के मनोनीत पदों का समर्पण।

   (घ) सरकारी तथा अर्द्धसरकारी समारोहों में भाग न लेना।

(ङ) सेना में लिपिकीय तथा कार्मिक वर्ग के लोगों द्वारा मेसोपोटामिया में अपनी नियुक्ति को अस्वीकार करना।

टिप्पणी

आंदोलन के बढ़ते चरण

1. 1920–21 ई. में यह आंदोलन प्रारंभ हुआ और सारे देश में फैल गया।
2. सैकड़ों व्यक्तियों ने सरकार द्वारा प्राप्त उपाधियां लौटाईं।
3. सहस्रों वकीलों ने अंग्रेजी न्यायालयों में वकालत करना छोड़ दिया।
4. असंख्य विद्यार्थियों ने अंग्रेजी स्कूल और कॉलेज छोड़ दिए एवं राष्ट्रीय शालाएं और विद्यापीठ स्थापित किए गए।
5. विदेशी व्यापार और विदेशी वस्त्रों का बहिष्कार किया गया और अनेकानेक लोगों ने चरखा कात कर सूत बनाना और खादी पहनना आरंभ किया।
6. नवंबर, 1921 ई. में इंग्लैंड के प्रिंस ऑफ वेल्स (ज्येष्ठ राजकुमार) भारत भ्रमण के लिए आए, परंतु भारतीयों ने उनका बहिष्कार किया और हड़तालों से विभिन्न नगरों में उनका स्वागत हुआ।
7. 1921 ई. में अहमदाबाद में हुए कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन में आंदोलन को और अधिक तेज करने का निर्णय लिया गया।

असहयोग आंदोलन प्रारंभ होने के कारण निम्नलिखित थे–

1. रौलेट एक्ट का पारित होना।
2. जलियांवाला बाग हत्याकांड एवं हंटर आयोग की जांच के बावजूद दोषियों को सजा न दिलाया जाना।
3. मोन्टेग्यू–चेमस्फोर्ड सुधारों का आशानुकूल नहीं होना।
4. तुर्की के खलीफा के खिलाफ अंग्रेजी दुर्व्यवहार।
5. राष्ट्रवादियों द्वारा स्वराज्य की मांग के लिए एक संगठित आंदोलन प्रारंभ करने की इच्छा।

उपर्युक्त सभी कारणों के फलस्वरूप महात्मा गांधी एक विस्तृत अहिंसात्मक आंदोलन प्रारंभ करने की दिशा में अग्रसर हुए।

असहयोग आंदोलन का दृष्टिकोण

असहयोग आंदोलन के दृष्टिकोण को स्पष्ट करने हेतु कलकत्ता और नागपुर में अधिवेशन हुए–

1. **कलकत्ता में कांग्रेस का विशेष अधिवेषन**– यह अधिवेशन सितंबर, 1920 ई. में लाला लाजपत राय की अध्यक्षता में हुआ। इस अधिवेशन में गांधी जी ने असहयोग आंदोलन का एक प्रस्ताव रखा। चितरंजन दास एवं मदन मोहन मालवीय ने इस प्रस्ताव का विरोध किया, परंतु मोतीलाल नेहरू एवं अली बंधुओं के प्रयास से यह प्रस्ताव पारित हो गया।

टिप्पणी

2. **नागपुर अधिवेशन**– यह अधिवेशन दिसंबर, 1920 ई. में हुआ। नागपुर के पूर्णकालिक अधिवेशन में इस प्रस्ताव को पास कर दिया गया। यह प्रस्ताव चितरंजन दास द्वारा रखा गया था। मोहम्मद अली जिन्ना, विपिन चंद्र पाल, श्रीमती ऐनी बेसेंट ने कांग्रेस छोड़ दी थी।

असहयोग आंदोलन शुरू करने से पूर्व गांधी जी की मांग

असहयोग आंदोलन को प्रारंभ करने से पूर्व गांधी जी ने अंग्रेजों के सम्मुख तीन मांगें रखीं–

1. अंग्रेज सरकार अमृतसर हत्याकांड के लिए खेद प्रकट करे।
2. टर्की के प्रति अपने व्यवहार को नर्म करे।
3. कोई नवीन संवैधानिक सुधार की योजना प्रकट करे।

जब अंग्रेजों ने इन मांगों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया तो 31 अगस्त, 1920 ई. को गांधी जी ने असहयोग आंदोलन प्रारंभ कर दिया।

चौरी–चौरा कांड और असहयोग आंदोलन की समाप्ति

1922 ई. में गांधी जी ने तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्ड रीडिंग को एक पत्र लिखकर सरकार की कठोर दमनकारी नीति की आलोचना की और यह चेतावनी दी कि यदि सरकार अपनी नीति में परिवर्तन नहीं करेगी, तो वे 9 दिन के अंदर बारदोली में 'सविनय अवज्ञा आंदोलन' प्रारंभ करेंगे, जिसमें कर न देना भी शामिल है।

गांधी जी द्वारा दी गई समयावधि से पूर्व ही उत्तर प्रदेश स्थित गोरखपुर जिले के चौरी–चौरा ग्राम में विरोध स्वरूप कांग्रेस के द्वारा एक जुलूस निकाला जा रहा था। पुलिस ने घेराबंदी करके अहिंसात्मक आंदोलनकारियों पर गोली चला दी, जिससे जनता अनियंत्रित हो गई। जब पुलिस की गोलियां समाप्त हो गईं तो पुलिस भागकर थाने में छिप गई, अब उत्तेजित भीड़ ने थाने को घेर कर आग लगा दी। जनता की इस हिंसात्मक कार्यवाही में एक थानेदार व 21 सिपाही जलकर राख हो गए।

इस घटना से गांधी जी को बहुत दुःख पहुंचा, क्योंकि वे अहिंसा के पुजारी थे। गांधी जी ने 12 फरवरी, 1922 ई. में बारदोली में कांग्रेस कार्यसमिति की एक बैठक बुलाई। सामूहिक सत्याग्रह व असहयोग आंदोलन स्थगित करने का प्रस्ताव पारित कराया एवं रचनात्मक कार्यक्रमों को जारी रखने का फैसला किया गया।

प्रतिक्रियाएं

सुभाष चंद्र बोस– जब सारे देश की स्थिति सविनय अवज्ञा आंदोलन के लिए बहुत ज्यादा अनुकूल है तब गांधी जी ने आंदोलन को स्थगित करके भारी भूल की।

जवाहरलाल नेहरू– ऐसे समय में जब हम सभी मोर्चों पर आगे बढ़ रहे थे इसे स्थगित नहीं करना चाहिए था।

चितरंजनदास, मोतीलाल नेहरू, आसफ अली एवं रजनी पामदत्त ने भी इसकी आलोचना की। गांधी जी कुछ समय के लिए अलोकप्रिय हो गए। उनकी अलोकप्रियता

का लाभ उठाकर ब्रिटिश सरकार ने उन्हें गिरफ्तार कर 6 वर्ष के लिए जेल भेज दिया। बीमारी के कारण उन्हें समय से पूर्व 5 फरवरी, 1924 ई. को रिहा कर दिया गया। उनकी गिरफ्तारी के साथ ही आंदोलन स्वतः समाप्त हो गया।

टिप्पणी

समीक्षात्मक रूप से कहा जा सकता है कि अनेक मामलों में यह आंदोलन पूर्णतः सफल नहीं हुआ–

1. न्यायालयों, सरकारी स्कूलों, कॉलेजों, विधान मंडलों के बहिष्कार और उपाधियों को त्यागने का कार्यक्रम पूर्णतः सफल नहीं रहा। सरकार के वफादार भारतीय विधानसभाओं के लिए चुने गए।
2. आंदोलन को एकदम स्थगित करने से हिंदू–मुस्लिम तनाव बढ़ा। मुस्लिम लीग ने यह प्रचार किया कि गांधी जी ने अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए मुसलमानों को बेवकूफ बनाया है। परिणामस्वरूप अनेक स्थानों पर सांप्रदायिक दंगे हुए।
3. आंदोलन को स्थगित करने से जनता में निराशा फैली।

इन असफलताओं के होते हुए भी असहयोग आंदोलन की निम्नलिखित उपलब्धियां सराहनीय रहीं–

1. इसने कांग्रेस के चरित्र को पूर्णतः बदल दिया, अब कांग्रेस व्यापक पैमाने पर संगठित संघर्ष छेड़ने को तैयार हो गई थी। इससे पूर्व कांग्रेस वार्षिक अधिवेशन बुलाने, प्रस्ताव पास करने तथा सरकार की आलोचना करने जैसी निष्क्रिय गतिविधियों तक ही सीमित थी।
2. इस आंदोलन में प्रथम बार व्यापक रूप से आम जनता ने भाग लिया। किसान, मजदूर तथा महिलाओं की व्यापक भागीदारी ने इस आंदोलन को बिना क्रांतिकारी हिंसा के एक राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान किया। अतः अब कांग्रेस का आंदोलन पढ़े–लिखे लोगों तक सीमित नहीं रहा।
3. जनता का डर मिट गया और जेल जाना अब सबसे बड़ी देशभक्ति मानी जाने लगी। बच्चे–बच्चे की जबान से स्वराज्य का शब्द सुनाई देने लगा।
4. कांग्रेस के रचनात्मक कार्यों से देश को भारी लाभ हुआ। स्वदेशी के प्रचार ने कुटीर उद्योगों को प्रोत्साहन दिया। खादी आंदोलन ने जनता व नेताओं को एकता के सूत्र में पिरोया।
5. प्रथम बार कांग्रेस ने हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किया। स्वतंत्र भारत के संविधान में भी इसे राष्ट्रभाषा माना गया।
6. असहयोग आंदोलन आरंभ करने के पहले गांधी जी ने कांग्रेस के संविधान में परिवर्तन कराया।

आंदोलन निरंतर प्रगति की ओर अग्रसर हो रहा था। किंतु मंजिल के करीब होकर उससे अचानक बहुत दूर हो जाना बहुत कष्टकारी होता है। महात्मा गांधी के इस फैसले से सभी बड़े नेताओं में भी रोष व्याप्त था।

टिप्पणी

उपर्युक्त कारणों का परिणाम असहयोग आंदोलन की समाप्ति के रूप में हमारे सामने आया, लेकिन यह आंदोलन भारतीय इतिहास में एक विशिष्ट स्थान रखता है। उल्लेखनीय है कि भारत के गुलाम होने से लेकर इस आंदोलन तक इस तरह का कोई भी आंदोलन नहीं हो सका था। इस आंदोलन के महत्वपूर्ण और दूरगामी परिणाम हुए, जिन पर चलकर ही हमने स्वतंत्रता का रास्ता तय किया। इस आंदोलन ने सबसे पहले तो उस डरी, सहमी भारतीय जनता के मन से ब्रिटिश सरकार का खौफ हटा दिया। भारतीय जनता ने सरकार के आगे झुकना छोड़कर संघर्ष करने का साहस जुटाया।

सविनय अवज्ञा आंदोलन

1929 ई. के लाहौर अधिवेशन में पूर्ण स्वतंत्रता का प्रस्ताव महात्मा गांधी द्वारा प्रस्तुत किया गया। इसके अनुसार कांग्रेस के संविधान की धारा में स्वराज्य का अर्थ पूर्ण स्वतंत्र कर दिया गया।

1929 ई. की लाहौर कांग्रेस कार्यकारिणी ने गांधी जी को यह अधिकार दिया कि वह सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारंभ करें। 1930 ई. में साबरमती आश्रम में कांग्रेस कार्यकारिणी की बैठक हुई। इसमें यह पुष्टिकरण किया गया कि गांधी जी जब चाहें और जैसे चाहें सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारंभ करें। इस तरह गांधी जी ने दांडी मार्च के साथ सविनय अवज्ञा आंदोलन आरंभ कर दिया।

सविनय अवज्ञा आंदोलन के कारण

सविनय अवज्ञा आंदोलन की ओर ले जाने वाली परिस्थितियां निम्नलिखित थीं–

1. **साइमन कमीशन का बहिष्कार**– साइमन कमीशन के बहिष्कार के समय जनता के उत्साह को देखकर कांग्रेसी नेताओं को विश्वास हो गया कि अब जनता किसी भी आंदोलन हेतु तैयार है।
2. **अधिराज्य दर्जे की मांग को सरकार द्वारा न मानना**– नेहरू रिपोर्ट के अंतर्गत की गई यह मांग सरकार द्वारा अस्वीकार कर दी गई थी, अतएव असंतोष व्याप्त था।
3. **श्रमिक व कृषकों के अवरोध**– 1928 व 1929 ई. के बीच श्रमिक व कृषकों के अवरोध को देखते हुए यह आंदोलन चलाना अनिवार्य हो गया।
4. **जनता में व्याप्त निराशा**– 1922 ई. में यकायक असहयोग आंदोलन स्थगित किए जाने से जनता में निराशा फैल गई थी। इसे दूर किया जाना आवश्यक था।
5. **महंगाई**– 1929 ई. की आर्थिक मंदी ने भारत को भी प्रभावित किया था। वस्तुओं के दाम बढ़ रहे थे। जनता में इससे भी निराशा व्याप्त थी।
6. **हिंसा की आशंका**– क्रांतिकारियों की गतिविधियां बढ़ रही थीं, अतएव गांधी जी को चिंता थी कि कहीं देश पुनः हिंसात्मक प्रवृत्तियों की ओर अग्रसर न हो जाए।
7. **सांप्रदायिकता पर अंकुश**– 1923 ई. के बाद देश सांप्रदायिकता की आग में झुलसता जा रहा था, इस पर अंकुश लगाने हेतु भी आंदोलन आवश्यक था।

8. **पूर्ण स्वतंत्रता की प्राप्ति–** 31 दिसंबर, 1929 ई. को कांग्रेस ने पूर्ण स्वतंत्रता का लक्ष्य रखा था, इसकी प्राप्ति के लिए भी आंदोलन आवश्यक था।

टिप्पणी

वास्तव में जनता के अनेक वर्गों में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध असंतोष तथा कांग्रेस के कार्यों के प्रति इनमें बढ़ते उत्साह को देखकर कांग्रेस ने सविनय अवज्ञा आंदोलन चलाने का निर्णय लिया।

लाहौर अधिवेशन

कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन के बाद कांग्रेस की वर्किंग कमेटी ने फरवरी, 1930 में गांधी जी को यह अधिकार प्रदान किया था कि वे पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिए सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारंभ करें।

फलतः गांधी जी ने 2 मार्च, 1930 ई. को तत्कालीन गवर्नर जनरल इरविन को एक पत्र लिखकर उसमें मांगें प्रस्तुत कीं। ये 11 सूत्रीय मांगें निम्नलिखित थीं–

1. रुपये की विनियम दर घटाकर 1 शिलिंग 4 पैसे की जाए।
2. लगान में 50 फीसदी कमी की जाए।
3. सिविल सर्विसेज के अधिकारियों के वेतन आधे कर दिए जाएं।
4. सेना के व्यय में कम से कम 50 प्रतिशत की कमी की जाए।
5. रक्षात्मक शुल्क लगाए जाएं तथा विदेशी कपड़ों का आयात नियंत्रित किया जाए।
6. तटीय यातायात रक्षा विधेयक पास किया जाए।
7. सी.आई.डी. खत्म की जाए या उस पर सार्वजनिक नियंत्रण हो।
8. भारतवासियों को आत्मरक्षा के लिए आग्नेय अस्त्र रखने का लाइसेंस दिया जाए।
9. नमक पर सरकारी इजारेदारी और नमक कर समाप्त किया जाए।
10. नशीली वस्तुओं का विक्रय बंद किया जाए।
11. उन राजनीतिक बंदियों को छोड़ दिया जाए जिन पर हत्या करने या हत्या का प्रयत्न करने का अभियोग नहीं था।

इन 11 सूत्रीय मांगों के साथ गांधी जी ने चेतावनी दी थी कि यदि इन मांगों को स्वीकार नहीं किया तो वे 12 मार्च, 1930 ई. को नमक कानून का उल्लंघन करेंगे और गुजरात के समुद्री तट पर दांडी नामक गांव में नमक बनाना प्रारंभ केरेंगे। वायसराय का उत्तर अत्यंत असंतोषजनक था। गांधी जी ने लिखा, ''मैंने रोटी मांगी थी और मुझे पत्थर मिला।''

इस प्रकार 12 मार्च, 1930 ई. को सविनय अवज्ञा आंदोलन अंततः दांडी यात्रा के साथ आरंभ हो गया।

दांडी यात्रा

12 मार्च, 1930 ई. को गांधी जी ने अपने 78 चुने हुए अनुयायियों के साथ साबरमती आश्रम से गुजरात के समुद्र तट पर स्थित दांडी गांव तक की लगभग 240 मील की

टिप्पणी

यात्रा पैदल चलकर 24 दिनों में तय की। मार्ग में हजारों लोगों ने उनका स्वागत किया। 6 अप्रैल, 1930 ई. को गांधी जी ने स्वयं नमक तैयार करके नमक कानून तोड़ा।

सुभाष चंद्र बोस ने ''गांधी जी की दांडी यात्रा को नेपोलियन की एल्बा से पेरिस यात्रा एवं मुसोलिनी की रोम यात्रा के समान बताया है।'' बॉम्बे क्रॉनिकल समाचार पत्र में लिखा है कि ''मनुष्य जाति के हृदय में राष्ट्रभक्ति की लहर ने इतने जोर से कभी हिलोर नहीं ली, जो इस अवसर पर ली। भारत के राष्ट्रीय स्वाधीनता के इतिहास में इसे एक महान आंदोलन का आरंभ कहा जाएगा।''

सविनय अवज्ञा आंदोलन के कार्यक्रम

सविनय अवज्ञा आंदोलन के कार्यक्रम निम्न हैं–

1. प्रत्येक गांव में नमक कानून तोड़कर नमक बनाया जाए।
2. विद्यार्थी सरकारी स्कूलों में जाना छोड़ दें।
3. राज्य कर्मचारी सरकारी नौकरियों को छोड़ दें।
4. शराब, अफीम और विदेशी कपड़ों की दुकानों पर स्त्रियां धरना दें।
5. विदेशी वस्त्रों की होली जलाई जाए।
6. जनता कर अदा न करे।

सविनय अवज्ञा आंदोलन की प्रगति व कुछ घटनाएं

1. महिलाओं ने इसमें उत्साह के साथ भाग लिया, शराब की दुकानों पर धरना दिया। दिल्ली में 1,600 स्त्रियों को धरना देने पर कैद किया गया।
2. नमक कानून को जगह–जगह तोड़ा गया। विदेशी कपड़ों का बहिष्कार किया गया।
3. उत्तर–पश्चिम सीमा प्रांत में 'सीमांत गांधी' खान अब्दुल गफ्फार खां के नेतृत्व में पठानों ने 'खुदाई खिदमतगार' नामक संगठन की स्थापना की, जो लाल कुर्ती के नाम से मशहूर हुआ।
4. नागालैंड की एक वीर बाला रानी गोडिनल्यू ने 13 वर्ष की आयु में ही गांधी जी के आह्वान पर विदेशी शासन के विरुद्ध विद्रोह का झंडा उठा लिया। 1932 ई. में इसे आजीवन कारावास की सजा मिली।
5. 5 मई, 1930 ई. को गांधी जी को गिरफ्तार करने के बाद 'कर बंद करो' को भी उपर्युक्त कार्यक्रम में शामिल कर लिया गया।
6. सरकारी दमन–चक्र काफी तेज हुआ। निहत्थी भीड़ पर लाठियों व गोलियों की बौछार की गई। लगभग 90,000 से अधिक सत्याग्रही व प्रमुख कांग्रेसी नेता गिरफ्तार कर लिए गए।

सविनय अवज्ञा आंदोलन का प्रभाव

तत्कालीन ब्रिटिश गवर्नर जनरल इरविन देशव्यापी आंदोलन की तीव्रता से अत्यधिक चिंतातुर हो गया और उसने भारत सचिव पर संवैधानिक सुधारों की घोषणा करवाने एवं

टिप्पणी

गोलमेज परिषद बुलाकर विभिन्न राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों से विचार–विमर्श के लिए दबाव डाला।

सविनय अवज्ञा आंदोलन की तीव्रता को देखते हुए ब्रिटेन की सरकार ने भारत को औपनिवेशिक स्वतंत्रता देने की घोषणा की। इसके अतिरिक्त यह भी घोषणा की कि भारत के विभिन्न राजनीतिक दलों के प्रतिनिधियों और ब्रिटेन के विशिष्ट राजनीतिज्ञों का एक गोलमेज सम्मेलन बुलाया जाएगा जो साइमन कमीशन की रिपोर्ट के आधार पर भारत की राजनीतिक समस्या पर विचार करेगा।

प्रथम गोलमेज सम्मेलन

भारत की संवैधानिक समस्या को सुझलाने के लिए लंदन में प्रधानमंत्री रैम्से मैकडोनाल्ड की अध्यक्षता में प्रथम गोलमेज सम्मेलन आयोजित किया गया। इसमें भाग लेने वाले कुल 89 प्रतिनिधियों में से 16 प्रतिनिधि ब्रिटिश संसद से, 16 भारतीय रियासतों से तथा 57 ब्रिटिश भारत के थे। कांग्रेस के इस सम्मेलन में भाग न लेने से कोई निर्णय नहीं लिया जा सका। अतएव सम्मेलन अनिश्चित काल के लिए स्थगित कर दिया गया। डॉ. अंबेडकर ने इस सम्मेलन में भाग लिया था। जिन्ना ने भी सम्मेलन में भाग लिया। कांग्रेस की अनुपस्थिति पर ब्रेल्सफोर्ड ने कहा– ''सेंट जेम्स महल में भारत नरेश, हरिजन, सिख, मुसलमान, हिंदू, ईसाई और जमींदारों, मजदूर संघों, वाणिज्य संघों के प्रतिनिधि सम्मिलित हुए पर भारत माता वहां अनुपस्थित रहीं।''

गांधी–इरविन समझौता (8 मार्च, 1931 ई.)

प्रथम गोलमेज सम्मेलन में यह सिद्ध हो गया कि कांग्रेस के सहयोग के बिना भारत की समस्या का हल होना संभव नहीं है, अतएव सरकार ने अच्छा वातावरण तैयार करने के लिए महात्मा गांधी व अन्य नेताओं को 26 जनवरी, 1931 ई. को बिना शर्त छोड़ दिया।

तेजबहादुर सप्रू, श्री जयकर एवं भोपाल के नवाब के प्रयास से 8 मार्च, 1931 ई. को गांधी–इरविन समझौता हुआ। इसे दिल्ली समझौता भी कहते हैं। इसके अनुसार इरविन द्वारा स्वीकार शर्तें इस प्रकार थीं–

1. केवल उन्हीं राजनीतिक बंदियों को जेल में रखा जाएगा, जिन पर हिंसा के आरोप हैं। शेष बंदियों को रिहा किया जाएगा।
2. भारतीय समुद्र के किनारे नमक बना सकते हैं।
3. शराब एवं विदेशी कपड़ों की दुकानों पर भारतीय धरना दे सकते हैं।
4. आंदोलन के दौरान त्यागपत्र देने वालों को उनके पूर्व पद पर बहाल करने में सरकार उदारता दिखाएगी एवं सत्याग्रहियों की जब्त की गई संपत्ति उन्हें वापस दी जाएगी।

कांग्रेस की ओर से गांधी जी द्वारा स्वीकार की जाने वाली शर्तें इस प्रकार थीं–

1. सविनय अवज्ञा आंदोलन स्थगित कर दिया जाएगा।
2. लंदन में आयोजित होने वाले द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में कांग्रेस भाग लेगी।

टिप्पणी

3. कांग्रेस ब्रिटिश सामान का बहिष्कार नहीं करेगी।
4. गांधी जी पुलिस द्वारा की गई ज्यादतियों के बारे में जांच की मांग नहीं करेंगे।

1931 ई. के कराची अधिवेशन में गांधी–इरविन समझौते को मंजूरी प्रदान की गई। कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने गोलमेज परिषद में कांग्रेस के प्रतिनिधि के रूप में गांधी जी को भेजना स्वीकार कर लिया।

सुभाष चंद्र बोस, जवाहर लाल नेहरू इस गांधी–इरविन समझौते से रुष्ट हुए। कांग्रेस के वामपंथ ने इसे आत्मसमर्पण माना। जनता गांधी जी से इसलिए नाराज हुई, क्योंकि वे न तो भगत सिंह को छुड़ा सके और न ही उनकी फांसी को आजन्म कारावास में तब्दील करा सके।

इस समझौते के विशिष्ट महत्व का कारण यह है कि प्रथम बार अंग्रेज सरकार ने कांग्रेस के नेताओं के साथ समानता के स्तर पर चर्चा कर समझौता किया। ब्रिटेन में राजनीतिक परिवर्तन के दौरान एक ओर वैलिंगटन नया वायसराय बनकर भारत आया जो गांधी–इरविन समझौते के समर्थन के बजाय उल्लंघन में रुचि रखता था तथा दूसरी ओर ब्रिटेन में कंजरवेटिव मंत्रिमंडल बना जो भारत को किसी प्रकार के अधिकार देने और संवैधानिक सुधार करने के पक्ष में नहीं था।

3.3.2 उपनिवेशवाद

अगस्त प्रस्ताव एवं क्रिप्स प्रस्ताव में अनेक दोष होने के कारण कांग्रेस ने इन्हें अस्वीकार कर दिया था। क्रिप्स ने भी कांग्रेस को संकेत दे दिया था कि अगर इसके प्रस्ताव पर कांग्रेस विचार नहीं करती है तो भविष्य में ब्रिटिश सरकार भारत में राजनीतिक गतिरोधों को समाप्त करने के लिए कोई बातचीत नहीं करेगी। अतः क्रिप्स की असफलता के बाद आंदोलन ही एकमात्र रास्ता था, जिससे राजनीतिक गतिरोध समाप्त किया जा सकता था।

अतः विवश होकर 14 जुलाई, 1942 ई. को वर्धा में कांग्रेस की कार्यसमिति ने प्रस्ताव पारित किया, जिसका शीर्षक था 'भारत छोड़ो प्रस्ताव'। इस प्रस्ताव में कहा गया कि यदि अंग्रेज भारत पर से अपना नियंत्रण हटा लें तो भारतीय जनता विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध अपना योगदान देने को तैयार है।

मुंबई में ऐतिहासिक ग्वालिया टैंक मैदान में आयोजित अखिल भारतीय कांग्रेस समिति द्वारा 7 अगस्त, 1942 ई. को इस प्रस्ताव की पुष्टि की गई एवं घोषणा की कि यदि ब्रिटिश सरकार तत्काल भारत छोड़ने से मना करती है तब गांधी जी के नेतृत्व में सामूहिक आंदोलन आरंभ किया जाएगा। कार्यकारिणी ने गांधी जी को सर्वाधिक व्यापक स्तर पर अहिंसात्मक साधनों से सामूहिक आंदोलन आरंभ करने के लिए अधिकृत किया।

उसी दिन सायंकाल में मुंबई के ग्वालिया टैंक मैदान में जनसमूह को संबोधित करते हुए गांधी जी ने कहा– ''इसी क्षण आप में से प्रत्येक को स्वयं को स्वतंत्र समझना चाहिए और ऐसे व्यवहार करो कि जैसे तुम स्वतंत्र हो। मैं पूर्ण स्वतंत्रता से कम किसी चीज से संतुष्ट होने वाला नहीं हूं।"

जनसमुदाय का आह्वान करते हुए गांधी जी ने कहा कि "जेल भरने से ही काम नहीं चलेगा, वरन् 'करो या मरो' के मूल मंत्र को कार्यान्वित करो। हम स्वतंत्र होंगे अथवा इस प्रयास में मर जाएंगे।"

टिप्पणी

ब्रिटिश सरकार बहुत अधिक घबरा गई। सुबह होने से पहले ही (8–9 अगस्त की रात) कांग्रेस वर्किंग कमेटी के सभी सदस्यों को ऑपरेशन जीरो आवर के तहत गिरफ्तार कर लिया गया। कांग्रेस को अवैध घोषित कर दिया गया।

अधिकांश नेता अहमदनगर के किले में बंद कर दिए गए। गांधी जी और सरोजिनी नायडू को पूना के आगा खां पैलेस में नजरबंद किया गया। राजेंद्र प्रसाद को पटना में कैद किया गया।

घटनाक्रम

1. इन गिरफ्तारियों की खबर ने देश को भौंचक्का कर दिया और हर जगह विरोध आंदोलन व्यापक तौर पर शुरू हो गए।
2. नेताओं और संगठन के अभाव में जनता ने अपनी प्रतिक्रिया जिस रूप में चाही उस रूप में व्यक्त की।
3. जनता ने सरकारी दमनकारी नीति से उत्तेजित होकर ब्रिटिश सत्ता के प्रतीकों– थानों, डाकघरों, रेलवे स्टेशनों आदि पर हमले किए। उन्होंने टेलीग्राफ तथा टेलीफोनों के तार काट दिए, रेलवे लाइन उखाड़ दी, तथा सरकारी इमारतों को जला दिया। इस दृष्टि से मद्रास व बंगाल काफी प्रभावित हुए।
4. उत्तर प्रदेश, बिहार, पश्चिम बंगाल, उड़ीसा, आंध्र प्रदेश, तमिलनाडु और महाराष्ट्र के कई हिस्सों में ब्रिटिश सत्ता लुप्त हो गई। कुछ क्षेत्रों में क्रांतिकारियों ने समानांतर सरकार बनाई।
   (क) बलिया में चित्तू पांडे के नेतृत्व में।
   (ख) बंगाल–मिदनापुर जिले में जातीय सरकार गठित हुई।
   (ग) 72 घंटे तक नागपुर निवासियों ने नागपुर पर राज किया।
   (घ) सतारा की समानांतर सरकार सर्वाधिक दीर्घजीवी रही।
5. सरकार का दमन–चक्र भी इतना भीषण था कि 10,000 से अधिक लोग मारे गए। 1857 ई. के बाद इतना घोर दमन नहीं हुआ था।
6. आमतौर पर छात्र, छात्राएं, महिलाएं, मजदूर और किसान विद्रोह के मुख्य आधार थे, जबकि उच्च वर्ग और अफसरशाही सरकार के प्रति निष्ठावान रहे।
7. भूमिगत आंदोलन भी हुए जिनकी बागडोर अच्युत पटवर्धन, अरुणा आसफ अली, राम मनोहर लोहिया, सुचेता कृपलानी, बीजू पटनायक, आर.पी. गोयनका, जयप्रकाश नारायण आदि ने संभाली। उनका काम चोरी छिपे, हथियार, बारूद आदि का वितरण करना था।
8. सुमति मोरारजी ने (उद्योगपति) अच्युत पटवर्धन के लिए रोज एक नई कार की व्यवस्था की और गिरफ्तार होने से बचाया।

टिप्पणी

9. राम मनोहर लोहिया ने गुप्त रूप से रेडियो का संचालन कर सूचनाओं का प्रसार किया।
10. ब्रिटिश दमन से नाराज होकर गांधी जी ने 10 फरवरी, 1943 ई. को जेल में उपवास प्रारंभ कर दिया और घोषणा की कि यह 21 दिन तक चलेगा। इससे आंदोलन में और तेजी आई। ब्रिटिश सरकार पर गांधी जी से समझौते के लिए दबाव पड़ने लगा।

6 मई, 1944 ई. को गांधी जी को गंभीर अस्वस्थता के कारण मुक्त कर दिया गया। जून, 1945 ई. में आयोजित शिमला सम्मेलन से पूर्व कांग्रेस के समस्त प्रमुख नेताओं को मुक्त किया जा चुका था। इस प्रकार यह आंदोलन समाप्त हो गया।

परिणाम एवं महत्व

1942 ई. के आंदोलन की निम्न उपलब्धियां स्पष्ट रूप से हमारे सामने आती हैं–

1. इस विद्रोह में साम्राज्यवाद के विरुद्ध भारत के आक्रोश और स्वतंत्र होने के संकल्प को प्रभावशाली और सुनिश्चित ढंग से व्यक्त किया गया था।
2. इस विद्रोह के पश्चात शासकों ने यह अच्छी तरह जान लिया था कि भारत में उनके साम्राज्यवादी शासन के सिर्फ गिने–चुने दिन ही शेष रह गए हैं।
3. इस आंदोलन ने 1947 ई. में भारत की स्वतंत्रता की दिशा में एक प्रमुख कदम उठाया।
4. अब स्वशासन की मांग पूर्णतः समाप्त हो गई। आंदोलनकारियों का एकमात्र ध्येय पूर्ण स्वतंत्रता हो गया।
5. गांधी जी जैसे अहिंसावादी व्यक्ति द्वारा 'करो या मरो' का नारा देना यह संकेत देता है कि गांधी जी अब किसी भी कीमत पर भारत की स्वतंत्रता चाहते थे।

डॉ. ईश्वरी प्रसाद ने लिखा था– "यह अगस्त क्रांति निरंकुशता तथा दमनात्मक अत्याचार के विरुद्ध जनता का विद्रोह था। इसकी तुलना फ्रांस के इतिहास में बास्टील के पतन से की जा सकती है।"

यूरोप में 14वीं–15वीं शताब्दी से लेकर 17वीं–18वीं शताब्दी तक इतने परिवर्तन हुए कि उसका संपूर्ण ढांचा आमूलचूल रूप में परिवर्तित हो गया। जहां पुनर्जागरण (रेनेसांस) ने मानवतावाद और व्यक्तिवाद जैसे विचारों को प्रस्तुत कर एक जागृति पैदा की, धर्मसुधार आंदोलन (Reformation Movement) ने शिल्पियों–सौदागरों और बैंकरों के उदित हो रहे वर्ग से यूरोप के एक नये मध्यम वर्ग को निर्मित करने का मार्ग प्रशस्त कर दिया वहीं घेराबंदी आंदोलन (Enclosure Movement) ने पारंपरिक किसानों को उजाड़ दिया और वे आजीविका की खोज में शहरों की ओर पलायन कर गए। फलस्वरूप शहरों में मजदूरी सस्ती हुई और दूसरी तरफ प्रगतिशील अंग्रेज भूमिपतियों के उद्यम से अंग्रेजी कृषि व्यवस्था में मूलभूत बदलाव आए और कृषि में वाणिज्यिक लाभ के लिए पूंजी निवेश आरंभ हो गया।

उपज अधिशेष ने पहले स्थानीय, फिर राष्ट्रीय, तत्पश्चात अंतर्राष्ट्रीय बाजार को जन्म देने का प्रयास किया। एलिजाबेथ प्रथम के शासनकाल की स्थिरता, जनसंख्या

टिप्पणी

वृद्धि, भौगोलिक खोजों और फ्रांस तथा दक्षिणी नीदरलैंड से प्रोटेस्टेंटों के आगमन से आर्थिक विकास का एक ढांचा निर्मित हो गया। यही वह काल था जब गवर्नर्स एंड कंपनी ऑफ मर्चेंटर्स ऑफ लंदन ट्रेडिंग टू दि ईस्ट इंडीज नाम की संस्था कायम हुई जिसने भविष्य में भारत पर लगभग 250 साल तक शासन किया। सामान्यतः वह उपनिवेशवाद का शुरुआती दौर था। जैसे–जैसे ब्रिटिश साम्राज्यवादी नीति परिपक्व होती गई, उपनिवेशवाद का स्वरूप भी बदलता गया। विगत 300 वर्षों का इतिहास यूरोप के उपनिवेशवाद, पूंजीवादी सामाजिक आर्थिक ढांचे की उत्पत्ति, उसके विकास तथा परिपक्वता की घनिष्ठता से जुड़ा हुआ है। उपनिवेश प्राप्त करने की होड़ यूरोप में औद्योगिक क्रांति का परिणाम थी। जैसे सत्रहवीं–अठारहवीं शताब्दी में केवल ब्रिटेन और नीदरलैंड की उपनिवेशी नीति कुछ शर्तों के साथ ही आत्मगत उद्देश्यों में बुर्जुआ थी और वस्तुगत परिणामों में पूंजीवादी। यही कारण था कि केवल ब्रिटेन और नीदरलैंड में उपनिवेशी लूट राष्ट्रीय प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण तत्व बनी जिसमें ब्रिटेन सबसे आगे निकल गया।

निरंकुशतावादी फ्रांस के लिए उपनिवेशी विस्तार के परिणामों का प्रभाव उसकी आंतरिक सामाजिक और आर्थिक प्रक्रियाओं में अत्यंत विरोधाभासी था। सामंतवादी स्पेन और पुर्तगाल में उपनिवेशी लूट शाही खजाने में पहुंची जिससे सामंतवाद और धार्मिक प्रतिक्रियावाद को बल मिला। ठीक इसके विपरीत बुर्जुआ व सामान्यजनों का विरोध कमजोर हो गया। मूल्य क्रांति और सामंतवादी शासनों की राष्ट्रविरोधी नीति के फलस्वरूप स्पेन और पुर्तगाल ने विदेशों से लूटी गई उस संपदा को गवां दिया और इस प्रक्रिया में ब्रिटेन सबसे आगे निकल गया। यूरोपीय उपनिवेशवादी नीति का प्रमुख अंग था– आयात, लेकिन आयात की जाने वाली वस्तुओं के बदले में देने के लिए यूरोप या इंग्लैंड के पास कुछ भी नहीं था, परंतु इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति के पश्चात यह आयात–निर्यात में बदल गया।

यूरोप (प्रमुख रूप से इंग्लैंड) की औपनिवेशिक नीति क्या थी? इसका मूल ढांचा क्या था? इसका थोड़ा विश्लेषण करना आवश्यक है। सामान्य दृष्टि से उपनिवेशवाद एक ऐसा ढांचा होता है जिसके माध्यम से किसी देश का आर्थिक (उसके परिणामस्वरूप राजनीतिक, सामाजिक, तथा सांस्कृतिक) शोषण तथा उत्पीड़न संपन्न होता है अर्थात इसका अभिप्राय विशुद्ध शोषण ही नहीं बल्कि उपनिवेशों पर राजनीतिक कब्जा बनाए रखना भी होता है। उपनिवेशवाद की प्रकृति मुख्यतः इसके आर्थिक शोषण के विभिन्न तरीकों से जानी जाती है और इसके कुछ खास तरीके भी हैं जैसे उपनिवेश राष्ट्रीय उत्पादन की एक विशेष मात्रा का उत्पादन करता है, जिसका एक भाग उस उपनिवेश के रखरखाव और निर्वाह के लिए आवश्यक होता है। शेष जो बचता है वह उस उपनिवेशवाद का आर्थिक अधिशेष होता है। यही अधिशेष दोनों देशों (उपनिवेश और साम्राज्यवादी) के मध्य बिचौलिए का कार्य करता है। कार्ल मार्क्स ने इसे शब्दों में इस तरह से व्यक्त किया है, ''जिन छोरों के मध्य व्यापारिक पूंजी बिचौलिए की तरह काम करती है जिस प्रकार द्रव्य और उसके परिचालन के लिए एकमात्र आवश्यक वस्तु होती है..... ये छोर जिसके रूप में उपलब्ध होने चाहिए, फिर चाहे उत्पादन पूर्णतः आबद्ध उत्पादन हो या पूर्णतः स्वतंत्र उत्पादन।

टिप्पणी

अपने उत्पादन से अपनी फौरी (तात्कालिक) आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद अतिरिक्त उत्पादन बाजार (मंडी) में पहुंचा देते हैं।'' यह आर्थिक अधिशेष कई तरीकों से हड़पा जा सकता है। इसे हड़पने के स्वरूप में जैसे–जैसे परिवर्तन आता जाता है, उसी क्रम में औपनिवेशक नीति भी परिवर्तित होती रहती है। इन परिवर्तनों के साथ–साथ ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने भारत में कई तरह की अंतर्विरोधी शृंखला स्थापित की जिसे विकास और पिछड़ेपन के संदर्भ में देखा जाना चाहिए। जैसे–शोषण तथा लूट बनाम अर्थव्यवस्था का पुनरुत्पादन, बुनकरों पर एकाधिकार बनाम बुनकरों का पतन..... आदि।

भारत के संदर्भ में एक बात और ध्यान रखनी है कि भारत में उपनिवेशवाद उतनी ही आधुनिक ऐतिहासिक घटना थी जितनी ब्रिटेन में औद्योगिक पूंजीवाद। वस्तुतः दोनों ही घटनाएं साथ–साथ घटित हुईं। जे. एस. फर्नीवल ने 'कोलोनियल पॉलिसी एंड प्रैक्टिस' में स्पष्ट किया है कि ''आधुनिक भारत का विकास आधुनिक यूरोप के साथ–साथ हुआ और औपनिवेशिक भारतीय अर्थव्यवस्था विश्व पूंजीवादी व्यवस्था का अंग बनी। इसलिए वैश्विक पूंजीवाद का एक ऐसी विश्वव्यापी व्यवस्था के रूप में अध्ययन किया जाना चाहिए, जिसका औपनिवेशिक अर्थव्यवस्थाएं अभिन्न अंग थीं।'' जिस ऐतिहासिक प्रक्रिया के फलस्वरूप यह औपनिवेशिक एकीकरण अर्थात इस प्रकार का आधुनिकीकरण हुआ उसी के अनिवार्य परिणाम के रूप में भारत का अविकास हुआ जिसे आंद्र गुंडर फ्रैंक ने 'अविकास का विकास' कहा है।

सापेक्षित ऐतिहासिक दृष्टिकोण से देखें तो उपनिवेशवाद एक ऐसी प्रक्रिया मालूम पड़ती है जो यूरोप के उन महानगरों द्वारा शुरू की गई जहां व्यापारिक या औद्योगिक क्रांति पहले हुई थी। ब्रिटेन के सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक विकास के बदलते हुए प्रतिमानों ने भारत में ब्रिटिश शासन के स्वरूप के साथ–साथ उपनिवेशवाद और उसकी नीतियों में भी परिवर्तन किया।

इस प्रकार से ब्रिटिश उपनिवेशवाद मुख्यतः तीन चरणों से गुजरा जो ब्रिटेन में हो रहे परिवर्तनों द्वारा निर्देशित थे और भारतीय आर्थिक अधिशेष (इकोनॉमिक सरप्लस) को हड़पने में सक्षम थे–

1. वाणिज्यिक उपनिवेशवाद (कमर्शियल या मर्केनटाइल कोलोनाइजेशन)
2. औद्योगिक उपनिवेशवाद (इंडस्ट्रियल या फ्री ट्रेड कोलोनाइजेशन) और
3. वित्तीय पूंजीवाद (फाइनैंस कैपिटल कैपिटलिज्म) अथवा पूंजीवाद उपनिवेशवाद

(क) वाणिज्यिक उपनिवेशवाद

वाणिज्यिक उपनिवेशवाद मूलतः यूरोपीय वाणिज्यिक क्रांति का प्रतिफलन था। यूरोप में वाणिज्यिक व्यापारी पूंजीपति मध्यम वर्ग नागरिक धनिकतंत्र के आविर्भाव के साथ उपजा था। वाणिज्यिक एक आर्थिक सिद्धांत, एक विचारधारा या एक जीवनदर्शन ही नहीं बल्कि समाज का एक प्रतिमान था, जो मध्ययुगीनता के स्थान पर आधुनिकता और सामंती अराजकता के स्थान पर राष्ट्रीय एकता का सूचक था।

टिप्पणी

इस वाणिज्यवादी व्यवस्था ने यूरोप में प्रत्येक क्षेत्र में गतिशीलता ला दी (मूलतः पूंजी, श्रम, सम्पत्ति आदि में)। फलतः प्रबुद्ध स्वार्थ ने धर्म और नैतिकता का स्थान ले लिया। ई. एफ. हेक्शर लिखते हैं, ''सामाजिक कार्य–कारण संबंध के अपरिवर्तनीय कानूनों के प्रति आस्था (युक्तिवाद) ने ईसाई धर्म–व्यवस्था तथा धर्म–सिद्धांतों का स्थान ले लिया, जिसका सहज परिणाम नितांत अनैतिक और अमानवीय सामाजिक दर्शन होता है।'' (मर्केन्टाइलिजम, एन्साइक्लोपीडिया ऑफ द सोशल साइंसेज)। इस स्थिति का निरूपण बाद में एडम स्मिथ द्वारा प्रबलतम रूप में किया गया। उसने 'द वेल्थ ऑफ नेशंस' में लिखा हैः ''कसाई, कलाल और कांदविक (नानबाई) की कृपा के कारण नहीं, उनके स्वार्थ के कारण ही हमें अपना आहार प्राप्त होता है, हम खुद से उनकी मानवता की नहीं उनके आत्मप्रेम की ही बात करते हैं और उनसे अपनी आवश्यकताओं की नहीं, सदा उन्हीं के लाभ की बातें करते हैं।''

वाणिज्यवादी प्रतिनिधियों ने राज्य के प्रजाजन को अपने लक्ष्य प्राप्ति का साधन बनाया और लक्ष्य था– राज्य की सत्ता की महत्ता। इसके फलस्वरूप लेबियाथन (सर्वप्रभुता– योग्यता संपन्न सत्ताधारी) अस्तित्व में आया। एक ऐसी परिस्थिति को जन्म दिया गया, जिसमें मध्य वर्ग के लोग देशों तथा विदेशों में अपने भौतिक लक्ष्यों को प्राप्त कर सकें। यही उस समय की मांग थी। वाणिज्यवाद का मुख्य उद्देश्य था– राष्ट्र का आर्थिक उत्थान। उसकी चिंतन पद्धति धर्म–निरपेक्ष थी और दृष्टिकोण वैज्ञानिक। उसमें मनुष्य के इर्द–गिर्द की दुनिया के बारे में नई जागरूकता भौगोलिक खोज, खगोल–विज्ञान, प्रकृति की शक्तियों तथा प्रकृति–तंत्र के संबंध में नई दिलचस्पी निहित थी, जिसने प्रत्येक क्षेत्र में तर्क का समर्थन किया। यही मनोवृत्तियां आगे चलकर उपनिवेशवाद को परिपक्व करने में सहायक हुई। जिसका प्रारंभ भारत में वाणिज्यिक उपनिवेशवाद के साथ माना जा सकता है।

भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवादी व्यवस्था की शुरुआत 23 जून 1757 को प्लासी में हुई। अंग्रेजी विजय के साथ ही माना जा सकता है कि प्लासी वास्तव में कोई वैसा युद्ध नहीं था जैसे कि इससे पहले विभिन्न राजनीतिक शक्तियों द्वारा लड़े गए थे बल्कि यह विदेशी व्यापारियों के उन षड्यंत्रों का परिणाम था जो व्यापार पर एकाधिकार के लिए किए जा रहे थे। 17वीं–18वीं शताब्दी में जिस समय यूरोप भारत सहित दुनिया के तमाम देशों में व्यापारिक एकाधिकार की होड़ में आगे निकलने के लिए प्रयासरत था उस समय भारत विकेंद्रीकरण से विघटन की ओर अग्रसर था जिसका आधार कबीला (जातीय) भाषा, क्षेत्र, धर्म या संस्कृति कुछ भी हो सकता था। हालांकि मुगल शासकों द्वारा प्रारंभ किए गए राजकीय सामंतवाद (स्टेट फयूडलिज्म) के कारण स्थानीय सामंतवाद (लोकल फयूडलिज्म / ऑटोनामी) का मुक्त विकास नहीं हो सका लेकिन स्थानीय–सामंती सरदारों ने मुगलों की शक्ति को काफी कमजोर कर दिया। मुगल साम्राज्य के पतन के बाद जिन नये स्थानीय राज्यों का विकास हुआ वे काफी हद तक व्यापारी वर्ग द्वारा नियंत्रित थे जबकि राजनीतिक ढांचा अभी सामंतशाही था। आर. सी. दत्त के अनुसार, ''18वीं शताब्दी में भारत एक विशाल कृषि प्रधान और औद्योगिक देश था और भारत में बने हुए कपड़े एशिया व यूरोप के बाजारों को निर्यात किए जाते थे। यह कृषि और उद्योग का संतुलन था

टिप्पणी

जिससे अंतर्राष्ट्रीय व्यापार में भारत अपनी वांछनीय स्थिति बनाए रख सका क्योंकि भारत के पास निर्यात करने के लिए बहुत कुछ था जबकि आयात करने के लायक कुछ भी नहीं। अगर भारतीय समाज का स्वाभाविक विकास होता तो संभवतः यहां का पूंजीपति वर्ग सामाजिक और आर्थिक दोनों दृष्टियों से शक्तिशाली बनकर राजसत्ता पर अधिकार करता और सामंती राज्य के स्थान पर पूंजीवादी राज्य की स्थापना करता। लेकिन दुर्भाग्यवश जहां यूरोपीय पूंजीवाद के लिए पूर्व स्थितियां सामंतवाद और प्राक्–पूंजीवाद ने प्रदान की थीं, वहीं आधुनिक भारत की पूर्व स्थिति मुगलकालीन भारत से समाज की उपज थी। प्रतिस्पर्धा में ब्रिटिश पूंजीपतियों के सफल होने का कारण शायद यही था।'' कार्ल मार्क्स इस विषय पर अपने विचार इस प्रकार व्यक्त करते हैं कि, ''अरब, तुर्क तातार तथा मुगल जिन्होंने एक के बाद एक भारत पर विजय हासिल की, शीघ्र ही इतिहास के शाश्वत नियम की पुष्टि करते हुए भारतीयों जैसे हो गए जिसमें बर्बर विजेता अपनी प्रजा की श्रेष्ठ सभ्यता द्वारा परास्त कर लिए गए। अंग्रेज पहले विजेता थे, जिनकी सभ्यता श्रेष्ठतर थी और इसलिए हिंदुस्तानी सभ्यता उन्हें अपने अंदर समेट न सकी। उन्होंने स्थानीय समाज में जो कुछ उन्नत और श्रेष्ठ था उसे मटियामेट कर दिया।''

इंग्लैंड अपनी उन्नत प्रौद्योगिकी और आर्थिक संगठन के चलते बाजारू चीजों के उत्पादन में काफी आगे निकल गया। 1750 के दशक के दौरान जनसंख्या में तेजी से वृद्धि हुई। यह आर्थिक विकास की द्योतक नहीं थी, लेकिन इसके साथ–ही–साथ आय की दीर्घावधिक विकास दर भी तेज हुई। आयात और निर्यात की दर अठारहवीं शताब्दी के प्रथम चार दशकों में क्रमशः चालीस और साठ प्रतिशत थी लेकिन अनुकूल व्यापार के लिए आवश्यक था कि अधिक–से–अधिक निर्यात किया जाए। ई. जे. टा. सवाम ने अपनी पुस्तक 'इंडस्ट्री एंड एम्पारयर' में लिखा है कि ''घरेलू मांग बढ़ी पर विदेशी मांग में कई गुना वृद्धि हुई।'' इस कार्य–करिणी संबंध को ध्यान में रखते हुए रजनी पाम दत्त ने निष्कर्ष निकाला है कि ईस्ट इंडिया कंपनी का उद्देश्य ब्रिटिश माल के लिए मंडियों की तलाश ही नहीं था, बल्कि भारत के ऐसे माल की सप्लाई पर कब्जा करना था जो इंग्लैंड और यूरोप के देशों में आसानी से बिक सकता हो। कंपनी की मंशा भारत के साथ व्यापार पर एकाधिकार करने की थी जिससे कंपनी अपनी वस्तुओं को अधिक–से–अधिक कीमत पर बेच सके और भारत में उन वस्तुओं को कम–से–कम कीमत पर खरीदे ताकि व्यापार में उसे अधिक–से–अधिक लाभ प्राप्त हो सके।

व्यापार की सामान्य अवस्था में यह संभव नहीं था, क्योंकि इस समय कंपनी की प्रतिस्पर्धा केवल इंग्लैंड के व्यापारियों के साथ ही नहीं थी बल्कि इसमें फ्रांसीसी, पुर्तगाली, डच तथा भारतीय व्यापारी भी शामिल थे। इसके लिए कंपनी ने जितने भी संभव तरीके हो सकते थे उनका अनुसरण किया। कंपनी ने जहां फ्रांसीसियों को कर्नाटक की तीन लड़ाइयों के माध्यम से वांडीवाश (1760) में पूरी तरह समाप्त कर दिया। डचों को विछ्डेरा (1759) में परास्त करने के साथ–साथ यूरोप में भी फ्रांस और हालैंड को प्रतिस्पर्धा से बाहर करने के लिए युद्ध किए। हालांकि 17वीं शताब्दी में भारतीय व्यापारियों को भारत में व्यापार से वंचित करना कठिन कार्य था क्योंकि

टिप्पणी

उन्हें मुगल शासकों का संरक्षण प्राप्त था। लेकिन जैसे–जैसे 18वीं शताब्दी में मुगल राजसत्ता का ढांचा ढहना प्रारंभ हुआ और भारत के समुद्र तटीय इलाके मुगल नियंत्रण से निकलने प्रारंभ हुए वैसे–वैसे कंपनी अपनी नौसैनिक शक्ति की सहायता से समुद्रतटीय क्षेत्रों में व्यापारियों को विदेश व्यापार से वंचित करने लगी। चूंकि व्यापारिक एकाधिकार भारत के अंदर तथा समुद्र में भारतीय तथा विदेशी व्यापारियों को भारत के व्यापार से वंचित रखने के लिए सैनिक साजो–सामान के लिए धन की आवश्यकता थी, जो न तो कंपनी के पास था और न ही ब्रिटिश सरकार के पास। इसलिए अब इसका संपूर्ण संकेंद्रण इस ओर था कि अधिक–से–अधिक धन कहां से प्राप्त हो।

कंपनी और उसके अधिकारियों को नवाबों ने पद पाने के बदले नजराने के रूप में भारी–भरकम धनराशि देना शुरू कर दिया। बक्सर की विजय ने उनकी महत्वाकांक्षाओं को संस्थागत रूप प्रदान कर दिया क्योंकि इसके बाद कंपनी को बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी प्राप्त हो गई जिससे भारत की प्राकृतिक, आर्थिक और मानवीय सम्पदा पर कंपनी का कब्जा हो गया।

बंगाल, बिहार और उड़ीसा की दीवानी मिलने से कंपनी के नियंत्रण में केवल आर्थिक स्रोत ही नहीं आए बल्कि स्थानीय सत्ता भी उनके नियंत्रण में आ गई। चूंकि राजनीतिक शक्ति कंपनी के हाथ में थी इसलिए विनिमय में अपना पलड़ा भारी रखने के लिए न्यूनतम कीमत पर अधिक–से–अधिक माल हड़पने के लिए विभिन्न तरीके खोज निकाले गए। इसका परिणाम यह हुआ कि अब मुनाफा तथा लूट के बीच विभाजन रेखा धुंधली पड़ने लगी। यहां सबसे अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि 1757 के पहले इंग्लैंड भारत से जो वस्तुएं खरीदता था उसके बदले सोना या चांदी देता था लेकिन इसके बाद कंपनी ने यहीं से लूटे हुए धन से वस्तुओं की खरीददारी प्रारंभ कर दी। दूसरे शब्दों में कहें तो 1757 के बाद कंपनी द्वारा भारत से निर्यात किए जाने वाले माल के बदले कुछ भी नहीं लौटाया गया। इस प्रकार की लूट पर जी. सैंडरसन ने 'इंडिया एंड ब्रिटिश इम्पीरियलिज्म' में लिखा है कि, ''लंदन के व्यापारियों का व्यवहार, नैतिकता तथा विचारों का जीता जागता उदाहरण था। संसार के इतिहास में यह अद्‌भुत उदाहरण था जिसमें किसी देश के व्यापारियों और साहूकारों के समूह ने हथियार बंद व्यक्तियों और समुद्री जहाजों की सहायता से राष्ट्रीय झंडे के नाम पर स्वतंत्र देशों की प्रभुसत्ता पर अधिकार जमाने की कोशिश की हो।''

1757 के पश्चात कंपनी द्वारा भारत के आर्थिक अधिशेष को हड़पने के जो तरीके अपनाए गए थे, उनका संक्षिप्त रूप निम्नलिखित है–

1. जमीन के बंदोबस्त (मुख्यतः कार्नवालिस के स्थाई बंदोबस्त) द्वारा। उल्लेखनीय है कि बंगाल से प्राप्त होने वाले राजस्व की जो राशि 1765–66 में 14,70,000 पौंड थी, वह क्रमशः 1772–73 में 23,41,000 पौंड हो गई और स्थाई बंदोबस्त के लागू किए जाने से समय 34,00,000 पौंड पहुंच गई।
2. कंपनी कर्मचारियों के निजी व्यापार द्वारा।

टिप्पणी

3. भारतीय वस्तुओं के निर्यात से प्राप्त मुनाफे द्वारा।
4. भारतीय राजाओं और जमीदारों द्वारा प्राप्त नजराना या उपहार के माध्यम से।

उपनिवेशवाद के इस चरण के परिणाम भारत के लिए काफी हानिप्रद रहे। भारतीय हस्तकला तथा व्यापार पर ब्रिटिश नियंत्रण के कारण भारतीय पारंपरिक व्यवसाय को हड़प लिया गया, परिणाम यह हुआ कि अब राष्ट्र के प्रमुख आर्थिक स्रोत के रूप में कृषि ही शेष बची। स्वाभाविक रूप से संपूर्ण जनसंख्या का अधिभार अब कृषि पर ही पड़ना था। इस क्षेत्र को भी कंपनी और उसके मुलाजिमों ने स्वतंत्र नहीं रहने दिया। पहले लगान अथवा अन्य माध्यमों से उपज का अधिकांश भाग हड़पने की कोशिश की गई और फिर यही राशि भारत में व्यापारिक वस्तुएं खरीदने के काम में लायी गई। कंपनी ने इसे इंग्लैंड की पूंजी–संचय का प्रमुख स्रोत माना और निवेश का नाम दिया। इसने बाद में इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति लाने में एक महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया। लेकिन इन सबके बावजूद कंपनी ने प्रशासन, न्याय व्यवस्था, यातायात संचार, कृषि तथा प्रौद्योगिकी अथवा शिक्षा के क्षेत्र में कोई मौलिक सुधार (परिवर्तन) लाने का प्रयास नहीं किया। यदि कहीं पर कोई छोटे–मोटे परिवर्तन किए भी गए तो उनका उद्देश्य लगान को अधिक प्रभावशाली ढंग से इकट्ठा करने मात्र तक ही सीमित रहा था। अंतर इतना आया था कि ब्रिटिश शासन ने भारत को एक उपनिवेश मानते हुए एक ऐसा शासन प्रारंभ किया जहां प्रत्येक पुरानी परंपरा को नेस्तनाबूद कर एक नई परंपरा की शुरुआत की गई थी, जिसमें उनका उद्देश्य और कर्तव्य मात्र पूंजी–संचय था जबकि पूर्व शासक इसे अपना देश मानते हुए खराज के वसूलने के साथ–साथ परंपराओं को भी जीवित रखे रहे। जी. सैंडरसन (इंडिया एंड ब्रिटिश इम्पीरियलिज्म) ने इस व्यवस्था पर उचित ही टिप्पणी की है कि ''लंदन के व्यापारी भारत में भाड़े के मुगल शासक बन गए।''

(ख) औद्योगिक उपनिवेशवाद

अठारहवीं शताब्दी के द्वितीयार्द्ध से इंग्लैंड में नई तकनीक का विकास आरंभ हुआ, जिसने पुनर्निर्माण की प्रक्रिया को तेज किया और अंतर्देशीय विकास के क्षेत्र में मदद की। यह समय था जब भारत से लूटी गई संपत्ति मुक्त रूप से इंग्लैंड की ओर गई, जिसने इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति के अबाध तथा त्वरित विस्तार के लिए पूंजी प्रदान की। इसी बीच (1750–1785) इंग्लैंड में कुछ महत्वपूर्ण आविष्कार हुए जैसे– रोलिंग मशीन (1754), फ्रलाइंग शटल (1760), जेम्स हरग्रीब्ज की स्पाइनिंग जेनी (कताई मशीन–1754), जेम्स वाट का भाप इंजन (1768), आर्कराइट का वाटर फ्रेम (1776), क्रॉम्पटन का म्यूल (1780) तथा कार्टराइट का पॉवर लूम (1785) आदि। लेकिन ऐसे कोई भी आविष्कार स्वयं में निष्क्रय होते हैं। इन आविष्कारों को कार्यरूप देने के लिए पर्याप्त शक्ति अपेक्षित होती है और यह शक्ति मुद्रा के रूप में होनी चाहिए जो स्थिर न होकर गतिशील हो। परंतु भारत की संचित निधि के इंग्लैंड जाने से पूर्व और इसके परिणामस्वरूप उत्पन्न ऋण के विस्तार से पहले किसी ऐसी शक्ति का अस्तित्व नहीं था। भारत में लूटी गई संपत्ति ने इसे कार्यरूप देने में निर्णायक भूमिका अदा की। जिसके फलस्वरूप औद्योगिक क्रांति का जन्म हुआ।

इस औद्योगिक क्रांति ने उत्पादन और संगठन में ढेरों परिवर्तन किए। औद्योगिक क्रांति ने इंग्लैंड को दुनिया का प्रधान उत्पादक तथा निर्यातक देश बना दिया। अब

टिप्पणी

घरेलू व्यवस्था का स्थान कारखाना व्यवस्था ने ले लिया तथा व्यापारी और दुकानदारों के स्थान पर औद्योगिक पूंजीपति आ गए। कारखाना व्यवस्था के चलते एक औद्योगिक सर्वहारा (इंडस्ट्रियल प्रोलेतेरिया) वर्ग का जन्म हुआ अर्थात एक ऐसा वर्ग जो मजदूरी पर अपना गुजारा करता था। मजदूर वर्ग के जन्म के साथ–साथ पूंजीवादी बुर्जुआ वर्ग भी परिपक्व होता गया। व्यापारियों और समृद्ध कारीगरों से पूंजी वर्ग का निर्माण हुआ जिसने उद्योग में अपनी पूंजी नियोजित कर मजदूरों का उपयोग करके बाजार से मुनाफा कमाया। इस औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप कृषि क्षेत्र से औद्योगिक क्षेत्र की ओर मजदूरों का स्थानांतरण बड़ी मात्रा में हुआ जिसका अनुमान कुछ आंकड़ों से लगाया जा सकता है। सत्रहवीं शताब्दी के अंत तक लगभग 80 प्रतिशत जनता खेती से संबंधित थी, 1800 में यह घटकर 60 प्रतिशत रह गई और 1900 तक पहुंचते–पहुंचते 8.5 प्रतिशत। दूसरे शब्दों में कहें तो 1750 के आसपास कुल राष्ट्रीय आय का 45 प्रतिशत कृषि से प्राप्त होता था, 1851 तक यह प्रतिशत घटकर 20 रह गया। इन आंकड़ों से यह अर्थ बिलकुल नहीं निकालना चाहिए कि कृषि क्षेत्र में अवनति हुई बल्कि इससे निष्कर्ष यह निकलता है कि तकनीकी विकास के कारण इस क्षेत्र में मजदूरों की आवश्यकता कम हो गई।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभिक दशकों तक पहुंचते–पहुंचते ब्रिटेन की आर्थिक प्रणाली में क्रांतिकारी परिवर्तन आया, जिसने वाणिज्यिक पूंजीवाद (मर्कैंटाइल कैपिटलिज्म) को मुक्त व्यापार पूंजीवाद (फ्री ट्रेड कैपिटलिज्म) में परिवर्तित कर दिया। एडम स्मिथ ने 1776 में अपनी पुस्तक 'द वेल्थ ऑफ नेशंस' में वाणिज्यवादी विचारों पर प्रहार किया और बढ़ते हुए उत्पादन के लिए मुक्त व्यापार तथा बाजार की आवश्यकता पर बल दिया, फलतः लैजेस फेयर (मुक्त व्यापार नीति) के सिद्धांत पर जोर देना प्रारंभ हुआ कि 1813 में ईस्ट इंडिया कंपनी को व्यापार के एकाधिकार से वंचित कर दिया गया और 1833 के चार्टर अधिनियम के द्वारा पूरब के व्यापार पर कंपनी के एकाधिकार को पूर्णतः समाप्त कर दिया गया। अब भारत के गांव, शहर, जंगल, भूमि.....उद्योग तथा संपूर्ण मानवशक्ति ब्रिटिश संसद द्वारा ब्रिटिश पूंजीपतियों के मुक्त प्रयोग के लिए खुले छोड़ दिए गए।

ब्रिटिश उपनिवेश भारत का उपयोग ब्रिटेन की मशीन निर्मित वस्तुओं के एक बाजार के रूप में तथा ब्रिटेन पर आश्रित एक ऐसे उपनिवेश के रूप में करना चाहता था जो ब्रिटिश उद्योगों के लिए कच्चे माल और खाद्यान्नों का उत्पादन एवं आपूर्ति करे। इन चार्टर अधिनियमों (विशेषकर 1813) ने इस उद्देश्य की आपूर्ति के लिए मार्ग प्रशस्त कर दिया। 1813 के मुक्त व्यापार का सबसे पहला प्रहार उस उद्योग (सूती वस्त्र) पर हुआ जो भारत द्वारा किए जाने वाले बाहरी अर्थागम का सबसे बड़ा जरिया था। एक्साइज ड्यूटी, कस्टम ड्यूटी तथा कुछ अन्य माध्यमों से ब्रिटेन पहुंचने वाले सूती कपड़ों को रोकने का प्रयास किया गया। परिणामस्वरूप 1850 तक पहुंचते–पहुंचते ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई कि भारत जो कई सौ वर्षों से पूरी दुनिया को कपड़ा भेजता आ रहा था, अब निर्यात किए जाने वाले कुल ब्रिटिश सूती कपड़े का एक चौथाई हिस्सा अपने यहां मंगाने लगा। कार्ल मार्क्स ने इस परिवर्तनशील व्यवस्था पर की गई अपनी एक टिप्पणी में कहा है कि, ''वह अंग्रेजी घुसपैठिया ही था जिसने भारतीय खड्ढ (लूम) को तोड़

टिप्पणी

दिया और चरखे को नष्ट कर दिया। अंग्रेजों ने भारतीय सूती कपड़े की मातृभूमि को ही सूती कपड़े से भर दिया। सूती कपड़ा उद्योग के नष्ट होने से कृषि पर बोझ बढ़ गया और अंत में देश अकिंचन हो गया।''

इस तरह से शहरों और गांवों में रहने वाले विभिन्न व्यवसायों में लगे शिल्पियों और कारीगरों के समक्ष कृषि के अतिरिक्त अन्य कोई विकल्प शेष नहीं बचा। भारत अब पारंपरिक कृषि (कृषि के साथ–साथ व्यवसाय) वाला देश न रहकर ब्रिटेन की औद्योगिक पूंजीवादी व्यवस्था को पोषित करने के लिए एक कृषि प्रधान उपनिवेश बन गया।

इस पूरे चरण में उपनिवेशवादी स्वरूप का प्रमुख तत्व था– लैसेज फेयर (मुक्त व्यापार)। लेकिन यह केवल ब्रिटिश व्यापारियों के लिए ही था, भारतीयों के लिए नहीं और जो भारतीय वस्तुएं मुक्त व्यापार के बावजूद ब्रिटिश वस्तुओं का मुकाबला नहीं कर सकती थीं, उन सभी पर ब्रिटेन ने भारी आयात शुल्क लगा दिए। भारत के लिए यह सर्वाधिक विषम स्थिति थी कि अपनी वस्तुओं के निर्यात के लिए कर देना पड़ा (जैसे–कपड़े पर 30 से 70 प्रतिशत और चीनी पर 300 प्रतिशत तक) जबकि ब्रिटिश वस्तुएं भारत में निःशुल्क प्रवेश कर जाती थीं। इसके अतिरिक्त ब्रिटिश पार्लियामेंट द्वारा कानून बनाकर इन्हें रोकने का भी प्रयास किया गया। ये निषेधात्मक कानून और शुल्क तब (1840) तक चलते रहे जब तक कि भारतीय बाजार पर विदेशी वस्तुओं ने अपनी प्रभुसत्ता स्थापित नहीं कर ली अथवा कुटीर उद्योग नेस्तनाबूद नहीं हो गए। दूसरी तरफ इस चरण में भारत द्वारा इंग्लैंड को निर्यात की जाने वाली वस्तुओं (जिनकी आवश्यकता अंग्रेजी उद्योगों को चलाने के लिए थी) में तीव्र वृद्धि हुई, हालांकि इनकी प्रकृति सर्वथा भिन्न थी।

अब निर्मित वस्तुओं के बजाय कच्चे माल का स्थान प्रमुख हो गया जैसे रुई, नील, अफीम, जूट, तिलहन, कॉफी, चाय.....आदि। आंकड़ों के रूप में देखें तो कपास, जिसका इंग्लैंड द्वारा सबसे पहले 1790 में आयात किया गया था, की मात्रा 1813 में 90 लाख पौंड, 1833 में 3 करोड़ 20 लाख पौंड तथा 1844 में बढ़कर 8 करोड़ 50 लाख पौंड हो गई। इसी प्रकार से भारतीय कच्चे माल की वृद्धिशील मांगों को अन्य क्षेत्रों में भी देखा जा सकता है।

इन वस्तुओं (रूई, कपास, जूट.....आदि) के अधिक–से–अधिक उत्पादन के प्रयास ने खाद्यान्नों को अत्याधिक प्रभावित किया। चूंकि कच्चे माल की आवश्यकता ब्रिटिश मिलों की थी और खाद्यान्नों की अंग्रेजों को, इसलिए अंग्रेजों ने इनका अधिकाधिक भाग छीनने की कोशिश की। आगे पड़ने वाले अकाल इसी लूट का ही परिणाम थे। रजनी पामदत्त बताते हैं कि 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में भारत में सात अकाल पड़े जिनमें अनुमानतः 15 लाख लोग मारे गए और इस शताब्दी के उत्तरार्द्ध में 14 बार अकाल पड़े जिनमें सरकारी आंकड़ों के अनुसार लगभग 2 करोड़ लोगों की जानें गईं।

खास बात यह रही कि इस चरण में ब्रिटेन और भारत दोनों ही देशों में लघु उद्योगों का विनाश हुआ था, लेकिन अंतर यह रहा कि इंग्लैंड में हथकरघा उद्योग का

टिप्पणी

स्थान मैनचेस्टर और लंकाशायर की मिलों ने लिया था। लेकिन भारत में ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। यही नहीं भारत को कई ऐसी मदों पर धन व्यय करना पड़ा जिसका सीधा सरोकार उसके या उसके लोगों के हितों से नहीं था, जैसे– आयात की जाने वाली वस्तुओं के भुगतान, कंपनी की हिस्सेदारी का शेयर, सैनिकों और कर्मचारियों की पेंशन. ....आदि।

इन परिस्थितियों ने भारतीयों की क्रय–शक्ति को कम कर दिया। इसलिए अब ब्रिटिश निर्माताओं को यह स्पष्ट दिखाई देने लगा कि अगर भारत अपने साधनों का विकास नहीं करता है तो भारत के बाजारों में उनका सामान नहीं बिक पाएगा। इस समस्या को सुलझाने का एक ही उपाय था कृषि का विकास। 1840 के बाद यह बात बिलकुल स्पष्ट हो गई कि ब्रिटेन भारत के बाजार में अपना माल तब तक नहीं बेच सकता जब तक वह भारत को विनिमय योग्य कुछ वस्तुओं के उत्पादन के लायक नहीं बना देता। अतः अब कंपनी (जो कि अब केवल प्रशासन का उपकरण थी) पर कृषि क्षेत्र में विकास के लिए दबाव डाला जाने लगा।

(ग) वित्तीय उपनिवेशवाद

भारत में विकास के कुछ अन्य हल भी खोजे गए, जिनमें पहला था– अमेरिका, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया और न्यूजीलैंड के समान भारत में भी पूंजी निवेशित करने के लिए प्रोत्साहित करना। 1834 में इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए प्रतिबंध (भारत में आने और स्थाई तौर पर बसने के लिए) हटा लिए गए। लेकिन अंग्रेजों ने कृषि के नाम पर केवल उन्हीं क्षेत्रों में पूंजी लगाई जो उन्हें अधिक सुविधाजनक लगे जैसे– चाय और कॉफी। इसके अतिरिक्त विदेशी मुद्रा विनिमय बैंक और बीमा क्षेत्र में भी पूंजी का निवेश प्रारंभ हुआ। दूसरा था– आंतरिक संचार तथा यातायात के साधनों का विकास करना, जिससे भारतीय अर्थव्यवस्था को ब्रिटिश अर्थव्यवस्था के अधीन कर सकें। इन सबके बावजूद इस चरण में बहुत सारे अंतर्विरोध दिखाई दिए जैसे–

1. भारतीय नागरिकों की क्रय शक्ति बढ़ाने के लिए कृषि का पूंजीवादी आधार पर विकास करने के लिए कम करों की आवश्यकता बनाम अतिरिक्त धन हड़पने तथा बढ़ते हुए प्रशासनिक खर्च के लिए अधिक कर लगाने की आवश्यकता।
2. प्रशासन और सेना पर खर्च बनाम भारत के विकास पर खर्च परिणाम–भुगतान संतुलन (बैलेंस ऑफ पेमेंट) की समस्या।

संक्षेप में कहें तो उपनिवेशवाद के प्रथम चरण में जहां राजनीतिक और आर्थिक ढांचे में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ वहीं दूसरे चरण में इस क्षेत्र में परिवर्तन अपरिहार्य हो गए ताकि ब्रिटिश उपनिवेश के रूप में भारत अपनी नई भूमिका निभा सके इसके लिए न केवल (1834 में कानून बनाकर) अग्रेजों के आने का रास्ता साफ किया गया बल्कि प्रशासन को और अधिक व्यापक बनाते हुए, जमींदारी, रैय्यतवारी व महालवारी व्यवस्थाओं के माध्यम से अधिक–से–अधिक लगान उगाहने के तरीकों में भी परिवर्तन किया गया। राज्य के कानूनी ढांचे से भी परिवर्तन की आवश्यकता महसूस की गई ताकि व्यापारवादी, पूंजीवादी संबंधों के हितों की रक्षा की जा सके। इसमें

आयात और निर्यात की आर्थिक सौदेबाजी को कारगर बनाने के लिए समझौते की पवित्रता (सैंक्टिटी ऑफ कॉन्ट्रैक्ट) को मौलिक कानून का स्थान दे दिया गया।

टिप्पणी

तीसरे चरण अर्थात वित्तीय पूंजीवाद अथवा पूंजीवादी उपनिवेशवाद की शुरुआत भारत में 1860 से हुई। पहले दो चरणों में ब्रिटेन ने भारत में जो परिवर्तन किए और शोषण का जो सिलसिला प्रारंभ किया उसका परिणाम यह हुआ कि 1857 में एक घटना घट गई, जिसका उद्देश्य था ब्रिटिश शासन का सदा के लिए अंत। यह घटना मात्र सिपाहियों का विद्रोह नहीं था जैसा कि अक्सर इतिहासकारों का एक वर्ग मान लेता है बल्कि वह ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विस्तार तथा भारतीय रियासतों की संप्रभुता के समापन (अथवा कंपनी के राज्य में भारतीय रियासतों का विलय), कंपनी के अधिकारियों की उत्पीड़क लगान व्यवस्था तथा भारतीय हस्तकौशल के विनाश का सीधा परिणाम थी जिसमें प्रत्येक वर्ग और व्यक्ति भारतीय सत्ता की पुनर्स्थापना के लिए प्रतिबद्ध था। लेकिन इसमें मिली भारतीय पराजय के कारण भारत में सामंतवाद का अंतिम नक्षत्र भी डूब गया। अब ब्रिटिश उपनिवेशवादी शासकों ने भारत की प्रतिक्रियावादी और संकीर्णतावादी शक्तियों के साथ सांठ–गांठ प्रारंभ कर दी। हालांकि यह एक विचारणीय मुद्दा है कि उन लोगों ने, जो ब्रिटेन के मध्यमवर्गीय क्रांति के अगुवा थे, जिन्होंने संसद को सार्वभौम बनाया और जो उस क्रांति का अगुआ रहा था, जिसने इंग्लैंड को औद्योगिक पूंजीवाद के माध्यम से 'संसार का सबसे बड़ा कारखाना' बना दिया, उसने भारत के इस वर्ग के साथ मेल–जोल क्यों किया? इसका सीधा सा उत्तर यही है कि 1857 के विद्रोह ने यह स्पष्ट कर दिया था कि ब्रिटिश शासन और उसकी नीतियों के विरुद्ध आम जनता में प्रतिरोध की भावना व्याप्त थी, इसलिए अब यही विकल्प मात्र था और फिर यही वर्ग तो 1857 की क्रांति का अगुआ भी रहा था। ब्रिटेन के अतिरिक्त फ्रांस, जर्मनी, अमेरिका, जापान भी औद्योगिक क्रांति के दौर से गुजर चुके थे इसलिए इन देशों ने भी एशिया और अफ्रीका के देशों में अपने माल के लिए मंडियों की तलाश शुरू कर दी थी। इसका परिणाम यह हुआ कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर बाजार और कच्चे माल के लिए संघर्ष छिड़ गया। चूंकि इन्हीं दो तत्वों पर संपूर्ण औद्योगिक ढांचा टिका हुआ था इसलिए इन देशों में इनके अभाव में संपूर्ण औद्योगिक ढांचा बिखर सकता था।

इस दौर में पहुंचते–पहुंचते ब्रिटेन के पास असीमित मात्रा में पूंजी–संचय हो चुका था जिसका संकेंद्रण बैंकर्स, उद्योगपतियों अथवा उत्पादक संघों तक ही था। दूसरी तरफ इंग्लैंड में मजदूरों ने संगठित होना प्रारंभ कर दिया था। इसलिए अब ब्रिटेन में पूंजी का विनियोजन मजदूरों की सौदेबाजी की शक्ति (बारगेनिंग पावर) को बढ़ा सकता था, जिसका असर मुनाफे पर पड़ता जबकि एशिया और अफ्रीका के देशों में स्थिति इसके ठीक विपरीत थी और साथ ही घरेलू उद्योगों के लिए कच्चे माल की सस्ती दरों पर निरंतर आपूर्ति की जा सकती थी। इसी जिज्ञासा ने भारत में वित्तीय पूंजीवाद (फाइनैन्स कैपिटलिज्म) के युग को प्रारंभ कर दिया। इस चरण में भारत में ब्रिटिश पूंजी के निवेश संबंधी दौर की नींव रखी गई। लेकिन यहां पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि यह पूंजी कितनी थी और उसकी प्रकृति क्या थी?

ब्रिटिश पूंजी के विश्वव्यापी विनियोग के मानचित्र में एशिया का स्थान आनुपातिक रूप से उत्तर और दक्षिण अमेरिका तथा यूरोप की अपेक्षा कम था। पूरी दुनिया में

टिप्पणी

विनियोजित ब्रिटिश पूंजी का केवल 14 प्रतिशत एशिया में और 40 प्रतिशत ब्रिटिश साम्राज्य के विभिन्न भागों में निवेशित हुआ। लेकिन इसका मतलब यह नहीं निकलना चाहिए कि एशिया तथा भारत का इंग्लैंड की पूंजी के हितों के लिए वजन कम था, कम–से–कम 19वीं शताब्दी में तो नहीं। जैंक्स (द माइग्रेसन ऑफ ब्रिटिश कैपिटल टु इंडिया, 1875) का अनुमान है कि 1854–70 की अवधि में 15 करोड़ पौंड स्टर्लिंग का विनियोजन भारत में हुआ जिसका आधा रेल कंपनी में लगा। लेकिन जॉर्ज पैश ने (जर्नल ऑफ रॉयल स्टैस्टिकल सोसाइटी, 1910–11)। 1909–10 में भारत (वर्तमान बांग्लादेश, पाकिस्तान, श्रीलंका, वर्मा सहित) में निवेशित ब्रिटिश पूंजी का हिसाब निम्न सूची के माध्यम से दिया है।

भारत में ब्रिटिश पूंजी का विनियोग (लाख पौंड स्टर्लिंग में)

सरकारी और म्युनिसिपल ऋण	1824
रेल कंपनी तथा अन्य परिवहन	1415
बिजली, गैस, जल, टेलीफोन कंपनियां	27
खनिज और पेट्रोल	74
चाय, कॉफी और रबर बागान	342
व्यापारिक कंपनियां तथा कारखाने	26
बैंक	34
विविध ऋण	18
कुल	3660

हालांकि इन आंकड़ों में अंग्रेजों द्वारा भारत में अर्जित पूंजी जो कि भारत में अंग्रेजी कंपनियों में लगी हुई थी, शेयर बाजार के माध्यम से ही नहीं बल्कि व्यक्तिगत रूप से अंग्रेजों ने जो पैसा व्यापार अथवा बैकिंग कंपनियों और बीमा कंपनियों में लगाया था..... को भी जोड़ना चाहिए था लेकिन नहीं जोड़ा गया। इसलिए इन आंकड़ों को वास्तविकता के सर्वाधिक निकट नहीं माना जा सकता। फिर भी ये आंकड़े विनियोजन की प्रकृति को अच्छी तरह से दर्शाते हैं। इस सारणी से यह स्पष्ट होता है कि विदेशी पूंजी विनियोजन देश के सर्वतोन्मुखी आर्थिक विकास, औद्योगिक विकास को उतनी मदद नहीं करता, जितना विदेशी मांग की आपूर्ति के लिए किए जाने वाले निर्यात को, जो सीधे–सीधे ब्रिटिश सरकार के हित में था।

दूसरे शब्दों में कहें तो औद्योगिक पदार्थों के उत्पादन के लिए सरकार को ऋण के रूप में पूंजी दी गई, 39 प्रतिशत पूंजी रेल कंपनी में लगायी गई, जिस पर सरकार के साथ किए गए अनुबंध के फलस्वरूप 5 प्रतिशत की दर से ब्याज मिलता था चाहे कंपनी को नुकसान हो या मुनाफा, चाय बागानों में 7 प्रतिशत तथा कोयला–पेट्रोल आदि के उत्खनन में 2 प्रतिशत पूंजी का विनिवेश किया गया। अन्य सभी आनुषंगिक कार्यों (कोयला, खान, पटसन रूई.....आदि) में सामान्य पूंजी लगायी गई। हालांकि 1929 में वी.के.आर.वी. राव ने 'इंडियाज बैलेंस ऑफ ट्रेड इकोनॉमिक

टिप्पणी

जर्नल' 1933 में जो आंकड़े प्रस्तुत किए हैं वे पैश से काफी भिन्नता रखते हैं। लेकिन विनियोजन के पिछले क्षेत्रों में स्थिरता ही नजर आई। 1948 में 'रिजर्व बैंक ऑफ इंडिया' द्वारा प्रस्तुत आंकड़ों में कुछ परिवर्तन दिखाई देता है जहां 28 प्रतिशत पूंजी औद्योगिक पदार्थों के विनिर्माण में लगायी गई दिखाई देती है और 25 प्रतिशत पूंजी व्यापार अथवा शुद्ध रूप से खरीद–बिक्री के काम में लगी हुई है, जिसे उद्योग कहना मुश्किल है शेष पूंजी परिवहन ऊर्जा खनिज आदि क्षेत्रों में लगी हुई थी। इस प्रकार इसके बावजूद भी 19वीं शताब्दी की पूंजी–निवेश की औपनिवेशिक धारा का रुझान इस समय तक बरकरार रहा और ब्रिटिश पूंजीपतियों ने कभी भी भारी उद्योग के नजदीक आने की कोशिश नहीं की।

जहां तक विदेशी पूंजी की प्रकृति का प्रश्न है तो भारत में इसका ढांचा औपनिवेशिक था, जो पूर्वी एशिया, पूर्वी अफ्रीका तथा दक्षिण अमेरिका के अन्य उपनिवेशों में देखा गया है अर्थात

1. रेल कंपनियों की तरह के राष्ट्रीय परिवहन विनियोग, जिनसे देश के बाजार में औद्योगिक पदार्थों का आयात और विदेश में कच्चे माल का निर्यात हो सके।
2. प्राकृतिक दान, जैसे खनिज और विशेषकर बागीचों के उत्पादन (चाय, कॉफी, रबड़.....आदि) का देश से निर्यात करना।
3. व्यापारिक कारोबार जैसे बैंक बीमा कंपनियों आदि, जो विदेशोन्मुख व्यापार को चालू रखने के लिए जरूरी है।

जिन दिनों औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप ब्रिटेन संसार का सबसे प्रमुख विकासशील पूंजीवादी देश बन रहा था उस समय भारत इसके सानिध्य में रहते हुए भी ऐसी दरिद्रता और भुखमरी का शिकार था जहां व्यक्ति, व्यक्ति को निगलने की बाट जोहने में लगा हुआ था। कुल मिलाकर ब्रिटेन का औद्योगिक विकास और भारत की दरिद्रता के मध्य अन्योन्याश्रितता के संबंध थे।

अपनी प्रगति जांचिए

3. भारत सरकार अधिनियम कब पारित किया गया?

(क) सन् 1930 (ख) सन् 1933

(ग) सन् 1935 (घ) सन् 1937

4. अखिल भारतीय खिलाफत आंदोलन के प्रमुख नेता कौन थे?

(क) अली बंधु (ख) मौलाना आजाद

(ग) हकीम अजमल खां (घ) उपर्युक्त सभी

5. महात्मा गांधी ने असहयोग आंदोलन कब प्रारंभ किया?

(क) 31 अगस्त 1920 (ख) 30 सितंबर 1920

(ग) 30 नवम्बर 1920 (घ) 31 दिसंबर 1920

3.4 चीन में साम्यवादी क्रांति और विश्व राजनीति पर उसके प्रभाव

टिप्पणी

चीनी सेनाध्यक्ष एवं राष्ट्रवादी दल के मुखिया जियांग जिएशी ने मार्च, 1927 में साम्यवादियों को निकालने का प्रयास किया। राष्ट्रवादी दल के वामपंथी सदस्यों ने इस कार्य की भर्त्सना की, लेकिन जब उन्हें सोवियत संघ के उस गुप्त आदेश की जानकारी हुई (जिसमें वुहान में राष्ट्रवादी शासन को ढहाने व सत्ता हथियाने का आदेश बोरोडिन को दिया गया था) तो वुहान शासन ने साम्यवादियों को उनके पदों से हटा दिया। जुलाई, 1927 तक वुहान नेताओं ने सोवियत संघ के साथ अपना सहयोग समाप्त कर लिया एवं चीन के साम्यवादी दल से अपना समन्वय भी समाप्त कर दिया। आगामी दस वर्षों तक राष्ट्रवादी दल एवं साम्यवादी दल गृहयुद्ध में लिप्त रहे।

सितंबर, 1931 में जापान ने मंचूरिया पर आक्रमण कर दिया। राष्ट्रीय संकट से जूझते हुए जियांग जिएशी साम्यवादियों को समाप्त करने में अपना ध्यान एकाग्र नहीं कर पाया था। वह एक ही समय में कभी जापानियों से लड़ता, तो कभी साम्यवादियों से ताकि विभिन्न सेनापति शासकों से अपने शासन का सहयोग संतुलित रखा जा सके। सेनापतियों ने साम्यवादियों के साथ गंभीरता से युद्ध नहीं किया। साम्यवादियों से लड़ने में सेनापति तब भी उदासीन रहे जब वे राष्ट्रवादी शासन के साथ सहयोग की अवस्था में थे, सेनापति तो बस अपने सैन्य सामर्थ्य को बचाने के स्वार्थ में लिप्त रहे। इसके परिणामस्वरूप साम्यवादियों को ग्रामीण क्षेत्रों में अपने आधार को स्थापित व सुदृढ़ करने का अवसर मिल गया। चीन का साम्यवादी दल तो कोमिंटर्न के निर्देशन में कार्य करता था, इसलिए चीन में साम्यवादी रणनीति के निर्धारण में सोवियत रूस ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया। रूस एवं जापान के मध्य सोवियत संघ की स्थापना के पहले से विरोधाभास था।

1920 के दशक में सोवियत रूस मंचूरिया में जापान की साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं के कारण व्याकुल हो गया। मंचूरिया की ओर जापान को आगे बढ़ने से रोकने के लिए सोवियत रूस को जियांग जिएशी के सैन्य रणकौशल की आवश्यकता हुई। यही कारण था कि जियांग का विरोध करने में रूस की तनिक भी रुचि नहीं थी। इस प्रकार कोमिंटर्न ने साम्यवादियों एवं राष्ट्रवादियों के मध्य संयुक्त मोर्चे को पुनर्जीवित करने में सक्रिय रूप से योगदान दिया। मंचूरिया में जियांग के सहयोगी सेनापति झांग जुएलियांग को काम पर लगाया गया। सन् 1936 में झांग जुएलियांग ने जियांग जिएशी को काबू कर लिया जिससे दूसरे संयुक्त मोर्चे का निर्माण किया गया।

पूर्ववर्ती सहयोग की भांति यह गठबंधन भी विफल रहा। जापान के साथ युद्ध समाप्त होने के पूर्व ही यह सहयोग भंग हो गया तथा गृहयुद्ध का एक और क्रम आरंभ हो गया। तथापि द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत निर्णायक संग्रामों में साम्यवादी बलों में राष्ट्रवादी सेना लुप्त हो गयी। आखिरकार सन् 1949 में चीन के जनवादी निर्माण के साथ शांति लौट आई।

टिप्पणी

3.4.1 चीन में साम्यवादी क्रांति की पृष्ठभूमि

उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में चीन पृथकता की नीति का अवलंबन कर रहा था। वह संसार के किसी भी देश के साथ किसी स्तर पर संबंध–संपर्क कायम करना नहीं चाहता था। लेकिन चीन की समृद्धि पश्चिमी राष्ट्रों के आकर्षण का मुख्य केंद्र थी। यूरोप के विविध राज्य किसी तरह चीन का दरवाजा खोलकर उसके भीतर घुसकर व्यापार करना चाहते थे। सत्रहवीं सदी के अंतिम चरण से ही चीन में उनका आना–जाना शुरू हो गया था। परंतु, चीन की सरकार द्वारा उनके प्रवेश पर कई तरह से रुकावटें डाली जाती थीं। बहुत कोशिश के बाद यूरोपीय व्यापारियों को यह आज्ञा मिली कि वे कैंटन शहर से बाहर रहकर छोटे पैमाने पर चीन से व्यापार कर सकते थे। आरंभ में यूरोपीय व्यापारी चीन से केवल माल ही खरीदते थे। बेचने के लिए उनके पास कोई वस्तु न थी। चीनी, रेशम, चाय और चीनी मिट्टी के बरतन की मांग यूरोप में बहुत थी। यूरोपीय व्यापारी इन्हीं वस्तुओं को खरीदकर यूरोप के बाजार में बेचते थे तथा चीन को इसका मूल्य सोना–चांदी में चुकाते थे। अठारहवीं सदी के द्वितीय चरण में इंग्लैंड में इसका बहुत बड़े पैमाने पर सूती कपड़ों का उत्पादन शुरू हुआ। इन कपड़ों का चीन एक अच्छा खरीददार हो सकता था। अतः इंग्लैंड का प्रयास चीन को विलायती कपड़ों का बाजार बना लेना था।

प्रथम अफीम युद्ध– अंग्रेज व्यापारी कपड़ों के व्यापार–मात्र से ही संतुष्ट नहीं थे। वे एक ऐसे माल की खपत चीन में बढ़ाना चाहते थे जिससे चीन के निर्यात माल की अपेक्षा आयात माल की मात्रा अधिक हो जाए और उन्हें चीन के माल के लिए सोना–चांदी के रूप में कीमत न अदा करनी पड़े। इस तरह ईस्ट इंडिया कंपनी के व्यापारी भारत में प्रचुर मात्रा में अफीम की खेती करा रहे थे और इस प्रयास में लग गए कि चीन में अफीम बेचने के लिए बाजार तैयार किया जाए। अंग्रेज व्यापारी चोरी–चोरी चीन में अफीम भेजने लगे और चीनवासियों में इसके सेवन की आदत डालने लगे। इसमें उनको पूरी सफलता मिली। 1825 ई. तक चीन के लोग अफीम के इतने आदी हो गए कि विदेशियों का अफीम व्यापार चमक उठा। किसी भी सरकार के लिए यह चिंता का विषय हो सकता है।

चीन की सरकार चीनवासियों के बीच अफीम के प्रचार से बहुत चिंतित हो गई और उसने इस आपत्तिजनक व्यापार को बंद करने का निश्चय किया। इसलिए, 1800 ई. में सरकार ने अफीम के क्रय–विक्रय को बंद कर दिया। लेकिन, इससे अफीम का व्यापार रुका नहीं। यूरोपीय पदाधिकारी भी इस व्यापार में सहायक थे, क्योंकि उन्हें घूस के रूप में कुछ आमदनी हो जाती थी। इस प्रकार, चीन में अवैध अफीम का व्यापाार निरंतर बढ़ता गया। चीन की सरकार की चिंता बहुत बढ़ गई और उसने अफीम के अवैध व्यापार को रोकने के लिए सख्त कार्रवाई करने का निश्चय किया। इस सख्त कार्रवाई से अंग्रेज व्यापारियों को बड़ा घाटा हुआ। अपने व्यापार पर उनको किसी तरह का नियंत्रण मंजूर नहीं था। वे अब यह समझने लगे कि उन्हें इस बात का पूर्ण अधिकार है कि वे जिस माल को चाहें, चीन में बेच सकते हैं। अब उन्होंने चीन के साथ युद्ध करने का निश्चय किया और एक ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर दी जिससे 1839 ई. में चीन और ब्रिटेन का युद्ध शुरू हो गया। यही, प्रथम अफीम युद्ध था।

टिप्पणी

प्रथम अफीम युद्ध के कुछ और भी कारण थे। इसका एक कारण तो ब्रिटेन की साम्राज्यवादी लिप्सा थी। एशिया के अनेक भू–क्षेत्रों पर अधिकार करने में सफलता प्राप्त कर लेने से ब्रिटेन का हौसला बहुत बढ़ गया था और वह चीन के विशाल भू–क्षेत्र पर अधिकार कायम करने की कामना रखता था। चीन में प्रचुर मात्रा में कच्चा माल उपलब्ध था और विशाल जनसंख्या वाला देश चीन ब्रिटिश वस्तुओं का अच्छा बाजार बन सकता था। तत्काल के लिए चीन में अधिक–से–अधिक व्यापारिक सुविधाएं प्राप्त करना भी ब्रिटेन का लक्ष्य था। चीन की सरकार विदेशियों को व्यापारिक सुविधाएं देने के पक्ष में नहीं थी। विदेशी व्यापारियों पर अनेक तरह के प्रतिबंध लगे थे। वे केवल कैंटन के बंदरगाह से ही 'कोहांग' के मार्फत व्यापार कर सकते थे और उन्हें अधिक चुंगी देनी पड़ती थी। विदेशियों के आवागमन पर चीनी सरकार कड़ी निगरानी रखती थी। ये सारे प्रतिबंध विदेशियों में कुढ़न पैदा करते थे।

अंग्रेजों के प्रतिनिधियों के साथ भी चीन की सरकार का सम्मानजनक व्यवहार नहीं होता था। इन सारी शिकायतों को दूर करने के लिए युद्ध का सहारा लेना जरूरी हो गया। इसलिए जब चीन की सरकार ने अफीम के व्यापार पर कठोर नियंत्रण की व्यवस्था की तो चीन और अंग्रेजों के बीच युद्ध अनिवार्य हो गया। अंग्रेजों ने युद्ध की घोषणा कर दी और ब्रिटिश नौ–सेना ने कैंटन बंदरगाह को घेर लिया। ब्रिटेन की प्रबल सामुद्रिक शक्ति के समक्ष अंततोगत्वा चीन की सैन्य–शक्ति को झुकना पड़ा और प्रशांत महासागर के तटवर्ती कई चीनी प्रदेश और टापू अंग्रेजों के कब्जे में आ गए। चीन के लिए युद्ध में टिकना कठिन हो गया और उसने ब्रिटेन से समझौता कर लेना ही उचित समझा। अतएव, 29 अगस्त, 1842 को चीन और ब्रिटेन के बीच 'नानकिंग की संधि' हुई और इस प्रकार प्रथम अफीम युद्ध का अंत हुआ।

नानकिंग की संधि ने चीन के कैंटन, अमोय, फूचाउफ, निगपो और शंघाई के पांच बंदरगाहों को ब्रिटेन के व्यापारियों के लिए खोल दिया और हांगकांग का द्वीप हमेशा के लिए ब्रिटेन को दे दिया गया। कोहांग के व्यापारिक एकाधिपत्य को समाप्त कर दिया गया। चीन की सरकार ने पांच प्रतिशत तट–कर निर्धारित किया और आयात व निर्यात की वस्तुओं पर पारस्परिक समझौते द्वारा ही तट–कर बढ़ाने की बात स्वीकार की गई। ब्रिटेन को चीन सरकार से युद्ध हरजाने के रूप में दो करोड़ दस लाख डालर मिले। इसमें अफीम की वह कीमत भी शामिल थी जिसको चीन सरकार के विशेष पदाधिकारी ने जब्त कर लिया था।

यूरोपीय देश और चीन– नानकिंग की संधि ने चीन का दरवाजा यूरोपीय व्यापारियों के लिए खोल दिया। ब्रिटेन की तरह यूरोप के अन्य देश भी चीन के साथ पृथक–पृथक संधि करने के लिए दौड़ पड़े। अमेरिकी राष्ट्रपति टाइलर का एक प्रतिनिधि चीन पहुंचा। 24 फरवरी, 1844 को चीन और संयुक्त राज्य अमेरिका के बीच एक संधि हुई। इस संधि की शर्तें प्रायः वे ही थीं जो नानकिंग की संधि की थीं। लेकिन, इसमें एक महत्वपूर्ण नई शर्त थी। इसके अनुसार यह तय हुआ कि किसी अमेरिकी नागरिक को अभियुक्त के रूप में चीन की किसी अदालत में पेश नहीं किया जाएगा। ऐसे अमेरिकी नागरिकों से संबद्ध सारे मुकदमे अमेरिकी अदालत में ही पेश किए जाएंगे। इस प्रकार, अमेरिका ने एक ऐसे विशेषाधिकार को प्राप्त किया, जिसे

टिप्पणी

'राज्यक्षेत्रातीत अधिकार' (Extraterritorial Right) कहते हैं। यह अधिकार चीन की संप्रभुता का अतिक्रमण था। इस व्यवस्था का परिणाम यह हुआ कि चीन में निवास करने वाले अमेरिकी नागरिक चीन की सरकार के शासन के अंतर्गत नहीं रह गए। चीन की सरकार न तो उन्हें गिरफ्तार कर सकती थी और न दंड दे सकती थी। इस प्रकार, इस व्यवस्था के द्वारा चीन में विदेशियों के एक असाधारण प्रभुत्व का सूत्रपात हुआ, जिसने चीन की प्रभुता और स्वतंत्र सत्ता को भारी आघात पहुंचाया। अमेरिका के बाद ब्रिटेन तथा अन्य यूरोपीय राज्यों को भी इस प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त हुए।

अमेरिका के बाद चीन के साथ संधि करने वाला तीसरा यूरोपीय देश फ्रांस था। इस संधि में भी एक विशेष शर्त रखी गई थी। इस विशेष शर्त के अनुसार फ्रांस के रोमन कैथोलिक मिशनरियों को चीन में गिरजाघर कायम करने तथा धर्मप्रचार का पूरा–पूरा अधिकार मिला। धर्मप्रचारक पादरियों को हर तरह की स्वतंत्रता भी मिली।

द्वितीय अफीम युद्ध– ब्रिटेन, अमेरिका, फ्रांस और उसके बाद अन्य यूरोपीय राज्यों के साथ चीन को बाध्य होकर कई संधियों पर हस्ताक्षर करने पड़े। ये संधियां असमान थीं और इनकी शर्तें शक्तिशाली पाश्चात्य राज्यों द्वारा निर्बल चीन पर लादी गई थीं। लेकिन, पाश्चात्य देश इतने से ही संतुष्ट नहीं थे। वे चीन में अपने लिए और सुविधा तथा अधिकार प्राप्त करना चाहते थे। इसके लिए चीन के साथ एक दूसरी लड़ाई भी अनिवार्य हो गई। 1856 ई. में ब्रिटेन, फ्रांस और चीन के बीच 'द्वितीय अफीम–युद्ध' हुआ।

द्वितीय अफीम–युद्ध का तात्कालिक कारण था फ्रांस के एक रोमन कैथोलिक पादरी का चीन द्वारा गिरफ्तार किया जाना। एक फ्रांसीसी पादरी चीन के अंदर बहुत दूर तक चला गया। वहां वह कुछ आपत्तिजनक काम करने लगा। चीन की सरकार ने उस पादरी को कैद कर लिया। उस पर मुकदमा चलाया गया तथा प्राणदंड दे दिया गया। इस बात का बहाना बनाकर फ्रांस और ब्रिटेन ने सम्मिलित रूप से चीन पर 1856 ई. में आक्रमण कर दिया। कैंटन से उत्तर की ओर आगे बढ़ती हुई ब्रिटिश–फ्रांसीसी सेनाएं तीनत्सिन तक पहुंच गईं। अब चीन की सरकार के समक्ष समझौता करने के अतिरिक्त कोई विकल्प नहीं रह गया। अतएव, तीनत्सिन में संधि के लिए बातचीत हुई। इस संधि के अनुसार चीन के ग्यारह बंदरगाह पाश्चात्य देशों के व्यापार और निवास के लिए खोल दिए गए। ये बंदरगाह उत्तर में न्यूच्यांग से शुरू होकर दक्षिण में स्वातों तक फैले हुए थे। कैंटन आदि पांच बंदरगाह उत्तर में पश्चिमी राज्यों को पहले से ही व्यापार और निवास का अधिकार प्राप्त था। लेकिन, इस संधि के उपरांत ऐसे बंदरगाहों की संख्या सोलह हो गई। प्रशांत महासागर तट पर स्थित प्रायः सभी महत्वपूर्ण बंदरगाहों में अपनी बस्तियां बसाने और स्वतंत्र रूप से व्यापार करने का अधिकार इस संधि द्वारा पश्चिमी देशों को मिल गया।

यूरोपीय देशों और अमेरिका के राजदूत पीकिंग में रहें, इसकी अनुमति चीन की सरकार ने दे दी। ईसाई धर्मप्रचारकों को चीन के किसी भू–भाग या हिस्से में जाने तथा धर्मप्रचार करने का पूरा अधिकार मिला। चीन की सरकार ने एक बहुत बड़ी रकम हर्जाने के रूप में ब्रिटेन और फ्रांस को देने का वादा किया तथा पश्चिमी देशों को अफीम का व्यापार करने की अनुमति दे दी।

टिप्पणी

1842 ई. और 1860 ई. की इन संधियों द्वारा चीन का पश्चिमी देशों के साथ जिस ढंग का संबंध स्थापित हुआ, उसे समान रूप से स्वतंत्र और प्रभुसत्तायुक्त देशों का पारस्परिक संबंध नहीं कहा जा सकता। यह पाश्चात्य साम्राज्यवाद का एक नया रूप था। सैन्य–शक्ति का उपयोग कर इसे स्थापित किया गया था।

पाश्चात्य अतिक्रमण का चीन पर प्रभाव– प्रथम और द्वितीय अफीम–युद्ध के फलस्वरूप चीन का दरवाजा विदेशी शोषण के लिए पूर्णतः खुल गया। 1860 ई. के बाद विविध यूरोपीय राज्यों के बीच लूट–खसोट की जबर्दस्त होड़ प्रारंभ हो गई और प्रतीत होने लगा कि कुछ ही दिनों में चीन का नामोनिशान मिट जाएगा। चीन के साथ पाश्चात्य देशों की असमान संधियां हुई और चीन में विदेशियों को कई विशेषाधिकार प्राप्त हुए।

इसी तरह 'राज्यक्षेत्रातीत अधिकार' (Extra-territorial Rights) के रूप में जो विशेषाधिकार चीन में पाश्चात्य देशों ने प्राप्त किए थे, वे किसी प्रकार उचित या न्यायसंगत नहीं माने जा सकते थे। चीन के लोगों की दृष्टि में ये विशेषाधिकार बहुत अनुचित थे, क्योंकि पश्चिम के किसी भी देश में इस तरह के अधिकार चीन के नागरिकों को प्राप्त नहीं थे। पाश्चात्य देश के व्यापारी नागरिक इस अधिकार का पूरा दुरुपयोग करते थे। उन्हें इस बात का जरा भी भय नहीं रहता था कि चीन सरकार उन्हें दंड दे सकती है। इस कारण वे चीनी नागरिकों के साथ बड़ा बुरा व्यवहार करते थे, ऐसा व्यवहार मानो चीनी लोग किसी अधीनस्थ देश के निवासी के साथ कर रहे हों। कैंटन आदि सोलह नगरों में, जिन्हें चीन का 'ट्रीटी पोर्ट्स' (Treaty Ports) कहा जाता था, पूर्णतः जिन पर चीन की सरकार का किसी तरह का अधिकार नहीं रहा। राज्यक्षेत्रातीत अधिकार के अंतर्गत ये बस्तियां पूर्ण रूप से विदेशियों के कब्जे में थीं और इनका शासन भी उन्हीं लोगों द्वारा होता था।

प्रथम अफीम युद्ध के बाद चीन के साथ यूरोप के विविध राज्यों तथा संयुक्त राज्य अमेरिका की कई असमान संधियां हुईं तथा इन संधियों के फलस्वरूप चीन परोक्ष रीति से पाश्चात्य साम्राज्यवाद का शिकार होने लगा। लेकिन, बात यहीं तक सीमित नहीं रही। चीन को तुरंत ही अपने पड़ोसी देश जापान का भी सामना करना पड़ा। उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में जापान ने मध्यकालीन अवस्था से निकलकर अपने को आधुनिकता के रंग में रंग लिया और वह एक साम्राज्यवादी देश बन बैठा। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशक में उसने उग्र साम्राज्यवादी नीति का अनुसरण करते हुए चीन पर आक्रमण (1894 ई.) कर दिया। इस चीन–जापान युद्ध में चीन बुरी तरह पराजित हुआ और अमेरिका द्वारा आक्रमण तथा उनकी लूट–खसोट का युग प्रारंभ हुआ। साम्राज्यवादी राज्य उसे नोचने के लिए कूद पड़े और 1895 ई. के बाद चीन पर उनका प्रभाव बढ़ता गया। इस नये युग का उद्घाटन रूस ने किया। 1895 ई. के बाद चीन सरकार पर रूस का प्रभाव निरंतर बढ़ता गया। फ्रांस को भी चीन में कई तरह की सुविधाएं प्राप्त हुईं। फ्रांस को रेलवे बनाने, खानें खोदने तथा चीन के कुछ बंदरगाहों का प्रयोग करने की सुविधाएं प्राप्त हुईं। 1897 ई. में शांतुंग के प्रदेशों में दो जर्मन पादरियों की हत्या हो गई। जर्मनी की एक सेना ने तुरंत चीन पर आक्रमण कर दिया और क्याऊचाओ प्रदेश पर कब्जा जमा लिया। चीन की सरकार जर्मनी का मुकाबला

टिप्पणी

नहीं कर सकती थी। इसके अनुसार 99 वर्ष के लिए क्याऊचाओ प्रदेश जर्मनी के अधीन कर दिया गया। इसके अतिरिक्त, जर्मनी को चीन में अन्य कई आर्थिक सुविधाएं मिलीं। शांतुंग में उसको रेलवे–लाइनों के निर्माण का अधिकार प्राप्त हुआ। इस प्रदेश में सेना रखने की अनुमति भी जर्मनी को मिल गई।

जब जर्मनी को इस तरह की सुविधा प्राप्त हुई तो यूरोप के अन्य राज्य सशंकित हो उठे। अब वे चीन से और अधिक सुविधाएं प्राप्त करने की उधेड़बुन में लग गए। इसलिए चीन में सुविधा प्राप्त करने की होड़ में प्रचंडता आ गई। 1897 ई. में रूस ने पोर्ट आर्थर और तेलीनवात पर कब्जा कर लिया। पोर्ट आर्थर के बंदरगाह पर रूस का एकाधिपत्य स्थापित हो गया। उसके बाद फ्रांस ने च्वांगयुआन के प्रदेश तथा टोनकिन से उनान तक रेल लाइन बनाने का अधिकार मांगा। इंग्लैंड ने अपने हित को ध्यान में रखकर बर्मा–चीन सीमांत रेखा को ठीक कराया। इसके बाद हांगकांग से सटे हुए चीनी प्रदेशों पर उसने दावा किया। चीन ने इसे भी स्वीकार कर लिया।

इस प्रकार, चीन में यूरोपीय राज्यों का अपना पृथक–पृथक 'प्रभाव–क्षेत्र' कायम हो गया। ऐसा प्रतीत होने लगा था कि प्रभाव क्षेत्र के नाम पर चीन का प्रादेशिक विभाजन हो गया है। चीन राज्य की संप्रभुता का नामोनिशान मिट रहा था। अपनी ही सीमा के अंदर चीन की सरकार एकदम विवश हो गई थी। अपने राज्य के विविध प्रदेशों में उसका नाममात्र का भी अधिकार नहीं था। इसके बाद यही संभव था कि यूरोपीय राज्य आपस में मिलकर अपने चीनी प्रभाव क्षेत्रों को विधिवत अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लें। लेकिन, अमेरिका द्वारा प्रतिपादित उन्मुक्त द्वार की नीति तथा चीनियों द्वारा विदेशियों के विरुद्ध बाक्सर विद्रोह के कारण ऐसा नहीं हो सका।

चीन का विभाजन या 'चीनी तरबूज' का बंटवारा– 1895 ई. तक चीन में पश्चिमी राष्ट्रों की मुख्य दिलचस्पी वाणिज्य के लिए ही थी। व्यापारी चीन का रेशम और चाय खरीदते थे और बदले में चीन की चांदी, अफीम, चंदन, फर तथा अनेक प्रकार की निर्मित वस्तुएं बेचते थे। लेकिन, 1895 ई. में यह स्थिति एकाएक बदल गई। चीन अब 'एशिया का मरीज' (Sickman of Asia) के रूप में प्रकट हुआ और पश्चिमी राज्यों के मुंह में उसके बंटवारे के लिए पानी भर आया। अब तक चीन का विभाजन नहीं हो सका था। इसका मुख्य कारण था पाश्चात्य देशों के बीच आपसी प्रतिस्पर्धा। लेकिन, जापान की सफलता ने उन्हें नई नीति का अवलंबन करने की प्रेरणा दी। फलतः, यूरोपीय देश अब चीन के विभिन्न क्षेत्रों पर अपना–अपना दावा पेश करने लगे और चीन को विविध प्रभाव–क्षेत्रों (Spheres of influence) में बांटने लगे। इस तरह, 'चीनी तरबूज' को काटने (Cutting of the Chinese melon) की प्रक्रिया आरंभ हुई। कई कारणों से अब चीन पर पाश्चात्य देशों का शिंकजा कसता गया और वे सब नई–नई सुविधाओं की मांग करने लगे। इसे लेकर उनके बीच आपसी होड़ आरंभ हो गई, जिसे 'सुविधाओं का युद्ध' (Battle of concessions) कहते हैं। इसका प्रभाव चीन की प्रादेशिक एकता पर बड़ा घातक सिद्ध हुआ। चीन के भू–भाग धीरे–धीरे केंद्रीय सरकार के अधिकार से निकलने लगे और उन पर विदेशियों का आधिपत्य कायम होता गया। चीन की लूट–खसोट की असली प्रक्रिया अब शुरू हुई।

टिप्पणी

कोरिया को लेकर जो चीन–जापान युद्ध हुआ था, उसका अंत शिमोनोस्की की संधि से हुआ था। इस संधि के कारण चीन को अत्यधिक नुकसान पहुंच रहा था। पश्चिमी राज्यों की आकांक्षा भी सीमित हो रही थी। अतएव फ्रांस, जर्मनी और रूस ने हस्तक्षेप कर शिमोनोस्की संधि में संशोधन कराया जिससे लियाओतुंग प्रायद्वीप चीन के हाथ से निकलने से बच गया। इसके अतिरिक्त, जापान को क्षतिपूर्ति भी देनी थी। इसके लिए चीन को इन्हीं तीनों देशों ने कर्ज दिया। इस प्रकार, चीन इन तीनों देशों के प्रति कृतज्ञ हो गया। किंतु इसका मूल्य भी उसे शीघ्र ही चुकाना पड़ा। तीनों शक्तियों ने चीन को जो लाभ पहुंचाया था, उसके बदले में वे चीन से रियायतें और सुविधाएं मांगने लगे।

फ्रांस का हिस्सा– चीन को जापान को जो युद्ध का हरजाना देना था उसके लिए जुलाई, 1895 में फ्रांस ने एक ऋण जारी किया जिसकी गारंटी रूस ने ली। कर्ज के रूप में धन देने के पहले फ्रांस ने चीन से यह वादा करा लिया कि वह हैनान का द्वीप किसी अन्य राज्य को नहीं देगा। कुछ ही दिनों के अंदर फ्रांस को चीन में अग्रलिखित सुविधाएं प्राप्त हो गईं। युद्धान, क्वांगसी और क्वांगतुंग की खानों को खोदने का एकाधिकार और दक्षिणी चीन में अनाम रेलवे के विस्तार का अधिकार उसे मिला। दक्षिणी क्षेत्र में फ्रांसीसी माल पर चुंगी भी घटा दी गई। इस प्रकार, फ्रांस ने चीन–जापान–युद्ध की समाप्ति के तुरंत बाद ही चीन में 'सुविधाओं के युद्ध' का आरंभ कर दिया। 1897–98 में फ्रांस ने और नये अधिकार और सुविधाएं प्राप्त कीं। क्वांगचाउफ खाड़ी तथा उसके निकटस्थ प्रदेश फ्रांस को 99 साल के लिए पट्टे पर मिले और येनान में रेलवे लाइन बिछाने का अधिकार मिला। चीन ने यह भी मान लिया कि फ्रांस के परामर्श के बिना टौंगकिग के निकटवर्ती प्रांतों को वह किसी भी देश को हस्तांतरित नहीं करेगा। इस प्रकार, फ्रांस ने दक्षिणी चीन के इलाकों को अपने प्रभाव–क्षेत्र में लाने का यत्न किया तथा इसके लिए पट्टे, रेलवे–निर्माण एवं भू–भाग के अहस्तांतरण के सिद्धांत का सहारा लिया।

रूस का हिस्सा– चीन के बंटवारे में रूस ने फ्रांस का साथ दिया। चीन को कर्ज दिलाने में रूस ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया था। अतएव, रूस को भी इसके लिए इनाम मिलना ही था। सितम्बर, 1895 में रूस के वित्त मंत्री काउंट विटे ने रूसी–चीनी बैंक की शुरुआत की, जिसका क्षेत्र उत्तर–पूर्वी चीन था। इस बैंक को अनेक विस्तृत अधिकार मिले। रेलवे–निर्माण से संबद्ध कार्य के अतिरिक्त इसे तार बिछाने, सिक्का ढालने, कर वसूलने और चीन के वैदेशिक कर्जों के सूद–भुगतान के कार्य मिले। इस प्रकार, यह बैंक चीन के आर्थिक जीवन पर हावी हो गया। रूस मंचूरिया होकर ट्रांससाइबेरियन रेलमार्ग की एक लाइन बिछाना चाहता था, क्योंकि इससे साढ़े तीन सौ मील की दूरी बचती थी। इस विषय में जून, 1896 में जान निकोकस के राज्याभिषेक के अवसर पर ली हुंग–चांग, विटे और रूसी विदेशमंत्री लोबानोफ ने बातचीत शुरू की। ली हुंग–चांग जापान से बचने के लिए पश्चिमी देशों से अच्छे संबंध रखना चाहता था। इसलिए उसने रूस के साथ इस बारे में समझौता कर लिया। इसे ली–लोबानोफ–समझौता कहते हैं। इसमें तय हुआ कि यदि जापान हमला करे तो रूस और चीन एक–दूसरे की मदद करेंगे और रूस चीन के बंदरगाहों

टिप्पणी

का प्रयोग कर सकेगा। साथ ही, यह भी मान लिया गया कि रूस मंचूरिया होकर रेलवे लाइन बिछा सकेगा।

8 सितम्बर, 1896 को रूसी–चीनी बैंक और चीनी सरकार में एक और समझौता हुआ जिसके अनुसार एक रूसी प्रबंधक के अधीन चीनी पूर्वी कंपनी कायम की गई और इसे मंचूरिया की उत्तर–पश्चिमी सीमा पर स्थित मनचूली से ब्लाडीवोस्टक के निकट सुइफ्रेनहो का लगभग एक हजार मील लंबी रेलवे लाइन बिछाने का काम सौंपा गया। यह लाइन 1904 ई. में बनकर तैयार हुई। चीन ने मंचूरिया आने–जाने वाले रूसी माल पर चुंगी की दरें घटा दीं और उस इलाके में फौजों की गतिविधि की इजाजत दे दी। मार्च, 1898 में, जब जर्मनी ने शांतुंग में अपना क्षेत्र बना लिया, तो रूस ने चीन पर जोर दिया कि वह उसे पचीस वर्ष के लिए लिआओतुंग प्रायद्वीप का दक्षिणी छोर पट्टे पर दे दे, जिसमें पोर्ट आर्थर और दायरन के बंदरगाह स्थित थे और वहां तक रेलवे लाइन बिछाने की इजाजत भी दे दी। रूसी तत्वावधान में चीनी पूर्वी रेलवे कंपनी ने 1930 ई. में इस लाइन को पूरा किया। इसे दक्षिणी मंचूरियाई रेलवे कहते थे।

1898 ई. में रूस ने अपने पैर और भी पसारे। उसने पोर्ट आर्थर नामक बंदरगाह पर कब्जा कर लिया। इस प्रकार, रूस ने मंचूरिया पर अपना पूरा प्रभाव कायम करने का यत्न किया और इसमें उसे बड़ी सफलता मिली।

जर्मनी का हिस्सा– अब रूस की तरह जर्मनी ने भी चीन में अपना प्रभाव कायम करने का प्रयास किया। लिआओतुंग पर से जापानी प्रभाव समाप्त करने में जर्मनी ने भी रूस को मदद देकर चीन की सहानुभूति अर्जित की थी। अतः, 'चीनी तरबूज' का एक टुकड़ा प्राप्त करने के लिए वह भी लालायित हो गया। उसने चीन के एक ऐसे प्रदेश पर अपना प्रभाव कायम करने का प्रयास किया, जहां उसके जहाज आसानी से आ–जा सकें और जहां से वह चीन के साथ व्यापारिक संबंध चला सके। इसी समय चीन में जर्मन चर्च के दो पादरियों की हत्या कर दी गई। चीन पर दबाव डालने का जर्मनी को एक अच्छा अवसर मिल गया। जर्मनी की सरकार ने मांगों की एक सूची तैयार की और चीन की सरकार के सम्मुख रखी। ये मांगें निम्नलिखित थीं–

(क) त्सिंगताओ नामक बंदरगाह को, जो उत्तरी चीन में स्थित था, चीन 99 साल के लिए पट्टे पर जर्मनी को दे दे;

(ख) शांतुंग में रेलवे लाइन का निर्माण करने के लिए जर्मनी को अधिकार मिले;

(ग) शांतुंग में जितनी भी खानें हैं उनकी खुदाई तथा विकास करने का अधिकार केवल जर्मनी की सरकार को हो; और

(घ) चीन (शांतुंग) में हुई दो जर्मन पादरियों की हत्या का हरजाना चीन की सरकार जर्मनी को प्रदान करे। इस हरजाने में जर्मनी की सरकार ने उस आक्रमण से हुई क्षति की पूर्ति के लिए कहा जिसे उसने त्सिंगताओं पर किया था।

चीन की सरकार निर्बल थी, अतः उसे जर्मनी की इन सारी मांगों को स्वीकार कर लेना पड़ा। चीन ने जर्मनी के साथ 6 मार्च, 1898 में एक राजनयिक संधि की जिसके अनुसार निन्यानबे वर्ष के लिए त्सिंगताओ, कियाओचाओ की खाड़ी और त्सिंगताओ के निकटस्थ प्रदेश जर्मनी को दे दिए गए। इसी प्रकार शांतुंग के रेलमार्ग तथा खान

टिप्पणी

खुदाई–संबंधी कार्य का अधिकार भी जर्मनी को मिला। फलतः रूस की तरह चीन पर जर्मनी का भी प्रभाव कायम हुआ।

ब्रिटेन का हिस्सा– जब चीन में इस प्रकार की लूट–खसोट मची हुई थी तो ब्रिटेन कैसे चुप बैठ सकता था? चीन का द्वार खोलने का श्रेय उसी को था और 1895 ई. तक चीन में उसी का प्रभाव सर्वोपरि था। लेकिन, अब चीन में सभी यूरोपीय देशों की रुचि बढ़ गई थी और सबका प्रभाव क्षेत्र कायम हो रहा था, अतः इंग्लैंड ने भी अपना दावा पेश किया। जब उत्तर में रूस और जर्मनी ने अपने पैर जमाए और दक्षिण में फ्रांस ने अपना अधिकार कायम किया तब ब्रिटेन के लिए मध्य चीन में यांगत्सी की घाटी के अलावा और कुछ भी न बचा। फरवरी, 1898 में ब्रिटेन ने चीन से यह वचन लिया कि वह इस इलाके में अपने अलावा किसी अन्य देश का अधिकार नहीं होने देगा। उसने केलून से लगे प्रायद्वीप का निन्नानबे साल का पट्टा ले लिया और हांगकांग के सामने के कुछ इलाकों पर भी दावा किया।

चीन के विदेशी व्यापार का दो–तिहाई भाग अंग्रेजों के हाथ में था। इसलिए उन्होंने यह मांग की कि चीन में जहाजी चुंगी का प्रधान निरीक्षक हमेशा कोई अंग्रेज नागरिक ही हो। चीन ने ब्रिटेन की इन सभी मांगों को स्वीकार कर लिया और इस तरह वहां ब्रिटिश प्रभाव–क्षेत्र भी कायम हो गया।

जापान का हिस्सा– पश्चिमी देशों की इस बंदरबांट ने जापान को भी प्रोत्साहित किया और वह भी अपने लिए स्थान सुरक्षित कराने के प्रयास में बढ़ा। चीन की सरकार से उसने यह वादा कराया कि वह फुकिएन प्रदेश को, जो फारमोसा के निकट था, किसी अन्य राज्य के प्रभाव में नहीं जाने देगा और इस प्रदेश के आर्थिक विकास का अधिकार केवल जापान को रहेगा।

इटली की मांग– चीन की लूट का यहीं अंत नहीं हुआ। इटली तक ने चीन से समुद्री अड्डा मांगा जबकि उसका कोई धर्मप्रचारक चीन में नहीं मारा गया था। लेकिन इटली देर कर चुका था। इसी समय चीनी राजदरबार में विद्रोह हो गया, जिसके फलस्वरूप चीनी शासन की बागडोर वृद्धा राजमाता त्जे–शी (Tse Hsi) के हाथ आ गई। वह बहुत ही योग्य शासिका थी। साम्राज्ञी ने खुशामद करना और गिड़गिड़ाना त्यागकर साहस से काम लिया। उसने यांगत्सी के गर्वनरों को आदेश दिया कि वे इटली की मांगों का विरोध करें। इस पर इटली ने अपनी मांगे वापस ले लीं।

विदेशियों का आपसी सहयोग– चीन की बंदरबांट के लिए पश्चिमी राज्यों में भयंकर प्रतिस्पर्धा की शुरुआत हुई। यूरोप की शक्तियों ने चीन से मनवा लिया कि कुछ यूरोपीय शक्तियों के अधिकार में जो कतिपय जिले हैं वे किसी हालत में उनसे रिक्त नहीं कराये जाएंगे। दूसरे शब्दों में, चीनी सरकार ने मान लिया कि चीनी साम्राज्य में कतिपय अन्य शक्तियों का भी प्रभुत्व है और उस क्षेत्र में उन्हीं विदेशी शक्तियों को विशेषाधिकार दिए जाएंगे। इस प्रकार, फ्रांस के अधिकार में हैनान और टोन्किन की सीमा का प्रदेश आ गया, यांगत्सी की घाटी ब्रिटेन के हाथ रही, जापान का अधिकार फुकिएन पर हो गया तथा जर्मनी को शांतुंग में विशेषाधिकार प्राप्त हुआ। रूस ने मंचूरिया, मंगोलिया और चीनी तुर्किस्तान पर अपना प्रभाव फैलाया। इस प्रकार, एक के बाद एक पश्चिमी शक्ति चीन में अधिकाधिक घुसपैठ करती गई। धीरे–धीरे यूरोपीय शक्तियां चीन का लहू जोंकों की तरह चूसने लगी थी।

टिप्पणी

इसी तरह, रेल बनाने के ठेके लेने में भी पश्चिमी देशों में होड़ लग गई। नवम्बर, 1898 में अंग्रेजों ने अट्ठाईस सौ मील लंबी लाइन बिछाने के नौ ठेके लिए, रूसियों ने पंद्रह सौ मील के तीन ठेके, बेल्जियम के लोगों ने छह सौ मील का एक ठेका और फ्रांसीसियों ने तीन सौ मील के तीन ठेके लिए। इस लूट–खसोट में अंग्रेजों और रूसियों में कड़ा मुकाबला रहा और उनके आपसी संबंध बिगड़ने लगे। लेकिन अप्रैल, 1899 में उनमें एक समझौता हो गया कि बड़ी दीवार के उत्तर में ब्रिटेन कोई रेल का ठेका नहीं लेगा और यांगत्सी घाटी में रूस किसी तरह का हस्तक्षेप नहीं करेगा। इसी तरह के समझौते अन्य लुटेरों में भी हो चुके थे। 1896 ई. में सिआन–समझौता करके फ्रांस और ब्रिटेन ने एक–दूसरे के विशेषाधिकारों को मान्यता दी। 1898 ई. में एक समझौते द्वारा जर्मनी तथा अंग्रेज पूंजीपतियों ने रेलवे–निर्माण में सहयोग करने का निश्चय किया और दोनों ने एक–दूसरे के क्षेत्र में दखल नहीं देने का वादा किया। इस प्रकार, चीन की लूट के प्रश्न पर विदेशी शक्तियों ने आपसी समझौता कर लिया। यह बिलकुल ही नये ढंग का उपनिवेशवाद था। चीन के भू–भागों पर विदेशियों का पूरा अधिकार कायम हो गया, लेकिन वे नाम के लिए चीनी सरकार के आधिपत्य में ही रहे। उन्नीसवीं सदी के अंतिम वर्ष में प्रतीत होने लगा कि 'एशिया का मरीज' अब कुछ ही दिनों का मेहमान है। चीन की मजबूत रक्षा–चौकियां विदेशियों के अधिकार में आ गई थीं, उसका विदेशी व्यापार और चुंगी विदेशियों के नियंत्रण में थी; उसके वित्तीय शासन और आंतरिक प्रबंध पर विदेशी लोग छाए हुए थे। यही नहीं, चीनी मुख्य भूमि पर चलने वाली रेलों पर भी विदेशी शक्तियों का पूर्ण नियंत्रण था। चीनी प्रभुसत्ता नाममात्र की रह गई थी।

इन सब बातों से यह अधिकाधिक स्पष्ट होता जा रहा था कि चीन की प्रादेशिक अखंडता का कोई मूल्य नहीं है। जर्मनी, रूस, फ्रांस, ब्रिटेन सब–के–सब इस प्रादेशिक अखंडता के सिद्धांत के प्रति अपना आदर–भाव प्रकट करते थे, लेकिन उनकी पट्टेदारी, रेलमार्ग की सुविधाएं तथा आपस में संघर्ष न करने के समझौतों से स्पष्ट था कि पश्चिमी देश कहते कुछ हैं और करते कुछ और हैं। चीन में विशेषाधिकारों का युग आरंभ हो गया था। यूरोप की महान शक्तियां चीन की प्रादेशिक अखंडता के साथ खिलवाड़ करने के कार्य में जुट गई थीं। यों तो हर पट्टेदारी के समझौते में उस भूमि पर चीन की प्रभुसत्ता और पूर्ण नियंत्रण की व्यवस्था अनिवार्य रूप से रहती थी लेकिन यह केवल धोखा था और सब इसे ऐसा ही समझते थे। सबसे दुर्भाग्यपूर्ण बात तो यह थी कि 1898–99 में चीन के अंदर न तो कोई नेता था, न उसका कोई लक्ष्य था और न शोषण का विरोध करने की कोई प्रबल इच्छा शक्ति ही थी।

3.4.2 चीन में साम्यवादी क्रांति का उदय

चीन में साम्यवादी क्रांति के उदय से पहले दो गृह युद्ध हुए जिनको निम्न प्रकार से समझाया गया है–

प्रथम गृहयुद्ध : असफल नगरीय विद्रोह

जुलाई सन् 1927 में राष्ट्रवादी–साम्यवादी सहयोग भंग होने के उपरांत अंतिम छह महीनों में साम्यवादियों ने सत्ता अपने नियंत्रण में करने के लिए बहुत सारे सैन्य

टिप्पणी

आक्रमण किये। सशस्त्र संघर्षों की यह प्रथम शृंखला अगस्त, 1927 में नैनचांग में आरंभ हुई। साम्यवादियों ने चीन के 'श्रमिकों व कृषकों' की लाल सेना (रैड आर्मी) नामक नागरिक–सेना स्थापित करने की क्षमता उत्पन्न कर ली थी। रैड आर्मी ने 1 अगस्त, 1927 को झु दॅ के नेतृत्व में नैनचांग नगर को घेर लिया। इस विद्रोह को 'नैनचांग विद्रोह' (नैनचांग कियी) कहा जाता है। कुछ ही दिनों में राष्ट्रवादी बलों ने नगर पर पुनः नियंत्रण स्थापित कर लिया। जियांग्जी साम्यवादी प्रांत में पर्वतों की ओर पलायन कर गए। यह विद्रोह प्रथम गृहयुद्ध के आरंभ का सूचक था। प्रथम गृहयुद्ध का समापन सन् 1936 में जियान घटना के साथ हुआ। राष्ट्रवादी शासन, सेनापतियों व पूंजीवादियों के साथ रैड आर्मी के नेतृत्व वाले साम्यवादी दल का यह संघर्ष लगभग एक दशक तक चला, जिसे भौमिक क्रांतिकारी युद्ध एवं द्वितीय क्रांतिकारी गृहयुद्ध (साम्यवादी इतिहासलेखन के अनुसार 10 अक्टूबर, 1911 का 'वुचांग विद्रोह' प्रथम क्रांतिकारी युद्ध था) के नाम से जाना जाता है। 7 सितंबर, 1927 को माओ त्सेदोंग के नेतृत्व में रैड आर्मी ने चांग्शा को एवं हुनान प्रांत के अन्य नगरों को अपने नियंत्रण में कर लिया तथा हुनान सोवियत की स्थापना की। इस विद्रोह को 'शरद फसल–कटाई विद्रोह' (किउशौ कियी) कहा गया। माओ को राष्ट्रवादी सेना ने सरलता से पराजित कर दिया। झु दॅ की भांति माओ भी जियांग्जी के पर्वतों में पलायन कर गया।

इस असफल विद्रोह के पश्चात साम्यवादियों को लगा कि श्रेष्ठ राष्ट्रवादी सेना से लड़ने के लिए किसी लोकप्रिय सहायता आधार की आवश्यकता है। नगरों में यह सहायता औद्योगिक श्रमिकों से प्राप्त हो सकती थी। साम्यवादियों ने कैंटन के व्यापार–संघों को एकजुट किया व 11 दिसंबर, 1927 को एक विद्रोह कर दिया एवं कैंटन सोवियत की स्थापना की। इस विद्रोह को कैंटन विद्रोह (गुआंग्झौ कियी) कहा गया। राष्ट्रवादी सेना ने इस विद्रोह का भी शीघ्र ही दमन कर दिया। यह कैंटन विद्रोह गृहयुद्ध की मुख्य अवस्थाओं के दौरान श्रमिक सहायता से नगरों को अपने नियंत्रण में लेने के लिए अंतिम कोमिंटर्न–निर्देशित नगरीय विद्रोह था। नगरीय क्षेत्रों में साम्यवादियों को लगभग बीस वर्षों के पश्चात सफलता मिली।

चीनी सोवियत गणतंत्र का निर्माण

चीन के साम्यवादी दल की केंद्रीय समिति ने यह कहकर माओ त्सेदोंग की आलोचना की कि वह दल की धारा से दूर हो गया एवं कृषकों के साथ असफल शरद फसल–कटाई विद्रोह किया। हालांकि, क्योंकि चीन के साम्यवादी दल के रूसी परामर्शदाता नगरों में रहते थे एवं शंघाई के मुख्यालयों में उनका केंद्र होता था, इसलिए माओ त्सेदोंग एवं झु दॅ अपनी स्वयं की क्रांतिकारी नीति को आज़मा सकते थे व आधिकारिक रणनीति को नकार सकते थे। जियांग प्रांत के जिंग्गांग पर्वतीय क्षेत्र में जिंग्गांग्शेन माओ ने एक आधार की स्थापना की। उसने व अन्य साम्यवादियों ने ग्रामीण लोगों को एकत्रित किया, सैन्य प्रशिक्षण प्रदान किया एवं कृषक–सेना तैयार की। साम्यवादियों ने स्थानीय भूस्वामियों के विरुद्ध कृषकों के सशस्त्र समूहों का नेतृत्व करते हुए इनके भूखंडों व इनकी संपत्तियों को अपने

टिप्पणी

नियंत्रण में ले लिया एवं भूमिहीन कृषकों में उनका वितरण कर दिया जबकि मध्यवर्गीय एवं उच्चवर्गीय कृषकों की भूमि उनके पास ही रहने दी। इस नीति ने निर्धन कृषकों को अत्यधिक लाभ पहुंचाया एवं धनाढ्य कृषकों का विरोध भी नहीं किया। इसके परिणामस्वरूप ग्रामीण क्षेत्रों में साम्यवादियों का समर्थन तीव्रता से फैलता गया। एक वर्ष के अंतर्गत माओ व झु ने शक्तिशाली नीति–चातुर्य युक्त दस हजार युद्ध समूह बल तैयार कर लिए जिनमें अत्यधिक संख्या कृषकों की थी। इस सफलता से साम्यवादी दल में माओ व झु की स्थिति ऊंची हो गयी। अधिकाधिक जिंग्गांग्शेन जैसे आधार सामने आने लगे।

आगे बढ़ रहे शासकीय बलों के कारण दुर्गम स्थानों में साम्यवादियों का जीना कठिन हो गया। सन् 1929 में माओ व झु ने जियांग्जी एवं फुजियान प्रांतों के मध्य सीमा पर रुजिन में नवीन आधार की ओर बढ़ने का निर्णय किया। माओ ने 7 नवंबर, 1931 को रुजिन में सोवियत की अखिल चीन कांग्रेस आयोजित की एवं रुजिन को राजधानी बनाते हुए चीनी सोवियत गणतंत्र (झोंघुआ सुवेइअइ गोंघेगुओ) की स्थापना की घोषणा की। यह चीन में प्रथम स्वतंत्र साम्यवादी शासन था। इसे अधिकांशतः जियांग्जी सोवियत कहा जाता था। माओ को राज्याध्यक्ष एवं शासन का प्रमुख (प्रीमियर) निर्वाचित किया गया। अपनी पराकाष्ठा पर जियांग्जी सोवियत ने 3 मिलियन्स लोगों को अपने शासनाधीन करते हुए फुजियान व जियांग्जी में लगभग 30 हजार वर्ग किलोमीटर्स का क्षेत्रफल अपने नियंत्रण में रखा।

जियांग्जी सोवियत शासन में तीन औपचारिक अनुभाग थे– केंद्रीय सोवियत ब्यूरो, केंद्र शासन एवं केंद्रीय सैन्य परिषद। इस औपचारिक व्यवस्था में दो अनौपचारिक अनुभाग थे– कार्याग्र (रैड आर्मी) एवं पश्चाग्र (रुजिन शासन)। चीनी सोवियत गणतंत्र के स्वयं के बैंक व अपनी डाक सेवाएं हुआ करती थीं। गणतंत्र ने बैंक नोट्स जारी किये एवं अपने नागरिकों से कर एकत्र किया। उपज पर अधिकतम बीस प्रतिशत तक कर निर्धारित किया गया था। शासन ने अत्यधिक मात्रा में भू–सुधार भी किये। आधिकारिक दल की धारा का अनुसरण करते हुए माओ शासन ने भूस्वामियों व सेनापतियों की भूमि को अपने अधिकार में कर लिया तथा भूमिहीन कृषकों को उसका पुनर्वितरण कर दिया। मध्यवर्गीय एवं धनाढ्य कृषकों ने अपनी अतिरिक्त भूमि को आत्म समर्पित कर दिया, जिसे शासन ने पूरक भूमि के रूप में अन्य पूरक भूमि (जैसे कि शुष्क अथवा दलदली मैदान) से मिला दिया। अधिकांशतया सेनापतियों के नियंत्रणाधीन क्षेत्रों की तुलना में गणतंत्र की अर्थव्यवस्था अधिक सफल थी।

गणतंत्र की वैधानिक प्रणाली में भू–स्वामियों, संपन्न कृषकों व उन व्यक्तियों को मृत्युदंड दिया जाता था जो दल की दृष्टि में पूंजीवादी प्रकृति के थे। सामान्य जनता को मृत्युदंड नहीं दिया जाता था। विवाह कानून के अंतर्गत अरेंज विवाह एवं विवाह–अनुबंधों (Contracts) के क्रय का निषेध किया गया। विवाह हेतु पुरुषों की न्यूनतम आयु 20 वर्ष व स्त्रियों की न्यूनतम आयु 18 वर्ष निर्धारित की गयी थी। रैड आर्मी के प्रत्येक सैनिक को, चाहे वह किसी भी पद पर हो, समान वेतन दिया जाता था। माओ का विश्वास था कि जियांग्जी सोवियत में दल एवं जनसाधारण में क्रांतिकारी–विरोध एवं बोल्शेविक–विरोध विद्यमान हैं। वैसे राष्ट्रवादी शासन के गुप्तचरों

को पहचानने की प्रक्रिया में अभियान ने निर्मम मोड़ लेते हुए मार्ग में हर उस व्यक्ति को समाप्त कर दिया जिसकी विचारधारा माओ की विचारधारा से भिन्न थी।

टिप्पणी

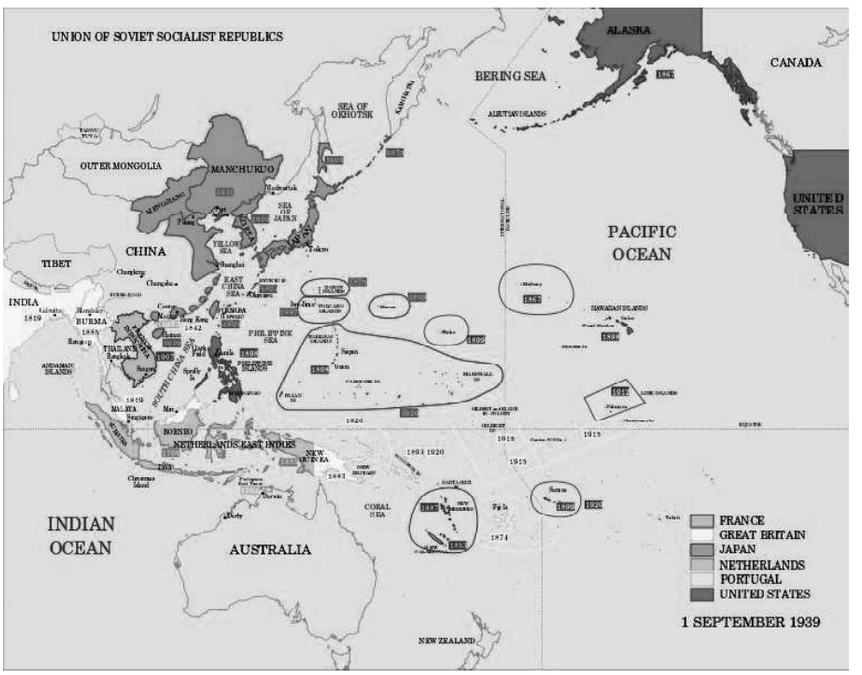

चीनी सोवियत गणतंत्र की एक झलक

माओ ने दल के राजनीतिक ब्यूरो को रुजिन में आमंत्रित किया। कोमिंटर्न के मार्गदर्शन के अंतर्गत रुढ़िवादी मार्क्सवादी नेतृत्व का सदैव यही दृष्टिकोण रहा था कि साम्यवादी क्रांति तो नगरीय मजदूर वर्ग के विद्रोह के साथ ही सफल हो सकती है, न कि कृषकों के विद्रोह के साथ। इसीलिए रुजिन आने के पीछे नेतृत्व का ध्येय गणतंत्र को समाप्त कर देना था। वैसे माओ की नवीन संस्थापना से नेतृत्व प्रभावित हुआ। अब उन्होंने माओ की रणनीति की सफलता की संभावना को समझा। इसके उपरांत शीघ्र ही दल का मुख्य जोर गणतंत्र के प्रशासन में आ गया। माओ को आगामी दो वर्षों तक किसी भी तरह से सैन्य निर्णयों से दूर रखा गया। बहरहाल गणतंत्र के अध्यक्ष के रूप में माओ एक प्रमुख प्रशासक था।

घेराबंदी अभियान

जियांग जिएशी के शासकीय बलों ने विभिन्न स्थानों में साम्यवादी ठिकानों को समाप्त करने के लिए पांच सैन्य अभियानों की एक श्रृंखला शुरू कर दी। इनमें से तीन अभियानों के विरुद्ध सामुदायिक बलों का मुखिया माओ था। जियांग जिएशी का प्रथम (सन् 1931 के समापन से सन् 1932 के आरंभ तक) एवं द्वितीय (मई–जून, 1932) अभियान अधिक प्रभावी नहीं रहा। रैड आर्मी तो जनता द्वारा की जाने वाली सहायता पर निर्भर थी एवं रात्रि के समय निकलने की रणनीति अपनाती थी, और अकस्मात ही आक्रमण करके पीछे हट जाती थी। वैसे तृतीय (जुलाई–अक्टूबर, 1932) अभियान में शासकीय फौजें सोवियत क्षेत्र में चेतावनी के स्तर तक भीतर चली

टिप्पणी

आयीं। वैसे जब 18 सितंबर, 1931 को मुकदेन घटना घटी तब जियांग जिएशी इस परिस्थिति में अभियान को समाप्त करने के लिए बाध्य हो गया। राष्ट्रवादी शासन के आक्रमणों से जूझने के उपरांत तुरंत ही साम्यवादी नेतृत्व ने माओ की रणनीति की आलोचना करते हुए कहा कि वह शत्रु को नष्ट करने के लिए अपने आधार की ओर प्रलोभित कर रहा है; इस प्रकार उन्होंने सन् 1932 के ग्रीष्मकाल में माओ को चाउ एन्लाइ से अलग कर दिया। सन् 1933 में जियांग पुनः साम्यवादी आधारों को नष्ट करने के अपने प्रयास करने लगा। उसने चतुर्थ घेराबंदी अभियान आरंभ कर दिया। चतुर्थ घेराबंदी अभियान के दौरान राष्ट्रवादी दल के बल साम्यवादियों के कुछ आधारों को समाप्त करते हुए आगे बढ़े। वैसे माओ का चीनी सोवियत गणतंत्र कठोर रूप से प्रतिकार करने में समर्थ था एवं इस प्रकार राष्ट्रवादी दल के बलों में आगे अवरोध उत्पन्न हो गया। सन् 1934 के अंत में पांचवें घेराबंदी अभियान के दौरान जियांग ने माओ के जियांग्जी सोवियत सहित साम्यवादी आधारों की क्रमबद्ध घेराबंदी व नाकाबंदी की रणनीति अपनायी।

पूर्ववर्ती अभियानों के विपरीत इस समय शासकीय बल धीरे–धीरे बढ़े, साम्यवादियों के पलायन को रोकने के लिए उनके क्षेत्रों के आसपास 5–5, 6–6 मील की दूरियों पर नाके बना लिए गए। जाने के लिए लंबी–लंबी सड़कें बनायी गयीं ताकि शासकीय फौजें सरलता से आ–जा सकें। राष्ट्रवादी दल की फौजों में बेहतर संवाद एवं समन्वय के लिए वायरलैस जैसे आधुनिक उपकरणों की व्यवस्था की गयी थी। सोवियत चीन के चारों ओर रह रहे लोगों को 'रणनीतिक बस्तियों' (ऐसे छोटे–छोटे गांव जहां लोगों को विशेष उद्देश्य से रखा जाता है) में विस्थापित कर दिया गया था ताकि साम्यवादी आधारों के चारों ओर मानव–विहीन भूमि का घेरा बनाया जा सके, प्रजा से उन्हें मिलने वाली सहायता का आधार, खाद्य एवं अन्य आपूर्तियां समाप्त हो जाएं। शत्रु को प्रलोभन देकर सोवियत क्षेत्र के भीतर तक बुलाने की माओ रणनीति जियांग की इस रणनीति में नहीं अपनायी जा सकती थी। जियांग का अनुमान था कि या तो साम्यवादी युद्ध के लिए आगे आएंगे अथवा भूख से मर जाएंगे, लेकिन साम्यवादियों ने जियांग्जी आधार खाली करने का निर्णय कर लिया, जिसे लंबी यात्रा कहा गया।

लंबी यात्रा

रैड आर्मी की लंबी यात्रा (होंगजुन चांगज़ेंग) को अधिकांशतः संक्षेप में लंबी यात्रा कह दिया जाता है, जिसका तात्पर्य हुआ कि साम्यवादी रैड आर्मी के खंडों की शृंखला ने रणनीतिक पश्चगमन कर दिया, जियांग्जी सोवियत से माओ त्सेदोंग की पहली मोर्चा सेना एवं ई–यु–वान सोवियत से झांग गुओताओ की चतुर्थ मोर्चा सेना पीछे हट गयी ताकि राष्ट्रवादी बलों से भागा जा सके। चीनी ग्राम्य क्षेत्रों में पंद्रह सोवियत संघों का संचालन किया जा रहा था। जियांग जिएशी के पंद्रहवें घेराबंदी अभियान के अंतर्गत कुछ सोवियत संघों को नष्ट कर दिया गया व रैड आर्मी बिखर गयी। ऐसी परिस्थितियों के अंतर्गत साम्यवादियों ने अपने आधार छोड़ देने एवं अन्यत्र शक्तिशाली ठिकाने बसाने का निर्णय किया ताकि रैड आर्मी का सुदृढ़ीकरण किया जा सके। इस लंबी यात्रा में कितने लोग शामिल थे, इस संख्या का सटीक अनुमान नहीं लगाया जा सका है। ऐसा

माना जा सकता है कि दो लाख लोगों ने इसमें अपनी भागीदारी निभायी थी, जिनमें से एक–तिहाई से भी कम लोग जीवित रहे। सेनाओं ने 370 दिनों में 12 हजार 500 किलोमीटर चलकर दक्षिणी प्रांतों को पार किया व उत्तरी चीन पहुंचीं।

टिप्पणी

जियांग्जी सोवियत को सर्वनाश से जूझना पड़ा क्योंकि शासकीय बलों ने उसका सबकुछ छीन लिया था। इस प्रकार माओ त्सेदोंग के अधीन जियांग्जी सोवियत के साम्यवादी नेतृत्व ने स्थान छोड़ कर भागने का निर्णय लिया। जियांग्जी सोवियत के एक लाख से अधिक सदस्यों ने 14 अक्टूबर, 1934 को भागना आरंभ कर दिया, और अपने आप को एक केंद्रीय खंड व पांच समूहों में बांट लिया। दो नेताओं (एकेलॉन्स) व दो एग्ज़ेस में रैड आर्मी व साम्यवादी नागरिक सामग्रियों को दक्षिणी व केंद्रीय चीन से होकर पश्चिम व उत्तर की ओर ले जाकर यनान के शांग्ज़ी प्रांत में लाया गया। इस यात्रा के दौरान अपने सहयोगी सेनापतियों के साथ शासकीय बलों ने विभिन्न लाल सेनाओं का पीछा किया व बारंबार आक्रमण किये। इससे साम्यवादियों का पुनर्मिलन नहीं हो पाया अपितु उन्हें अत्यधिक क्षतिपूर्ति का सामना करना पड़ा। जनवरी, 1935 तक रैड आर्मी की फौजों की वास्तविक संख्या में से एक–तिहाई संख्या ही शेष बचीं थीं। इस विफलता से उन नेताओं की स्थिति प्रभावित हुई जिन्हें संपूर्ण कार्यों का प्रभार सौंपा गया था। जनवरी, 1935 में पहली मोर्चा सेना जुन्यी में पहुंची। भावी रणनीतियों के संबंध में विचार–विमर्श करने हेतु नेता एक सम्मेलन में पहुंचे। जुन्यी सम्मेलन में पारंपरिक साम्यवादी रणनीति की दुर्बलताओं को सामने लाया गया। माओवादी रणनीतियों को आधिकारिक रूप से स्वीकार किया गया एवं माओ त्सेदोंग को लंबी यात्रा का रणनीतिक व सैन्य मुखिया बना दिया गया। अक्टूबर, 1935 में माओ उत्तरी शांग्ज़ी के युआन में पहुंचा।

लंबी यात्रा की अवधि के दौरान साम्यवादी नेतृत्व में इस दिशा में बहुत–से उच्चस्तरीय विवाद उभरे कि चीन में साम्यवादी आंदोलन किया जाना चाहिए। लंबी यात्रा के परिणामस्वरूप रैड आर्मी को अभूतपूर्व संकट व जनहानि से जूझना पड़ा। साम्यवादी सैनिकों व नेताओं को अपने आधार (अड्डों को) छोड़कर भागना पड़ा तथा उनके पीछे सहानुभूति रखने वाले सैकड़ों स्थानीय ग्रामीण छूट गए जो शासकीय बलों को दूर ढकेल दिया करते थे। एक हजार सैनिकों ने अपने जीवन का त्याग कर दिया जबकि उनके नेता अंतःसोवियत व बाह्य सोवियत तीक्ष्ण सत्ता–संघर्ष में लिप्त रहे। तीक्ष्ण सत्ता–संघर्ष के दौरान सभी नेताओं में माओ त्सेदोंग सबसे शक्तिशाली नेता बनकर उभरा। लंबी यात्रा में यह सिद्ध हो गया कि माओ की नागरिक व सैन्य नीतियां रूढ़िवादी, मार्क्सवादी एवं लेनिनवादी परिस्थितियों की तुलना में चीनी परिस्थिति के लिए अधिक उपयुक्त थीं। माओ द्वारा कृषकों की स्थिति पर जोर दिया जाना सफल रहा क्योंकि क्रांति के पीछे मुख्य बल वे कृषक ही थे, नवपरिवर्तनकारी भूमि सुधार नीतियों एवं अकस्मात सामूहिक युद्धों के रणकौशल से चीन माओ साम्यवादी नेतृत्व के केंद्र में स्थापित हो पाया। चीनी स्थितियों के लिए उपयुक्त माओ की नवपरिवर्तनकारी नीतियों को समाहित करते हुए मार्क्सवाद–लेनिनवाद की रूढ़िवादी नीतियों में परिवर्तनों में माओ त्सेदोंग के विचार परिलक्षित हुए तथा साम्यवाद के चीनी रूपांतरण का उद्‌भव हुआ। माओ का सहयोग आधार अत्यधिक सुदृढ़ होता गया। चीनी साम्यवादी दल में बाद वाली अवस्थाओं के अधिकांश नेता उसके पहले मोर्चे से आए थे।

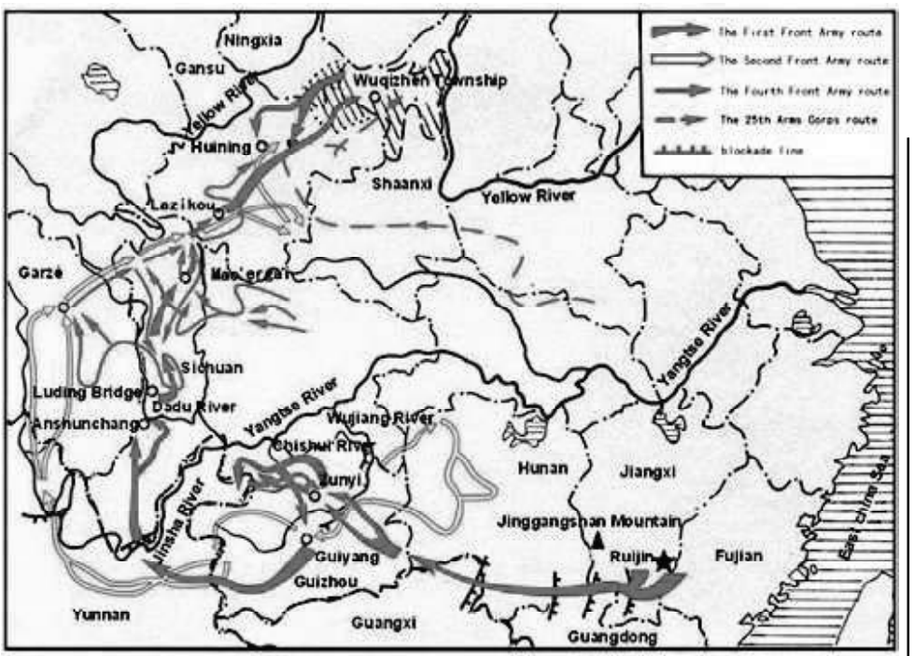

अगस्त 1934 से अक्टूबर 1934 के बीच लंबी यात्रा का मार्ग

लंबी यात्रा में विरोधाभासी व विवादास्पद प्रसंग आते रहे। जो घटनाएं वास्तव में घटित हो रही थीं, उनका रहस्योद्घाटन नहीं हो पा रहा था क्योंकि सन् 1949 में बीजिंग में माओ त्सेदोंग ने राष्ट्रीय शासन तैयार कर लिया था व बाहरी विश्व ने इसे यात्रा का माओवादी रूपांतरण समझा। चीन के साम्यवादी दल ने लंबी यात्रा का प्रयोग साम्यवादी दल के प्रचार–प्रतीक के रूप में भी किया, माओ व उसके नेतृत्व को जन–भावनाओं का समर्थन प्राप्त था। सन् 1935 में माओ ने कहा– "यह लंबी यात्रा एक घोषणापत्र है। इससे विश्व में यह घोषणा की गयी है कि रैड आर्मी तो नायकों की सेना है जबकि साम्राज्यवादी एवं उनके द्वारा दौड़ाए जाने वाले श्वान चियांग काइ–शेक व उसके जैसे अन्य तो शक्तिहीन हैं।"

इसमें घोषणा की गयी थी कि, "वे हमें घेर नहीं पाए, पीछा नहीं कर सके, बाधा व व्यवधान नहीं डाल पाए। लंबी यात्रा एक प्रचार–बल भी है। इसमें ग्यारह प्रांतों में लगभग 200 मिलियन लोगों को उद्घोषित किया गया है कि रैड आर्मी का मार्ग ही उनकी मुक्ति का एकमात्र मार्ग है।"

युआन का कालक्रम

माओ त्से दोंग के नेतृत्व में अक्टूबर सन् 1935 में साम्यवादी शांग्जी प्रांत के युआन में पहुंचे, पहली मोर्चा सेना की लंबी यात्रा समाप्त हुई व साम्यवादी आधार की स्थापना की गयी। सन् 1936 से लेकर जब तक उन्होंने अंततः राष्ट्रवादी शासन की सेना को परास्त किया, तब तक युआन देश साम्यवादी बलों की राजधानी बना रहा। राजधानी के रूप में युआन की स्थापना जियांग जिएशी के राष्ट्रवादी दल के दूसरे संयुक्त मोर्चे के आरंभ के साथ ही हुई थी। दूसरे संयुक्त मोर्चे के ध्वस्त होने व सन् 1945 में चीन–जापान युद्ध समाप्त होने के उपरांत साम्यवादियों ने जियांग की सेनाओं पर

अंतिम आक्रमण करना तब तक जारी रखा जब तक कि सन् 1949 में वे निर्णायक रूप से विजयी नहीं हो गए।

टिप्पणी

जापान–विरोधी युद्ध

कुशलतापूर्ण संगठनात्मक एवं प्रचार–कार्य से साम्यवादी दल की सदस्यता निरंतर बढ़ती चली गयी। जापानी आक्रमण के समक्ष माओ त्सेदोंग की स्थिति जियांग जिएशी की स्थिति के सर्वथा विपरीत थी। जियांग तो साम्यवादियों को परास्त करते हुए सर्वप्रथम चीन का एकीकरण करने के पक्ष में था जबकि माओ सर्वप्रथम विदेशी आक्रमण का प्रतिकार करने के पक्ष में। दरअसल सन् 1932 से पहले जैसे ही चीन के साम्यवादी दल ने जापान के विरुद्ध युद्ध घोषित किया, साम्यवादियों की इस कार्यवाही से उनकी छवि राष्ट्रवादियों के बजाय एक देशभक्त के रूप में अधिक उभरी। अपनी स्थिति के लिए जियांग को अपने ही दल के सहकर्मियों की तीक्ष्ण आलोचनाओं का सामना करना पड़ा। वहीं दूसरी ओर माओ की स्थिति से दल में सदस्यों की संख्या व लोकप्रियता बढ़ी। साम्यवादियों ने तीस हजार सैनिकों की शक्तिशाली सेना तैयार की तथा उसका नामकरण एट रूट आर्मी (बालु जुन) के रूप में किया व उसे जापान–विरोधी युद्ध (कांग्री झांझेंग) में लगा दिया। युद्ध आरंभ होने के बाद नव चतुर्थ सेना (ज़िन सि जुन) नामक एक और सेना तैयार की गयी।

जुलाई सन् 1937 की मार्को पोलो सेतु घटना जिसमें राष्ट्रवादी शासकीय फौजें जापानी साम्राज्यवादी फौजों के साथ खुलकर संघर्ष करने लगी थीं, के कारण दूसरे संयुक्त मोर्चे की औपचारिक घोषणा में जल्दबाजी की गयी। युद्ध के आरंभिक तीन वर्षों के दौरान साम्यवादी दल की संख्या कई गुना बढ़ गयी। सेना में पांच गुना वृद्धि और दल की सदस्य संख्या में बीस गुना बढ़ोतरी हुई। सन् 1945 तक साम्यवादी दल की सदस्यता 1,211,120 हो चुकी थी; जापानियों के विरुद्ध आकस्मिक सामूहिक युद्ध करते समय माओ ने साम्यवादी आधार बढ़ाने व सदस्यों की शिक्षा पर भी जोर दिया।

युआन की नीतियां

यद्यपि जापान के साथ युद्ध तो तभी आरंभ हो गया था जब साम्यवादियों ने युआन में अपना आधार स्थापित किया था, अपेक्षाकृत स्थान सुदूर होने से उन्हें यह अवसर मिल गया कि वे अपेक्षाकृत शांतिपूर्वक अपने संगठन को सुदृढ़ कर सकें। आरंभिक तीन से चार वर्षों के दौरान युआन शासन ने उससे निपटने के लिए बहुत सारे नीतिगत उपाय अपनाए। राजनीति एवं विचारधारा के परिदृश्य में संशोधन अभियान व विचार सुधार दो महत्वपूर्ण नीतियां थीं।

संशोधन अभियान में जनसाधारण को विचारधारा एवं राजनीति के स्तर पर शिक्षित करने का प्रयास किया गया। इस अभियान को औपचारिक रूप से 1 फरवरी सन् 1942 को आरंभ किया गया था। उस दिन माओ त्सेदोंग ने युआन में दल स्कूल का उद्घाटन किया एवं दल की विचारधारा संबंधी प्रभावशीलता हेतु संवर्ग शिक्षा की महत्ता के विषय में युआन में जुटे एक हजार से अधिक पार्टी केडर्स को संबोधित किया।

इस अभियान का लक्ष्य साम्यवादी दल में प्रवृत्ति–विचलन को रोकने के लिए एक विचारधारागत क्रांति को लाना एवं नवीन सदस्यों में साम्यवादी विचारधारा का

संचार करना था। यह अभियान महत्वपूर्ण माना गया था क्योंकि वर्तमान दल में लंबी यात्रा से पहले वाली अवधि के कुछ ही वास्तविक सदस्य थे। नेतृत्व ने उन्हें प्रशासनिक कार्यों में अत्यधिक भागीदारी दी। 1940 के दशक के आरंभ में लगभग नब्बे प्रतिशत सदस्य ऐसे निरक्षर खेतिहर किसान थे जिनकी भर्ती उत्तरी चीन के आधार क्षेत्रों से की गयी थी।

एक नवीन शिक्षा प्रणाली की स्थापना की गयी। बहुत सारे विद्यालय खोले गए, जापान–विरोधी सैन्य संस्थान एवं राजनीतिक विश्वविद्यालय, लु जुन कला अकादमी, द नोर्थवेस्ट पब्लिक स्कूल, द सेंट्रल पार्टी स्कूल, मार्क्सवाद–लेनिनवाद अकादमी, महिला विश्वविद्यालय, यनान विश्वविद्यालय व राष्ट्रीयता अकादमी का भी संचालन किया गया। बहुत–से विशेष प्रशिक्षण कार्यक्रम लाए गए थे। इन संस्थानों में नामांकन कराना सभी सदस्यों के लिए अनिवार्य था, चाहे वे पुराने कार्यकर्ता हों अथवा नये। सदस्यों को उन विषयों में नामांकित किया जाता था जिनमें वे कुछ अध्ययन कर चुके हों अथवा जिनमें उनकी कुछ विशेषज्ञता रही हो। दल का दायित्व एवं शासकीय पद प्रायः उन्हीं सदस्यों को सौंपा जाता था जो पार्टी विद्यालयों में अध्ययन कर चुके हों।

नवीन शिक्षा प्रणाली के संग माओ द्वारा शिक्षित सदस्यों के लिए वैचारिक सुधार भी लाया गया। मुख्य लक्ष्य तो लेखक, बुद्धिजीवी, भूतपूर्व शिक्षार्थी एवं शिक्षित संवर्ग थे। माओ ने बुद्धिजीवियों की भूमिका को साम्यवादी दल के नेतृत्व के अधीन रखा। उसने कहा कि कला, साहित्य व संस्कृति को वर्ग–उन्मुख किया जाए, सर्वहारा/श्रमजीवी वर्ग के लिए लिखा जाए। अपने–अपने सामाजिक दायित्वों की पूर्ति के लिए लेखकों द्वारा वर्ग की दृष्टि से लिखा जाता था, चित्रकारों द्वारा वर्ग–केंद्रित विषयों पर चित्र बनाए जाते थे, कलाकारों द्वारा वर्ग संबंधित संगीत व नाटक आयोजित किये जाते थे इत्यादि। जो व्यक्ति सहमत न हों, वे कार्य छोड़कर जा सकते थे, अर्थात बुद्धिजीवी तब तक कार्य कर सकते थे जब तक कि वे सामाजिक यथार्थवाद की परिधि में अपनी रचनात्मकता को आगे ले जाएं।

माओ ने दल के लिए अपनी योजनाओं एवं चीन में साम्यवादी क्रांति को आगे ले जाने के लिए बहुत सारे लेख लिखे। अप्रैल, 1942 को दल की केंद्रीय समिति ने बाइस (22) दस्तावेजों की एक सूची प्रकाशित की जो संवर्ग अध्ययन व परीक्षा के आधार बने। दल ने कभी अभियान के अंत की औपचारिक घोषणा नहीं की। हालांकि सन् 1944 के उत्तरार्द्ध से दल ने कार्यकर्ताओं की शिक्षा की आवश्यकता की दिशा में सदस्यों का ध्यान आकर्षित करने पर जोर देना समाप्त कर दिया। यनान के संशोधन अभियान की समाप्ति पर चीन के साम्यवादी दल ने ऐसे सिद्धांतों व ऐसी पद्धतियों को विकसित किया जो कि सोवियत संघ में प्रचलित सिद्धांतों व पद्धतियों से अत्यधिक भिन्न थीं।

युआन युग महत्वपूर्ण सामाजिक–आर्थिक उपायों का भी साक्षी रहा। रूढ़िवादी मार्क्सवादी महाधर्माधिकारी–शासन ढांचा एवं चीनी सोवियत गणतंत्र की अधिकांश सामाजिक–आर्थिक–सांस्कृतिक नीतियां जारी रहीं। लेकिन उनके नेतृत्व में यह धारणा लायी गयी कि क्रांति तो मूलाधार अभियान है एवं अधिकारी प्रजा के सेवक हैं। यह संतुलन अत्यंत कठिन सिद्ध हुआ, क्योंकि परिशोधन आंदोलन के दौरान परस्पर विरोध प्रकट होने लगे। यनान शासन ने तीन प्रकार के कर भी लगाए– अनाज उगाही

(वास्तविक उत्पादन पर आधारित, न कि भू–धार्यता पर), इस प्रकार के अन्य कर, जैसे कि नगदी में कर एवं पुआल व ऊन पर कर।

टिप्पणी

द्वितीय गृहयुद्ध : दूसरे संयुक्त मोर्चे का पतन

12 दिसंबर सन् 1936 की जियान घटना एक दशक तक चले गृहयुद्ध के उपरांत राष्ट्रवादी शासन एवं चीनी साम्यवादियों के मध्य बैरभाव का एक निर्णायक मोड़ थी। 7 जुलाई, 1937 की मार्को पोलो सेतु दुर्घटना युद्धविराम को औपचारिक रूप प्रदान करने के लिए एक निर्णायक क्षण था। हालांकि दोनों पक्षों के मध्य स्थापित गहरे अविश्वास से यह निश्चित हो गया था कि दूसरा संयुक्त मोर्चा सदा अस्थिर ही रहेगा। दूसरे संयुक्त मोर्चे के निर्माण के तीन वर्षों में ही दोनों के मध्य सैन्य झड़प आरंभ हो गयीं। सैन्य झड़प सन् 1939 के मध्य से आरंभ होकर इनकी आवृत्ति व तीव्रता वर्षों तक जारी रही। अधिकांश भिड़ंत उत्तरी चीन के साम्यवादी आधारों में व आसपास हुईं जहां साम्यवादी व शासकीय फौजें साधारणतया संयुक्त रूप से जापान के साम्राज्यवादी दलों के विरुद्ध लड़ती थीं।

जनवरी सन् 1941 की दक्षिणी अन्हुइ घटना (जिसे नवीन चतुर्थ सेना घटना भी कहा जाता है) का संबंध सहयोग को बड़ा आघात पहुंचने से है। साम्यवादी दल के अनुसार शासकीय फौजों ने साम्यवादियों की नवीन चतुर्थ सेना पर आक्रमण किया जिसे स्वयं शासन ने दक्षिणी अन्हुइ में ठहराया था। राष्ट्रवादी दल के अनुसार साम्यवादी फौजों ने शासन की राष्ट्रीय क्रांतिकारी सेना पर आक्रमण कर दिया। प्रत्येक पक्ष ने दूसरे पक्ष को एक आक्रमणकारी कहा एवं स्वयं को अनापेक्षित आक्रमण से आत्म–रक्षा करने वाला बताया। दोनों पक्षों ने इस घटना को दूसरे पक्ष द्वारा विश्वासघात किए जाने का उदाहरण बताया। दोनों पक्षों ने इस घटना का प्रयोग दूसरे पक्ष के विरुद्ध एक प्रचार के रूप में किया। इन टकरावों के कारण दूसरा संयुक्त मोर्चा पूर्णरूपेण समाप्त हो गया।

यह अंतःकलह मूर्खतापूर्ण थी क्योंकि इससे जापान के विरुद्ध चीन के संघर्ष में जोखिम आ जाने की आशंका उत्पन्न हो गयी। यह संघर्ष प्राथमिक रूप से राष्ट्रवादी प्रयास था ताकि साम्यवादियों को उन स्थानों पर प्रसारित होने से रोका जा सके जो उन्हें सौंपे नहीं गए हैं। जियांग जिएशी के शासकीय बलों ने पूरे देश के मोर्चों के साथ जापानी बलों के साथ युद्ध किया किंतु साम्यवादियों ने सीमित स्थानों पर आकस्मिक सामूहिक युद्ध जैसे रणकौशल का उपयोग किया। इसीलिए जियांग का सैन्य सामर्थ्य क्षीण हो रहा था जबकि साम्यवादी दल सशक्त बने हुए थे। इसके अतिरिक्त जियांग ने महसूस किया कि साम्यवादी दल एक तो जापान–वासियों के विरुद्ध पूर्णता से नहीं लड़ रहा है तथा जहां उसकी फौजें छोड़ी गयीं हैं, उन क्षेत्रों में राजनीतिक शिक्षण व अन्य राजनीतिक गतिविधियों में संलग्न भी हो रहा है।

सन् 1939 के आरंभ में राष्ट्रवादी दल की केंद्रीय नीति ने साम्यवादियों को आगे बढ़ने से रोकने के लिए अनेक उपाय अपनाए। राष्ट्रवादियों ने साम्यवादी आधारों की आर्थिक व सैन्य नाकाबंदी करनी आरंभ कर दी। आर्थिक नाकेबंदी के परिणामस्वरूप राजस्व में कमी आ गई व उन क्षेत्रों की आर्थिक स्थिति बिगड़ गयी।

अधिकांश भू–स्वामी एवं अन्य समृद्ध व्यक्ति पहले से ही भौमिक क्रांति से गुजर चुके थे। इसीलिए भूमि अधिग्रहण या इसका बलपूर्वक योगदान कराने के विकल्प नहीं रहे। साम्यवादियों को आय में बढ़ोतरी करने के लिए बाध्य किया गया कि वे क्रांतिकारी आधार क्षेत्र की संपूर्ण जनसंख्या पर कर अधिरोपित (लगाएं) करें। इस नीति के परिणामस्वरूप मध्य एवं निम्न–वर्ग के कृषक सर्वाधिक प्रभावित हुए जो कि साम्यवादियों के सबसे विश्वसनीय व लोकप्रिय सहायता आधार थे।

अंतर्राष्ट्रीय हस्तक्षेप

चीन व जापान के मध्य सन् 1937 में युद्ध छिड़ते ही सोवियत संघ ने जियांग की सैन्य सहायता में तत्काल बढ़ोतरी कर दी। सोवियत द्वारा चीन का एवं रूस द्वारा जापान का पक्ष लिया गया। सोवियत रूस की चिंता का मुख्य विषय उत्तर व पूर्वोत्तरी चीन में जापानियों को आगे बढ़ने से रोकना था ताकि उनके राज–क्षेत्रीय स्वार्थ को खतरा न रहे। जापान पर यूनाइटेड स्टेट्स द्वारा परमाणु विस्फोटक फेंके जाने के दो दिन पहले सोवियत संघ ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी थी एवं तुरंत ही उत्तर एवं पूर्वोत्तर चीन में जापान की प्राप्तियों को हड़प लिया।

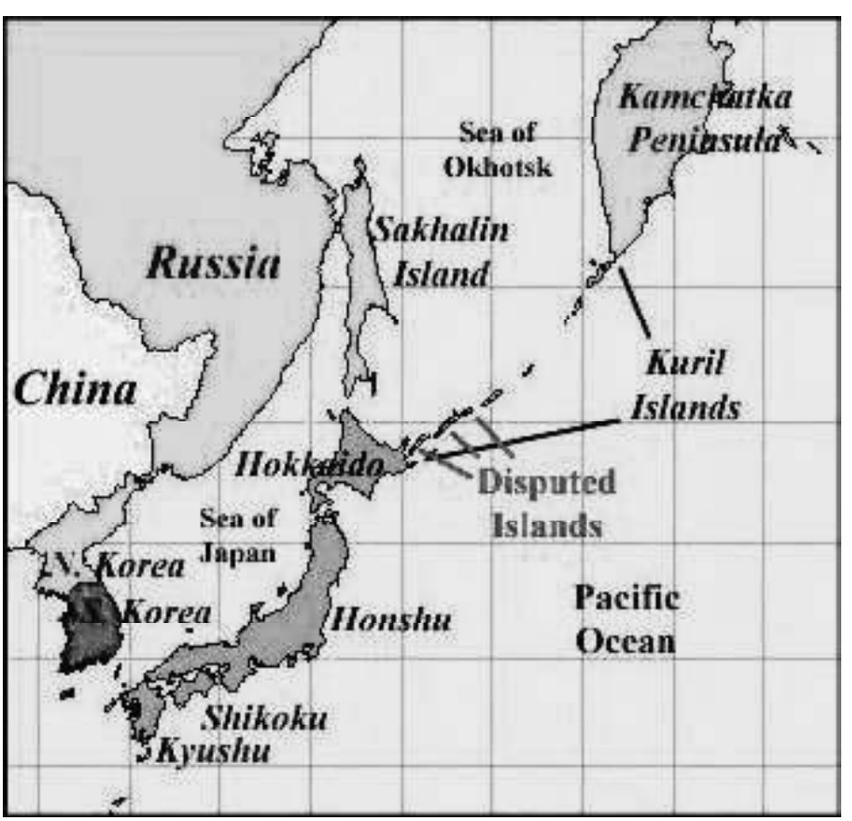

सोवियत संघ एवं जापान के बीच विवादित क्षेत्र

सितंबर सन् 1931 में जब जापान ने दक्षिणी मंचूरिया पर अपना नियंत्रण स्थापित करके उसे अपना (जापानी) उपनिवेश बना लिया तब किसी अन्य विदेशी सत्ता ने जापान की साम्राज्यवादी योजना में हस्तक्षेप नहीं किया। सन् 1937 से सन् 1941 तक

टिप्पणी

जब जापान चीन में बड़े भागों को जीत रहा था तब किसी भी प्रकार की अंतर्राष्ट्रीय सहायता चीन को प्राप्त नहीं हुई। वैसे जब जापान ने सन् 1941 में चीन में यूनाइटेड स्टेट्स व ब्रिटेन के राजक्षेत्रों पर आक्रमण किया तब पूर्वी एशिया में द्वितीय विश्वयुद्ध आरंभ हो गया था और दोनों देशों ने हस्तक्षेप का निर्णय लिया। दिसंबर, 1941 में यूनाइटेड स्टेट्स की नौसेना (जो कि हवाई के पर्ल हार्बर में ठहरी हुई थी) पर जापान द्वारा आक्रमण कर दिए जाने के पश्चात जियांग जिएशी के प्रतिनिधित्व में चीन जापान के विरुद्ध अंतर्राष्ट्रीय संयुक्त मोर्चे का एक भाग बन गया। उन दोनों देशों से वित्तीय एवं सामग्री संबंधित सहायता प्राप्त करते हुए जियांग ने सन् 1942 में चीनी अभियान संबंधी सेना तैयार की ताकि बर्मा मोर्चे पर अंग्रेजों को छुड़ाया जा सके। बदले में जियांग को नवंबर, 1943 में सहयोगी दलों के काहिरा सम्मेलन में आमंत्रित किया गया जहां युद्धोपरांत अवधि के लिए योजनाएं बनायी गयीं।

यूनाइटेड स्टेट्स ने चीन को युद्धकालीन साथी माना एवं जापान से सफलतापूर्वक युद्ध करने के लिए स्थिर चीन की इच्छा व्यक्त की। जापान के अधिक प्रभावी प्रतिकार के लिए प्रतिद्वंद्वी राष्ट्रवादी एवं साम्यवादी बलों को एकजुट करने की दिशा में भी यूनाइटेड स्टेट्स ने विफल प्रयास किया। जब दोनों पक्षों के मध्य उत्पन्न संघर्ष अत्यंत तीव्र हो रहा था तब यूनाइटेड स्टेट्स ने संभावित सोवियत आक्रमण से बचने के लिए बड़े नगरों में फौजें तैनात कर दीं, वह राष्ट्रवादी बलों को उत्तरी व पूर्वोत्तरी चीन में युद्ध के लिए सामग्रियों की आपूर्ति तो प्रदान कर ही रहा था।

साम्यवादी क्रांति

साम्यवादियों ने साम्यवादी दल व राष्ट्रवादी दल के मध्य गृहयुद्ध की अंतिम व निर्णायक अवधि का युद्ध छेड़ा, जिसे मुक्ति का युद्ध एवं तृतीय क्रांतिकारी गृहयुद्ध कहा गया। राष्ट्रवादियों द्वारा विद्रोह को रोकने के लिए की गई मुठभेड़ विफल रही (कालुआन शिली)।

सन् 1944 तक द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्ति के निकट था। अब सहयोगियों का जोर मुख्य रूप से युद्धोपरांत विश्व व्यवस्था पर था। सन् 1944 में यूनाइटेड स्टेट्स ने सोवियत वर्चस्व से चीन को बचाने के प्रयास के नाम पर चीन से सहयोग की आड़ में एक षड्यंत्र रचने में रुचि व्यक्त की। यूनाइटेड स्टेट्स ने गृहयुद्ध में संलिप्त दोनों राजनीतिक दलों को एकीकृत करने के लिए मेजर जनरल पेट्रिक जे. हर्ले को भेजा। युद्धविराम हेतु एवं गृहयुद्ध की समाप्ति के विषय में चर्चा करने के लिए जियांग व माओ को एक साथ लाने में हर्ले का मिशन सफल रहा। 10 अक्टूबर, 1944 को चोंग्किंग में दोनों पक्षों ने एक करार अधोहस्ताक्षरित किया। दोनों दल इस बिंदु पर सहमत हुए थे कि चीन की लोकतांत्रिक व्यवस्था बनाना आवश्यक है जहां बोलने की स्वतंत्रता का आश्वासन रहे, जहां सैन्य बल एकजुट हों, जहां राष्ट्रवादी दल चीन के साम्यवादी दल को आधिकारिक मान्यता प्रदान करें एवं सभी राजनीतिक बंदियों को मुक्त कर दिया जाए।

मई सन् 1945 में दोनों पक्षों ने चीन को अपने द्वारा जापान से मुक्त करने का दावा करना आरंभ कर दिया। इससे इन दोनों पक्षों में पूर्ण सैन्य संघर्ष पनप उठा। अगस्त, 1945 में माओ त्सेदोंग व जियांग जिएशी शांति संबंधी वार्ता के लिए चोंग्किंग

टिप्पणी

में मिले। दोनों को अंतर्राष्ट्रीय समर्थन प्राप्त था– सोवियत संघ से माओ को एवं यूनाइटेड स्टेट्स से जियांग को। द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान के आत्मसमर्पण के उपरांत राष्ट्रवादी व साम्यवादी दल दोनों मंचूरिया को हथियाने के लिए आपसी छीना–झपटी करने लगे जिसके परिणामस्वरूप शांति–वार्ता एक बार पुनः भंग हो गयी। हर्ले मिशन की असफलता के पश्चात दिसंबर, 1945 में दोनों पक्षों में शांति वार्ता कराने के लिए यूनाइटेड स्टेट्स ने जनरल जियॉर्ज सी. मार्शल को भेजा। जनवरी, 1946 में मार्शल ने एक करार की मध्यस्थता की तथा सैन्य युद्धविराम की व्यवस्था भी उपलब्ध कराई। फिर भी शीघ्र ही राष्ट्रवादी एवं साम्यवादी पुनः संग्राम करने लगे। अमेरिकी प्रयास गृहयुद्ध को नहीं रोक सकते, ऐसा समझकर यूनाइटेड स्टेट्स ने मार्शल मिशन को सन् 1947 के आरंभ में वापस बुला लिया। गृहयुद्ध (जिसमें यूनाइटेड स्टेट्स द्वारा अत्यधिक आर्थिक ऋणों एवं हथियारों द्वारा भी राष्ट्रवादियों की सहायता की जा रही थी) अधिक व्यापक हो गया। राजक्षेत्रों को छीनने के लिए युद्ध किया जा रहा था किंतु चीनी जनसंख्या के बड़े वर्ग की राजनिष्ठा अर्जित करने के लिए भी युद्ध किये जाने लगे।

सन् 1948 से सन् 1949 तक चीन पर चीनी साम्यवादी दल ने नियंत्रण पाना जारी रखा। पीपल्स लिबरेशन आर्मी द्वारा तीन सैन्य अभियान लाए गए– लियाओशेन अभियान (12 सितंबर–2 नवंबर, 1948), हुआइहइ अभियान (6 नवंबर, 1948 से 10 जनवरी, 1949 तक) एवं पिंगजिन अभियान (29 नवंबर, 1948 से 31 जनवरी, 1949 तक)। इन अभियानों में जियांग जिएशी की सेना पर साम्यवादी बलों की निर्णायक विजयों से चीनी गृहयुद्ध की समाप्ति परिलक्षित हुई। साम्यवादी बलों ने नानजिंग को 23 अप्रैल, 1949 में जीत लिया जो कि राष्ट्रवादी शासन की राजधानी था। इसके परिणामस्वरूप गृहयुद्ध में जियांग जिएशी की पराजय हुई तथा उसने चोंग्किंग में व चेंग्दु में अपनी सेना वापस बुला ली। इसका परिणाम यह हुआ कि नवंबर, 1949 में जियांग अपनी शेष सेना लेकर ताइवान के द्वीप पर पलायन कर गया एवं वहां उसने नवीन राजधानी स्थापित की और चीन के गणतंत्र को जीवित रखा। माओ त्सेदोंग ने 1 अक्टूबर, 1949 को बीजिंग में चीन के पीपल्स रिपब्लिक (जनवादी गणतंत्र) की स्थापना की घोषणा की।

3.4.3 विश्व राजनीति पर साम्यवादी क्रांति का प्रभाव

रूस की बोल्शेविक क्रांति (1917 ई.) ने विश्व के देशों और राजनीति को गहरे रूप से प्रभावित किया। इसने विचारों की दुनिया में खलबली मचा दी और राजतंत्रीय देशों को संभल जाने का संकेत दिया। एशियाई देश चीन पर इस क्रांति का अधिक प्रभाव पड़ा। चीन में साम्यवादी विचारधारा के प्रसार के लिए पृष्ठभूमि तैयार थी। चीन प्रथम विश्वयुद्ध के बाद मित्रराष्ट्रों के साथ पेरिस के शांति सम्मेलन (1919 ई.) में शामिल हुआ था। चीन के संबंध में सम्मेलन में जो निर्णय लिए गए उससे चीनियों को काफी निराशा हुई। चीनियों ने यह सोचना प्रारंभ किया कि उनके देश के उद्धार के लिए मित्रराष्ट्र इच्छा नहीं करते हैं। शांतुंग के प्रश्न पर यह बात स्पष्ट हो गई कि विदेशी शक्तियां चीन का शोषण करना चाहती थी और यहां अपने उपनिवेशों की स्थापना करना चाहती थी। इसी

टिप्पणी

समय जब सोवियत संघ ने जहां साम्यवादी सरकार का गठन किया जा चुका था, चीन के प्रति उदारता तथा सहानुभूति का प्रदर्शन किया तब चीन के बुद्धिजीवी वर्ग के लोग उसकी तरफ आकृष्ट होने लगे। रूस ने चीन को सहायता देने का वचन दिया। छात्रा तथा शिक्षक तो रूसी क्रांति एवं रूसी सहायता से प्रभावित थे ही, डॉ. सनयात सेन जैसे नेता ने भी रूस की ओर ही झुकना लाभदायक समझा। चीन में साम्यवादी दल के उद्‌भव का पृष्ठाधार तैयार होने लगा।

पिकिंग के राष्ट्रीय विद्यालय के कुछ शिक्षकों एवं शिक्षार्थियों ने 1919 ई. में एक संस्था का संस्थापन कर लिया था जिसका मूल उद्देश्य था मार्क्सवाद और साम्यवाद का अध्ययन करना और उन पर वाद–विवाद करना। चीन में महान साम्यवादी नेता के रूप में उभरने वाला माओत्से तुंग इस समय विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में एक साधारण कर्मचारी के रूप में काम कर रहा था जिस पर इस संस्था ने प्रभाव डाला। इन्हीं लोगों ने मिल–जुलकर 1919 ई. में ही चीन में कुंग चान तांक (साम्यवादी दल) का निर्माण कर लिया। शिक्षकों तथा छात्रों ने मार्क्सवाद तथा साम्यवाद के अध्ययन के लिए जिस संस्था का गठन किया था उसका वार्षिकोत्सव बड़े धूम–धाम से मनाया गया और एक समाजवादी युवक दल की स्थापना की गई। अंतर्राष्ट्रीय साम्यवादी संगठन के मिन्टर्न के एक सक्रिय कार्यकर्ता ग्रेगोरी बोहतिन्स्की ने इसके प्रथम अधिवेशन की अध्यक्षता की और इस संगठन को चीन के साम्यवादी दल कुंग चान तांग के साथ मिला दिया। अगले वर्ष चीन के विभिन्न प्रांतों में कुंग चान तांग की अनेक शाखाएं खुल गईं। कैंटन, शंघाई, हूनान आदि में पहले दौर में शाखाओं को खोला गया। जुलाई 1921 में इन सारी शाखाओं का प्रथम अधिवेशन शंघाई में किया गया। अधिवेशन में इस बात का निर्णय लिया गया कि चीन के साम्यवादी दल का उद्देश्य होगा चीन को विदेशी शक्तियों से मुक्त कराना। इस समय चीन के नेता डॉ. सनयात सेन भी साम्यवादी विचारधारा से प्रसन्न और प्रभावित थे। उन्होंने अपने प्रतिनिधि को साम्यवादी बैठक में भेजा था और साम्यवादी दल के साथ मिल–जुलकर काम करना प्रारंभ किया था। इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि उन्होंने दल के संगठन के लिए खुले रूप से सोवियत संघ की सहायता ली थी और कई विशेषज्ञ चीन आए थे।

धीरे–धीरे साम्यवादी दल की शक्ति बढ़ने लगी। जिसके विचारकों का विचार था कि चीन में एकाएक क्रांति करना ठीक नहीं है। अभी साम्यवादी दल को सामंतवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष करना चाहिए और उसे कुओमिनतांग के साथ मिल–जुलकर काम करना चाहिए। यही कारण था कि चीन में तुंग चिन तांग राष्ट्रीय दल के साथ मिलकर काम करता रहा।

किंतु तुंग चिन तांग अपनी निजी शक्ति के संवर्द्धन के लिए भी सचेष्ट था। साम्यवादी केवल कुओमिनतांग की कृपा पर ही निर्भर नहीं रहे, वे चीन में, चीनियों के बीच अपना स्थान भी बनाते गए ताकि कालांतर में चीन में साम्यवादी दल की सरकार बनाने में सुविधा हो सके। वे चीन के किसानों और मजदूरों के संपर्क में अधिकाधिक समय बिताने लगे। वे उन्हें प्रभावित करने लगे और चीन में किसानों तथा मजदूरों के संगठन बनने लगे। चीनी साम्यवादी दल का पहला वार्षिक अधिवेशन शंघाई में हुआ

टिप्पणी

जिसमें राष्ट्रीय स्तर पर मजदूरों के संघ बनाने का निर्णय लिया गया और तत्संबंधी कार्यक्रम निर्धारित किए गए। प्रारंभ में एक मजदूर संगठन बना जिसके अधिकांश सदस्य जहाजी मजदूर थे। 1921 ई. में इस संगठन के मजदूरों ने वेतन वृद्धि की मांग की और जब उनकी मांग अस्वीकार कर दी गई तब मजदूरों ने हड़ताल कर दी। हांगकांग के ब्रिटिश शासन ने इस संगठन को अवैध घोषित कर दिया। इसके कारण अन्य वर्गों ने भी जहाजी मजदूरों के प्रति सहानुभूति दिखलाई और उनके समर्थन में उन्होंने भी हड़ताल कर दी। हड़ताल ने जल–व्यापार का सारा काम ठप कर दिया। विवश होकर ब्रिटिश अधिकारियों को झुकना पड़ा और जहाजी मजदूरों के वेतन में 20 प्रतिशत की वृद्धि करनी पड़ी। इसी वर्ष के मई–दिवस के अवसर पर शंघाई और कैंटन के मजदूरों ने जोर–शोर से प्रदर्शन का आयोजन किया। ऐसा लगा कि सारा चीन अभी ही मजदूरों का देश बन गया है।

साम्यवादियों ने मजदूरों के साथ–साथ किसानों को भी संगठित करने का प्रयास किया। फेंग पांग साम्यवादी किसानों का नेता था जिसने सितम्बर, 1922 ई. में किसानों के पांच सौ संघ बनाए। 1923 ई. में हाइफेंग किसान संघ बना जिसके सदस्यों की संख्या लगभग एक लाख तक पहुंच गई। इस वर्ष तक चीन में किसानों के संघ भी काफी शक्तिशाली हो गए। इन संघों ने डॉ. सनयात सेन की सरकार के सम्मुख अपनी दो मांगों को प्रस्तुत किया– राजस्व की दर में कमी की जाए और सामंती (जमींदारी) प्रथा का उन्मूलन किया जाए। शीघ्र ही डॉ. सेन चल बसे और उनके मरते ही किसान–आंदोलन और भी जोर–शोर से चलने लगे। 1925 ई. में डॉ. सेन के काल–कवलित होते ही माओ त्से तुंग ने हूनान प्रदेश में एक किसान–आंदोलन का संचालन कर दिया। चीन का यह असाधारण आंदोलन था। इसकी शक्ति ने सरकार को भयभीत कर दिया और जमींदारों को हूनान में समाप्त कर दिया। किसानों ने शक्ति का भी प्रदर्शन किया। वे जत्थे के रूप में जमींदारों के घरों में घुसने लगे और अनाजों को लूटने लगे। उन्होंने कई प्रदेशों के देवालयों पर आक्रमण करके उनकी संचित संपत्ति पर कब्जा जमा लिया। लीलिंग के उत्तरी जिलों में उन्होंने एक धार्मिक जुलूस को रोककर चीन की धार्मिक प्रथा के विरुद्ध क्रांति कर दी और देवताओं के लिए बलि चढ़ाने तथा दीप जलाने का रिवाज बंद कर दिया। किसानों ने लुंग फेंग के भिक्षुणीगृह में प्रवेश किया, और उसकी काष्ठ–निर्मित देवमूर्तियों को हथियारों से फाड़कर उनसे मांस पकाकर खाया। किसान आंदोलन ने भविष्य में होने वाले परिवर्तनों के संकेत दिए। यह स्पष्ट हो गया कि चीन में साम्यवादी सरकार बनते ही जमींदारी समाप्त हो जाएगी, धार्मिक अनुष्ठानों से संबद्ध सारे पाखंड धूल–धूसरित हो जाएंगे और समाज की संरचना में क्रांतिकारी परिवर्तन आ जाएंगे। स्मरण रहे कि जिन दिनों चीनी साम्यवादियों के नेतृत्व में ये घटनाएं घट रही थीं उन दिनों च्यांग काई शेक की सरकार गठित थी।

च्यांग काई शेक और साम्यवादी दल

च्यांग द्वारा साम्यवादियों का विरोध– डॉ. सनयात सेन के मरणोपरांत चीन की राष्ट्रीय सरकार का अधिपति च्यांग काई शेक बना। डॉ. सेन के काल में राष्ट्रीय दल और साम्यवादी दल मिल–जुलकर काम करते थे, अतः साम्यवादियों के कार्यक्रम

टिप्पणी

तत्काल उतने गतिशील न थे। डॉ. सेन के बाद साम्यवादियों ने चीन में मजदूरों तथा किसानों के जो संगठन बनाए और जिन आंदोलनों का नेतृत्व किया उनसे सरकार का शांतिपूर्वक शासन चलाना असंभव हो गया। साम्यवादियों की दूरदृष्टि का अनुमान च्यांग काई शेक सहज ही में कर रहा था। उनके कार्यक्रमों के कारण शासन कार्य में जो अड़चनें पैदा होने लगीं और राष्ट्रीय दल की बराबरी में जो साम्यवादी दल आने लगा, इससे च्यांग काई शेक को साम्यवादियों तथा उनके दल के प्रति विरक्ति होने लगी और वह चीन में साम्यवादियों का विरोधी हो गया। उसने बिना देर किए खुले आम साम्यवादी दल से अपनी सरकार का संबंध विच्छेद कर लिया और 7 मार्च 1927 ई. को साम्यवादियों का दमन करने के लिए तथा सोवियत संघ के सलाहकारों का विरोध करने के लिए खुली आवाज दे दी। अपनी शासन सत्ता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए च्यांग काई शेक साम्यवादियों से समझौता करने को तैयार नहीं था और साम्यवादी भी अपनी बढ़ती शक्ति तथा लोकप्रियता को देखकर राष्ट्रीय सरकार के समक्ष झुकने को तैयार नहीं थे। अतः दमन का चक्र चलना ही था। च्यांग ने निम्नलिखित उपायों एवं साधनों के द्वारा साम्यवादियों का दमन करने के लिए कदम उठाया–

1. **सेना का प्रयोग**– साम्यवादियों को दबाने के लिए च्यांग काई शेक ने सेना का प्रयोग किया और 1933 ई. में चार–चार बार उन पर आक्रमण किया। पर इन आक्रमणों के बावजूद भी उसे विशेष सफलता नहीं मिली। 1933 ई. के बाद उसने पुनः साम्यवादियों को सताना प्रारंभ किया। साम्यवादियों के अधिकांश प्रदेशों पर अधिकार करके कुओमिनतांग सेना ने वहां की जनता को भी सताना प्रारंभ किया जिससे वह साम्यवादियों का साथ न दे। 1934 ई. तक हजारों साम्यवादी और नागरिक कत्ल कर दिए गए।
2. **नीली कुरती दल का निर्माण**– च्यांग काई शेक ने साम्यवादियों का दमन करने के लिए विनाशकारी दल का भी निर्माण किया जिसे 'नीली कुरती वाला दल' (Blue Shirt) कहते हैं। इस दल के सारे सदस्य नीले रंग की कुरती पहनते थे, इसलिए उन्हें इसी नाम से पुकारा गया। इस दल के सदस्यों को संदेह के आधार पर ही किसी को कैद कर लेने का अधिकार दिया गया था। अगर किसी भी नागरिक पर साम्यवादी होने का इनको शक हो जाता था तब वे उसे कैद कर लेते थे और मौत के घाट उतार देते थे। इस दल ने साम्यवादियों का दमन करना प्रारंभ किया।
3. **राजनीतिक शिक्षा द्वारा**– च्यांग काई शेक ने कुओमिनतांग सेना को दृढ़ बनाने के लिए राजनीतिक शिक्षा देना प्रारंभ किया। उसने सेना को यह सीख दी की साम्यवादी चीन के महान शत्रु हैं और उनके उत्कर्ष में कुओमिनतांगों को कष्ट होगा। जब सेना ने इस दिशा को ग्रहण किया तब उसमें उत्कृष्ट उत्साह आया और वह पूरे जोश के साथ साम्यवादियों के विरुद्ध लड़ने लगी।
4. **पूंजीपतियों की सहायता**– साम्यवादियों के दमन में उसने पूंजीपतियों से भी मदद ली। उसने विजित भूभागों के जमींदारों और पूंजीपतियों का संगठन कर उन्हें अपनी ओर मिलाने का प्रयास किया। च्यांग काई शेक यह आशा

टिप्पणी

करता था कि इन पूंजीपतियों से उसे अवसर आने पर धन तथा जन दोनों की मदद मिल सकती है। पूंजीपति समाजवादी व्यवस्था के विरुद्ध भी थे क्योंकि साम्यवादियों का शासन कायम होने पर उन्हें अपनी पूंजी से हाथ धोना पड़ता। अतः स्वभावतः च्यांग काई शेक के लिए उनके हृदय में सहानुभूति की भावना जगी।

5. **नव–जीवन आंदोलन**– चीन के नवयुवकों का समर्थन प्राप्त करने के लिए च्यांग काई शेक ने 'नव जीवन आंदोलन' (New Life Movement) प्रारंभ किया। नवयुवक किसी भी देश की जान होते हैं। अगर उनका समर्थन च्यांग काई शेक को प्राप्त हो जाता तो साम्यवादियों के दमन में उसे काफी सहायता मिल सकती थी। उसने चीन के प्राचीन सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक गौरव की भावना को नवयुवकों के हृदय में जगाना प्रारंभ किया। उसने नवयुवकों को यह भी बताया कि साम्यवादी मार्क्सवादी सिद्धांतों पर चीन में समाजवादी व्यवस्था कायम करना चाहते हैं और इससे चीन की प्राचीन महत्ता समाप्त हो जाएगी। च्यांग के इस आंदोलन ने चीन के युवावर्ग को प्रभावित किया। इन उपायों के द्वारा च्यांग ने साम्यवादियों का दमन करना प्रारंभ किया।

च्यांग ने दमन कार्य में कठोर नीति का अनुशीलन किया। साम्यवादियों के विरुद्ध सैनिक कार्रवाई प्रारंभ कर दी गई। मजदूरों पर गोलियों की बौछार की गई। चाऊ एन लाई के अनुसार, उसकी गोलियों से लगभग 5,000 मजदूर जान से हाथ धो बैठे। दमन–चक्र के बावजूद साम्यवादी नेता और जन अपने सिद्धांत और आंदोलनकारी कार्यों पर डटे रहे। साम्यवादियों ने भी राष्ट्रीय सरकार की सेना से लोहा लेना प्रारंभ किया और बैंकों, दुकानों, कारखानों आदि पर कब्जा जमाना प्रारंभ किया। हानयांग के मजदूरों ने मई, 1927 ई. में लगभग 15 कारखानों पर अधिकार कर लिया और उनके संचालन के लिए साम्यवादी समितियों का गठन कर लिया। ये कारखाने चीन के पूंजीपतियों के थे। किसानों ने, जो साम्यवाद के कट्टर समर्थक हो गए थे, जमींदारों की शांति भग कर दी और वे उनकी जान के दुश्मन बन गए। साम्यवादियों की उग्र नीति ने कुछ वामपक्षी लोगों को अप्रसन्न कर दिया और इस कारण वे उनसे पृथक हो गए।

चीन में साम्यवादी अपनी शक्ति से बाहर जाकर काम कर रहे हैं और तत्काल उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए। इन विशेषज्ञों ने चीनी क्रांति को दो स्तर प्रदान किए– बुर्जुआ और सर्वहारा। चूंकि चीन में पहला स्तर पार नहीं हुआ है, इसलिए दूसरे स्तर पर छलांग लगाना अनुचित है। इसी संदर्भ में उन्होंने चीन के साम्यवादियों को परामर्श दिया कि अभी स्वतंत्र रूप से चीन में क्रांति करना और ताकत से बाहर जाकर मजदूरों तथा किसानों के आंदोलन का नेतृत्व करना नुकसानदेह है। अतः उन्हें चाहिए कि वे अभी राष्ट्रीय सरकार को स्पष्ट न करें और कुओमिनतांग के साथ ही मिल–जुलकर काम करें। इस कार्य के लिए ही एक भारतीय क्रांतिकारी नेता कामिन्तर्न के प्रतिनिधि के रूप में चीन आया और उसने कुओमिनतांग के वामपक्ष तथा साम्यवादी दल में मेल–मिलाप कराने का यत्न किया। लेकिन उसने एक बड़ी भारी

टिप्पणी

भूल कर दी। इस समय सोवितय संघ का प्रधान स्टालिन था जिसने इस भारतीय नेता को लिखित कुछ गोपनीय हिदायतें दी थीं। इस नेता ने इन हिदायतों के प्रपत्रों को वांग चिंग वेई को दिखला दिया जो वामपक्षी नेता था। इसमें चेतावनी के स्वर थे और कहा गया था कि, ''यदि वामपक्षी साम्यवादियों के साथ मेल न करें तो उनसे सहयोग एकदम समाप्त कर लिया जाए।'' इसका प्रभाव बुरा हुआ। वामपक्षी नाराज हो गए। उन्होंने दल से साम्यवादियों का निष्कासन करना प्रारंभ किया और उनके आंदोलन का दमन करने का प्रयास किया।

च्यांग काई शेक को वामपक्षी दल की इस फूट से लाभ उठाने का मौका मिला। उसे साम्यवादी को इसी क्षण कुचलने में ही कल्याण दिखाई पड़ा। इसी समय उसने डॉ. सेन की एक नातेदार से विवाह भी कर लिया जिसके फलस्वरूप उसे शंघाई के धनिकों का सहयोग मिला। अमेरिका, ब्रिटेन, फ्रांस आदि राज्यों ने भी च्यांग को साम्यवादियों के विरुद्ध जेहाद प्रारंभ कर दिया। अब कुओमिनतांगों तथा साम्यवादियों के बीच समझौते की सारी आशाएं समाप्त हो गई। साम्यवादी भी अब राष्ट्रीय दल (कुओमिनतांग) से पृथक हो गए और चीन के कुछ प्रांतों पर अधिकार जमाकर विरोधी दल से लोहा लेने की तैयारी करने लगे।

साम्यवादियों की तैयारी और प्रसार

चीन के साम्यवादियों को इस बात का विश्वास हो गया था कि उनका ताल–मेल अब च्यांग काई शेक से कायम नहीं हो सकता है और उन्हें अपनी रक्षा तथा दल और सिद्धांतों के प्रसार के लिए अपनी तैयारी करनी ही होगी। 1927 ई. में च्यांग के खुले आक्रमण एवं आघात ने उनकी धारणा को और भी पक्का कर दिया। इसलिए वे अपने सैनिक संगठन और सरकार के निर्माण की बात सोचने लगे। साम्यवादी चू तेह का विचार था कि शहरी मजदूरों से ही क्रांति की शुरुआत होती है। इसलिए साम्यवादियों ने बड़े शहरों के मजदूरों का संगठन बनाना प्रारंभ किया और इन शहरों के शासन के लिए मजदूरों को प्रशिक्षण देना प्रारंभ किया। यह प्रयास किया जाने लगा कि चीन के तमाम बड़े नगरों में मजदूरों का शासन कायम हो। इस योजना को 'लिलिसान योजना' के नाम से पुकारा गया। इस योजना के अनुसार मजदूरों के संघों ने नगरों में क्रांतिकारी सरकारों की स्थापना करने का प्रयास किया। साम्यवादियों के निर्देशन में मजदूरों ने कैंटन, हैंको, नानचांग, चांग रना आदि नगरों में खूनी क्रांतियां करने का भी प्रयास किया। यद्यपि उन्हें बहुत सफलता नहीं मिली, तो भी वे कुछ–न–कुछ सफल हुए और उन्होंने चीनियों को प्रभावित किया। इसी काल में साम्यवादियों ने संघर्ष में सफलता पाने के लिए सेना का संगठन किया। चू तेह तथा हो लूंग और अन्य साम्यवादी नेताओं के निर्देशन में चीन में 'लाल सेना' का संगठन किया गया। लाल सेना की दक्षता और बहादुरी अनुपम सिद्ध हुई।

अपने इन तमाम साथियों से पृथक रहकर माओत्से तुंग ने किसानों की शक्तियों पर अपनी सफलता हासिल की और इसलिए उसने अपनी शक्ति किसानों को संगठित करने में ही व्यय की। चू तेह ने जहां शहरी मजदूरों को क्रांति का वाहन बनाया वहां माओत्से तुंग ने गांव के अनपढ़ किसानों को। अभी तक ये दोनों नेता एक दूसरे से नहीं

टिप्पणी

मिले थे। अंत में, चिंग के प्रश्न पर माओ ने समझौता कर लिया। इन दोनों नेताओं ने शहरों से दूर–दूर रहकर गांवों में घूमकर किसानों का संगठन बनाना प्रारंभ किया। साम्यवाद को गांवों तक पहुंचाने का उनका यह कार्यक्रम बड़ा ही लाभदायक सिद्ध हुआ। पूछा जाए तो प्रथम विश्वयुद्ध के समय से चीन के किसान आर्थिक दृष्टि से बड़ी दुखद स्थिति में पड़े थे। मंचू राजवंश के अवसान के बाद चीन में जमींदारों का बोलबाला कायम हुआ था और वे किसानों पर भीषण अत्याचार करते थे। युआन शी काई के गणतंत्र काल में भूमि पर जमींदारों का प्रभाव बढ़ता गया और वे किसानों से विविध करों को वसूल करने लगे। डॉ. सेन की सरकार ने भी किसानों की आजीविका के साधनों के विकास में कामयाबी हासिल नहीं की थी।

किसान और आम लोग शासन से असंतुष्ट थे, जमींदारों से भयभीत थे। ऐसे लोगों को अपना पक्षधर बनाना माओत्से तुंग तथा उसके साथियों ने आवश्यक माना। उन्होंने उन्हें तर्क के आधार पर, अपने उग्र सिद्धांतों के बल पर साम्यवाद का समर्थक बना लिया। उन्होंने प्रचार किया कि साम्यवादी सरकार के बन जाने पर भूमिहीनों को भूमि दी जाएगी, जमींदारों से भूमि का अपहरण किया जाएगा और किसानों की रक्षा की जाएगी। उन्होंने गांवों में सार्वजनिक कार्यों के माध्यम से उनकी स्थिति में क्रांतिकारी परिवर्तन भी लाना प्रारंभ किया ताकि लोग राष्ट्रीय सरकार से विमुख होकर साम्यवाद के मुखापेक्षी बनें। फलतः गांवों में साम्यवादियों के निर्देशन में स्कूल खोले गए, रोगों के निदान के लिए चिकित्सालय बनाए गए, विचार गोष्ठियों का आयोजन किया जाने लगा, समाचारपत्रों और पुस्तकों का प्रकाशन करके उन्हें ग्रामीणों तक पहुंचाया गया। उन्होंने अफीम के अनुचित व्यापार पर भी रोक लगाई और अठारह वर्षीय लोगों को सोवियतों में निर्वाचन में मतदान करने का अधिकार दिया गया। उन्होंने भूमि का वितरण किसानों के बीच किया और खेती में सहकारिता के सिद्धांत को बढ़ावा दिया। कृषि की उन्नति के लिए बड़ी ही अनुपम व्यवस्था की गई। औजारों और पशुओं के सामूहिक भंडार बनाए गए, जहां से किसान जरूरत के समय उनकी प्राप्ति करके खेती करने लगे और इस प्रकार उन्होंने कृषि–कार्य में तनिक भी संकट का अनुभव नहीं किया। चीन के गांवों में धावित ये कार्यक्रम राष्ट्रवादी स्वरूप के थे। चीन के सभी लोगों ने अनुभव किया कि साम्यवादी सरकार का गठन अगर चीन में हो जाएगा तो निश्चित रूप से डॉ. सेन के तीसरे सिद्धांत की पूर्ति हो जाएगी जिसे न तो डॉ. सेन और न उनके उत्तराधिकारी च्यांग काई शेक ही पूरा करने में सफल हुए।

अब साम्यवादियों के अनेक संगठन बनने लगे। इन संगठनों का वास्तविक उद्देश्य राष्ट्रीय सरकार से लोहा लेकर साम्यवादी आंदोलन को सफल बनाना ही था। माओत्से तुंग ने हूनान में आयोजित किसान आंदोलन (मई 1927 ई.) में मात खाकर भी अपने समर्थकों को बिखरने नहीं दिया और हूनान तथा कियांग्सी प्रांतों के निकट के क्षेत्रों में उनका संगठन बनाया। ऐसा करके उसने साम्यवादी आंदोलन के एक केंद्र की नींव डाल दी। इन क्षेत्रों में उसने साम्यवादी सरकार का गठन किया और सेना का संगठन किया। माओ के निर्देशन में पहली बार चीन में एक साम्यवादी क्षेत्र कायम हो गया। मई 1928 ई. में चू तेह के निर्देशन में नानचांग में एक आंदोलन चला था। यद्यपि

टिप्पणी

उसका यह आंदोलन हूनान के आंदोलन की तरह असफल हो गया, किंतु इससे एक सबक मिला। उसने जान लिया कि अकेला रहकर आंदोलन को सफल नहीं बनाया जा सकता है। फलतः, आंदोलन की असफलता के बाद मई (1928 ई.) में ही वह भी माओत्से तुंग के साथ आकर मिल गया। उनके साथ उसकी सेना भी इस साम्यवादी क्षेत्र में आ गई। माओत्से तुंग की शक्ति काफी बढ़ गई। ऐसी सोवियतें चीन के अनेक प्रांतों में भी बनीं। फुकिएन, हूनान, आन्हुई आदि में सोवियतों ने स्थापित होकर चीनियों को प्रभावित करना प्रारंभ किया। 1931 ई. तक चीन की अधिकांश आबादी साम्यवादी प्रभाव में आ गई। इस वर्ष का आंकड़ा बतलाता है कि चीन की साम्यवादी सरकार के अधीन लगभग साढ़े तीन लाख वर्ग मील का क्षेत्रफल था और लगभग 9,00,00,000 व्यक्ति उस क्षेत्रफल में निवास करते थे जो साम्यवादी थे। कियांग्सी सरकार का केंद्र स्थल था।

साम्यवादी इस विशाल भू–भाग के स्वामी होकर भी संतुष्ट नहीं थे। वे अखिल चीन को अधिकार में लाने के निमित्त यत्नशील थे और दिनोंदिन अपने अधिकार–क्षेत्र को विस्तृत करते जा रहे थे। सोवियत संघ उनका आदर्श था और उसी के आधार पर वे चीन में सतत कार्य करते जा रहे थे। पहली नवम्बर, 1931 ई. को अखिल चीनी सोवियत सम्मेलन का आयोजन रूइचिन में किया गया जिसमें लगभग 290 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में पहली बार स्थाई शासन के लिए चीनी गणतंत्र का संविधान स्वीकार किया गया और 61 सदस्यों की एक केंद्रीय समिति गठित की गई जिसका अध्यक्ष माओत्से तुंग को बनाया गया। चीनी सोवियत गणतंत्र को 'मजदूरों और किसानों की लोकतंत्रीय अधिनायकशाही' नाम दिया गया। साम्यवादियों का यह संगठन साधारण नहीं रहा। उनकी तैयारी भी कम नहीं थी। उन्होंने अधिकांश चीनियों को साम्यवादी बना लिया था। कियांग्सी के क्षेत्र में साम्यवादी सरकार की स्थापना कर डाली थी और लालसेना तथा लोकतंत्र पर आधारित अधिनायकशाही का संगठन करके अपनी शक्ति का गठन कर लिया था। अब एक ही काम बच गया था– राष्ट्रीय सरकार से संघर्ष कर चीन में सफलता पाना और साम्यवादी गणतंत्र को अखिल चीन में स्थापना करना।

साम्यवादियों के विरुद्ध जेहाद

स्पष्ट है कि साम्यवादियों की इस तैयारी से च्यांग की सरकार बेखबर नहीं थी। वह अनुभव कर रही थी कि उसके ऊपर नंगी तलवार लटक रही है और मौका पाते ही साम्यवादी चीन पर कब्जा जमा सकते हैं।

1931 ई. के सितम्बर माह में चीन में एक घटना घटी। मंचूरिया के प्रश्न को लेकर जापान ने चीन पर हमला कर दिया। किंतु च्यांग काई शेक ने इस हमले के विरुद्ध सैनिक कार्रवाई करने की अपेक्षा साम्यवादियों का दमन करना आवश्यक माना क्योंकि उसकी दृष्टि में जापानियों से उतना अधिक खतरा नहीं था जितना अधिक साम्यवादियों से था। उसने उनके दमन के लिए अपनी सारी राजकीय शक्ति लगा दी। अतः जिन दिनों जापानी सैनिक चीन के कतिपय प्रदेशों पर आक्रमण करके उन्हें कब्जे में कर रहे थे उन्हीं दिनों च्यांग ने साम्यवादियों के विरुद्ध जेहाद प्रारंभ कर दिया था।

टिप्पणी

दिसम्बर 1930 ई. और अप्रैल 1933 ई. के बीच च्यांग काई शेक की सेना ने कम्युनिस्टों के दमन के लिए दक्षिण–पूर्व चीन में चार बार आक्रमण किया। तीन आक्रमणों में राष्ट्रीय सरकार को सफलता नहीं मिली और ऐसा प्रतीत होने लगा कि समस्त फुकिएन का प्रांत साम्यवादियों के कब्जे में चला जाएगा। किंतु 1933 ई. के बाद च्यांग ने साम्यवादियों के दमन के लिए अपनी सारी शक्ति लगा दी और इस पर पाशविकता तथा क्रूरता का घोर प्रदर्शन किया। जिन क्षेत्रों पर च्यांग कब्जा कर लेता उन क्षेत्रों की जनता को साम्यवादी समझकर कठोर उत्पीड़न देता। हजारों लोगों को तलवार के घाट उतार दिया गया। 1934 ई. तक चीन के लाखों व्यक्ति मृत्यु की गोद में सुला दिए गए। साम्यवादियों के दमन के लिए च्यांग ने 'नीली कुरती दल' का गठन किया। इस दल के लोग मात्रा संदेह के आधार पर किसी को भी कैद कर सकते थे, उसका वध कर सकते थे और उसे सजा दे सकते थे। च्यांग ने साम्यवादियों को बदनाम करने के लिए प्रचार–अभियान भी प्रारंभ किया और चीनी युवकों का समर्थन पाने के लिए एक 'नवजीवन आंदोलन' का भी सूत्रपात किया।

साम्यवादियों का महाप्रस्थान

च्यांग काई शेक की इस क्रूर एवं दमनपूर्ण नीति को सहन करना साम्यवादियों के लिए असंभव था। अपनी जान, संपत्ति और प्रतिष्ठा को नष्ट होते देखकर वे जगह–जगह परिवर्तन की बात सोचने लगे। अब उनके समक्ष दो ही रास्ते बच गए– या तो वे कुओमिनतांग सेना का सामना कर अपने प्राणों की आहुति चढ़ा दें या भविष्य में अपना संगठन बनाने के लिए कियांग्सी छोड़कर अन्यत्र चले जाएं। नानकिंग की कुओमिनतांग सेना का दमन–चक्र इस समय बड़ी तीव्र गति के साथ चल रहा था। अतः साम्यवादी माओत्से तुंग के नेतृत्व में कियांग्सी छोड़कर उत्तर की ओर (शेन्सी) चल पड़े। इतिहास में साम्यवादियों की यह यात्रा 'महाप्रस्थान' (Long March) कहलाती है जो 1935 ई. के समाप्त होते–होते प्रारंभ हुई थी। यह यात्रा उनकी अदम्य कर्मठता तथा वीरता का ज्वलंत प्रमाण है। शेन्सी में साम्यवादियों का पहले से ही बोलबाला था। यह पर्वतों से घिरा था जिसमें छिपकर च्यांग काई सेक की सेना से वे अपने प्राणों की रक्षा कर सकते थे तथा भविष्य में अपनी सेना का संगठन कर उससे लोहा ले सकते थे। फलतः दुर्गम तथा विकट पर्वतों से गुजरते हुए साम्यवादियों ने पश्चिम में याऊ चाऊ की ओर प्रस्थान किया। यहां से पुनः वे दक्षिण–पश्चिम की ओर आगे बढ़े और येनान पहुंच गए। यहां फिर उत्तर की ओर बढ़कर वे श्जेच्वान आ गए।

इस प्रदेश से भी उन्होंने अपनी यात्रा प्रारंभ की और पूर्वी तिब्बत तथा कान्सू पार करते हुए वे शेन्सी पहुंच गए। इन सारे भागों की यात्रा करते–करते उन्हें 6 हजार मील लंबी दूरी तय करनी पड़ी। पर्वत की ऊंची–नीची श्रृंखलाबद्ध चोटियों से भरा यह भाग इतना विकट था कि कलेजा कांप जाता था। आवागमन के साधन सुविधाजनक नहीं थे। न सड़कें थीं, न नदियों को पार करने के लिए पुल तथा नाव इत्यादि ही थीं। करीब एक वर्ष तक साम्यवादी यात्रा करते रहे। मार्ग की महान कठिनाइयों के चलते हजारों साम्यवादियों के प्राण पखेरू उड़ गए और शेन्सी तक पुहंचने वाले साम्यवादियों की संख्या केवल 20,000 रह गई। 1936 ई. के शुरू में

टिप्पणी

शेन्सी पहुंचकर उन्होंने अपनी सरकार बनाई और येनान प्रदेश को अपनी राजधानी घोषित किया। इस समय उनकी अधिकार सीमा में शेन्सी का उत्तरी तथा कान्सू का उत्तर–पूर्वी भाग था। अपनी सरकार को बनाकर वे पुनः च्यांग काई शेक से लोहा लेने की तैयारी करने लगे।

राष्ट्रीय सरकार की भूमि–सुधार योजना

एक तरफ च्यांग साम्यवादियों के दमन के लिए यत्नशील रहा, दूसरी तरफ उसने चीन में भूमि–व्यवस्था में सुधार लाकर किसानों के मस्तिष्क से साम्यवादियों का प्रभाव समाप्त करने का भी प्रयत्न किया। चीन के बहुसंख्यकों के पास कम भूमि थी जबकि अल्पसंख्यक अधिकांश भूमि के स्वामी थे। लगभग 90 प्रतिशत लोगों के पास 35 प्रतिशत भूमि थी जबकि 10 प्रतिशत लोगों के पास 65 प्रतिशत भूमि थी। 1934–1935 ई. में 'राष्ट्रीय भूमि आयोग' ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की और यह बताया कि चीन के जमींदारों के पास किसानों से 128 गुना अधिक भूमि थी। भूमि के स्वामित्व में ही दोष नहीं था राजस्व व्यवस्था भी असमान थी। यदि चिकियांग प्रांत के हांगचो जिले के किसान उपज का 50 प्रतिशत भूमि–कर के रूप में राज्य को राजस्व देते थे तो हूपेह किसान 35 प्रतिशत से 80 प्रतिशत तक राजस्व देते थे। सारे देश में राजस्व की औसत दर 50 प्रतिशत से 70 प्रतिशत थी। राजस्व की इस कड़ी दर के कारण किसानों की स्थिति अच्छी नहीं थी। 1930 में च्यांग की सरकार ने कानून बनाकर राजस्व की दर 35.5 प्रतिशत कर दी। कानून से यह बात भी स्पष्ट कर दी गई कि जो किसान जमीन के जिस टुकड़े पर नियमित रूप से खेती करता है और राज्य के राजस्व का भुगतान करता है, तो उस किसान से उस भूमि का अपहरण नहीं किया जाएगा।

किसान को जमींदारों से पैसे लेकर उनके अधिकार की भूमि में सुधार लाने का भी अधिकार मिला। च्यांग की सरकार ने 1933 ई. में किसानों के लिए एक बैंक की स्थापना की और 1937 ई. में कृषि ऋण–प्रकाशन द्वारा किसानों को सस्ती दर पर ऋण देने का प्रबंध किया गया। सरकार ने 1934 में 'सहकारी समिति कानून' बनाकर सहकारी समितियों का गठन किया। यद्यपि च्यांग की सरकार ने साम्यवादियों से मिलती–जुलती योजना को ही भूमि–सुधार के बिंदु पर लागू किया, फिर भी वे अधिक उपयोगी सिद्ध न हो सकी। च्यांग को डॉ. सेन के तीसरे सिद्धांत के कार्यान्वयन के लिए उसी समय कदम उठाना चाहिए था जिस समय उसने शासन की बागडोर अपने हाथों में ले ली थी। 1925 ई. से 1937 ई. के बीच साम्यवादियों ने विविध उपायों, व्यवस्थाओं, सोवियतों आदि के माध्यम से अपनी शक्ति बढ़ा ली थी और किसानों तथा मजदूरों को वे अपना सबल पक्षधर बनाने में सफल हो गए थे। अब चीन की सर्वहारा वर्ग च्यांग का नहीं, माओत्से तुंग का समर्थक था राष्ट्रीय सरकार की भूमि–सुधार योजना लोगों को प्रभावित नहीं कर सकी और वे साम्यवादियों के प्रभाव को पसंद करते रहे।

कुओमिनतांग–साम्यवादी समझौता के प्रयत्न

पिछले संदर्भ में इस बात का उल्लेख किया गया है, जिन दिनों च्यांग चीन में साम्यवादियों का दमन कर रहा था उन्हीं दिनों जापान ने चीन पर आक्रमण किया

था। दमन कार्य में फंसे च्यांग ने जापानियों के आक्रमण की अवहेलना की जिसके फलस्वरूप जापानियों ने चीन के अधिकांश भू–भाग को अपने कब्जे में कर लिया और आगे भी विस्तार करते जा रहे थे। यह बात साम्यवादियों को बड़ी बुरी लगती थी। उन्होंने देश की रक्षा के नाम पर गृह–युद्ध रोक देना चाहा और आपसी भेदभाव को भुलाकर इस विदेशी शक्ति को मिल–जुलकर खदेड़ देने का विचार किया। लेकिन च्यांग साम्यवादियों को अपना प्रबल शत्रु मानता था, इसलिए वह उनसे समझौता करने के लिए किसी भी तरह तैयार नहीं था। वह तो इस चिंता में था कि किसी तरह शेन्सी प्रांत से भी साम्यवादियों को खदेड़ दिया जाए और उनके प्रभाव समाप्त कर दिए जाएं। इस संकल्प की पूर्ति के लिए वह सतत प्रयत्नशील रहा और 1935 के अंत तक संपूर्ण पश्चिमी और दक्षिणी चीन पर उसकी नानकिंग सरकार ने कब्जा जमा लिया। जापान आगे बढ़ता रहा, साम्यवादी हाथ मलते रहे। च्यांग से देशभक्ति के नाम पर उन्होंने समझौता करने का प्रयास किया और तत्संबंधी अनेक प्रस्ताव उसके समक्ष रखे किंतु उन्हें सफलता नहीं मिली। कुओमिनतांग–कम्युनिस्टों में समझौता नहीं हो सका।

चीन में साम्राज्यवाद विरोधी आंदोलन

यूरोप के अन्य साम्राज्यलोलुप देशों की तरह एशियाई देश जापान भी अपने साम्राज्य का विस्तार करना चाहता था। वह अपने समीपवर्ती चीन के हिस्सों पर आक्रमण करके कब्जा बनाता जा रहा था। साम्यवादियों की तरह चीन की जनता ने भी सरकार से जापानियों के विरुद्ध कार्रवाई करने की मांग की, किंतु सरकार ने उधर ध्यान हीं नहीं दिया। तब धीरे–धीरे सारे देश में जापान विरोधी भावना फैलने लगी और घटनाएं घटने लगीं। क्वांगतुंग में पारवोई की एक भीड़ ने एक जापानी आधिकारी की हत्या कर दी। इसी प्रकार हैंकों में किसी चीनी ने एक जापानी पुलिस को मार डाला। स्वातो में एक जपानी होटल को उड़ा देने के लिए किसी ने बम रख दिया। इसी प्रकार शंघाई में जापान के तीन नाविकों को गोली का शिकार बनाया गया और पिकिंग के निकट एक जापानी अफसर तथा उसके निजी नौकर पर आक्रमण कर दिया। चीन के सारे नागरिक इस विदेशी आक्रमण के विरुद्ध हो गए और च्यांग की सरकार की निंदा करने लगे। चीन के नगरों में च्यांग के विरुद्ध प्रदर्शन किए जाने लगे। उत्तरी चीन के शिक्षकों और शिक्षार्थियों ने 1935 ई. में 'राष्ट्र–मुक्ति–आंदोलन' प्रारंभ किया। फिर भी च्यांग काई शेक निश्चेष्ट पड़ा रहा और साम्यवादियों का दमन करता रहा।

च्यांग काई शेक की गिरफ्तारी

च्यांग ने साम्यवादियों के दमन के लिए एक सेना का संगठन किया और चांग के सुएह लियांग को सेनापति बनाकर साम्यवादियों के विरुद्ध भेजा किंतु साम्यवादियों ने प्रत्यक्ष रूप से च्यांग की सेना से संघर्ष न करके कूटनीति से काम लिया। देशभक्ति की भावना से ओत–प्रोत साम्यवादियों ने सेनापति लियांग को समझाया कि पहले जापान के आक्रमण का सामना करना जरूरी है और गृह–युद्ध रोक देना चाहिए। सेनापति इस बात पर सहमत हो गया और उसने हथियार डाल दिए। माओ ने लियांग को समझाने

टिप्पणी

में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। गृह–युद्ध की भर्त्सना करने के बाद उसने लियांग को कहा था, ''किसानों की क्रांति मध्यम वर्ग की क्रांति है और इससे पूंजीवाद मरता नहीं है। चीन में हम पूंजीवाद के विरुद्ध नहीं हैं बल्कि साम्राज्यवाद के विरुद्ध हैं। यह सिद्धांत देश में प्रजातांत्रिक तत्वों की मांग की पूर्ति करता है और इसे हम आंतरिक हृदय से स्वीकार करते हैं।'' सेनापति ने लियांग तथा उसके सैनिक माओ के विचार से प्रभावित होकर ही साम्यवादियों के विरुद्ध हथियार उठाने से इनकार कर दिया और उनसे मित्रता कर ली।

जब च्यांग काई शेक को इस बात की सूचना मिली तब उसके आक्रोश का ठिकाना नहीं रहा और उसने स्वयं शेन्सी जाकर सेनापति को साम्यवादी सेना से युद्ध करने के लिए प्रेरित किया। पर उसने युद्ध करने से साफ इनकार कर दिया और च्यांग काई शेक को गिरफ्तार (12 दिसम्बर, 1936 ई.) कर लिया। यह गिरफ्तारी शेन्सी की राजधानी सियान में हुई जिसे 'सियान की घटना' भी कहा जाता है। सेनापति जीवन भर च्यांग काई शेक को कैद करके रखना नहीं चाहता था। वह चाहता था कि वह अपनी नीति में परिवर्तन लाकर चीन में सैनिक डिक्टेटर की तरह न रहे और यहां वृहत् लोकतंत्र की स्थापना करे, जापान के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा बनाने के लिए साम्यवादियों से मेल करे और उन्हें रोकने का प्रबंध करे। वह केवल कुछ ही दिनों तक कैद रहा (12 दिसम्बर से 25 दिसम्बर तक), पर न केवल चीन का, बल्कि संपूर्ण विश्व का ध्यान सियान के इस नाटक ने अपनी ओर आकर्षित किया। नानकिंग की सरकार ने अब यह धमकी दी कि अगर च्यांग काई शेक को मुक्त नहीं किया जाएगा तो सियान के विरुद्ध सैनिक कार्रवाई की जाएगी और हवाई जहाजों से बम गिराया जाएगा। इसके उत्तर में यह कहा गया कि अगर इस तरह की कार्रवाई की जाएगी तब च्यांग काई शेक की हत्या कर दी जाएगी।

फलतः नानकिंग की सरकार की धमकी दब गई। च्यांग काई शेक जब किसी भी प्रकार से अपने सेनापतियों से, जिनके साथ साम्यवादी भी थे, समझौता नहीं कर सका तब मैडम च्यांग काई शेक अपने भाई टी. वी. सुंग के साथ समझौता कराने के लिए शेन्सी पहुंची पर उसका प्रयास भी असफल रहा। इसी बीच एक दिन च्यांग काई शेक की निजी डायरी अचानक च्यांग (सेनापति) के हाथ लग गई। इस डायरी के अध्ययन करने से च्यांग को पता चला कि च्यांग काई शेक वास्तव में सच्चा देशभक्त है और राष्ट्रीय एकता के लिए वह अपने प्राणों को भी न्योछावर कर सकता है। इसीलिए उसे अपनी भूल स्वीकार करके इसे मुक्त कर देना चाहिए। साम्यवादी भी इस नेता का वध नहीं करना चाहते थे क्योंकि वह चीन का लोकप्रिय नेता था और उसका वध होने पर अधिकांश जनता साम्यवादियों के विरुद्ध हो जाती। अतः उसे 5 दिसम्बर को उसने मुक्त कर दिया। च्यांग ने स्वयं उसे नानकिंग पहुंचाया जिस पर विद्रोह करने का मुकदमा चलाया गया पर च्यांग काई शेक ने उसे क्षमा कर दिया। च्यांग अत्यंत लज्जित हुआ और अब अपने पद पर पुनः आकर ईमानदारी से कार्य करने लगा। सियान की इस घटना ने च्यांग काई शेक को और भी शक्तिशाली और लोकप्रिय बना दिया। पर इस घटना से उसे दुख भी हुआ और इसीलिए उसने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया, किंतु वह स्वीकार नहीं किया गया

और उससे यह अपील की गई कि वह चीन में राष्ट्रीय एकता कायम करने के लिए अपने पद पर बने रहें। देश के हित को समझकर च्यांग काई शेक ने भी अपील स्वीकार कर ली।

टिप्पणी

कुओमिनतांग–साम्यवादी–समझौता

7 जुलाई, 1937 ई. में लुकुचिआओं में एक घटना घट गई जिससे यह साफ जाहिर हो गया कि जापान अब चीन पर आक्रमण कर देगा। वस्तुतः ऐसा हुआ भी इसीलिए च्यांग काई शेक ने भी प्रत्यक्ष आई विपत्ति को टालने के लिए साम्यवादियों से समझौता कर लिया जिसमें प्रधान शर्तें निम्नलिखित थीं–

1. उत्तर पश्चिम के शेन्सी कान्सू के प्रदेशों पर साम्यवादियों का शासन कायम रहेगा,
2. ये राज्य पृथक तथा स्वतंत्र रूप से साम्यवादियों के अधीन रहेंगे। इन पर चीन का अधिकार रहेगा, पर ये साम्यवादियों द्वारा शासित होंगे, और
3. साम्यवादियों की सेना को पृथक न मानकर उसे चीन की राष्ट्रीय सेना का ही एक भाग माना जाए और यह सेना च्यांग काई शेक के सारे आदर्शों को स्वीकार करेगी।

यह समझौता इतिहास में प्रसिद्ध है। च्यांग काई शेक ने साम्यवादियों की सेना को राष्ट्रीय सेना मानकर उसे आठवीं सेना की श्रेणी दे दी। अब दोनों सरकार की सेनाओं ने जापान के आक्रमण का सामना किया। इस आक्रमण के चलते अनेक उलट–फेर हुए। होपेई, नानकिंग और सुईयुआन पर जापान का कब्जा हो गया। नानकिंग पर जापान का कब्जा हो जाने से च्यांग काई सेक को अपनी राजधानी बदलनी पड़ी और चुंगकिंग को इस बार उसने अपनी राजधानी बनाई। उत्तरी–पूर्वी तथा दक्षिणी राज्य और कैंटन भी जापान के कब्जे में आ गए।

अब चीन दो भागों में बंट गया– जापान द्वारा अधिकृत चीन और स्वतंत्र चीन। इसमें च्यांग काई शेक की 'चुंगकिंग की सरकार' भी थी। स्वतंत्र चीन के उत्तर–पश्चिम प्रदेश येनान में साम्यवादियों की सरकार थी। येनान तथा कुओमिनतांग सेना ने मिलकर जापान से युद्ध किया और वे अपने–अपने क्षेत्र में स्वतंत्रतापूर्वक शासन भी करते रहे। जापानियों पर गुरिल्ला आक्रमण करके तथा अपने भू–भाग में स्वतंत्र शासन को अक्षुण्ण रखकर साम्यवादियों ने चीन की जनता की वाहवाही प्राप्त की। इन दिनों माओत्से–तुंग तथा चाऊ एन लाय के प्रयास के चलते साम्यवादी दल की लोकप्रियता चीन में काफी बढ़ी। इसी समय द्वितीय विश्व–युद्ध (1939–45) छिड़ा और जापान ने इस युद्ध में भाग लिया।

अपनी प्रगति जांचिए

6. चीन और ब्रिटेन के बीच 'नानकिंग की संधि' कब हुई?

(क) 19 अगस्त 1822 (ख) 23 अगस्त 1833

(ग) 29 अगस्त 1842 (घ) 31 अगस्त 1852

टिप्पणी

7. नानकिंग की संधि से किसका दरवाजा यूरोपीय व्यापारियों के लिए खोल दिया गया?

(क) जापान (ख) चीन

(ग) फ्रांस (घ) इंग्लैंड

8. सन् 1856 में किनके मध्य द्वितीय–अफीम युद्ध हुआ?

(क) ब्रिटेन, रूस और भारत (ख) जापान, कनाडा और रूस

(ग) ब्रिटेन, फ्रांस और चीन (घ) जापान, फ्रांस और रूस

3.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (क)
2. (ग)
3. (ग)
4. (घ)
5. (क)
6. (ग)
7. (ख)
8. (ग)

3.6 सारांश

द्वितीय विश्वयुद्ध जो 1939 ई. में आरंभ हुआ, प्रथम विश्वयुद्ध की शृंखला थी, जो 1918 ई. में समाप्त हुआ था। रॉबर्ट एरगांग (Robert Ergang) के अनुसार द्वितीय विश्वयुद्ध के मौलिक कारण प्रथम महायुद्ध के कारणों से कोई कम पेचीदा नहीं थे। वास्तव में दोनों युद्धों के बहुत से मौलिक कारण एक जैसे थे।

प्रथम विश्वयुद्ध से राष्ट्रवादी भावना को बहुत बल मिला था और राष्ट्रीय राज्य (Nation State) की नींव मजबूत हुई। इसके अतिरिक्त इस युद्ध ने प्रजातांत्रिक आदर्शों एवं संस्थाओं को उन लोगों तक पहुंचा दिया था जो अब तक इनसे परिचित नहीं थे। इस युद्ध में जहां राजवंशीय राज्यों की हार हुई थी, वहीं जनतंत्र (जैसे ब्रिटेन, फ्रांस, संयुक्त राज्य अमरीका) विजयी हुए।

द्वितीय विश्वयुद्ध के उद्‌भव के कारणों में उग्र राष्ट्रवाद और विशेषतः आर्थिक राष्ट्रवाद (Economic Nationalism) को एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। प्रथम महायुद्ध के विनाश को देखते हुए राजनीतिज्ञों को यह विश्वास हो गया था कि भविष्य में विश्व को इस संकट से बचाने हेतु परस्पर विरोधी राष्ट्रीय महत्वाकांक्षाओं पर अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण स्थापित करना बहुत आवश्यक था।

टिप्पणी

1938 ई. में हिटलर और मुसोलिनी के सहयोग से जनरल फ्रैंको ने स्पेन में फासीवादी सरकार की स्थापना कर दी जिसे पश्चिमी जनतांत्रिक सरकारों ने मान्यता प्रदान कर दी। इसके साथ ही पश्चिमी देशों की जनतांत्रिक सरकारों के साथ सुरक्षा के सोवियत प्रयासों का भी अंत हो गया, क्योंकि यह फासीवादी ताकतों को रोकने में अधिक कमजोर और संदेहपूर्ण सिद्ध हुए।

युद्ध में पराजित होने के बाद धुरी राष्ट्रों के दुर्दिन आ गए। जर्मन साम्राज्य का बड़ा भाग उनसे छिन गया। इटली को भी अपने सभी अफ्रीकी उपनिवेश खोने पड़े। जापान को भी उन क्षेत्रों को वापस करना पड़ा जिन पर वह अपना अधिकार जमाए हुए था। इन राष्ट्रों की आर्थिक एवं सैनिक स्थिति भी दयनीय हो गई।

12 मार्च, 1930 ई. को गांधी जी ने अपने 78 चुने हुए अनुयायियों के साथ साबरमती आश्रम से गुजरात के समुद्र तट पर स्थित दांडी गांव तक की लगभग 240 मील की यात्रा पैदल चलकर 24 दिनों में तय की। मार्ग में हजारों लोगों ने उनका स्वागत किया। 6 अप्रैल, 1930 ई. को गांधी जी ने स्वयं नमक तैयार करके नमक कानून तोड़ा।

सामंतवादी स्पेन और पुर्तगाल में उपनिवेशी लूट शाही खजाने में पहुंची जिससे सामंतवाद और धार्मिक प्रतिक्रियावाद को बल मिला। ठीक इसके विपरीत बुर्जुआ व सामान्यजनों का विरोध कमजोर हो गया।

वाणिज्यिक उपनिवेशवाद मूलतः यूरोपीय वाणिज्यिक क्रांति का प्रतिफलन था। यूरोप में वाणिज्यिक व्यापारी पूंजीपति मध्यम वर्ग नागरिक धनिकतंत्र के आविर्भाव के साथ उपजा था। वाणिज्यिक एक आर्थिक सिद्धांत, एक विचारधारा या एक जीवनदर्शन ही नहीं बल्कि समाज का एक प्रतिमान था, जो मध्ययुगीनता के स्थान पर आधुनिकता और सामंती अराजकता के स्थान पर राष्ट्रीय एकता का सूचक था।

उन्नीसवीं सदी के प्रारंभ में चीन पृथकता की नीति का अवलंबन कर रहा था। वह संसार के किसी देश के साथ किसी स्तर पर संबंध–संपर्क कायम करना नहीं चाहता था। लेकिन चीन की समृद्धि पश्चिमी राष्ट्रों के आकर्षण का मुख्य केंद्र थी। यूरोप के विविध राज्य किसी तरह चीन का दरवाजा खोलकर उसके भीतर घुसकर व्यापार करना चाहते थे। सत्रहवीं सदी के अंतिम चरण से ही चीन में उनका आना–जाना शुरू हो गया था।

चीन के साम्यवादी दल की केंद्रीय समिति ने यह कहकर माओ त्सेदोंग की आलोचना की कि वह दल की धारा से दूर हो गया एवं कृषकों के साथ असफल शरद फसल–कटाई विद्रोह किया। हालांकि, क्योंकि चीन के साम्यवादी दल के रूसी परामर्शदाता नगरों में रहते थे एवं शंघाई के मुख्यालयों में उनका केंद्र होता था, इसलिए माओ त्सेदोंग एवं झु दॅ अपनी स्वयं की क्रांतिकारी नीति को आजमा सकते थे व आधिकारिक रणनीति को नकार सकते थे। जिसमें राष्ट्रवादी शासकीय फौजें जापानी साम्राज्यवादी फौजों के साथ खुलकर संघर्ष करने लगी थीं।

रूस की बोल्शेविक क्रांति (1917 ई.) ने विश्व के देशों और राजनीति को गहरे रूप से प्रभावित किया। इसने विचारों की दुनिया में खलबली मचा दी और राजतंत्रीय देशों को संभल जाने का संकेत दिया। एशियाई देश चीन पर इस क्रांति का अधिक प्रभाव पड़ा। चीन में साम्यवादी विचारधारा के प्रसार के लिए पृष्ठभूमि तैयार थी।

टिप्पणी

धीरे–धीरे साम्यवादी दल की शक्ति बढ़ने लगी। जिसके विचारकों का विचार था कि चीन में एकाएक क्रांति करना ठीक नहीं है। अभी साम्यवादी दल को सामंतवाद और साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष करना चाहिए और उसे कुओमिनतांग के साथ मिल–जुलकर काम करना चाहिए। यही कारण था कि चीन में तुंग चिन तांग राष्ट्रीय दल के साथ मिलकर काम करता रहा।

चीन में साम्यवादी अपनी शक्ति से बाहर जाकर काम कर रहे हैं और तत्काल उन्हें ऐसा नहीं करना चाहिए। इन विशेषज्ञों ने चीनी क्रांति को दो स्तर प्रदान किए– बुर्जुआ और सर्वहारा। चूंकि चीन में पहला स्तर पार नहीं हुआ है, इसलिए दूसरे स्तर पर छलांग लगाना अनुचित है।

च्यांग ने साम्यवादियों के दमन के लिए एक सेना का संगठन किया और चांग के सुएह लियांग को सेनापति बनाकर साम्यवादियों के विरुद्ध भेजा किंतु साम्यवादियों ने प्रत्यक्ष रूप से च्यांग की सेना से संघर्ष न करके कूटनीति से काम लिया।

3.7 मुख्य शब्दावली

- **भर्त्सना** : निंदा
- **पूर्ववर्ती** : अतीत कालीन, पहले हो चुके
- **विलायती** : विदेश
- **आदि** : अभ्यस्त
- **अंततोगत्वा** : आखिर में, अंत में जाकर
- **हरजाना** : जुर्माना, क्षतिपूर्ति
- **प्रभुता** : स्वामित्व
- **रेड आर्मी** : कृषक मजदूर निर्मित लाल सेना
- **पलायन** : भागना

3.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. राष्ट्रवाद से आप क्या समझते हैं?
2. द्वितीय विश्वयुद्ध की प्रकृति को समझाइए।
3. राष्ट्रीय आंदोलन से क्या तात्पर्य है?
4. 'सविनय अवज्ञा आंदोलन' से आप क्या समझते हैं? इस आंदोलन के क्या कारण थे?
5. लाहौर अधिवेशन की ग्यारह सूत्रीय मांगे कौन–कौन सी थी?
6. ब्रिटिश उपनिवेशवाद से क्या तात्पर्य है?
7. चीन में साम्यवादी क्रांति के प्रभावों को समझाइए।

टिप्पणी

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. द्वितीय विश्व युद्ध से आप क्या समझते हैं? इसके प्रारंभ होने के कारणों का उल्लेख कीजिए।
2. द्वितीय विश्वयुद्ध के परिणामों की विवेचना कीजिए।
3. गांधी जी के भारतीय राजनीति में आगमन की चर्चा करते हुए खिलाफत आंदोलन का वर्णन कीजिए।
4. गांधी जी के 'खिलाफत एवं असहयोग आंदोलन' की विवेचना कीजिए।
5. सविनय अवज्ञा आंदोलन के प्रभावों को समझाइए।
6. यूरोपीय उपनिवेशवाद की पृष्ठभूमि स्पष्ट करते हुए उन चरणों का विश्लेषण कीजिए जिनसे होकर ब्रिटिश उपनिवेशवाद को गुजरना पड़ा था?
7. चीन में साम्यवादी क्रांति के उदय के क्या कारण थे?

3.9 सहायक पाठ्य सामग्री

केनेथ वॉल्ट्ज, 2001, थियरी ऑफ इंटरनेशनल पॉलिटिक्स। वेवलैण्ड प्रेस इंकोर्पोरेशन।

मार्टिन होलिस और स्टीव स्मिथ, 1991, एक्सप्लेनिंग एण्ड अण्डरस्टैण्डिंग इंटरनेशनल रिलेशंस। ऑक्सफोर्डः ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस।

रॉबर्ट जैक्सन और जॉर्ज सोरेन्सन, 2013, इंट्रोडक्शन टू इंटरनेशनल रिलेशंसः थियरीज एण्ड अप्रोचेज, 5वां संस्करण। ऑक्सफोर्डः ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस।

रॉबर्ट किओहेन, 2005, आफ्टर हीजेमनीः कोपरेशन एण्ड डिस्कोर्ड इन द वर्ल्ड पॉलिटिकल इकॉनोमी। न्यू जर्सीः प्रिंसटन यूनीवर्सिटी प्रेस।

रॉबर्ट किओहेन और जोसेपफ नाय, 2011, पॉवर एण्ड इंटरडिपेन्डेन्स, चौथा संस्करण। न्यूयॉर्कः लोंगमैन।

इकाई 4 शीतयुद्ध एवं इसके प्रभाव

टिप्पणी

संरचना

4.0 परिचय
4.1 उद्देश्य
4.2 शीत युद्ध और इसके प्रभाव, शीत युद्ध के वैचारिक एवं राजनीतिक आधार, समझौते एवं संधियां, तनाव एवं प्रतिस्पर्धा
4.3 गुटनिरपेक्ष आंदोलन और तीसरी दुनिया
4.4 संयुक्त राष्ट्र संघ और विश्व शांति की अवधारणा
  4.4.1 संयुक्त राष्ट्र संघ संगठन
  4.4.2 विश्व शांति की अवधारणा
4.5 क्षेत्रीय तनाव : फिलीस्तीन, कश्मीर, क्यूबा, कोरिया एवं वियतनाम
  4.5.1 फिलीस्तीन
  4.5.2 कश्मीर
  4.5.3 क्यूबा
  4.5.4 कोरिया
  4.5.5 वियतनाम
4.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
4.7 सारांश
4.8 मुख्य शब्दावली
4.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
4.10 सहायक पाठ्य सामग्री

4.0 परिचय

शीत युद्ध का अर्थ बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में दो महाशक्तियों – अमेरिका और सोवियत संघ और उनके खेमों के अनुयायियों के बीच छिपी लड़ाई है। जैसा कि शीत युद्ध के नाम से पता चलता है, यह एक युद्ध इसलिए था क्योंकि इसमें शामिल देश सतत युद्ध में रत थे। एक आम धारणा के अनुसार, शीत युद्ध द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के साथ शुरू हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध का अंत समकालीन विश्व राजनीति की एक ऐतिहासिक घटना थी। सन् 1945 में, अमेरिका, सोवियत संघ, इंग्लैंड और फ्रांस के नेतृत्व वाले मित्र राष्ट्र ने जर्मनी, इटली और जापान के नेतृत्व वाली धुरी शक्तियों को हराया। इस युद्ध में विश्व के प्रायः सभी प्रमुख राष्ट्र शामिल थे और दक्षिण–पूर्व एशिया समेत यूरोप, चीन, बर्मा (अब म्यांमार) तथा भारत के पूर्वोत्तर राज्यों के कुछ भाग इसकी चपेट में आ गए थे। फलस्वरूप, युद्ध ने विश्व को चरमरा कर रख दिया और यह प्रथम विश्वयुद्ध से कहीं अधिक घातक सिद्ध हुआ, जिसने पहले सन् 1914 से 1918 के बीच विश्व को हिला डाला था। किंतु, इस युद्ध के तुरंत बाद कई राष्ट्रों के बीच एक भिन्न प्रकार का युद्ध शुरू हुआ जिसे शीत युद्ध के नाम से जाना जाता है।

इस इकाई में शीत युद्ध एवं इसके प्रभावों को विस्तार से समझाया गया है।

टिप्पणी

4.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- शीत युद्ध और इसके प्रभावों से परिचित हो पाएंगे;
- शीत युद्ध के वैचारिक एवं राजनीतिक आधार को समझ पाएंगे;
- गुटनिरपेक्ष आंदोलन और तीसरी दुनिया का विश्लेषण कर पाएंगे;
- संयुक्त राष्ट्र संघ और विश्व शांति की अवधारणा का आकलन कर पाएंगे;
- क्षेत्रीय तनाव की विभिन्न समस्याओं को समझ पाएंगे।

4.2 शीत युद्ध और इसके प्रभाव, शीत युद्ध के वैचारिक एवं राजनीतिक आधार, समझौते एवं संधियां, तनाव एवं प्रतिस्पर्धा

शीत युद्ध जिसे 'कोल्ड वार' भी कहा जाता है द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात विश्व की बदलती हुई परिस्थितियों ने इसकी शुरुआत की। पहली बार इस शब्द का प्रयोग ब्रिटिश लेखक जॉर्ज ऑरवेल ने 1945 में किया।

शीत युद्ध की उत्पत्ति

इस पर पर्याप्त बहस छिड़ी है कि 'शीत युद्ध' शब्द किसकी देन है। किंतु, 'शीत युद्ध' शब्द की उत्पत्ति, उपयोग और उसे सार्वजनिक करने का श्रेय चार व्यक्तियों को जाता है। वे हैं : क्रमशः जॉर्ज ऑर्वेल, बर्नार्ड बरूच, विंस्टन चर्चिल और वॉल्टर लिपमैन। शीत युद्ध शब्द का उपयोग सबसे पहले जॉर्ज ऑर्वेल ने द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद 19 अक्तूबर, 1945 को ब्रिटिश समाचारपत्र ट्रिब्यून में प्रकाशित अपने निबंध 'यू एंड दि एटॉम बॉम्ब (आप और अणु बम)' में किया। उन्होंने 'विश्व परमाणु युद्ध के संकट की छाया में' के रूप में चित्रण किया। ऑर्वेल का मानना था कि ''विश्व युद्ध के बाद की शांति कोई शांति नहीं थी, बल्कि उन्होंने इसे एक स्थायी शीत युद्ध की संज्ञा दी''। ऑर्वेल ने स्पष्ट संकेत दिया कि ''युद्ध सोवियत संघ और पश्चिमी शक्तियों के बीच मुकाबला था।'' इसके अतिरिक्त, अंग्रेज होने के नाते, उनका संकेत पश्चिमी दुनिया में अभी भी ब्रिटिश साम्राज्य था। इसलिए, 10 मार्च, 1946 के दि ऑब्जर्वर में ऑर्वेल ने लिखा, ''बीते दिसंबर में मास्को सम्मेलन के बाद, रूस ने ब्रिटेन और ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध 'शीत युद्ध' शुरू किया''।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के परिदृश्य के संदर्भ में भौगोलिक तनावों के वर्णन में शीत युद्ध शब्द का सबसे पहले उपयोग करने का श्रेय अमेरिका के राष्ट्रपति के सलाहकार बर्नार्ड बरूच और इंग्लैंड के प्रधानमंत्री विंस्टन चर्चिल को जाता है। अंदरूनी प्रतिद्वंद्विता जो विश्व की दो नई शक्तियों के बीच पहले ही शुरू हो चुकी थी, को महसूस करते हुए बर्नार्ड बरूच ने अपने अभिभाषण में कहा, ''हमें झूठ का शिकार नहीं

होना चाहिए, हम एक शीत युद्ध के बीच में हैं''। वहीं, माना जाता है कि सन् 1946 में फॉल्टन में एक प्रसिद्ध अभिभाषण में कटु अंतर्राष्ट्रीय स्थितियों की चर्चा करते हुए समकालीन विश्व के राजनयिक विंस्टन चर्चिल ने सूक्ष्म कूटनीति का सहारा लिया। उन्होंने कहा, ''यूरोप को एक लौह आवरण ने ढक लिया है, जो उत्तर में स्टेटिन से दक्षिण में त्रीस्ते तक फैला हुआ है।'' आगे चलकर वॉल्टर लिपमैन ने कोल्ड वॉर शीर्षक से एक पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने शीत युद्ध का एक विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत किया। बाद के वर्षों में इस अंतर्राष्ट्रीय परिघटना की चर्चा साहित्य, विद्वानों के निबंधों–आलेखों और सांस्कृतिक गतिविधियों में बड़े पैमाने पर होती रही।

टिप्पणी

परिभाषात्मक पहलू

शीत युद्ध के सिद्धांत पर आम समझ यह है कि यह एक खुला किंतु सीमित प्रतिद्वंद्विता प्रतिरोध था जो द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अमेरिका, सोवियत संघ और उनके मित्र देशों के बीच उभरा। परिभाषाएं कई हैं जो एक ही बात कहती हैं किंतु उनके कहने के ढंग अलग–अलग हैं। कुछ परिभाषाएं इस प्रकार हैं :

शीत युद्ध ''अंतर्राष्ट्रीय तनाव की एक स्थिति थी जिसमें सन् 1945–1990 के काल के दौरान राष्ट्रीय हितों की पूर्ति हेतु नियमित सैन्य बलों के खुले सशस्त्र संघर्ष युद्ध से अलग राजनीतिक, आर्थिक, तकनीकी, समाजशास्त्रीय, मनोवैज्ञानिक और सैन्य उपायों का उपयोग किया गया।''

शीत युद्ध ''दो देशों या राष्ट्रों के गुटों के बीच खुले युद्ध से अलग प्रचार, विध्वंस, खतरों, आर्थिक प्रतिबंध और अन्य उपायों से युक्त राजनीतिक वैर तथा सामरिक तनाव की अवस्था, विशेष रूप से द्वितीय विश्व युद्ध के बाद की अमेरिकी व सोवियत गुटों के बीच की अवस्था'' का द्योतक है।

शीत युद्ध ''द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति से वर्ष 1989 तक पश्चिमी राष्ट्रों और साम्यवादी खेमे के बीच शक्ति और प्रतिष्ठा के अस्थिर संघर्ष का प्रतीक है''।

शीत युद्ध सन् 1945 से 1990 तक की अवधि की उन महत्वपूर्ण विशेषताओं का निरूपण करता है, जो इस काल को आधुनिक इतिहास के अन्य कालों से दो तरीकों से अलग करती हैं ''(क) विचारधाराओं का एक तात्विक संघर्ष : मार्क्सवाद–लेनिनवाद बनाम उदार प्रजातंत्र; और (ख) एक उच्च स्तरीकृत वैश्विक शक्ति संरचना जिसमें अमेरिका और सोवियत संघ को अन्य राष्ट्रों की तुलना में महाशक्ति माना जाता था''।

अंत में, ''शीत युद्ध बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में जलवायु संबंधी संघर्ष था। इस संघर्ष में, सोवियत संघ और एक वैकल्पिक आर्थिक व राजनीतिक व्यवस्था, साम्यवाद के समर्थक उसके मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध वैचारिक युद्ध में अमेरिका और पूंजीवाद के समर्थकों समेत उसके मित्र राष्ट्र शामिल थे''।

संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ दो महाशक्तियां युद्ध के पश्चात की परिस्थितियों से लाभ उठाना चाहती थीं उनकी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति में दोनों ही

टिप्पणी

एक–दूसरे के लिए बाधक थे। दोनों ही देश विश्व को अपनी नीतियों से प्रभावित कर अपने पक्ष में शामिल करना चाहते थे उससे उत्पन्न परिस्थितियों ने शीत युद्ध को जन्म दिया। अनेक घटनाक्रमों ने शीत युद्ध को गति प्रदान की और यह 1990 के दशक तक चलता रहा। यह समस्या अंततः सोवियत संघ के विघटन से समाप्त हुई।

मित्र राष्ट्रों की विजय के साथ द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति हुई और विश्व शांति एवं सुरक्षा के नये दृष्टिकोण के बारे में विचार करने लगा, परंतु ऐसा संभव नहीं हुआ। पूर्व से चली आ रही अमेरिका और सोवियत संघ की मित्रता ने नया मोड ले लिया। वे अब वैचारिक शत्रु थे उन्होंने यह नया युद्ध अपनी सशस्त्र सेनाओं के द्वारा नहीं लड़ा। उन्होंने इसे राजनयिक युद्ध का रूप दिया। गंभीर तनाव की स्थिति के साथ एक दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयास किया। यह एक मौन संघर्ष था जिसे शीतयुद्ध का नाम दिया गया।

यह स्थिति चार दशकों तक चली अंततः इसका स्थान कालान्तर में सोवियत–अमेरिकी समझौते ने ले लिया। दोनों देशों के राष्ट्राध्यक्षों अमेरिका के राष्ट्रपति जॉर्जबुश तथा सोवियत संघ के राष्ट्रपति गोर्वाचोब ने शांतिपूर्ण नीति अपनाते हुए शीत युद्ध समाप्त करने की घोषणा की।

शीतयुद्ध का अर्थ एवं परिभाषा

शीतयुद्ध शब्द से सोवियत संघ–अमेरिका के शत्रुतापूर्ण एवं तनावपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय संबंधों की अभिव्यक्ति होती है। इस शब्द को 'वॉल्टर लिपमैन' ने अपनी पुस्तक में शीतयुद्ध (The Cold war) का नाम दिया है और यही शब्द भविष्य में लोकप्रिय हुआ है।

यह दो शक्तिशाली राष्ट्रों के मध्य वैचारिक प्रतिस्पर्धा थी जो साम्यवाद एवं पूंजीवाद द्वारा नव स्थापित गणतंत्रीय राष्ट्रों के मध्य एकाधिकार स्थापित करने की प्रतिस्पर्धा थी। यह एक ऐसा संघर्ष था जिसमें प्रत्यक्ष में सहयोग एवं अप्रत्यक्ष रूप में एक दूसरे के विरुद्ध थे। इस युद्ध ने सामाजिक विज्ञानों, आर्थिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक मापदंड़ों को नया रूप दिया।

यह एक ऐसा मनोवैज्ञानिक युद्ध था जिसमें प्रतिपक्ष के प्रभाव क्षेत्र को कम करने तथा अपने समर्थकों की संख्या में वृद्धि का प्रयास किया जाता था। शीतयुद्ध के समय संसार में दो स्पष्ट प्रतिद्वंदी गुट थे। ये दोनों सशस्त्र गुट थे जो अपने सैनिकों, तोपों, टैंकों, विमानों तथा युद्धपोतों का प्रयोग नहीं करते थे।

परिभाषाएं

"शीत युद्ध एक ऐसा युद्ध था जो युद्ध स्थल में नहीं लड़ा जाता था, परंतु मानवों के मस्तिष्क में लड़ा जाता है, एक (व्यक्ति) अन्य के मस्तिष्कों को नियंत्रित करने का प्रयास करता है।"

लुई हाल ने अपनी पुस्तक 'The Cold War as History' में लिखा है– "शीत युद्ध दो गुटों के बीच तीव्र तनाव की स्थिति थी, यह सशस्त्र युद्ध से भी अधिक भयंकर था,

शीतयुद्ध के विभिन्न पक्ष समस्याओं को उलझाने का प्रयास करते थे, बजाय इसके कि उन्हें सुलझाने की चेष्टा करें, सभी विवादों तथा संघर्षों को शीत युद्ध के मोहरों के रूप में प्रयोग किया जाता था।"

टिप्पणी

ग्रीष्स के अनुसार– "परमाणु युद्ध में शीतयुद्ध, संघर्ष का एक ऐसा रूप है, जो कि ग्रीष्म युद्ध के स्तर से नीचे लड़ा जाता है।"

अंग्रेजी शब्दकोश के अनुसार– "शीत युद्ध का अर्थ है अप्रकट हिंसा के अवरोध और प्रचार के माध्यम से वैर का निर्वाह।"

के.पी.एस. मेनन के अनुसार– "जैसे कि विश्व ने अनुभव किया, शीतयुद्ध, दो विरोधी विचारधाराओं, दो पद्धतियों, दो गुटों, दो राज्यों और अपनी चरम स्थिति में दो व्यक्तियों के मध्य दृढ़ संघर्ष था। ये विचारधाराएं हैं– पूंजीवादी और साम्यवादी।"

शीतयुद्ध की प्रकृति

इसकी प्रकृति कूटनीतिज्ञ युद्ध जैसी थी। दोनों पक्ष शांति के संबंध बनाते हुए भी एक दूसरे से शत्रुता रखते थे। एक दूसरे को कमजोर करने का कोई भी अवसर नहीं जाने देते थे। अपने प्रभाव क्षेत्र के विस्तार हेतु सैद्धांतिक एवं मनोवैज्ञानिक आधार लेते हुये दूसरे देशों के सैनिक हस्तक्षेप, शस्त्र आपूर्ति, शस्त्रीकरण, सैनिक गुटबंदी और प्रादेशिक संगठनों का निर्माण शीतयुद्ध के प्रमुख घटक थे। यह दो महाशक्तियों के सीधे टकराव की अनुपस्थिति थी।

शीत युद्ध के कारण

"शीत युद्ध एक प्रकार का वाक् युद्ध था जो कागज के गोलों, पत्र पत्रिकाओं, रेडियो तथा प्रचार साधनों तक ही लड़ा गया।" इसमें दोनों महाशक्तियों ने अपना सर्वस्व कायम रखने के लिए विश्व के अधिकांश हिस्सों में परोक्ष युद्ध लड़े।

द्वितीय विश्व युद्ध में अधिनायकतंत्र के विरुद्ध भले ही अमेरिका एवं रूस एकजुट थे परंतु उनके बीच वैचारिक मतभेद स्पष्ट दिखाई देते थे। एक साम्यवाद का रक्षक था तो दूसरा पूंजीवाद का। अतः शीतयुद्ध की धीमी शुरुआत 1942 से ही हो गई जब सोवियत संघ ने स्वयं की तैयारी के साथ हिटलर का सामना किया और उसका पीछा करते हुए जर्मनी की राजधानी बर्लिन पहुंच गया। उनकी शक्ति से यूरोपीय राष्ट्र आश्चर्यचकित हो गये और सोचने पर विवश हो गये कि एक दिन ऐसी स्थिति में साम्यवाद का विस्तार पूरे विश्व में स्थापित हो जायेगा।

शीत युद्ध के निम्नलिखित कारण हैं–

(1) **ऐतिहासिक कारण** : रूस की 1917 की बोल्शेविक क्रांति से ही यूरोपीय राष्ट्र सोवियत संघ को संदेह की दृष्टि से देख रहे थे, क्योंकि साम्यवाद एक विश्वव्यापी आंदोलन था।

(2) **याल्टा सम्मेलन की अवहेलना** : यह सम्मेलन 1945 में रूजवेल्ट, चर्चिल, स्टालिन के बीच हुआ। इस सम्मेलन में पोलैण्ड में प्रतिनिधि शासन व्यवस्था

टिप्पणी

को मान्यता देने की सहमति हुई। परंतु इस समझौते की अवहेलना कर वहां लुबलिन सरकार को ही मान्यता दी एवं अमेरिका ब्रिटेन के प्रतिनिधियों को प्रवेश के लिए मना कर दिया। हंगरी, रोमानिया, चेकोस्लोवाकिया तथा बुल्गारिया पर भी अपना प्रभाव बढ़ाना शुरू कर दिया। सोवियत संघ के इन कार्यों से पश्चिमी राष्ट्रों को उस पर संदेह होने लगा।

(3) **एक–दूसरे के विरुद्ध प्रचार अभियान** : सोवियत संघ ने मीडिया के माध्यम से पश्चिमी राष्ट्रों के विरुद्ध उनकी साम्राज्यवादी नीतियों के विरुद्ध खुलकर प्रचार किया। एटम बम से हुए विनाश एवं उपनिवेशवाद ने भी साम्राज्यवाद के विरुद्ध पूरे विश्व में मोर्चा खोल दिया। पश्चिमी राष्ट्र भी अमेरिका के साथ मिलकर साम्यवाद विरोधी अभियान में शामिल हो गए। यह क्रम पूरे शीतयुद्ध के काल में रहा।

(4) **शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में सोवियत संघ** : सोवियत संघ 'समाजवादी क्रांति' के पश्चात एक नई शक्ति के रूप में उभरकर सामने आया। उसने पश्चिमी राष्ट्रों के मन में ईर्ष्या की भावना पैदा कर दी थी और उन्हें इस बात की चिंता थी कि वह पूरे विश्व में साम्यवाद का विस्तार करेगा। इस कारण से उन्होंने सोवियत संघ विरोधी अभियान की शुरुआत कर एकजुट होने के प्रयास तेज कर दिए।

(5) **ईरान से सोवियत संघ द्वारा सेनाएं न हटाया जाना** : द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति एवं जर्मनी के आत्मसमर्पण के बाद 6 महीने के अंदर ईरान से सेनाएं हटानी थी। पश्चिमी–राष्ट्रों ने अपनी सेनाएं वापिस बुला ली परंतु सोवियत संघ ने ऐसा नहीं किया। उसने ईरान से तेल समझौता किया। संयुक्त राष्ट्र संघ के दबाव से उसने ईरान से सेनाएं हटा तो ली परंतु सोवियत संघ की इस नीति से पश्चिमी राष्ट्र अप्रसन्न हो गए।

(6) **तुर्की में सोवियत हस्तक्षेप** : सोवियत संघ तुर्की पर अपना प्रभाव जमाना चाहता था। उसने तुर्की के कुछ प्रदेशों एवं वास्फोरस में सैनिक अड्डा बनाने के लिए दबाव डाला। जिसके कारण अमेरिका ने 'ट्रूमैन सिद्धांत' के माध्यम से तुर्की को सहायता देने का प्रयास किया जिसमें वहां पर साम्यवादी प्रभाव को रोका जा सके।

(7) **पूर्वी यूरोप में साम्यवादी सरकारों की स्थापना** : सोवियत संघ ने पूर्वी यूरोप को हिटलर की अधीनता से मुक्त किया और वहां साम्यवादी सत्ता की स्थापना के प्रयास किये। पोलैण्ड, हंगरी, बुल्गारिया, रोमानिया, अल्बागिया चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया आदि राष्ट्रों में साम्यवादी दल द्वारा सरकारें बनाई गई। इससे पश्चिमी राष्ट्र बौखला उठे।

(8) **द्वितीय मोर्चे का प्रश्न** : द्वितीय विश्व युद्ध के समय जर्मन सेनाएं तेजी से सोवियत संघ की तरफ बढ़ रही थी तब सोवियत संघ के राष्ट्रपति 'स्टालिन' ने पश्चिमी राष्ट्रों से सहायता मांगी परंतु पश्चिमी राष्ट्रों ने उसकी मांग पर ध्यान न देकर जानबूझ कर द्वितीय मोर्चा खोलने में देर की। वह ऐसा

इसलिए कर रहे थे ताकि जर्मनी उनके वैचारिक दुश्मन की शक्ति को कम कर सके। इसने पश्चिमी राष्ट्रों के प्रति सोवियत संघ के मन में नफरत उत्पन्न कर दी।

टिप्पणी

(9) एटम बम का आविष्कार : सोवियत संघ की सहमति के बिना अमेरिका ने जापान के हीरोशिमा, एवं नागासाकी पर परमाणु बम गिराए। यह उसकी गुप्त योजना थी जिसकी जानकारी सोवियत संघ को नहीं थी। अमेरिका को यह अभिमान हो गया कि उसके पास अणुबम है और वह विश्व की सर्वोच्च शक्ति है। परंतु 1949 में सोवियत संघ ने अणुबम का आविष्कार कर उसके इस भ्रम को तोड़ दिया। इस प्रकार इसने एक अनवरत शस्त्रीकरण की होड को जन्म दिया एवं पूरे विश्व को तीसरे विश्व युद्ध के भय से आतंकित कर दिया।

(10) शून्यता की अवधारणा : द्वितीय विश्व युद्ध के परिणामस्वरूप जापान एवं जर्मनी की पराजय ने शून्यता की स्थिति को जन्म दिया। यूरोप और एशिया के देशों में इस शून्य को भरने की सामर्थ्य सोवियत संघ तथा संयुक्त राज्य अमेरिका देशों में थी। दोनों इस शून्यता की स्थिति को भरने में सबके विरोधी बन गये और शीतयुद्ध को जन्म दिया।

(11) कुछ अन्य कारण

- सोवियत संघ द्वारा यूनान के गृहयुद्ध में साम्यवादियों की सहायता किया जाना।
- अमेरिका और सोवियत संघ के बीच लैंड लीज समझौता हुआ जिसमें सोवियत संघ को सहायता देने की बात थी। अमेरिका ने उसे सहायता देना बंद कर दिया।
- अमेरिका द्वारा इटली में फासीवादी सिद्धांतों का समर्थन करना।
- सोवियत संघ द्वारा लंदन प्रोटोकोल का उल्लघंन कर बर्लिन की नाकेबंदी किया जाना
- अमेरिका और पश्चिमी देशों के प्रत्येक प्रस्ताव को निरस्त करने के लिए बार–बार वीटो का प्रयोग किया जाना।
- दो विरोधी वैचारिक मतभेद वाले राष्ट्र विश्व पर अपना–अपना प्रभाव स्थापित करना चाहते थे– मार्गेन्याऊ के अनुसार– "अंतर्राष्ट्रीय राजनीति शक्ति संघर्ष की राजनीति है।"

इस प्रकार अमेरिका और रूस के मध्य तनावपूर्ण संबंधों का नाम शीत युद्ध है। यह 1945 से 1991 तक चला। इसे विश्व में वैचारिक व राजनीतिक मतभेदों को जन्म दिया।

शीत युद्ध की उत्पत्ति एवं विशेषताएं

शीत युद्ध की उत्पत्ति के अनेक घटक हैं। कुछ अंतर्राष्ट्रीय घटनाक्रम थे तो कुछ वैचारिक असमानताएं थी। युद्ध के पश्चात अंतर्राष्ट्रीय शून्यता को उभरने एवं अपने–अपने

टिप्पणी

वर्चस्व को स्थापित करने के उद्देश्य से वे एक–दूसरे को बाधक समझने लगे, और आशंका एवं भय के वातावरण ने शीत युद्ध की परिस्थितियों को जन्म दिया। इसमें राजनीतिक दाव पेंच, कूटनीतिक चालें, तनाव और प्रतिद्वंद्विता, घात–प्रतिघात सब कुछ शामिल था। शीत युद्ध की उत्पत्ति के तीन सिद्धांत हैं जो निम्नानुसार हैं–

(1) **परंपरावादी विचारक** : इस विचारधारा के समर्थक शीतयुद्ध की उत्पन्न परिस्थिति के लिए सोवियत संघ को उत्तरदायी मानते हैं–इस धारा के प्रमुख विचारक– "हरबर्ट फिएस, विलियम मैक्नील, तथा आर्थर श्लेसिंगर जूनियर आदि थे।"

(2) **पुनर्विचारक** : इस धारा के विद्वान है– विलियम–ए–विलियम्स, जेब्रियल कोल्को तथा लॉयड गार्डनर ये सभी संयुक्त राज्य अमेरिका को शीतयुद्ध का उत्तरदायी बताते है।

(3) **उत्तर–पुनर्विचारक** : जॉन गैडिस, डेनियल, पर्गिन, अनेस्ट नोल्ला लुन्देस्ताढ ये विद्वान दोनों ही महाशक्तियों को इस युद्ध का उत्तरदायी ठहराते है।

विशेषताएं

शीत युद्ध की मुख्य विशेषताएं निम्नलिखित हैः–

(1) यह एक वैचारिक युद्ध था जो समाचार, अखबारों एवं कूटनीति के माध्यम से लड़ा गया।

(2) साम्यवाद एवं पूंजीवाद का प्रभाव।

(3) अस्त्र–शस्त्र का उपयोग नहीं।

(4) मस्तिष्क का युद्ध।

(5) वाकपतु प्रणाली का उपयोग सबसे ज्यादा हुआ।

(6) युद्ध की स्थिति उत्पन्न तो हुई परंतु यद्ध नहीं।

(7) अपनी–अपनी विचारधारा को श्रेष्ठ स्थापित करने की प्रतिस्पर्धा।

(8) सोवियंत संघ एवं अमेरिका के वर्चस्व का युद्ध था।

शीत युद्ध के वैचारिक एवं राजनीतिक आधार

शीत युद्ध के वैचारिक एवं राजनीतिक आधारों को निम्न प्रकार से समझाया गया हैः–

वैचारिक आधार

वास्तविकता से कहा जाये तो यह दो महाशक्तियों का युद्ध नहीं था, बल्कि दो विचारधाराओं का संघर्ष था– प्रथम साम्यवाद–जो समाज के कमजोर वर्ग, मजदूरों और किसानों का प्रतिनिधित्व करता है। द्वितीय पूंजीवादी विचारधारा–जो इस कमजोर वर्ग पर शासन करता है। अपने आर्थिक हितों के लिए इनका शोषण करता है। यह प्रकृति का नियम है कि शक्तिशाली व कमजोर एक साथ कभी सहयोग से नहीं रह सकते और न ही प्रत्यक्ष संघर्ष के साथ रहा जा सकता है। दोनों ही शक्तिशाली शब्दों ने इन

विचारधाराओं को नेतृत्व प्रदान कर विश्व के अन्य राष्ट्रों पर अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने का प्रयास किया। इन परिस्थितियों ने विश्व को दो खेमों में बांट दिया। सशस्त्र संघर्ष कुछ समय के लिए होते है। परंतु इस वैचारिक संघर्ष ने यूरोप का 1945 से 1991 तक का समय ले लिया और यह स्पष्ट हो गया कि कमजोर वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाला भी कमजोर होता है।

टिप्पणी

राजनीतिक आधार

दोनों महाशक्तियों ने विचारधारा के संघर्ष के ढांचे के अंतर्गत भौगोलिक राजनीतिक संघर्ष के रूप में शीतयुद्ध लड़ा। जोसेफ स्टालिन ने 1946 में कहा था कि "विश्व दो विरोधी–विचारधाराओं में बंट गया है, एवं इन विचारधाराओं में कभी मेल नहीं हो सकता। वहीं दूसरी ओर अमेरिका की विदेश नीति का मुख्य उद्देश्य सोवियत कम्युनिज्म के विस्तार को रोकना था।

इस राजनयिक युद्ध में एक ओर अमेरिका ने सोवियत संघ को विश्व शांति का शत्रु तथा साम्यवाद को व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए विनाशक के रूप में प्रस्तुत किया। अमेरिका सोवियत संघ को विस्तारवादी देश का नाम देता रहा जिसने बलपूर्वक पूर्वी देशों में साम्यवाद को स्थापित किया।

दूसरी ओर सोवियत संघ ने अमेरिका पर यह दोषारोपण किया कि वह उपनिवेशवादी, साम्राज्यवादी तथा पूंजीवादी शोषण का प्रतीक है। इन दोनों गुटों में अनेक देश शामिल थे। अमेरिकी गुट में शामिल देश ब्रिटेन, फ्रांस, कनाडा, इटली बेल्जियम, ऑस्ट्रेलिया, ग्रीस, पाकिस्तान आदि थे। सोवियत गुट में पोलैण्ड, बुल्गारिया, रूमानिया, हंगरी, चेकोस्लोवाकिया आदि देश शामिल थे।

शीत युद्ध में अमेरिका का वर्चस्व कायम रहा। सोवियत नेता गोर्बाचोव ने लंबे समय से चले आ रहे संघर्ष का अंत किया उन्होंने कहा "विश्व की सामान्य सुरक्षा अविमान्य है।" इस सोच ने सत्तर वर्ष से चले आ रहे गर्मशीत युद्ध का अंत किया।

संक्षेप में गोर्बाचोव ने दो विचारधाराओं की जगह एक विश्व की बात कही, जो परस्पर निर्भर एवं अभिन्न हैं। उसने कहा कि सैनिक शक्ति से कोई भी देश सुरक्षित नहीं रह सकता है। सुरक्षा राजनीतिक उपायों से परस्पर आधार पर सुनिश्चित की जा सकती है, हमारा उद्देश्य अंतर्राष्ट्रीय सुरक्षा की व्यापक व्यवस्था का निर्माण करना है। इस प्रकार शीत युद्ध की समाप्ति हुई।

शीत युद्ध का विकास

अध्ययन की सुविधा के लिए शीत युद्ध के विकास को छह भागों में विभाजित किया गया है।

(क) प्रथम भाग – 1917 से 1945

(ख) द्वितीय भाग – 1946 – 1953

(ग) तृतीय भाग – 1954 – 1958

(घ) चतुर्थ भाग – 1959 – 1962

(ङ) पंचम भाग – 1963 – 1979

(च) षष्ठम भाग – 1980 – 1989

टिप्पणी

(क) शीतयुद्ध का प्रथम भाग (1917–1945) : अमेरिकी विद्वान 'हाल' तथा फ्रेंच विद्वान आंध्रे फोन्तेन ने शीतयुद्ध की शुरुआत 1917 की रूस की क्रांति से मानी है जब इस क्रांति ने मार्क्स के सिद्धांतों को मूर्तरूप दिया। पूंजीवादी देशों ने इस सिद्धांत का स्वागत नहीं किया और क्रमशः इनमें विरोध बढ़ता गया और कालान्तर में शीत युद्ध का रूप ग्रहण कर लिया।

(ख) शीतयुद्ध का द्वितीय भाग (1946–1953) द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात साम्यवादी एवं पूंजीवादी देशों में अपने–अपने सिद्धांतों को स्थापित करने के लिए जो प्रतिस्पर्धा की शुरुआत हुई उसमें शीत युद्ध के कारण स्पष्ट दिखाई देने लगे द्वितीय भाग की कुछ प्रमुख घटनाएं जिनमें शीतयुद्ध अघोषित युद्ध बन गया इस प्रकार हैं–

(1) पोलैण्ड का प्रश्न : सोवियत संघ द्वारा 'लुबलिन में 1944 में एक सरकार की स्थापना की गई जिससे पोलैण्ड पर उसका प्रभाव स्थापित हो गया यह 'याल्हा सम्मेलन' की अवहेलना थी जिसके अनुसार पोलैण्ड में स्वतंत्र एवं निष्पक्ष चुनाव कराये जाते थे। परन्तु वहां पर सोवियत संघ ने अपना प्रभाव स्थापित कर लिया।

(2) बाल्कन समझौता सोवियत संघ द्वारा न मानना : मास्को में 1944 में स्टालिन और चर्चिल की विदेशमंत्रियों के साथ बैठक हुई जिसका उद्देश्य बाल्कन राज्यों के भविष्य को सुनिश्चित करना था एवं उन्हें अपने शत्रुओं से स्वतंत्र कराना था परंतु सोवियत संघ ने इस सम्मेलन की शर्तों को नहीं माना और उसकी अवहेलना करना शुरू कर दिया।

(3) फुल्टन घोषणा : 1946 में चर्चिल ने सोवियत संघ के साम्यवाद की आलोचना की उसने अमेरिका के फुल्टन नामक स्थान पर आंग्ल अमेरिकी गठबंधन को मजबूत बनाने पर जोर दिया एवं सोवियत संघ की नीति को आक्रमण बताया।

(4) जर्मनी का विभाजन : 1949 में द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात मित्र राष्ट्रों ने जर्मनी को और आस्ट्रेलिया को अस्थायी रूप से चार–चार अधिकार क्षेत्रों में विभाजित कर दिया था। इसमें ब्रिटेन, फ्रांस, अमेरिका ने अपने अधिकृत क्षेत्रों में 1949 को जर्मनी के संघीय गणतंत्र की स्थापना की। इसकी प्रतिक्रिया में सोवियत से पूर्वी जर्मनी की स्थापना की इस प्रकार जर्मनी का एकीकरण शीतयुद्ध की चपेट में आ गया।

(5) ट्रूमैन सिद्धांत : इस सिद्धांत की घोषणा 12 मार्च 1947 को अमेरिका के राष्ट्रपति हैरी एस ट्रूमैन द्वारा की गई। इसमें सोवियत संघ के साम्यवादी और साम्राज्यवादी प्रयोगों पर नियंत्रण की अमेरिकी नीति थी जिसमें दूसरे देशों को आर्थिक सहायता प्रदान करने के उपाय बताए गये एवं उसने ग्रीस एवं

तुर्की की अर्थव्यवस्था और सेना के समर्थन के लिए वित्तीय सहायता प्रदान करने का समर्थन किया।

टिप्पणी

(6) आयरन कर्टेन : द्वितीय विश्व युद्ध के बाद सोवियत संघ द्वारा स्वयं को उसके आश्रित पूर्वी एवं मध्य यूरोपीय देशों को पश्चिम एवं अन्य गैर साम्यवादी के साथ खुले संपर्क से अलग रखने के लिए एक राजनीतिक सैन्य और वैचारिक अवरोध खड़ा किया गया जिसे 'आयरन कर्टेन' कहा गया। इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग ब्रिटेन के प्रधानमंत्री विंस्टन चर्चिल ने किया।

(7) मार्शल योजना : 1947 में द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात यूरोपीय अर्थव्यवस्था बिखर गई थी। चारों ओर असंतोष, दरिद्रता और आर्थिक संकट बढ़ गया था। ऐसी स्थिति में यूरोप में साम्यवाद के विस्तार की संभावना बढ़ गई। इस समस्या के समाधान के प्रयास अमेरिका के विदेश सचिव जॉर्ज मार्शल द्वारा किये गये। उन्होंने कहा– "हमारी नीति किसी देश या विचारधारा के विरुद्ध नहीं है परंतु यह भूख, निर्धनता, निराशा तथा अव्यवस्था के विरुद्ध है।"

योजना की विशेषताएं

- योजना यूरोप के समस्त राज्यों के लिए थी।
- आपसी समस्या एवं सहयोग प्रमुख बिंदु था।
- यह योजना चार के लिए थी।
- अमेरिका द्वारा पश्चिमी यूरोप को आर्थिक सहायता देना–इस योजना से अमेरिका द्वारा पश्चिमी देशों को आर्थिक सहायता प्रदान की गई, जिससे उसका वर्चस्व यूरोपीय देशों में स्थापित हो गया एवं साम्यवाद के बढ़ते प्रभाव को नियंत्रित किया गया।

(8) कॉमिन्फार्म : मार्शल योजना के प्रतिउत्तर में सोवियत संघ ने 5 अक्टूबर 1947 को यूगोस्लाविया की राजधानी ब्रेलगेड में साम्यवादी सूचना कार्यालय खोलने का निश्चय किया। इसका उद्देश्य साम्यवादी नीतियों को क्रियान्वित व समायोजित करना था।

(9) बर्लिन की नाकेबंदी : पश्चिमी देश जर्मनी में मौद्रिक सुधार लाना चाहते थे, लेकिन सोवियत संघ ने अपना जवाब बर्लिन नाकाबंदी के रूप में दिया। सोवियत संघ ने बर्लिन एवं पश्चिमी क्षेत्रों के बीच सभी प्रकार के यातायात पर प्रतिबंध लगा दिया। यह प्रतिबंध ब्रुसेल्स संधि के विरोध में था। यह ब्रिटेन, फ्रांस और बेल्जियम के बीच रक्षात्मक संधि थी। इस संधि में सोवियत संघ का प्रापक्षनाम नहीं था परंतु अप्रत्यक्ष रूप से यह उसके विरुद्ध थी। अमेरिकी रूख कठोर होने पर यह नाकाबंदी उसने 1949 में समाप्त कर दी थी।

(10) यूगोस्लाविया एवं गुटनिरपेक्षता : यूगोस्लाविया ने 1961 में साम्यवादी गुट से अलग होकर भारत और मिश्र के साथ मिलकर 1961 में गुटनिरपेक्ष आंदोलन की स्थापना की।

(11) उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन (नाटो) : उत्तरी अटलांटिक संगठन (NATO) की स्थापना 4 अप्रैल 1949 को 12 देशों द्वारा अमेरिका के

टिप्पणी

वाशिंगटन में की गई। यह एक अंतर–सरकारी सैन्य संगठन है। इसका मुख्यालय बेल्जियम की राजधानी ब्रुसेल्स में है। वर्तमान में इसके 30 सदस्य हैं। यह यूरोप एवं उत्तरी अमेरिका के देशों के मध्य एक सैन्य संगठन है। यह सामूहिक रक्षा के सिद्धांत पर काम करता है जिसका तात्पर्य एक या अधिक सदस्यों पर आक्रमण सभी सदस्य देशों पर आक्रमण माना जाता हैं। यह नाटो के अनुच्छेद 5 में निहित है। यह अनुच्छेद संयुक्त राज्य अमेरिका पर हुये आतंकवादी हमले 11 सिंतबर 2001 के बाद लागू किया था।

उद्देश्य

- सोवियत संघ की साम्यवादी विचारधारा को रोकना
- राजनीतिक एवं सैन्य तरीकों से अपने सदस्य देशों को स्वतंत्रता और सुरक्षा की गारंटी प्रदान करना।

नाटो की संरचना

- **परिषद** : यह नाटो का सर्वोच्च अंग है इसका निर्माण राज्य के मंत्रियों से होता है इसका कार्यलय फ्रांस की राजधानी 'पेरिस' में है इसके अध्यक्ष बारी–बारी से विभिन्न देशों के रक्षा मंत्री होते हैं।
- **उप परिषद** : यह नाटो संगठन से संबंधित सामान्य हितों वाले विषयों पर विचार करती है।
- **प्रतिरक्षा समिति** : इसका मुख्य कार्य प्रतिरक्षा, रणनीति तथा नाटो और नाटो से संबंधित अन्य सैन्य विषयों पर विचार विमर्श करना है।
- **सैनिक परिषद** : इसका प्रमुख उद्देश्य सैनिक मामलों में परामर्श देना था। 1950 में परिषद ने सोवियत संघ से पश्चिमी यूरोप की रक्षा के लिए संयुक्त सेना का गठन किया जिसका सेनापति अमेरिका के जनरल आइजनहावर को बनाया गया।

प्रभाव

- द्वितीय महायुद्ध से प्रभावित यूरोपीय देशों को सैन्य सुरक्षा का आश्वासन देकर अमेरिका ने यूरोपीय देशों को सुरक्षा क्षेत्र प्रदान किया जिसके साथ रहकर वे अपना आर्थिक व सैन्य विकास कर सकें।
- इस संगठन की स्थापना से शीतयुद्ध को बढ़ावा मिला सोवियत संघ ने इसे साम्यवाद के विरोध में देखा और 'वारसा' पैक्ट सैन्य संगठन का निर्माण किया।

संक्षेप में नाटो संगठन ने यूरोपीय राज्यों को नेतृत्व प्रदान किया। शीतयुद्ध के समय इस संगठन ने यूरोप में एकता स्थापित करने के रूप में कार्य किया। उसकी भूमिका शांति स्थापना एवं आपसी सहयोग बढ़ाने में महत्वपूर्ण रही।

- नाटो वर्तमान महासचिव – नार्वे के पूर्व प्रधानमंत्री जेन्स स्टोलहेनवर्ग 1 अक्टूबर 2014 से हैं।
- इसका सम्मेलन जून 2021 में बेल्जियम की राजधानी –ब्रुसेल्स' में संपन्न हुआ।

टिप्पणी

(12) साम्यवादी चीन का उदय : 1949 में चीन में साम्यवादी क्रांति को सफलता प्राप्त हुई इससे सोवियत संघ को प्रोत्साहन मिला। अमेरिका ने चीन की साम्यवादी सरकार को मान्यता नहीं दी एवं संयुक्त राष्ट्रसंघ में उसकी स्थायी सदस्यता का विरोध किया गया। चीन की सदस्यता को लेकर सोवियत संघ एवं अमेरिका आमने–सामने हो गये। शीतयुद्ध को बढ़ावा मिला। 1971 में चीन को स्थायी सदस्यता मिल गई।

(13) कोरिया का युद्ध : 1950 में उत्तरी कोरिया ने दक्षिण कोरिया पर आक्रमण कर दिया। यह एक प्रकार से पश्चिमी देशों एवं साम्यवादी देशों के बीच अप्रत्यक्ष युद्ध था। अमेरिका ने सुरक्षा परिषद से सोवियत संघ के बहिष्कार का लाभ उठाते हुये उत्तर कोरिया को आक्रमणकारी घोषित कराया। शांति की आड़ में उसके विरुद्ध सैनिक कार्यवाही का प्रस्ताव पारित कराया। यह युद्ध 4 वर्ष तक चला। यह शीतयुद्ध की एक महत्वपूर्ण घटना थी। चेस्टर वोलस ने लिखा है– कोरिया युद्ध ने रूसी और चीनी नीतियों को एक ही धक्के में एकत्र कर दिया। चीन को सोवियत संघ की आवश्यकता स्पष्ट कर दी।

(ग) शीतयुद्ध का तृतीय भाग (1954–1958 ई.) : इस काल में दोनों ही राष्ट्रों के नेतृत्व में परिवर्तन आया। स्टालिन के उत्तराधिकारी ख्रुश्चेव ने शांतिपूर्ण नीति अपनाने पर जोर दिया वहीं अमेरिका में ट्रूमेन के स्थान पर जनरल आइजनहावर राष्ट्रपति बने।

तृतीय भाग की घटनायें

- **आणविक परीक्षण** : 1953 में सोवियत संघ द्वारा प्रथम आणविक परीक्षण किया गया।
- **हंगरी में विद्रोह** : द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात हंगरी में कट्टरपंथी साम्यवादी रकोसी की सरकार थी उसने अनेक बुद्धिजीवियों को जेल में डाल दिया एवं वहां के प्रमुख नेता इमरे नाज को साम्यवादी दल से निष्कासित कर दिया। जिसमें उसे सत्ता से हटा दिया गया। उसका उत्तराधिकारी 'ऐना गेरो' को नियुक्त किया गया। हंगरी का युवा वर्ग उसके शासन से संतुष्ट नहीं था।

  23 अक्टूबर 1956 को हंगरी के युवा वर्ग ने विद्रोह कर दिया और यह आंदोलन हिसंक हो गया। सोवियत संघ ने हस्तक्षेप करते हुये आंदोलन का दमन करने का प्रयास किया। जनता ने हंगरी में पूर्ण लोकतांत्रिक व्यवस्था की मांग की तथा देशवासी समझौते से अलग हो गये। हंगरी में स्थिति तेजी से बदल रही थी। 30 अक्टूबर 1956 को पार्टी के बुडापेस्ट कार्यालय में घुसकर आंदोलनकारियों ने 'नाज' के निकट सहयोगियों सहित अनेक लोगों की हत्या कर दी। उसी दिन 'नाज' ने सर्वदलीय मिली जुली सरकार बनाने की घोषणा कर दी।

  अब हंगरी के लोग सोवियत संघ से संबंध विच्छेद चाहते थे। 'नाज' ने 1 नवम्बर 1956 को हंगरी की तटस्थता की घोषणा कर दी एवं 'वार्सा' समझौते

टिप्पणी

से अलग होने की घोषणा की। इस घोषणा से सोवियत नेता क्रोधित हो गये एवं 'नाज' की हत्या कर दी गई। संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा द्वारा सोवियत सेनाओं को वापस जाने का आदेश दिया गया परंतु उसका दमन चक्र जारी रहा। इस विद्रोह में सोवियत संघ ने मनमानी की। अमेरिका को विफलता प्राप्त हुई और गुट निरपेक्षता का तीसरा रास्ता निकलकर सामने आया।

- **वारसा संधि (Warsaw Treaty Organisation-WTO)** : पश्चिमी राष्ट्रों के संगठन नाटो के जवाब में 1955 में सोवियत संघ के नेतृत्व में पूर्वी यूरोप के देशों ने अपना एक संगठन बनाया जिसकी बैठक समाजवादी राष्ट्र पोलैण्ड की राजधानी वारसा में हुई। इसलिए इसे वारसा पैक्ट कहा जाता है। इसका मुख्यालय मास्को (रूस) में था। इसमें शामिल राष्ट्र–अलबानिया, बुल्गारिया, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, पोलैण्ड और रोमानिया थे।

उद्देश्य

(1) पूर्वी यूरोपीय प्रतिद्वंदी के रूप में स्थापित होने के लिए संयुक्त सैन्य कमांड का गठन करना।

(2) शांति एवं सुरक्षा बनाना।

(3) शक्ति संतुलन को स्थापित करना।

(4) आपसी मित्रता, सहयोग और मदद करना।

(5) आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में सहयोग करना।

संधि की शर्तें

(1) संधि की धारा 3 के अनुसार– सशस्त्र सैनिक आक्रमण होने पर सदस्य देशों की सैनिक सहायता करेंगे।

(2) संधि की धारा 5 के अनुसार– संयुक्त सैनिक कमान का गठन।

(3) पारस्परिक संबंधों में शक्ति का प्रयोग नहीं करेंगे एवं अंतर्राष्ट्रीय विवादों को शांति के साथ निपटाने का प्रयास करेंगे।

वारसा पैक्ट की संरचना

इसका मुख्य अंग राजनीतिक परामर्शदात्री समिति थी। प्रत्येक देश इसका सदस्य होता था। इसकी बैठक वर्ष में दो बार होती थी।

सचिवालय

इसका पदाधिकारी महासचिव होता था।

संक्षेप में सोवियत संघ के विघटन के साथ वारसा पैक्ट भी समाप्त हो गया। चेकोस्लोवाकिया की राजधानी प्राग में 1991 में इसकी समाप्ति की घोषण की गई। चेक राष्ट्रपति वाक्लाव हावेल ने 2007 में छपी अपनी पुस्तक 'To the Castle and Back' में इसकी समाप्ति को एक उपलब्धि बताया।

1999 से 2009 तक हंगरी, पोलैण्ड, चेक रिपब्लिक, बुल्गारिया, लातविया, एस्टोनिया, लिथुआनिया, रोमानिया और स्लोवाकिया, अलबानिया सभी नाटो में शामिल हो गये।

टिप्पणी

- **स्वेज नहर संकट** : 19वीं शताब्दी में ब्रिटिश एवं फ्रांस ने मिलकर स्वेज नहर का निर्माण किया था। स्वेज नहर कंपनी के पास 1869 से लेकर 99 वर्ष की अवधि तक इस नहर का संचालन करने और उससे लाभ कमाने का अधिकार था। 1956 में मिश्र ने स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण कर नये संकट को जन्म दिया। इस कारण ब्रिटेन, फ्रांस, इजराइल ने मिश्र के विरोध में सैन्य कार्रवाई करने का निर्णय लिया। अमेरिका इस पक्ष में नहीं था। ब्रिटेन, फ्रांस एवं इजराइल ने मिश्र पर आक्रमण कर दिया। जिसका विरोध अमेरिका एवं सोवियत संघ दोनों ने किया जिस कारण ब्रिटेन और फ्रांस को 'स्वेजनहर' के लिए संयुक्त राष्ट्र की शांति सेना स्वीकार करनी पड़ी।
- **आइजनहावर का सिद्धांत** : आइजनहावर ने अपने सिद्धांत में 'समस्त स्वतंत्र विश्व' की सुरक्षा का आश्वासन दिया। इसके अंतर्गत अमेरिका की काग्रेंस ने राष्ट्रपति को यह अधिकार दे दिया कि वह साम्यवाद के खतरे को नियंत्रित करने के लिए अमेरिकी सशस्त्र सेनाओं का प्रयोग कर सकता है। यह सिद्धांत इस बात पर आधारित था कि ब्रिटिश शक्ति में कमी के कारण मध्य पूर्व में एक शून्य उत्पन्न हो गया था जिसे अमेरिका ने नहीं भरा तो सोवियत संघ उसे भरने का प्रयास करेगा।

(घ) शीतयुद्ध का चतुर्थ भाग (1959–1962)

(1) पेरिस शिखर सम्मेलन समझौता : सितंबर 1959 में सोवियत संघ के प्रधानमंत्री ख्रुश्चेव ने अमेरिका की यात्रा की तथा अमेरिका के राष्ट्रपति आइजनहावर से महत्वपूर्ण बातचीत की। अमेरिका, सोवियत संघ, ब्रिटेन तथा फ्रांस ने मिलकर 1960 में पेरिस शिखर सम्मेलन बुलाने पर समझौता किया।

(2) अमेरिकी जासूसी विमान का पकड़ा जाना : 1960 में अमेरिका का जासूसी विमान यू–2 सोवियत संघ की सीमा पर जासूसी करता हुआ पकड़ा गया।

(3) पेरिस शांति सम्मेलन की असफलता : 1960 में होने वाला पेरिस शांति सम्मेलन अमेरिका के जासूसी विमान यू–2 के जासूसी करते हुये पकड़े जाने पर विवादों के कारण सफल नहीं हो सका।

(4) 1961 में 'ख्रुश्चेव', सोवियत संघ और अमेरिका का आपसी विरोध : 1961 में 'ख्रुश्चेव' द्वारा पूर्वी जर्मनी के साथ एक पृथक संधि पर हस्ताक्षर करने की धमकी दी गई एवं 1961 में बर्लिन शहर में सोवियत संघ ने पश्चिमी शक्तियों को अलग करने के लिए दीवार बनानी शुरू कर दी जिसका अमेरिका ने कड़ा विरोध किया। दोनों ने अपनी सेनाएं युद्ध के लिए एकत्रित कर ली। शीतयुद्ध गर्म युद्ध में परिवर्तित होते–होते रह गया।

(5) क्यूबा संकट 1962 : क्यूबा कैरिबियन सागर में एक छोटा सा देश था। 1958 में डॉ फिदेल कास्त्रो के नेतृत्व में साम्यवादी सरकार की स्थापना हुई। अमेरिका के लिए यह असहनीय बात थी। अमेरिका ने क्यूबा से भागे शरणार्थियों के नाम पर क्यूबा मुक्ति सेना बना ली एवं क्यूबा पर सैनिक

आक्रमण की तैयारी करने लगा। सोवियत संघ के लिए भी, अमेरिका महाद्वीप में अपनी व्यवस्था की जीत, महत्वपूर्ण थी अतः वह भी इस प्रयास में लग गया।

टिप्पणी

इसके लिए उसने वहां नए–नए सैनिक अड्डे बनाये एवं मिसाइलों को अमेरिका की सीमा के आस–पास स्थापित किया। केनेडी ने भी क्यूबा जाने वाले सभी सैन्य जहाजों को रोकने के आदेश अपनी नौ–सेना को दिये एवं क्यूबा की नाकेबंदी कर दी। सोवियत संघ के जहाज इस समय क्यूबा जा रहे थे और यदि अमेरिका नौ–सेना इन्हें रोकती तो युद्ध की स्थिति उत्पन्न हो जाती।

संयुक्त राष्ट के जनरल सेक्रेटरी यू–थांट ने हस्तक्षेप कर आपसी वार्तालाप से इस समस्या के समाधान की बात की। सोवियत संघ अपनी मिसाइलों के रुख को मोड़ने तथा क्यूबा के मिसाइल क्षेत्रों को अलग करने के लिए सहमत हो गया। कैनेडी ने सोवियत संघ के इस निर्णय को 'एक महान राजनेता का निर्णय' कहा है। इस प्रकार यह संकट सोवियत संघ की समझौता नीति से टल गया।

(6) वियतनाम संघर्ष : हिंद–चीन की राजनीति एक जटिल समस्या थी। अन्नाम तोंकिन और कोचीनचीन को मिलाकर वियतनाम कहा जाता था। वियतनाम के दक्षिणी भाग पर फ्रांस समर्थित बाओदाई सरकार का शासन था और उत्तरी वियतनाम में हो–ची–मिन्ह के नेतृत्व में साम्यवादियों का। इसके अतिरिक्त लाओस और कंबोडिया दो राज्य थे जिनमें उनके पुराने राजवंशों का शासन था पर उन पर फ्रांस का प्रभुत्व था। इस प्रकार फ्रांस के आधिपत्य वाले राज्य उससे स्वतंत्रता की मांग कर रहे थे।

इस संघर्ष का दूसरा पक्ष यह था कि हो–ची–मिन्ह सरकार एवं बाओदाई सरकार के मध्य भी संघर्ष की स्थिति बनी रहती थी। फ्रांस की सेनाओं ने हो–ची–मिन्ह की सरकार को हराने का बहुत प्रयास किया परंतु उसमें वह सफल नहीं हो सकी। इस कारण उसने साम्यवादियों से समझौता करना ही श्रेयस्कर समझा।

जेनेवा समझौता 1954 : अमेरिका के लिए हिंद–चीन में साम्यवादी प्रभाव असहनीय था जिससे उसने इस संकट में प्रत्यक्ष हस्तक्षेप करने का निश्चय किया परंतु ब्रिटेन और फ्रांस सीधी कार्यवाही को तैयार नहीं हुए। अतः हिद–चीन की समस्या के निराकरण के लिए 1954 में जेनेवा में अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित हुआ इसमें 19 देश शामिल हुये।

समझौते की शर्तें

(1) वियतनाम को दो भागों में विभक्त किया गया–

(i) उत्तर वियतनाम

(ii) दक्षिण वियतनाम

(2) विभाजन की व्यवस्था अस्थाई थी।

टिप्पणी

(3) वियतनाम में चुनाव के द्वारा सर्वसम्पति से सरकार बनायी जाये।

(4) फ्रांस ने कम्बोडिया, लाओस, बाओदाई की पूर्ण स्वतंत्रता की पुष्टि की।

(5) अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण आयोग की स्थापना की गई– जिसमें भारत, पोलैण्ड और कनाडा सदस्य बने।

जेनेवा समझौते का कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ा और उत्तरी वियतनाम और दक्षिणी वियतनाम में युद्ध की शुरुआत हो गई। अमेरिका ने "साम्यवाद से जो कुछ बच सकता है वह बचाओ" को लेकर इस संघर्ष में हस्तक्षेप किया परंतु उसे किसी भी प्रकार की सफलता प्राप्त नहीं हुई। यह युद्ध 1975 में समाप्त हुआ। यहां पर अमेरिका की अपमानजनक पराजय एवं साम्यवादियों की जीत हुई। 1976 में वियतनाम में चुनाव हुये और एकीकृत वियतनाम का जन्म हुआ।

(ङ) शीत युद्ध का पंचम भाग एवं तनाव शैथिल्य 1963–1979 : सोवियत संघ एवं अमेरिका के सबंधों ने एक नये चरण में प्रवेश किया, जिसे डेटांट यानी तनाव में कमी कहा जाता है। 'डेटांट' का अर्थ तनाव शैथिल्य से है। पश्चिम एवं पूर्व के बीच तनाव की स्थिति को कम करने के लिए इस शब्द का प्रयोग किया गया। तनाव शैथिल्य की प्रक्रिया निक्सन एवं किसिंगर ने शुरु की और अनुकरण फोर्ड व जिमी कार्टर ने किया। तनाव शैथिल्य के लिए सोवियत कम्यूनिस्ट पार्टी के महासचिव ब्रेजनेव ने रूसी भाषा के शब्द 'Razryadka' का प्रयोग किया था। इस शब्द का शाब्दिक अर्थ– "किसी अस्त्र को खाली करना" है। 1977 में इसका प्रयोग तनाव शैथिल्य के लिए किया गया।

कोरल बेल के अनुसार– "तनाव शैथिल्य का अभिप्राय है तनाव में सोचसमझकर और जानबूझकर की गई कमी।"

कीसिंगर के अनुसार– "तनाव शैथिल्य विरोधी पक्ष का तनाव में कमी करने के उद्देश्य से प्रभावी और जानबूझकर किये गये प्रबंध का परिणाम है।"

एडवर्ड क्रैक्शा के अनुसार– "उष्ण स्थलों का शीतलीकरण।"

ब्रेजनेव के अनुसार– "तनाव शैथिल्य का अर्थ सबसे पहले शीत युद्ध पर काबू पाना था और फिर सामान्य स्थिति की ओर जाने और राज्यों के मध्य स्थायी संबंधी के लिए प्रयास करना, मतभेद दूर करना, विवाद सुलझाने की इच्छा बल प्रयोग द्वारा नहीं, धमकी और खींचातानी के द्वारा भी नहीं बल्कि शांति पूर्ण उपायों से करना है। एक–दूसरे के प्रति थोड़ा–बहुत विश्वास तथा एक दूसरे के उचित हितों पर विचार करने की क्षमता।"

तनाव शैथिल्य के कारण

तनाव शैथिल्य के कारण निम्न हैं–

(1) विवादों को शांति से तय करना एवं परमाणु युद्ध की संभावना को कम करना।

(2) विभिन्न देशों के बीच समानता, प्रादेशिक अखंडता परस्पर आदर आदि के आधार पर आपसी सहयोग एवं व्यापार को बढ़ाना।

टिप्पणी

तनाव शैथिल्य की प्रगति : 1962 में क्यूबा संकट के बाद शीत युद्ध के वातावरण में कुछ नरमी आई और दोनों गुटों के मध्य व्याप्त तनाव की भावना सौहार्दपूर्ण व मित्रता की भावना में बदलने के आसार दिखाई देने लग गए। शीतयुद्ध से पुराने अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का परिदृश्य बदलने लगा।

(1) **आंशिक परमाणु परीक्षण निषेध संधि 1963** : इस संधि पर ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका तथा सोवियत संघ ने हस्ताक्षर किये जिसके अनुसार भूमि के अंदर किये जाने वाले आणविक विस्फोटों पर प्रतिबंध लगा दिया गया। इसमें बाद में 102 राष्ट्रों ने हस्ताक्षर किये।

(2) **बर्लिन के संबंध** : बर्लिन के संबंध में चार देशों के मध्य 1971 में एक महत्वपूर्ण समझौता हुआ, परंतु बर्लिन के संबंध में न तो सोवियत संघ ने अपने दृष्टिकोण में कोई परिवर्तन किया और न पश्चिमी देशों ने अपनी नीति में कोई बदलाव किया।

(3) **अरब–इजराइल संघर्ष** : 1967 में अरब–इजराइल युद्ध में पश्चिमी शक्तियों की इजराइल के पक्ष में नीतियों के विरुद्ध सोवियत संघ खुले रूप से तथा दृढ़ता से सामने आया। अपने–अपने प्रभाव की दृढ़ता बढ़ाने की प्रतियोगिता ने अमेरिका और सोवियत संघ के शीत युद्ध की गहनता में वृद्धि कर दी परंतु इसके साथ आपसी सहयोग भी बनाये रखा।

(4) **ग्लासबोरो सम्मेलन** : 26 जून 1967 में ग्लासबोरो में सोवियत प्रधानमंत्री कोसीगिन तथा अमेरिकी राष्ट्रपति जानमन मिले। इस शिखर सम्मेलन में दोनों देशों के पारस्परिक संबंधों की समस्याओं, विश्व की मुख्य समस्याओं तथा अंतर्राष्ट्रीय विषयों को अच्छी तरह से समझने में सहायता मिली। परमाणु अप्रसार संधि 1968 ई. ने अमेरिका तथा सोवियत संघ के संबंध को मधुर बनाने में सहायता की।

(5) **हेलसिंकी सम्मेलन 1975** : हेलसिंकी में 35 देशों के महत्वपूर्ण सम्मेलन में महत्वपूर्ण दस्तावेज पर हस्ताक्षर हुए। यह सम्मेलन 1972 से 1975 तक चला। इसे 'सुरक्षा और सहयोग' का यूरोपीय सम्मेलन कहा गया। इस सम्मेलन में गुट निरपेक्ष यूगोस्लोवाकिया ने भी भाग लिया।

हेलसिंकी सम्मेलन के प्रमुख सिद्धांत

हेलसिंकी सम्मेलन के प्रमुख सिद्धांत निम्नलिखित हैं–

(1) सभी राष्ट्रों के अधिकारों का सम्मान।

(2) राष्ट्रों की सम्प्रभुता और समानता।

(3) बल, प्रयोग एवं धमकी निषेध।

(4) विवादों का शांतिपूर्ण समाधान।

(5) प्रादेशिक अखंडता की रक्षा।

(6) आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप।

टिप्पणी

(7) मानव अधिकारों एवं मौलिक स्वतंत्रता।

(8) आत्मनिर्णय का अधिकार।

(9) आपसी सहयोग की भावना का विस्तार।

(10) अंतर्राष्ट्रीय कानूनों के उत्तरदायित्व को मानना।

इस प्रकार हेलसिंकी सम्मेलन को शीतयुद्ध की समाप्ति का दौर समझा गया। अंतर्राष्ट्रीय तनाव में कमी आई और बहुत सी समस्याओं का समाधान आपसी विचार–विमर्श से खोजा गया।

(च) शीतयुद्ध का षष्ठ भाग–एवं नव शीतयुद्ध (1980–89) : शीत युद्ध के इस भाग में महाशक्तियों में सहयोग के साथ प्रतिद्वंद्विता भी चलती रही। इस भाग को युद्ध के अलावा सभी साधनों का संघर्ष भी कहा गया है। कुछ इसे दूसरा 'शीतयुद्ध' या 'नव शीत युद्ध' भी कहते हैं। इसकी शुरुआत अमेरिका के सत्ता परिवर्तन से मानी जाती है। राष्ट्रपति 'रीगन' के सत्ता में आने के पश्चात् पुनः एक प्रतिस्पर्धात्मक युग की शुरुआत हुई।

अफगानिस्तान संकट ने पुनः शीतयुद्ध को जन्म दिया। इस संकट को दितान्त (तनाव शैथिल्य) की शवयात्रा कहा गया है।

नव शीतयुद्ध की उत्पत्ति के कारण

नव शीतयुद्ध की उत्पत्ति के कारण निम्नलिखित हैं–

(1) सोवियत संघ की शक्ति में वृद्धि ने अमेरिका को चिंतित कर दिया।

(2) रीगन ने राष्ट्रपति बनते ही साम्यवादी विरोधी नीति अपनाई और मित्र राष्ट्रों का शस्त्रीकरण करने पर बल दिया।

(3) अमेरिका एवं सोवियत संघ के बीच अंतरिक्ष अनुसंधान को लेकर प्रतिस्पर्धा की शुरुआत हुई।

(4) अफगानिस्तान में सोवियत संघ ने हस्तक्षेप किया जिसे अमेरिका ने पसंद नहीं किया। राष्ट्रपति कार्टर के शासन काल के उत्तरार्ध में सोवियत संघ के साथ संबंधों में निरंतर बिगाड़ के कारण जिस तरह की राजनीतिक स्थिति पैदा हो गयी, उससे अमेरिका और सोवियत संघ में एक प्रकार के शीतयुद्ध की शुरुआत हो गई।

(5) दक्षिण पूर्वी एशिया में सोवियत संघ अपना प्रभाव स्थापित करना चाहता था।

(6) रोनाल्ड रीगन ने 'स्ट्रेटेजिक डिफेंस इनीशियेटिव, एक नई हथियार प्रणाली विकसित करने की योजना को मंजूरी दी जो 'स्टार वार्स' के नाम से जानी गई।

(7) सोवियत रूस द्वारा अपने ऊपर लगाये गये प्रतिबंधों को हटाकर परमाणु परीक्षण किया गया।

(8) 1988 में रीगन ने कांग्रेस के दस्तावेज प्रस्तुत करते हुए कहा कि सोवियत संघ के प्रति अविश्वास अमेरिका की राष्ट्रीय नीति का आधार है।

(9) सोवियत संघ द्वारा खाड़ी देशों में अपनी प्रमुखता बढ़ाने की कोशिश किया जाना।

(10) हिंद महासागर में भी दोनों राष्ट्रों के मध्य प्रतिस्पर्धा चल रही थी।

टिप्पणी

नव शीत युद्ध के समय विश्व में तीन गुट प्रतिस्पर्धा कर रहे थे– अमेरिका, सोवियत संघ एवं चीनी गुट। पाकिस्तान प्रत्यक्ष में गुटनिरपेक्ष का सदस्य जरूर था परंतु उसका समर्थन चीन और अमेरिका के साथ था। भारत का समर्थन हमेशा सोवियत संघ के साथ था। नव शीत युद्ध संघर्ष का मुख्य रणक्षेत्र यूरोप था, जबकि नव–शीतयुद्ध यूरोप के बाहर लड़ा गया। यह अफगानिस्तान, अरब, इजराइल, हॉर्न ऑफ अफ्रीका या हिंद–चीन के क्षेत्र में लड़ा गया। इस प्रकार नव शीत युद्ध विश्व व्यापी था। महा शक्तियों की प्रतिस्पर्धा हिंद महासागर की क्षेत्रीय शांति के लिए बड़ा खतरा थी। शीतयुद्ध की भांति, नव–शीत युद्ध में भी संयुक्त राष्ट्र इसका एक मंच रहा।

शीत युद्ध एवं भारत

नव स्थापित स्वतंत्र भारत के समक्ष एक ही प्रश्न था कि वह किस गुट में शामिल हो। सदियों की गुलामी की जंजीरों को तोड़कर उसे ऐसे मार्ग की तलाश करना था जहां विश्व का प्रत्येक राष्ट्र उसका सहयोगी बने। इस सिद्धांत पर चलते हुये उसने एक पृथक गुट का निर्माण किया जिसे गुटनिरपेक्ष कहा गया। शीतयुद्ध से भारत खुद को दूर करने में सफल रहा। भारत ने दोनों देशों से सहायता प्राप्त की और प्रगति के मार्ग में सार्थक कदम बढ़ाये।

शीत युद्ध की समाप्ति

45 वर्ष तक चला शीतयुद्ध अचानक 1989 तक समाप्ति की ओर अग्रसर हो गया। इसका श्रेय अमेरिका के राष्ट्रपति रीगन और सोवियत नेता मिखाइल गोर्बाचोव को जाता है। सोवियत संघ तक आंतरिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप 1991 में विखंडित होकर 15 स्वतंत्र राष्ट्रों में विभाजित हो गया।

शीत युद्ध की समाप्ति की समीक्षा करते हुये, जोगआ गोल्डस्टीन इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि निश्चय के साथ यह कहना अत्यंत कठिन था कि शीत युद्ध की समाप्ति क्यों हुई। उसने लिखा था कि "विद्वान इस महत्वपूर्ण प्रश्न पर सहमत नहीं हैं कि शीत युद्ध क्यों समाप्त हुआ।" एक तर्क यह है कि राष्ट्रपति रीगन के नेतृत्व में, "अमेरिका की सैनिक शक्ति ने सोवियत संघ को उस समय दिवालिया बना दिया जब वह अस्त्रों की होड़ में व्यस्त था।" दूसरा तर्क यह है कि कई दशकों तक सोवियत संघ आंतरिक रूप से प्रगतिहीन हो गया था और अंततः अपनी सरकारी व्यवस्था की कमजोरी के कारण जिसका विदेशी दबाव से कुछ लेना देना नहीं था, वह विखंडित हो गया।

शीत युद्ध के प्रभाव

शीत युद्ध ने 1946 से 1989 तक विश्व के अनेक देशों को प्रभावित किया। दो महाशक्तियों के बीच की प्रतिस्पर्धा ने सशस्त्र संघर्ष को तो जन्म नहीं दिया परंतु दिमागी संघर्ष ने विश्व को दो गुटों में विभाजित कर दिया।

टिप्पणी

(1) सोवियत एवं अमेरिकन गुटों में विश्व विभाजित हो गया।

(2) अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में तनाव, प्रतिस्पर्धा और अविश्वास की शुरुआत हुई।

(3) आणविक युद्ध की संभावना को जन्म दिया और परमाणु अस्त्रों की प्रतिस्पर्द्धा की शुरुआत हुई।

(4) निःशस्त्रीकरण के प्रयासों में असफलता।

(5) नाटो, सीटो, सेण्टो, वारसा, पैक्ट जैसे सैनिक संगठनों को जन्म दिया।

(6) संयुक्त राष्ट्र संघ अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान का मंच न होकर मैदान बन गया।

(7) आर्थिक विकास की प्रक्रिया अवरुद्ध हो गई।

(8) जनकल्याण की नीति पर कोई योजनाएं क्रियान्वित नहीं हो सकी।

(9) तृतीय दुनिया के राष्ट्रों ने अपने विकास का मार्ग स्वयं प्रशस्त किया।

(10) शक्ति संतुलन का सिद्धांत दिखावा मात्र बनकर रह गया।

(11) गुटनिरपेक्ष आंदोलन सुदृढ़ हुआ।

(12) संयुक्त राष्ट्र संघ शक्तिहीन हो गया।

सकारात्मक प्रभाव

(1) शांतिपूर्ण सहअस्तित्व को प्रोत्साहन मिला।

(2) तकनीकी और वैज्ञानिक उन्नति हुई।

(3) मजबूत विदेशनीति का उदय हुआ।

(4) शक्ति संतुलन स्थापित हुआ और किसी भी बड़े युद्ध की संभावना को कम किया गया।

शीत युद्ध की समाप्ति के बाद अमेरिका विश्व की सर्वोच्च शक्ति बन गया। सोवियत संघ का विघटन हो गया। वैचारिक, आर्थिक, राजनीतिक संघर्ष की समाप्ति हुई। अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा को विराम मिला। अब यही एक सत्य है कि विश्व में अब एक ही सुपर पावर है और वह अमेरिका है।

शीत युद्ध एक "राजनयिक युद्ध" था जो रणक्षेत्र में नहीं लोगों के मस्तिष्कों में लड़ा गया। यह दो विचारधाराओं का संघर्ष था। द्वितीय विश्व युद्ध की शून्यता को भरने के लिए मौन क्रांति का जन्म हुआ। एक दूसरे पर दोषारोपण अपनी–अपनी विचारधारा को विश्व के समस्त राष्ट्रों पर थोपने का प्रयास था।

शीत युद्ध के दौरान अनेक अवसरों पर तनाव ने तीव्र रूप धारण किया, जबकि ऐसे अवसर भी आए जब वातावरण में शांति और सहयोग के लक्षण पाये गए। तनाव में कमी की स्थिति को तनाव शैथिल्य का नाम दिया।

तनाव शैथिल्य के पश्चात एक बार पुनः शीतयुद्ध की शुरुआत हुई जिसे नव शीत युद्ध कहा गया। परंतु अचानक विश्व के राजनीतिक परिदृश्य में परिवर्तन आया और सोवियत संघ के विघटन ने लंबे समय से चले आ रहे संघर्ष को समाप्त कर दिया।

इस दौरान भारत गुटनिरपेक्षता का सिद्धांत लेकर नव शक्ति के रूप में उभर कर आया। इसका प्रभाव पूरे विश्व पर पड़ा और इन दो महाशक्तियों के इर्द–गिर्द परिदृश्य घूमता रहा।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

1. नाटो संगठन की स्थापना किस वर्ष हुई।
   (क) 1950 (ख) 1949
   (ग) 1961 (घ) 1956
2. आइजनहावर कहां के राष्ट्रपति थे?
   (क) रूस (ख) अमेरिका
   (ग) जर्मनी (घ) कोरिया
3. यू–2 विमान था–
   (क) माल वाहक जहाज (ख) यात्री जहाज
   (ग) अमेरिका का जासूसी जहाज (घ) रूस का जासूसी जहाज
4. 'वारसा पैक्ट' कब निर्मित हुआ–
   (क) 1978 (ख) 1980
   (ग) 1951 (घ) 1955

4.3 गुटनिरपेक्ष आंदोलन और तीसरी दुनिया

गुटनिरपेक्षता एक नीति है, जो इस दृष्टि पर आधारित है कि ''शक्तिशाली गुटों में से किसी में भी शामिल हुए और उनके प्रभाव में आए बिना राष्ट्रों को अपनी नीतियों का पालन करना चाहिए''। एक गुटनिरपेक्ष देश हर समस्या की जांच अपनी योग्यताओं के आधार पर करता है। दूसरे शब्दों में, "गुटनिरपेक्षता सभी राष्ट्रों की स्वतंत्रता और अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कार्यकलाप के चयन के अधिकारों की सिफारिश करती है।" गुटनिरपेक्षता का बुनियादी मत है, ''उसका सैन्य संधियों से परहेज और साम्राज्यवाद के किसी भी रूप का विरोध''। किंतु, गुटनिरपेक्षता अलग–अलग समयों पर अलग–अलग लोगों के लिए अलग–अलग अर्थ का निरूपण करती है।

गुटनिरपेक्षता को पश्चिमी विद्वान अक्सर तटस्थता या तटस्थतावाद से जोड़ते हैं। मॉर्गेथाउ जैसे कई पश्चिमी विद्वानों ने तटस्थता और तटस्थतावाद का उपयोग किया। हेमिल्टन फिश आर्मस्ट्रांग (तटस्थता), रॉबर्ट ए. स्केलापिनो (तटस्थतावाद), जॉर्ज श्वार्जेबर्गर (तटस्थतावाद) और वार्नर लेवी (तटस्थतावाद) ने इन दो शब्दों में से किसी एक का चयन किया। यह जॉर्ज लिस्का (1962) थे जिन्होंने सबसे पहले गुटनिरपेक्षता की व्याख्या वैज्ञानिक ढंग से की। इसका अर्थ 'पार्थक्य' अथवा 'तटस्थता' नहीं है। पार्थक्य का अर्थ दुराव की नीतियां हैं – महाशक्तियों से दूरी से अंतर्राष्ट्रीय मामलों में

निरापदता तक। जबकि तटस्थता ऐसे किसी राष्ट्र की राजनीतिक और कानूनी स्थिति का निरूपण करती है जो दोनों युद्धरत देशों में से किसी के साथ युद्ध में शामिल न हो।

गुटनिरपेक्षता : उद्‌भव और संदर्भ

टिप्पणी

हालांकि, अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में गुटनिरपेक्षता की नीति वर्ष 1961 में बेलग्रेड सम्मेलन में एक संस्थात्मक परिपाटी के रूप में आई। इससे संबद्ध विचार विचारधारा के स्तर पर विश्व में विभाजन की लहर में द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उभरने लगे थे। उस अवधि के दौरान विश्व का ज्यादातर हिस्सा औपनिवेशिक दमनकारी शासन के अधीन था। विनाशकारी द्वितीय विश्वयुद्ध ने उपनिवेशीय ताकतों की क्षमताओं पर गहरे घाव छोड़े। इस स्थिति का लाभ उठाते हुए, औपनिवेशिक शासन को समाप्त करने के लिए उपनिवेशों की राष्ट्रवादी शक्तियों ने अपना संघर्ष तेज कर दिया। वे आंतरिक प्रभुत्व के स्थान पर बाहरी प्रभुत्व को स्वीकार करने को तैयार नहीं थे। इसलिए, उन्होंने सौहार्दपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था की खोज शुरू कर दी, जिससे उनका देश विकास कर सके और मार्ग पर आए ताकि उनके लोगों के सपने साकार हों। उदाहरण के लिए, नेहरू स्वयं यह तथ्य जानते थे कि स्वतंत्रता के बाद भारत को राष्ट्र का पुनर्निर्माण करना था और यह तभी संभव था जब उसे तमाम विरोधों और कटुता से मुक्त किसी अंतर्राष्ट्रीय स्थिति में स्थान मिलता।

विचार की उत्पत्ति

गुटनिरपेक्षता के विचार की उत्पत्ति गुट राजनीति के उदय में देखी जा सकती है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व के दो शिविरों में विभाजन के प्रति नेहरू समेत विकासशील विश्व के अग्रणी व्यक्ति सशंकित थे। शक्ति के दो खेमों – एक अमेरिका के नेतृत्व में और दूसरा सोवियत रूस के नेतृत्व में – के साथ जाने की बजाय सन् 1946 में अंतरिम प्रधानमंत्री बनने के तुरंत बाद नेहरू ने स्पष्ट कर दिया कि भारत अपनी पसंद का इतिहास बनाएगा। नेहरू ने घोषणा की कि उनका प्रयास ''दोनों वर्गों (पूंजीवादी और साम्यवादी) की शक्ति की राजनीति से दूर रहना होगा, जो एक दूसरे के विरुद्ध गुटबद्ध थे, जिन्होंने विनाशकारी युद्ध का नेतृत्व किया और ऐसा और भी बड़े पैमाने पर फिर कर सकते थे।'' सन् 1947 में नेहरू ने शीत युद्ध की राजनीति के प्रति घृणा दिखाई।

स्पष्ट रूप से कहा जाए तो गुटनिरपेक्षता की नीति बताती है कि ''यह भारत के औपनिवेशिक अनुभव और कांग्रेस के नेतृत्व में अहिंसक संघर्ष से प्रेरित थी, जिसने भारत को शीत युद्ध के मित्र राष्ट्रों के प्रभुत्व वाली एक अंतर्राष्ट्रीय व्यवस्था में अपने भाग्य का निर्माण स्वयं करने के लिए छोड़ दिया।'' सन् 1947 में 4 दिसंबर को संविधान सभा को संबोधित करते हुए नेहरू ने कहा : इस बीते वर्ष के दौरान हमने घोषणा की कि हम स्वयं को किसी वर्ग विशेष से नहीं जोड़ेंगे। इसका तटस्थता या सहनशीलता अथवा किसी भी अन्य बात से कोई ताल्लुक नहीं है। यदि कोई बड़ा युद्ध होता है, तो इसका कोई विशेष कारण नहीं है कि हम उसमें क्यों कूदें और जब आपदा आती है, तो इसका प्रभाव समस्त विश्व पर पड़ता है। हमारा पहला प्रयास इस आपदा को घटित होने से रोकना होगा।

टिप्पणी

इस बुलंद आवाज की गूंज सन् 1947 में 22 मार्च से 3 अप्रैल तक नई दिल्ली में आयोजित एशियाई संबंध सम्मेलन में सुनाई पड़ी। औपनिवेशिक देशों ने मुखर रूप से अपने–अपने अनुभव एक सामूहिक स्वर में व्यक्त किए। ''इन उभरती अंतर्राष्ट्रीय आवाजों को दक्षिण अफ्रीका में 1946 से 1948 तक रंगभेद नीति की उत्पत्ति पर विरोध जताने, सन् 1949 में 19 देशों के सम्मेलन की इंडोनीसिया को डच शासन से आजाद करने की मांग तथा कोलंबो राष्ट्र के गठन के लिए संयुक्त राष्ट्र में किए गए प्रयासों से और बल मिला''।

कोलंबो शक्ति ''एशिया के स्वतंत्र देश भारत, बर्मा, श्रीलंका और पाकिस्तान का एक समूह'' था। अब्राहम के अनुसार, ''अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के अंदरूनी हलकों से उभरते एफ्रो–एशियाई देशों को लगातार अलग रखने के बावजूद कोलंबो शक्ति (Colombo Powers) ने एशिया और अफ्रीका के नव स्वतंत्र देशों के एक बड़े अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन का प्रस्ताव रखा, इस सम्मेलन का आयोजन अप्रैल 1955 में इंडोनीसिया के बांदुंग में किया गया''। बांदुंग को गुटनिरपेक्ष आंदोलन के गठन में प्रारंभिक कदम माना जाता है।

वस्तुतः, बांदुंग सम्मेलन (18 से 24 अप्रैल, 1955) में, एशिया और अफ्रीका के उन्तीस देशों ने भाग लिया जिनमें अधिकांश नव स्वतंत्र राष्ट्र थे। सम्मेलन राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक–सांस्कृतिक मोर्चों पर एशियाई व अफ्रीकी देशों में सहयोग की भावना का संचार करने में सफल रहा, और उसमें किसी भी खेमे द्वारा उपनिवेशीकरण के किसी भी रूप के विरोध का दृढ़ता से संकल्प लिया गया। सम्मेलन में ''विश्व शांति व सहयोग प्रोत्साहन'' के एक दस–सूत्री घोषणा पत्र पर हस्ताक्षर किए गए। इसमें पंचशील के सिद्धांतों को भी शामिल किया गया। पंचशील के पांच सिद्धांतों के माध्यम से भारत और चीन ने विश्व को एक नई किरण दिखाने का संकल्प लिया जो आगे चलकर गुटनिरपेक्ष आंदोलन के महत्वपूर्ण मार्गदर्शी सिद्धांत बने। किंतु, बांदुंग सम्मेलन एशिया और अफ्रीका के एक समान मोर्चे का निर्माण करने में असफल रहा। एशिया और अफ्रीका के ज्यादातर राष्ट्र आंतरिक और बाह्य विरोध में डूबे रहे। वहीं, उल्लिखित समूह की क्षमता से पूर्णतः अवगत नहीं होने के कारण भी उनमें अंतर्विरोध बना रहा। इसलिए, ''ऐसे कई देश साम्राज्यवाद विरोधी देशों के साथ अपने विदेश संबंधों का संचालन करने को राजी नहीं हुए''। तर्क दिया जाता है कि ''ऐसे में, बांदुंग सम्मेलन के बाद के वर्षों में, गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के लिए सिद्धांतों के आधार पर नहीं बल्कि क्षेत्र के आधार पर पहचान कायम करना अनिवार्य हो गया''। इसके अतिरिक्त, ''इस प्रयास ने इन राष्ट्रों को युगोस्लाविया से जोड़ा जो सोवियत संघ के दल से बहिष्कृत कर दिए जाने के बाद स्वयं अंतर्राष्ट्रीय मामलों में एक राजनीतिक अस्मिता बनाना चाहता था''। बाद में गुटनिरपेक्ष सम्मेलनों की शुरुआत ''सबसे पहले वर्ष 1956 में युगोस्लाविया के ब्रियोनी में हुई, जहां नीति को एक यथार्थ रूप देने के लिए टीटो ने नेहरू और नासेर के साथ कार्य करना शुरू किया''। ''गुटनिरपेक्ष देशों का आंदोलन वर्ष 1961 में 1 से 6 सितंबर तक बेलग्रेड में आयोजित पहले शिखर सम्मेलन में एक व्यापक भौगोलिक आधार पर शुरू हुआ। इस सम्मेलन में 25 देशों ने भाग लिया : अफगानिस्तान, अल्जीरिया, यमन, म्यांमार, कंबोडिया, श्रीलंका, कांगो, क्यूबा, साइप्रस, मिस्र, इथियोपिया, घाना, गीनिया, भारत,

इंडोनीसिया, ईराक, लेबनान, माली, मोरक्को, नेपाल, सऊदी अरब, सोमालिया, सूडान, सीरिया, ट्यूनीशिया और युगोस्लाविया''।

अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक संदर्भ

टिप्पणी

गुटनिरपेक्षता की नीति का विकास कुछ खास अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक परिस्थितियों के अंतर्गत हुआ। ये परिस्थितियां थीं शीत युद्ध और एशियाई व अफ्रीकी देशों की औपनिवेशिक साम्राज्य से आजादी। सन् 1945 के बाद के काल में शुरू शीत युद्ध ''राजनीतिक वैमनस्य, सैन्य प्रतिद्वंद्विता में व्याप्त परस्पर अविश्वास और आक्रामक रुख, विशिष्ट वैचारिक आरोपित रणनीतिक अव्यवस्था, प्रचार का उपयोग और दुरुपयोग, कूटनीति के विभिन्न रूपों और जासूसी, तकनीकी युद्ध, दो महा शक्तियों के बीच परमाणु हथियारों समेत शस्त्रास्त्र की होर की एक अवस्था थी''। सन् 1949 में अमेरिका की परमाणु शक्ति की तरह सोवियत संघ ने परमाणु शक्ति अर्जित की। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में पूर्व बनाम पश्चिम के संदर्भ में दरार के चलते एक और विश्व युद्ध के संकट की संभावना पैदा हो गई थी। वहीं अफ्रीका और एशिया के देशों के पुनरुत्थान के चलते उनमें औपनिवेशिक शासन को उखाड़ फेंकने और अपने–अपने भाग्य का निर्माण अपने बूते करने का उत्साह जाग उठा था। इसके फलस्वरूप राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय हितों के किसी देश के अपने दृष्टिकोण के आधार पर विश्व के मामलों में सक्रिय व स्वतंत्र हस्तक्षेप के एक विशिष्ट विचार का विकास हुआ। इस सक्रियता ने नवोदित राष्ट्रों के बीच राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय मुद्दों पर स्वतंत्रतापूर्वक अपना मत रखने को प्रोत्साहित किया। शीत युद्ध की इस स्थिति में, नव उदित राष्ट्रों की स्वतंत्र अवस्थिति को गुटनिरपेक्षता के रूप में मान्यता मिली, क्योंकि उन्होंने दोनों महाशक्तियों में से किसी की भी संधि में शामिल होने से मना कर दिया था।

गुटनिरपेक्ष आंदोलन की गति शक्ति कई संदर्भगत विकासों से जुड़ी थी। इन राष्ट्रों के प्रधान उद्देश्यों में से एक राष्ट्र और राज्य निर्माण था। राष्ट्र निर्माण तत्वतः शांतिपूर्ण बाह्य परिवेश पर निर्भर था जबकि राज्य निर्माण आर्थिक स्थिति में परिवर्तन जैसे कारकों से संबद्ध था जिसके लिए उन्हें आर्थिक सहायता के रूप में पर्याप्त संसाधनों और उन्नत व्यापार की आवश्यकता थी। किसी खेमे में शामिल होने से दूसरे खेमे के मित्र राष्ट्रों से सहायता की मांग का अवसर कम हो जाता। इसके विपरीत, गुटनिरपेक्षता में नव स्वतंत्र राष्ट्रों के अन्य तमाम राष्ट्रों से बेहतर आर्थिक संबंधों की संभावना थी। दूसरा महत्वपूर्ण कारक था ''शांति की आवश्यकता जिसके बिना वास्तविक विकास संभव नहीं था।'' एक तीसरा स्रोत था ''शीत युद्ध की राजनीति से पनपे वैश्विक संकट के विचारों से उनकी सुरक्षा।'' उन विकासशील राष्ट्रों के आंतरिक कारकों ने एक अति महत्वपूर्ण पृष्ठभूमि की रचना भी की। उदाहरण के लिए, भारत के संदर्भ में, इसका आंतरिक राजनीतिक अनेकत्व, उसकी ऐतिहासिक भूमिका और भौगोलिक अवस्थिति गुटनिरपेक्षता के उदय के महत्वपूर्ण सहयोगी कारक थे।'' गुटनिरपेक्षता के विकास में केवल राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक संदर्भों का ही योगदान नहीं था। उस युग के महान व्यक्तियों ने अपने लोगों को साम्राज्यवादी

टिप्पणी

अधीनता से स्वतंत्र कराने के लिए अपने–अपने राष्ट्रों का नेतृत्व किया। कई हस्तियों ने अंतर्राष्ट्रीय समुदाय में नव स्वतंत्र राष्ट्रों के प्रभाव के विवर्धन पर भी ध्यान दिया। इस तरह, इस नीति को आकार और कार्यरूप देने में अनेक महान लोगों ने अहम भूमिका का निर्वहन किया। माना जाता है कि नीति मूलतः भारत के पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू ने तैयार की। नासेर, टीटो, सुकर्णो और क्रूमा प्रमुख नेता थे जिन्होंने गुटनिरपेक्षता का धरातल तैयार किया।

गुटनिरपेक्ष आंदोलन (एनएएम) के सिद्धांत

गुटनिरपेक्ष आंदोलन की कुछ शर्तें और उद्देश्य थे। जैसे शीत युद्ध के दौरान आंदोलन का प्रधान उद्देश्य किसी ''भू–राजनीतिक/सैन्य विन्यास में शामिल होना नहीं था'' किंतु, शीत युद्ध के बाद जब खेमा राजनीति के समाप्त होने पर उद्देश्यों की पुनर्रचना की जा रही है। सिद्धांतों का उल्लेख करने से पहले, सदस्यता की शर्तों को समझना उचित है। गुटनिरपेक्ष आंदोलन की सदस्यता हेतु राष्ट्रों के लिए पांच सीमाओं का निर्धारण कर उन्हें लागू किया गया। केवल इन शर्तों को पूरा करने वाले देशों को ही सम्मेलन में आमंत्रित किया गया। ये शर्तें इस प्रकार हैं :

(क) संबद्ध देश की एक स्वतंत्र नीति हो जो अलग–अलग राजनीतिक व सामाजिक व्यवस्थाओं वाले राष्ट्रों के सह–अस्तित्व तथा गुटनिरपेक्षता पर आधारित हो, या उसका ऐसी किसी नीति के प्रति आकर्षण हो।

(ख) संबद्ध देश को राष्ट्रीय स्वतंत्रता आंदोलनों का सतत समर्थन करना चाहिए।

(ग) देश को महा शक्तियों के संघर्षों से संबद्ध किसी बहुपक्षीय सैन्य संधि का सदस्य नहीं होना चाहिए।

(घ) यदि संबद्ध देश का किसी महाशक्ति से कोई द्विपक्षीय सैन्य समझौता हो या वह किसी क्षेत्रीय रक्षा संधि का सदस्य हो, तो महा शक्तियों के संघर्षों के संदर्भ में उस समझौता या संधि को जानबूझ कर समाप्त नहीं किया जाना चाहिए।

(ङ) यदि संबद्ध देश ने किसी अन्य देश को सैन्य ठिकाना दिया हो, तो यह छूट महाशक्तियों के संघर्षों के संदर्भ में नहीं होनी चाहिए।

किंतु, गुटनिरपेक्ष आंदोलन (एनएएम) कुछ सिद्धांतों के अनुरूप चलता है, जो सदस्य राष्ट्रों के लिए अनिवार्य हैं। सदस्य राष्ट्र जब अन्य राष्ट्रों और विश्व के अंतर्राष्ट्रीय संगठनों–संस्थाओं से वार्तालाप कर रहे हों, तो उनसे इन सिद्धांतों का व्यवहार में पालन करने की अपेक्षा होती है। ये सिद्धांत इस प्रकार हैं :

1. संयुक्त राष्ट्र व अंतर्राष्ट्रीय कानून के घोषणापत्र में उल्लिखित सिद्धांतों का सम्मान।
2. सभी राष्ट्रों की संप्रभुता, संप्रभु समानता और क्षेत्रीय अखंडता का सम्मान।
3. सभी जातियों, धर्मों, संस्कृतियों और बड़े व छोटे सभी देशों को मान्यता।

टिप्पणी

4. लोगों के धर्मों, प्रतीक चिह्नों और मूल–मान्यताओं के सम्मान के आधार पर लोगों, सभ्यताओं, संस्कृतियों और धर्मों को प्रोत्साहन, सहिष्णुता और आस्था की स्वतंत्रता को बढ़ावा।
5. लोगों के शांति और विकास के अधिकारों के प्रभावकारी क्रियान्वयन समेत, सभी मानव अधिकारों और सभी की मौलिक स्वतंत्रताओं का सम्मान।
6. किसी भी अन्य राष्ट्र के किसी भी प्रकार के हस्तक्षेप के बिना प्रत्येक राष्ट्र की राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्था के स्वतंत्रतापूर्वक निर्धारण के अहस्तांतरणीय अधिकार समेत राष्ट्रों के अधिकारों की समानता का सम्मान।
7. विदेशी आधिपत्य तथा औपनिवेशिक शासन या अन्य देश के प्रभुत्व के अधीन लोगों के आत्मनिर्णय से संबद्ध आंदोलन के दृष्टिकोण की विधिमान्यता और प्रासंगिकता की पुनर्पुष्टि।
8. राष्ट्रों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं। किसी भी राष्ट्र या राष्ट्रों के समूह को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से, ध्येय चाहे जो भी हो, किसी भी अन्य राष्ट्र के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं है।
9. सरकारों को असंवैधानिक तरीके से पलटने की कार्रवाई का बहिष्कार।
10. शासन परिवर्तन के प्रयासों का बहिष्कार।
11. सभी स्थितियों में, खास तौर पर संघर्ष की स्थितियों में, किराए के सैनिकों के उपयोग की निंदा।
12. आक्रमण या शक्ति के प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष उपयोग सहित अन्य कार्रवाइयों का सहारा लेने, और किसी अन्य राष्ट्र को अवपीड़ित करने के ध्येय से उसके अधिकारों को अपने नियंत्रण में लेने, अथवा किसी प्रकार का लाभ प्राप्त करने हेतु किसी भी प्रकार के एकपक्षीय दंडात्मक प्रयास, जो अंतर्राष्ट्रीय कानून के विरुद्ध हो या किसी भी प्रकार से उसके अनुरूप नहीं हो, के उपयोग या प्रोत्साहन समेत अन्य देशों पर दबाव या नियंत्रण से सभी देशों को परहेज करना।
13. अंतर्राष्ट्रीय कानून के आपत्तिजनक और गंभीर अतिक्रमण के रूप में आक्रमण का पूर्ण बहिष्करण।
14. संयुक्त राष्ट्र के घोषणापत्र के अनुरूप, व्यक्तिगत अथवा सामूहिक स्व–सुरक्षा के अंतर्निहित अधिकार का सम्मान।
15. जातिसंहार, युद्ध अपराधों, मानवता के विरुद्ध अपराधों और मानवाधिकारों के सुव्यवस्थित और भारी उल्लंघन की संयुक्त राष्ट्र और अंतर्राष्ट्रीय कानून के अनुरूप निंदा।
16. आतंकवाद का उसके सभी रूपों और स्वरूपों में बहिष्करण, वह चाहे किसी ने भी किया हो, चाहे वह कहीं भी हुआ हो और चाहे उसके प्रयोजन जो भी रहे हों, क्योंकि यह अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को संकट में डालता है। इस संदर्भ में, आतंकवाद को औपनिवेशिक शासन अथवा अन्य देशों के प्रभाव

टिप्पणी

तथा विदेशी आधिपत्य के अधीन लोगों के आत्मनिर्णय और राष्ट्र की स्वतंत्रता के लिए वैध संघर्ष का दर्जा नहीं दिया जा सकता।

17. विवादों के शांत निपटान और किसी भी परिस्थिति में, अंतर्राष्ट्रीय कानून व संयुक्त राष्ट्र के घोषणापत्र के सिद्धांतों का उल्लंघन करने वाले गठबंधनों, समझौतों में शामिल होने से, या किसी भी अन्य प्रकार के एकपक्षीय दंडात्मक प्रयास से परहेज को प्रोत्साहन।
18. प्रजातंत्र की रक्षा और सुदृढ़ीकरण, इसकी पुनर्पुष्टि कि प्रजातंत्र लोगों की अपनी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवस्थाओं के निर्धारण और उनके जीवन के सभी पक्षों में उनकी पूरी सहभागिता की उनकी इच्छा की स्वतंत्र अभिव्यक्ति पर आधारित एक सार्वजनिक मूल्य है।
19. वार्ता और सहयोग के माध्यम से, मानव जाति को प्रभावित करने वाली समस्याओं को दूर करने के उपयुक्त ढांचों के रूप में बहुपक्षवाद और बहुपक्षीय संगठनों–संस्थाओं को प्रोत्साहन और उनकी रक्षा।
20. शांति, न्याय, समानता और विकास के उद्देश्य की पूर्ति के लिए आंतरिक संघर्षों से जूझते देशों के प्रयासों को समर्थन।
21. राष्ट्र का कर्तव्य है कि वह उन अंतर्राष्ट्रीय संधियों का पूरी तरह और सद्भाव से पालन करे, जिनका वह एक पक्ष हो, वहीं अंतर्राष्ट्रीय संगठनों के ढांचे में लिए गए संकल्पों का सम्मान करना।
22. संयुक्त राष्ट्र के घोषणापत्र के अनुरूप सभी अंतर्राष्ट्रीय संघर्षों का शांतिपूर्ण समाधान।
23. राष्ट्रों की राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक व्यवस्थाओं में मौजूद अंतर्विरोधों के परे, परस्पर सम्मान व अधिकारों की समानता के आधार पर, साझा हितों, न्याय और सहयोग की रक्षा करना और उन्हें बढ़ावा देना।
24. सभी परिस्थितियों में राष्ट्रों के बीच संबंधों के मूलभूत अवयव के रूप में एकता।
25. देशों और लोगों की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विविधता के प्रति सम्मान।

गुटनिरपेक्ष आंदोलन (एनएएम) का महत्व

गुटनिरपेक्ष आंदोलन का महत्व सुस्पष्ट है। शीत युद्ध के दौरान अंतर्राष्ट्रीय नैतिक उद्देश्यों को आगे बढ़ाने में राष्ट्रों को गुटनिरपेक्ष आंदोलन से प्रेरणा मिली है। हालांकि ये उद्देश्य उल्लिखित सिद्धांतों से जुड़े थे। इस प्रकार, यह सुस्पष्ट महत्व तमाम अन्यायों, अराजकता, दमन और विद्वेष से मुक्त एक आदर्श विश्व व्यवस्था के गठन की ललक को लेकर है। यह तभी से स्पष्ट है जब गुटनिरपेक्ष आंदोलन ने ''आत्मनिर्णय, राष्ट्र की स्वतंत्रता और संप्रभुता तथा राष्ट्रों की क्षेत्रीय अखंडता के उद्देश्यों को समर्थन देने का बीड़ा उठाया''। रंगभेद की नीति का विरोध करने, बहुपक्षीय सैन्य संधियों के अनुरूप चलने और महाशक्तियों या गुटों के प्रभावों और प्रतिद्वंद्विताओं से गुटनिरपेक्ष

टिप्पणी

देशों को मुक्त कराने की गुटनिरपेक्ष आंदोलन की तीव्र इच्छा अनेक आदर्शों तक ही सीमित नहीं थी, बल्कि इसने इस ध्येय के लिए राष्ट्रों को ऊपर उठने में सहायता भी की। इसके अतिरिक्त, ''अपने सभी रूपों व स्वरूपों में साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष, उपनिवेशवाद, नव उपनिवेशवाद, नस्लवाद, विदेशी आधिपत्य और प्रभुत्व के विरुद्ध संघर्ष, निःशस्त्रीकरण, राष्ट्रों के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप निरपेक्षता और सभी राष्ट्रों के बीच शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व; अंतर्राष्ट्रीय संबंधों में शक्ति के उपयोग या उपयोग के संतर्जन का बहिष्करण गुटनिरपेक्ष आंदोलन के प्रपाती दबाव के अंतर्गत व्यवहार में लाए जाते थे। ''संयुक्त राष्ट्र को सशक्त करने, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के प्रजातंत्रीकरण; सामाजिक–आर्थिक विकास और अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था की पुनर्रचना, तथा समान आधार पर अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के लिए'' गुटनिरपेक्ष आंदोलन (एनएएम) की सकारात्मक सक्रियतावाद कोई छोटी उपलब्धि नहीं थी। वर्ष 1973 में अल्जीयर्स सम्मेलन में अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था (एनआइईओ) की शुरुआत ने गुटनिरपेक्ष आंदोलन के उद्देश्यों के महत्व को और विस्तार दिया।

गुटनिरपेक्षता : नीति से आंदोलन तक

नीति का अर्थ ''निर्णयों को दिशा निर्देश देने और तर्कसंगत परिणाम हासिल करने का एक सिद्धांत या नियम'' है। ''किसी नीति को उद्देश्य का एक विवरण या संकल्प माना जा सकता है।'' नीतियां राष्ट्रों के उद्देश्यों की वाहक होती हैं। नीतियां भिन्न–भिन्न स्तरों पर हो सकती हैं। अंतर्राष्ट्रीय विन्यास में अपने कार्यकलाप को अर्थ देने के लिए यदि कोई राष्ट्र किसी नीति का चयन करे, तो इसे विदेश नीति के रूप में जाना जाता है। इसी प्रकार राष्ट्रों की घरेलू नीतियां भी होती हैं। यह समझना जरूरी है कि किसी राष्ट्र की किसी नीति के रूप में गुटनिरपेक्षता उसी की तरह के राष्ट्रों के, जिनका इतिहास, संस्कृति और भविष्य की आवश्यकताएं एक दूसरे के समान हों, संयुक्त प्रयास के बिना पूर्णतः सफल नहीं हो सकती। उदाहरण के लिए, भारत और चीन द्वारा अपनाई गई शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व की नीति आगे चलकर गुटनिरपेक्ष आंदोलन का एक कृतसंकल्प सिद्धांत बन गई। इस तरह, तीसरी दुनिया की एक सामूहिक आवाज को मुखर रूप देने के लिए एक नीति के रूप में गुटनिरपेक्षता को आजमाया गया। इसके फलस्वरूप, वर्ष 1961 में गुटनिरपेक्ष आंदोलन (एनएएम) अस्तित्व में आया। बेलग्रेड शिखर सम्मेलन (काहिरा, 1961) के पूर्व के सम्मेलन के दौरान प्रतिपादित सदस्यता के मानदंडों से ज्ञात होता है कि आंदोलन की कल्पना अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में किसी निष्क्रिय भूमिका का निर्वाह करने के लिए नहीं बल्कि एक स्वतंत्र ढंग से इसकी अपनी अवस्थितियों का निर्धारण करने के लिए की गई थी ताकि इसके सदस्य राष्ट्रों के हितों को सामने रखा जा सके''। गुटनिरपेक्ष आंदोलन के अब तक सोलह शिखर सम्मेलन हो चुके हैं। पहला शिखर सम्मेलन वर्ष 1961 में बेलग्रेड में और अभी तक का अंतिम तेहरान (ईरान) में 2012 में हुआ। अगला यानी सत्रहवां शिखर सम्मेलन कराकास (वेनेजुएला) में होगा। गुटनिरपेक्ष आंदोलन का शिखर सम्मेलन वह सम्मेलन है जिसमें सदस्य देशों की सरकारों के प्रधान भाग लेते हैं।

नेहरू और गुटनिरपेक्ष आंदोलन

टिप्पणी

गुटनिरपेक्ष आंदोलन भारत के प्रथम प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू की मानसिक उपज थी। नेहरू को गुटनिरपेक्ष आंदोलन के शीर्षतम शिल्पियों में से एक माना जाता है। उनके मार्च, 1947 के अभिभाषण में उन आदर्शों का समर्थन दिखाई देता है, जो आगे चलकर गुटनिरपेक्ष आंदोलन की आधारशिला बने। नेहरू ने घोषणा की, ''हम एशिया के लोग लंबे समय तक पश्चिमी अदालतों और दफ्तरों में अर्जीदार रहे हैं। वह कहानी निश्चय ही अब अतीत की कहानी है। हम अपने पैरों पर खड़े होने का इरादा रखते हैं–अन्य राष्ट्रों के खेल की वस्तु बनने का हमारा कोई इरादा नहीं है।'' भारत की अपनी ही आवश्यकता के मद्देनजर, नेहरू ने गुटनिरपेक्षता के सिद्धांत का प्रतिपादन इस प्रकार किया, "किसी भी एक राष्ट्र से स्वयं को जोड़कर, आप अपने मत का समर्पण कर देते हैं, उस नीति को छोड़ देते हैं जिसका सामान्य स्थिति में आप पालन कर सकते हैं क्योंकि कोई और चाहता है कि आप किसी और नीति का पालन करें। मैं नहीं समझता कि यह कोई सही नीति हो सकती है।'' नेहरू ने न केवल भारत को गुटनिरपेक्ष घोषित किया बल्कि उन्होंने अफ्रीका और एशिया के तमाम नव स्वतंत्र राष्ट्रों को दो युद्धरत गुटों से दूर रहने की सलाह भी दी। नेहरू ने इस मत को अस्वीकार कर दिया कि ''गुटनिरपेक्षता कमजोरी का प्रतीक थी''।

उनके विचार को व्यापक स्तर पर नेहरूवाद के रूप में देखा जाता है। नेहरूवाद आदर्शवादी सिद्धांतों और यथार्थवादी उत्साह का उत्कृष्ट संतुलन है। जब नेहरू ने अपने दृढ़ निश्चय का प्रदर्शन करते हुए कहा कि ''मध्यस्थ के रूप में गुटनिरपेक्ष देश एक सकारात्मक भूमिका का निर्वाह करते हुए दो शक्तिशाली गुटों को किसी संघर्ष से दूर रख सकते हैं, क्षेत्रीय अखंडता और स्वतंत्रता बनाए रख सकते हैं, आंतरिक शांति को प्रोत्साहित कर सकते हैं, औपनिवेशिक शासन से लोगों को मुक्ति दिला सकते हैं और जातीय समस्या को कम कर सकते हैं, तब वे आदर्शवादी विश्व के निर्माण के अधिक करीब थे।'' इसलिए उन्होंने इन मूल्यों को ''भारत की विदेश नीति के मार्गदर्शी सिद्धांतों का रूप दिया''। ये उद्देश्य ''पंचशील के आधार थे जिन्होंने आगे चलकर गुटनिरपेक्ष आंदोलन के उद्देश्यों के रूप में ठोस आकार ग्रहण किया।'' दूसरी तरफ, ''जब नेहरू ने बेहतर विश्व सहयोग के संदर्भ और भारत के दीर्घ कालिक हित दोनों में भारत के राष्ट्रीय स्व–हित को देखा, तब वे यथार्थवादी अवधारणाओं के अधिक निकट थे।'' उदाहरण के लिए, ''सन् 1950 में 7 दिसंबर को विदेश नीति पर हुई एक बहस में भारत के हित और अन्य देशों के हित के बीच टकराव के एक प्रश्न के प्रति'', उन्होंने कहा : ''यदि हमारा दृष्टिकोण भिन्न हो, तो आप हमारे दृष्टिकोण या फिर जिस नतीजे पर हम पहुंचे हैं उसे छोड़ देने की आशा मुझसे नहीं कर सकते, क्योंकि कुछ अन्य देश अलग ढंग से सोचते हैं। मैं ऐसा कतई नहीं करूंगा। मैं इसके प्रति लंबे और बार–बार दोहराए जाने वाले तर्कों को नहीं समझता। मैं अपने देश के पक्ष में हूं, और किसी के पक्ष में नहीं।'' उनकी दृष्टि में, ''किसी देश का हित अनिवार्य रूप से किसी दूसरे देश के साथ संघर्ष में नहीं था। वहीं से गुटनिरपेक्षता के मुख्य सिद्धांत निःसृत हुए : राष्ट्रों के हितों की पारस्परिकता।''

टिप्पणी

कई विद्वान तर्क देते हैं कि भारत द्वारा गुटनिरपेक्षता को अपनाना एक व्यावहारिक कदम था। गुटनिरपेक्षता का एक अंग बनने के ध्येय से, भारत ने अपने उपागम का निर्माण किया जो कुछ नहीं बल्कि ''शीत युद्ध की द्विध्रुवीयता से निर्मित एक संदर्भ के रूप में राष्ट्रीय हितों को अधिकतम सीमा तक ले जाने के एक परिकलित उपागम का तर्कसंगत परिणाम था।'' इस तर्क के अनुसार, गुटनिरपेक्षता ''नव स्वतंत्र देशों को अपने पक्ष में करने का प्रयास कर रही प्रतिस्पर्धी महाशक्तियों से लाभ विशेष रूप से आर्थिक लाभ, उठाने का सर्वोत्तम तरीका'' की एक नीति थी। वर्ष 1971 में भारत सोवियत संघ से गठबंधन किए बिना उसका समर्थन प्राप्त करने में सफल रहा, जब चीन के साथ अमेरिका के नेतृत्व वाले देशों ने गंभीर परिणामों की धमकी दी। इसी प्रकार, वर्ष 1962 में भारत–चीन युद्ध के दौरान अमेरिका से गठबंधन किए बिना, भारत को विभिन्न स्थलों पर अमेरिका का समर्थन मिला। नव अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक व्यवस्था (एनआइईओ) की शुरुआत करने में भारत सफल रहा। किंतु, भारत की विदेश नीति के इतिहास में निश्चय ही ऐसे क्षण हैं, जब इस तरह की अनिश्चय की एक रणनीति के लाभांश सामने आए।

शीत युद्धोत्तर काल में गुटनिरपेक्ष आंदोलन की प्रासंगिकता

पूर्व और पश्चिम के संघर्ष की समाप्ति के बाद, बहस छिड़ गई कि नए अंतर्राष्ट्रीय परिवेश में, विशेष रूप से जब गुटीय राजनीति समाप्त हो चुकी थी, गुटनिरपेक्ष आंदोलन प्रासंगिक था या नहीं। समझा जाता है कि गुटनिरपेक्ष आंदोलन शीत युद्ध और द्विध्रुवीयता का परिणाम था। इस तरह, इसके मद्देनजर कि शीत युद्ध की समाप्ति और सोवियत संघ का विघटन हो चुका है, प्रश्न उठता है कि क्या गुटनिरपेक्ष आंदोलन अपनी प्रासंगिकता खो चुका है? गुटनिरपेक्ष आंदोलन का कार्यक्रम, जिसकी परिकल्पना पूर्व में की गई थी, पूरा हो चुका है। उदाहरण के लिए, उपनिवेश स्वतंत्र हो चुके हैं, रंगभेद की नीति समाप्त हो चुकी है, विदेशी अड्डों का महत्व खत्म हो चुका है, परमाणु हथियारों में कटौती शुरू हो चुकी है और मैत्री संधियां बिखर चुकी हैं। इन सारी परिस्थितियों में, प्रश्न उठता है कि क्या अब गुटनिरपेक्ष आंदोलन सही में प्रासंगिक रह गया है? कई लोगों का मानना है कि निश्चय ही परिणाम द्विध्रुवीय राजनीति थी, किंतु अमेरिका के नेतृत्व में पश्चिम के एकल शक्ति के प्रभुत्व ने गुटनिरपेक्ष आंदोलन की प्रासंगिकता को जड़ से समाप्त कर दिया है। उदाहरण के लिए, पहले खाड़ी संकट, युगोस्लाविया के हस्तक्षेप, रवांडा जातिसंहार और 11 सितंबर के बाद ईराक और अफगानिस्तान में अमेरिका के हस्तक्षेप आदि ने गुटनिरपेक्ष आंदोलन जैसी किसी संस्था के समक्ष नई चुनौती खड़ी कर दी है, जो अमेरिका के नेतृत्व में पश्चिम के एकपक्षीय प्रभुत्व से विश्व के विशालतम हिस्से को बचाने का थोड़ा प्रयास कर सकती थी। मानवता के समक्ष खड़े आतंकवाद और पर्यावरणीय संकट जैसे संकटों ने भी गुटनिरपेक्ष आंदोलन की प्रासंगिकता की परीक्षा ली है जिसमें इसका अनुसरण करने वाले देशों का साथ देने में यह सफल नहीं है। इसके बावजूद गुटनिरपेक्ष आंदोलन का समर्थन करने वाली आवाज अभी भी बुलंद है।

शीत युद्ध समाप्त हो चुका है, किंतु विश्व का मौजूदा संकट शीत युद्ध के दौरान द्विध्रुवीयता के चलते पनपे संकट से कम नहीं है। निरंतर जारी क्षेत्रीय संघर्ष, बढ़ती

टिप्पणी

असमानता और भूख, आतंकवाद का खतरा और विश्व स्तर पर आर्थिक स्थिति में गिरावट ने अंतर्राष्ट्रीय परिवेश को पूरी तरह से संकट से भर दिया है। ऐसे में गुटनिरपेक्ष आंदोलन (एनएएम) को खत्म करने की बजाय उसे और मजबूत किए जाने की जरूरत है। संप्रति विकासशील देश परिवर्तनों का लाभ लेने में सफल प्रतीत नहीं होते, जो मुख्य समृद्ध देशों में भी दिखाई देते हैं। बाजार खोले जाने और बौद्धिक संपदा अधिकारों को लेकर तीसरी दुनिया के देशों पर विकसित विश्व की सभी मांगों को स्वीकार कर लेने का दबाव भी पड़ रहा है, फिर भी तथ्य यह है कि विकसित देशों में ऐसे समय में संरक्षणवाद के प्रति रुझान बढ़ रहा है जब ज्यादातर विकासशील देश गंभीरतापूर्वक अपनी–अपनी अर्थव्यवस्था के सुधार और बाजार के अविनियमन (मुक्त व्यापार) की प्रक्रिया में लगे हैं। इसी तरह एक गलत धारणा भी आम है कि पर्यावरण में प्रदूषण तीसरी दुनिया के कारण फैल रहा है जबकि सच यह है कि उत्तरी देशों का संसाधनों का अपव्यय पर्यावरण के क्षणन का मुख्य स्रोत है। पश्चिमी देश अपने अस्थिर उत्पादन व खपत व्यवस्थाओं को बनाए रखने पर आमादा हैं। वहीं, वे विकासशील देशों की सरकारों से विकसित देशों के लिए पर्यावरण को सुरक्षित रखने हेतु सामंजस्य और बलिदान की अपेक्षा रखते हैं।

इसकी प्रासंगिकता शीत युद्धोत्तर काल में मिस्र के शर्म अल शैख शहर में आयोजित गुटनिरपेक्ष आंदोलन (एनएएम) के 15वें शिखर सम्मेलन में सिद्ध हो चुकी है, जब संकट के प्रभावों को कम करने और भविष्य में पुनः घटने से रोकने के लिए विश्व स्तर पर शासन में सुधार लाने का प्रयास किया गया था। सदस्य राष्ट्रों ने माना कि यह संकट एक उचित और यथार्थ विश्व निर्माण के मार्ग में एक बड़ी बाधा है, इसके फलस्वरूप गरीबी और वंचना बढ़ सकती है – विशेष रूप से वैश्विक दक्षिण (Global South) में। इस शिखर सम्मेलन के सामान्य दस्तावेज में उल्लेख था कि संकट को बढ़ाने वाले कारक जिन पर सदस्य राष्ट्र सहमत हैं कि यह आर्थिक वैश्वीकरण की प्रक्रिया है जिसे ''वित्तीय और आर्थिक संकट, जलवायु परिवर्तन, खाद्य संकट और ऊर्जा के मूल्यों की अस्थिरता के प्रतिकूल प्रभाव ने विकासशील देशों को संकट के कुएं में ढकेल दिया है''। दस्तावेज में यह उल्लेख भी है कि वैश्वीकरण की प्रक्रिया को जब तक और ''खुला, निष्पक्ष, अनवपीड़क, नियम–आधारित, पूर्वानुमेय और तटस्थ'' नहीं बनाया जाता, तब तक यह ''विकासशील देशों को कगार पर'' बनाए रखेगी।

गुटनिरपेक्ष आंदोलन के 15वें शिखर सम्मेलन के परिणाम इस तथ्य के सूचक थे कि समकालीन विश्व में गुटनिरपेक्ष आंदोलन की भूमिका और बढ़ गई है और यह पहले से ज्यादा मजबूत हुई प्रतीत होती है। सम्मेलन में सर्वसम्मत कार्यावली के मद्देनजर संक्षेप में कहा जा सकता है कि गुटनिरपेक्ष आंदोलन जारी रहेगा। इस 15वें शिखर सम्मेलन की कार्यावली इस प्रकार थी :

इसे संयुक्त राष्ट्र का मुख्य विमर्शी, प्रतिनिधि और नीति–निर्माण घटक प्रदान करने के लिए महासभा की भूमिका को सुदृढ़ करने पर विशेष ध्यान दिया गया। आंदोलन के शासन के पूर्णतावादी उपागम पर विशेष रूप से प्रकाश डालते हुए, शांति

टिप्पणी

और सुरक्षा पर सामाजिक–आर्थिक कारकों के प्रभाव पर भी समुचित ध्यान दिया गया। गुटनिरपेक्ष आंदोलन में इस पर जोर दिया गया कि विकास के लक्ष्यों, मानवाधिकारों और अंतर्राष्ट्रीय कानून को ध्यान में रखते हुए संयुक्त राष्ट्र को संघर्ष की रोकथाम पर अपेक्षाकृत अधिक समेकित और व्यापक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए। वहीं, सामाजिक और आर्थिक सहयोग के प्रति उत्तरदायी संयुक्त राष्ट्र के मुख्य घटक आर्थिक एवं सामाजिक परिषद (Economic and Social Counil) की भूमिका को सुदृढ़ करने की आवश्यकता के साथ–साथ आंदोलन में संयुक्त राष्ट्र के ढांचे के अंतर्गत गैर–सरकारी संगठनों और नगर समाज के विस्तार के समर्थन की बात भी कही गई।

तीसरी दुनिया

गुटनिरपेक्षता को तीसरी दुनिया के विकासशील देशों की नीति माना जाता है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, गुटनिरपेक्षता की जड़ें उपनिवेशवादी शासन के अनुभव तथा एशिया व अफ्रीका के उपनिवेशों के अहिंसक स्वतंत्रता आंदोलनों में देखी जा सकती हैं। उदाहरण के लिए, जवाहरलाल नेहरू गुटनिरपेक्ष आंदोलन के सबसे बड़े समर्थक थे। मार्च 1947 में नेहरू ने कहा था, ''हम एशिया के राष्ट्र लंबे समय तक पश्चिमी अदालतों और दफ्तरों में अर्जीदार रहे हैं। वह कहानी निश्चय ही अब अतीत की कहानी है। हम अपने पैरों पर खड़े होने का इरादा रखते हैं। अन्य राष्ट्रों के खेल की वस्तु बनने का हमारा कोई इरादा नहीं है''।

इसके अतिरिक्त, ''क्षेत्रीय अखंडता का अनुरक्षण, स्वतंत्रता का अनुरक्षण, अंतर्राष्ट्रीय शांति को बढ़ावा, उपनिवेशवादी शासन के लोगों की मुक्ति और जातीय समानता को बढ़ावा आम तौर पर तीसरी दुनिया के देशों की और खास तौर पर भारत की विदेश नीति के मार्गदर्शी सिद्धांत थे''। चीन और भारत द्वारा अपनाए गए पंचशील के सिद्धांत इस भावना के प्रतिबिंब थे। गुटनिरपेक्ष आंदोलन (एनएएम) पंचशील के सिद्धांतों से प्रेरित था। पंचशील के पांच सिद्धांत थे जिनका देश के विदेशी मामलों के संचालन में पालन किया जाना था। ये सिद्धांत इस प्रकार हैं :

- एक दूसरे की क्षेत्रीय अखंडता और संप्रभुता का परस्पर सम्मान
- परस्पर आक्रमण निरपेक्षता;
- घरेलू मामलों में हस्तक्षेप निरपेक्षता;
- समानता और परस्पर लाभ; और
- शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व

गुटनिरपेक्ष आंदोलन की प्रगति और विस्तार में तीसरी दुनिया के कई शीर्ष नेताओं ने खुलकर योगदान दिया। गुटनिरपेक्षता के अर्थ के संदर्भ में, नेहरू ने कहा कि ''स्वयं को किसी एक शक्ति से जोड़कर, आप अपने मत का समर्पण कर देते हैं; उस नीति को छोड़ देते हैं जिसका आप सामान्य स्थिति में पालन करते हैं क्योंकि कोई अन्य चाहता है कि आप किसी और नीति का पालन करें। मैं नहीं समझता कि यह हमारे लिए सही नीति होगी।'' नेहरू ने न केवल भारत को गुटनिरपेक्ष घोषित किया बल्कि उन्होंने उन

टिप्पणी

सभी अफ्रीकी–एशियाई राष्ट्रों को भी, जो अभी हाल में स्वतंत्र हुए थे, दो युद्धरत खेमों से दूर रहने की सलाह दी। नेहरू ने इस सुझाव की निंदा की कि गुटनिरपेक्षता कमजोरी की एक निशानी थी। नेहरू का मत था कि "मध्यस्थों के रूप में गुटनिरपेक्ष देश सकारात्मक भूमिका निभा सकते हैं और इन दोनों शक्तिशाली खेमों को किसी संघर्ष से दूर रख सकते हैं।"

अपनी प्रगति जांचिए

5. गुट निरपेक्ष आंदोलन कब बना?

(क) 1961 (ख) 1971

(ग) 1975 (घ) 1980

6. बेलग्रेड में आयोजित पहले शिखर सम्मेलन में कितने देशों ने भाग लिया?

(क) 15 (ख) 20

(ग) 25 (घ) 30

7. गुटनिरपेक्ष आंदोलन का अंतिम शिखर सम्मेलन सन् 1912 में कहां पर हुआ?

(क) ईरान (ख) भारत

(ग) जापान (घ) रूस

4.4 संयुक्त राष्ट्र संघ और विश्व शांति की अवधारणा

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद महाशक्तियों ने आने वाले समय में शांति बनाए रखने के लिए राष्ट्रसंघ (League of Nations) की स्थापना की। राष्ट्रसंघ सफल न हो सका और सन् 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध की शुरुआत हो गई। इस युद्ध में जन-माल का बहुत अधिक विनाश हुआ। विश्व युद्ध के दौरान ही एक प्रभावशाली अंतर्राष्ट्रीय संगठन के निर्माण की शुरुआत हुई। इसी काल में उसके उद्देश्यों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया और सहमति बनाने के लिए भी कदम उठाए गए। मित्र-राष्ट्रों ने निर्णय लिया कि वे अलग से शांति स्थापित करने की बजाए एक विश्व संस्था के द्वारा शांति स्थापित करना चाहेंगे जिसमें विश्व के सारे प्रभुत्वसम्पन्न देशों का ऐच्छिक सहयोग आवश्यक है।

14 अगस्त, 1941 को अटलांटिक घोषणा में ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल और अमेरिकी राष्ट्रपति रुजवेल्ट ने, विश्व शांति की स्थापना हेतु कुछ सिद्धांतों को सामने रखा। दोनों राष्ट्राध्यक्षों ने इन सिद्धांतों की घोषणा करते हुए कहा-"हम साम्राज्य विस्तार या किसी नवीन प्रदेश पर अधिकार नहीं चाहते। हम चाहते हैं कि प्रत्येक राष्ट्र का शासन लोकमत के आधार पर ही चले, सभी राष्ट्रों में पारस्परिक सहयोग हो, युद्ध के पश्चात् पराजित राज्य पुनः प्रतिष्ठित हों तथा उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त हो एवं प्रत्येक राष्ट्र युद्ध सामग्री में कमी करें और अंतर्राष्ट्रीय शांति के प्रयास हों।" 'अटलांटिक घोषणा (Atlantic Charter)' को संयुक्त राष्ट्रसंघ का जनक कहा गया है। इसके बाद ही सोवियत संघ इस पर हस्ताक्षर करने को सहमत हुआ।

टिप्पणी

30 अक्टूबर 1943 को अमेरिकी, चीनी और सोवियत संघ के विदेश मंत्रियों ने मास्को में एक घोषणा करते हुए कहा, "जितनी जल्दी हो सके, एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना करने की आवश्यकता को महसूस करते हैं। यह संगठन सभी शांतिप्रिय राष्ट्रों की सम्प्रभुता पर आधारित होगा। ऐसे सभी छोटे-बड़े राज्य इसके सदस्य बन सकेंगे। इसका उद्देश्य होगा अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा कायम करना।"

नवम्बर 1943 के अगले चरण में ईरान की राजधानी तेहरान में सम्मेलन हुआ। सभी राष्ट्रों ने यहां पर विश्व शांति और सुरक्षा पर ध्यान देने की बात को स्वीकारा। उन्होंने यह विश्वास जताया कि संयुक्त राष्ट्रसंघ की स्थापना से यह संभव है। एक के बाद एक सम्मेलनों का दौर चला और सभी राष्ट्रों की सहमति संघ बनाने के लिए मिलती रही।

14 फरवरी, 1944 के शिखर सम्मेलन में स्टालिन चर्चिल एवं रुजवेल्ट ने महत्वपूर्ण निर्णय लिए जिनमें सबसे प्रमुख निर्णय था सुरक्षा परिषद में मतदान प्रणाली।

मित्र-राष्ट्र ईमानदारी से एक विश्व संगठन की स्थापना में अपने योगदान में लगे हुए थे। अनेक राष्ट्रों की सहमति मिलने के उपरांत विश्व संगठन की संविधान रचना पर विचार हो रहा था। फलस्वरूप अमेरिका, ब्रिटेन, सोवियत संघ एवं चीन के प्रतिनिधियों ने 21 अगस्त, 1944 से 7 अक्टूबर 1944 तक वाशिंगटन में सम्मेलन किया। इसमें इन राज्यों के प्रतिनिधियों ने संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रमुख अंगों-महासभा, सुरक्षा, परिषद, सचिवालय और अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय आदि के बारे में विचार-विमर्श किया। इस सम्मेलन में संघ के चार्टर का पहला प्रारूप तैयार किया गया। संघ को सुचारु रूप से चलाने के लिए एक आर्थिक और सामाजिक परिषद बनाने का प्रस्ताव किया गया।

विश्व संगठन की स्थापना के लिए दिए गए सारे सुझावों को 9 अक्टूबर, 1944 को प्रकाशित किया गया जिनमें 12 अध्याय थे लेकिन प्रस्तावना नहीं थी। वाशिंगटन के भवन 'डम्बर्टन ओक्स' में हुए इस सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्र महासभा और सुरक्षा परिषद की कार्यप्रणाली पर सब सहमत थे परन्तु सुरक्षा परिषद की मतदान प्रणाली के विषय में सोवियत संघ और कुछ पश्चिमी राष्ट्रों के बीच मतभेद थे। इन मतभेदों पर सहमति बनाने के लिए 2 फरवरी, 1945 को याल्टा में सम्मेलन हुआ। याल्टा नगर उस समय सोवियत संघ के क्रीमिया प्रांत में था।

डम्बर्टन ओक्स में बने संघ के चार्टर को अन्तिम रूप देने के लिए एक और सम्मेलन सेन फ्रांसिस्को में हुआ जिसमें 50 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने अपने हस्ताक्षर किए। कुछ समय बाद पोलैण्ड ने भी इस चार्टर पर हस्ताक्षर किए। संघ के कुल प्रारम्भिक सदस्यों की संख्या 51 थी। 24 अक्टूबर को संयुक्त राष्ट्रसंघ दिवस के रूप में मनाया जाता है।

चार्टर में संशोधन की व्यवस्था

संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में संशोधन की व्यवस्था अध्याय 18 में अनुच्छेद 108 और 109 के अंतर्गत दी गई है। ये अनुच्छेद निम्नानुसार हैं-

टिप्पणी

अनुच्छेद 108 - वर्तमान चार्टर में जो संशोधन होंगे वे संयुक्त राष्ट्रसंघ के सब सदस्यों पर तभी लागू हो सकेंगे जब उनको महासभा दो-तिहाई बहुमत से स्वीकार कर ले और सुरक्षा परिषद के सभी स्थायी सदस्यों सहित संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य अपनी-अपनी वैधानिक प्रक्रियाओं के अनुसार दो-तिहाई बहुमत से उनकी पुष्टि कर दें।

अनुच्छेद 109 - इसमें तीन शर्तें मुख्य हैं -

1. जब कभी चार्टर के पुनरावलोकन की बात हो, तो उसके लिये संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों का एक सामान्य सम्मेलन किया जा सकता है, जिसकी तारीख, समय और स्थान महासभा दो-तिहाई बहुमत से और सुरक्षा परिषद् अपने किन्हीं सात सदस्यों के मत में तय करेगी। उस सम्मेलन में संयुक्त राष्ट्रसंघ के हर सदस्य का एक वोट रहेगा।
2. यदि सम्मेलन में वर्तमान चार्टर का कोई परिवर्तन दो-तिहाई बहुमत से स्वीकार कर लिया जाता है, तो वह तभी लागू हो सकेगा जब सुरक्षा परिषद के सदस्य अपनी-अपनी वैधानिक प्रक्रियाओं के अनुसार दो-तिहाई बहुमत से उनकी पुष्टि कर दें।
3. चार्टर के क्रियान्वयन के बाद महासभा के दसवें वार्षिक अधिवेशन को एजेंडा पर रखा जायेगा और अगर महासभा में बहुमत से और सुरक्षा परिषद् में किन्हीं सात सदस्यों के मत से यह स्वीकार कर लिया जाता है, तो ऐसा सम्मलेन बुलाया जा सकेगा।

चार्टर की कुछ अन्य व्यवस्थाएं

संघ के चार्टर की कुछ अन्य उल्लेखनीय व्यवस्थाएं निम्नानुसार हैं –

गुप्त संधियों और राजनयिक प्रणाली के विरुद्ध व्यवस्था – इस संबंध में अनुच्छेद 102 के अंतर्गत व्यवस्था दी गई है कि संघ के सदस्य की संधियां या अंतर्राष्ट्रीय समझौते करेंगे (चार्टर के पास होने के बाद)। उन्हें यथाशीघ्र संघ के सचिवालय में पंजीकृत कराया जाएगा और उसके बाद सचिवालय उन्हें यथाशीघ्र प्रकाशित करेगा। जिन संधियों और समझौतों को पंजीकृत नहीं किया गया उनकी शर्तों की दुहाई संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी अंग के समक्ष नहीं दी जा सकेगी।

चार्टर के दायित्वों को प्राथमिकता - इस संबंध में अनुच्छेद 103 में उल्लेख है कि - यदि संयुक्त राष्ट्रसंघ के किसी सदस्य के वर्तमान चार्टर के दायित्व किसी दूसरे अंतर्राष्ट्रीय समझौते के दायित्व के विरुद्ध पड़ते हों, तो उस स्थिति में वर्तमान चार्टर के दायित्वों को सर्वोपरि माना जाएगा।

सदस्यों के आवश्यक अधिकार, विशेषाधिकार आदि की व्यवस्था - अनुच्छेद 104 और 105 के अंतर्गत इस संबंध में मुख्य व्यवस्थाएं निम्नलिखित हैं-

(क) संघ को अपने हर सदस्य देश में अपने कार्यों और प्रयोजनों की पूर्ति के लिए आवश्यक कानूनी अधिकार प्राप्त होंगे।

(ख) संघ को अपने हर सदस्य-देश में अपने प्रयोजनों की पूर्ति के लिये आवश्यक विशेषाधिकार और उन्मुक्तियां प्राप्त होंगी।

(ग) उसी प्रकार संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों के प्रतिनिधियों और अधिकारियों को संघ के कार्यों को स्वतंत्र रूप से पूरा करने के लिए आवश्यक विशेषाधिकार और उन्मुक्तियां प्राप्त होंगी।

टिप्पणी

आय - संयुक्त राष्ट्रसंघ की आय सदस्य राज्यों के चंदे पर आश्रित है। विभिन्न सदस्य एक निश्चित अनुदान सूची के अनुसार संघ के वार्षिक बजट में वार्षिक चंदे के रूप में अपना अनुदान देते हैं। अनुदान की राशि राष्ट्र की देय शक्ति के अनुपात में निर्धारित की गई है। उदाहरणार्थ 1947 में निर्धारित राशि के अनुसार अमेरिका संघ के बजट का 39.9 प्रतिशत, ब्रिटेन 11.84 प्रतिशत, सोवियत संघ 7.40 प्रतिशत, फ्रांस 6 प्रतिशत, चीन 6 प्रतिशत, भारत 3.95 प्रतिशत अनुदान देते थे। सदस्य-राज्य अपने अनुदान में नियमित नहीं रहे हैं और उनकी टालमटोल की नीति के कारण कई अवसरों पर संघ को वित्तीय संकट का सामना करना पड़ा है। अनेक अवसरों पर तो संघ को अपने कर्मचारियों का वेतन चुकाने में भी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। विगत वर्षों में संयुक्त राज्य अमेरिका द्वारा इस संगठन को नियमित रूप से अपना अनुदान नहीं देने के कारण इसको विषम परिस्थितियों का सामना करना पड़ा है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के अंग एवं कार्य

चार्टर के अनुच्छेद सात में संयुक्त राष्ट्रसंघ के अंगों (Organs) का उल्लेख है तदनुसार निम्नलिखित छह प्रमुख अंग हैं–

1. महासभा (General Assembly)
2. सुरक्षा परिषद (Security Council)
3. आर्थिक और सामाजिक परिषद् (Economic and Social Council)
4. न्यास परिषद (Trusteeship Council)
5. न्याय का अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय (International Court of Justice)
6. सचिवालय (Secretariat)

चार्टर के अनुसार आवश्यकतानुसार अन्य सहायक अंग भी स्थापित किये जा सकते हैं। अनुच्छेद 8 में उल्लेख है कि ''संयुक्त राष्ट्रसंघ अपने प्रमुख या सहायक अंगों में समानता की दिशा में किसी भी हैसियत से काम करने के लिये किसी भी नर-नारी की पात्रता पर कोई पाबंदी नहीं लगाएगा।''

1. महासभा

महासभा या साधारण सभा संयुक्त राष्ट्रसंघ का एक महत्वपूर्ण अंग है। सीनेटर वेण्डन वर्ग ने इसे संसार की नागरिक सभा की संज्ञा दी है। इसे संयुक्त राष्ट्रसंघ की व्यवस्थापिका सभा कहा जा सकता है। यद्यपि इसके प्रस्तावों को बाध्यकारी सत्ता प्राप्त नहीं है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य महासभा के सदस्य होते हैं। प्रत्येक सदस्य को महासभा में 5 प्रतिनिधि तथा वैकल्पिक प्रतिनिधि (Alternative Delegates) भेजने का अधिकार है, किंतु उसका मत एक ही होता है। महासभा का एक अध्यक्ष और 7 उपाध्यक्ष होते हैं। सदस्यों द्वारा प्रत्येक अधिवेशन के लिए अपना सभापति चुना जाता है।

टिप्पणी

महासभा का अधिवेशन वर्ष में एक बार सितंबर माह में आरंभ होता है। वर्ष में एक अधिवेशन होना अनिवार्य है, परंतु महामंत्री, सुरक्षा परिषद की अथवा संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों को बहुमत की प्रार्थना पर विशेष अधिवेशन भी आयोजित किया जा सकता है। महासभा के अब तक के इतिहास में अनेक बार इसके विशेष अधिवेशन हो चुके हैं।

महासभा में मतदान पद्धति - महासभा में एक राज्य एक वोट के सिद्धांत को मान्यता देकर छोटे-बड़े राष्ट्रों का भेद समाप्त कर दिया गया है। महत्वपूर्ण प्रश्नों के निर्णय के लिए उपस्थित सदस्यों को दो-तिहाई बहुमत और साधारण प्रश्नों के निर्णय के लिये साधारण बहुमत आवश्यक माना जाता है।

महासभा की समितियां - महासभा का कार्य प्रमुखतः सात समितियों द्वारा सम्पन्न किया जाता है। प्रत्येक सदस्य इसमें अपना एक प्रतिनिधि भेज सकता है। ये सात समितियां हैं –

(1) राजनीतिक और सुरक्षा समिति

(2) आर्थिक तथा वित्तीय समिति

(3) सामाजिक-मानवीय एवं सांस्कृतिक समिति

(4) न्यास समिति

(5) प्रशासकीय एवं बजट समिति

(6) कानूनी समिति एवं

(7) विशेष राजनीति समिति

इनके अतिरिक्त दो अन्य प्रक्रियात्मक (Procedural) समितियां भी होती हैं यथा सामान्य समिति जो उपर्युक्त समितियों की कार्यवाहियों में समन्वय स्थापित करती हैं एवं प्रमाण-पत्र समिति (Credential Committee) जो प्रतिनिधियों के प्रमाण-पत्रों की जांच करती है।

महासभा में संयोग एवं समूह–महासभा में सदस्य-राज्य निरंतर एक दूसरे से मिलते हैं। उनमें पर्दे के पीछे और खुले रूप में विभिन्न समस्याओं और प्रश्नों पर निरंतर परामर्श होता रहता है। महासभा में राज्यों के समूह (Groups) संयोग अथवा गठबंधन (Coalitions), गुट (Blocks) आदि निरंतर सक्रिय रहते हैं। आलोचकों के अनुसार इन संयोगों, समूहों और गुटों की गतिविधियों के फलस्वरूप महासभा द्वारा किसी निष्पक्ष निर्णय पर पहुंचने की संभावना कम हो जाती है। यह आरोप एक हद तक सही है तथापि हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि महासभा कोई दार्शनिकों या वैज्ञानिकों की सभा नहीं है। यह तो एक राजनीतिक निकाय (Political Body) है जो विभिन्न समस्याओं का संभावित समाधान खोजने का प्रयास करता है और सुनिश्चित करता है कि किस प्रकार समस्या के समाधान में सदस्यों का बहुमत प्राप्त किया जाये।

महासभा के प्रस्तावों में राज्यों के निम्नलिखित चार वर्गों का उल्लेख होता है-

(1) लैटिन अमेरिकी राज्य (Latin American States),

(2) अफ्रीकी एवं एशियाई राज्य (African and Asian States),

(3) पूर्वी यूरोप के राज्य (Eastern European States) एवं

(4) पश्चिमी यूरोपीय एवं दूसरे राज्य (Western European and Other States)। राज्य के इन वर्गों के अलग-अलग अथवा एक-दूसरे से मिलकर समय-समय पर विभिन्न समूह (Groups) विकसित होते हैं।

टिप्पणी

महासभा के कार्य और शक्तियां

महासभा संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के क्षेत्र में निहित सभी प्रश्नों पर विचार कर सकती है। इसके प्रमुख कार्यों और शक्तियों का उल्लेख संक्षेप में निम्नानुसार है–

1. **शांति और सुरक्षा संबंधी –** शांति और सुरक्षा कायम रखने के लिए अंतर्राष्ट्रीय सहयोग के सिद्धांतों के अनुसार सिफारिशें करना। इसमें नि:शस्त्रीकरण और शस्त्रों के नियमन की सिफारिशें करना भी सम्मिलित हैं।
2. **शांति और सुरक्षा से संबंधित समस्याओं पर विचार संबंधी –** शक्ति और सुरक्षा को प्रभावित करने वाली समस्याओं पर विचार-विमर्श करना तथा तत्संबंधी सिफारिशें करना बशर्ते कि उन पर तब सुरक्षा परिषद् में विवाद न चल रहा हो।
3. **विभिन्न क्षेत्रों के विकास संबंधी** - अंतर्राष्ट्रीय राजनीतिक सहयोग, अंतर्राष्ट्रीय कानून के विकास और संहिताकरण, मानव अधिकारों और मूलभूत स्वतंत्रताओं की प्राप्ति तथा सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक, शैक्षणिक और स्वास्थ्य संबंधी क्षेत्रों में आवश्यक अध्ययन को प्रेरित करना तथा इन सबके विकास के लिए समुचित अभिशंसा करना।
4. **प्रतिवेदन प्राप्त करने संबंधी** - सुरक्षा परिषद और संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्य अंगों से रिपोर्ट या प्रतिवेदन प्राप्त करना और उन पर विचार करना।
5. **शांतिपूर्ण समाधान संबंधी** - राष्ट्रों के बीच मैत्रीपूर्ण संबंधों को आघात पहुंचाने वाले किसी भी मामले के शांतिपूर्ण समाधान के लिये सिफारिशें करना।
6. **न्यास समझौतों का अनुपालन निरीक्षण** - न्यास परिषद् के माध्यम से न्यास समझौतों के अनुपालन का निरीक्षण करना।
7. **निर्वाचन एवं नियुक्ति संबंधी** - सुरक्षा परिषद् के 10 अस्थायी सदस्यों, सामाजिक परिषद् के 27 सदस्यों और न्यास समझौतों के अनुपालन का निरीक्षण करना।
8. **बजट संबंधी** - संयुक्त राष्ट्रसंघ के बजट पर विचार करना और उसे स्वीकार करना, राष्ट्रों के लिये चन्दे की राशि नियत करना और विशिष्ट अभिकरणों के बजटों की जांच करना।

2. सुरक्षा परिषद्

सुरक्षा परिषद् संयुक्त राष्ट्रसंघ का दूसरा महत्वपूर्ण अंग है। इसे व्यवहार में विश्व की सरकार (World Government) की संज्ञा दी जा सकती है। सुरक्षा परिषद संयुक्त राष्ट्रसंघ का मूल अंग (Key Organ of the U.N.) है। इसकी रचना संघ के कार्यकारी और सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग के रूप में की गई है तथा अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा का मुख्य दायित्व इसी पर है। चार्टर की मूल व्यवस्था के अनुसार परिषद् में पहले 11 सदस्य थे

टिप्पणी

– 5 स्थायी और 6 अस्थायी, किंतु दिसंबर 1965 में चार्टर में एक संशोधन के अनुसार सदस्यों की संख्या बढ़ाकर 15 कर दी गई है। अब 5 स्थायी और 10 अस्थायी सदस्य हैं। स्थायी सदस्य हैं – अमेरिका, रूस (सोवियत संघ के स्थान पर), ब्रिटेन, फ्रांस और साम्यवादी चीन। परिषद् द्वारा निर्णयों के न्यूनतम आवश्यक मतों को बढ़ाकर 7 से 9 कर दिया गया है। अवधि समाप्ति पर कोई सदस्य तुरंत पुनः चुनाव में खड़ा नहीं हो सकता।

परिषद् का संगठन इस प्रकार का है कि वह लगातार काम कर सके। इसलिये संघ मुख्यालय पर परिषद् के प्रत्येक सदस्य का प्रतिनिधि हर समय रहना आवश्यक है। कार्यविधि के नियमों के अनुसार परिषद् की बैठकों के बीच 14 दिन से अधिक का अंतर नहीं होना चाहिये। परिषद् मुख्यालय के अलावा इच्छानुसार अन्यत्र भी अपनी बैठक कर सकती है। अपने कार्यों के समुचित निर्वाह के लिये वह सहायक अंगों की स्थापना कर सकती है। परिषद् की दो स्थायी समितियां (Standing Committee) हैं–

(क) विशेषज्ञ समिति जो कार्यविधि की नियमावली का काम देखती है, एवं

(ख) नवीन सदस्यों के प्रवेश का काम देखने वाली समिति।

इनके अतिरिक्त परिषद् समय–समय पर तदर्थ समितियों और आयोगों की नियुक्ति करती रहती है। सैनिक आवश्यकताओं, शस्त्रों के नियंत्रण आदि पर स्वतंत्र परामर्श और सहायता के लिये एक सैनिक स्टॉफ समिति (Military Staff Committee) होती है। परिषद् के अधीन एक निःशस्त्रीकरण आयोग है जिसकी स्थापना जनवरी, 1952 में की गई थी।

परिषद् का सभापति परिषद् के सदस्यों में से अंग्रेजी वर्णमाला के अनुसार सदस्य राष्ट्रों के नाम के क्रम से प्रतिमास बदलता रहता है। परिषद् के प्रत्येक सदस्य राष्ट्र को एक मत प्राप्त होता है।

सुरक्षा परिषद् की शक्तियां

अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा की स्थापना की दृष्टि से सुरक्षा परिषद को व्यापक शक्तियां प्रदान की गई हैं। चार्टर के अनुच्छेद 24 में यह व्यवस्था है कि अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा का प्रधान उत्तरदायित्व सुरक्षा परिषद् का है और उसे यह देखना है कि संघ की ओर से प्रत्येक कार्यवाही जल्दी और प्रभावपूर्ण ढंग से हो। अनुच्छेद 25 के अंतर्गत संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों का कर्तव्य है कि वे चार्टर के अनुसार सुरक्षा परिषद् के निर्णयों को मानें और उन पर अमल करें। सुरक्षा परिषद् की शक्तियों का उल्लेख चार्टर के 6, 7, 8 और 12वें अध्याय में किया गया है। इन अध्यायों के अनुसार शांति व सुरक्षा की दिशा में अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने की दृष्टि से परिषद् की शक्तियां निम्नलिखित हैं :–

1. **अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा** – अनुच्छेद 2 के अनुसार सुरक्षा परिषद का मुख्य कार्य अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा स्थापित करना है। परिषद् उन विवादों और परिस्थितियों पर तत्काल विचार करती है जो शांति और सुरक्षा के लिए खतरा उत्पन्न कर रही हों अथवा जिनसे शांति भंग होने की संभावना हो। सुरक्षा परिषद अपने कर्तव्यों को संघ के प्रयोजनों और सिद्धांतों के अनुसार ही पूरा करती है। अनुच्छेद 24 में यह व्यवस्था कर दी गई है कि सुरक्षा परिषद् महासभा के विचार

के लिए वार्षिक रिपोर्ट या जरूरत पड़ने पर विशेष रिपोर्ट प्रस्तुत करेगी।

2. **विवादों का शांतिपूर्ण समाधन** - सुरक्षा परिषद् अंतर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण समाधान के लिये आवश्यक कार्यवाही करती है। चार्टर के अनुच्छेद 33 से 38 तक विवादों के शांतिपूर्ण निपटारे से संबंधित है।

टिप्पणी

3. **शांति के लिए व्यवस्थाएं** - सुरक्षा परिषद अंतर्राष्ट्रीय विवादों के शांतिपूर्ण समाधान के लिये आवश्यक कार्यवाही करती है। इस संबंध में अनुच्छेद 39 से 51 में आवश्यक व्यवस्थाएं दी गई हैं। सुरक्षा परिषद् ही यह निर्णय करती है कि कौन सी चेष्टाएं शांति को खतरे में डालने वाली, शांति भंग करने वाली और आक्रामक समझी जा सकती हैं। वह सिफारिश करती है कि अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा कायम रखने अथवा उसे फिर से स्थापित करने के लिये निम्नांकित में से कौन सी कार्यवाहियां करें-

   (क) ऐसी कार्यवाहियां करें जिनमें हथियारबंद सेना का प्रयोग न हो। परिषद् संघ के सदस्यों से पूर्ण या आंशिक रूप से महा संबंध समाप्त करने की मांग कर सकती है। इस कार्यवाही के अनुसार समुद्र, वायु, डाक, तार, रेडियो और यातायात के अन्य साधनों पर प्रतिबंध लगाये जा सकते हैं या राजनीतिक संबंध तोड़े जा सकते हैं।

   (ख) यदि सुरक्षा परिषद् इस कार्यवाही को अपर्याप्त समझे, तो अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा कायम रखने या पुनः स्थापित करने के लिए जल, थल और वायु सेना सेनाओं का प्रयोग कर सकती है। इस कार्यवाही के अतिरिक्त संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य देशों की सहायता से कोई अन्य कार्यवाही कर सकती है।

4. **सैनिक सहायता** - अनुच्छेद 43 के अनुसार अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की स्थापना में सहयोग देने के लिए संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य राज्य वचनबद्ध हैं कि 'सुरक्षा परिषद के उपयोग के लिये जो सशस्त्र सेनाएं दी जायेंगी उनका युद्ध संबंधी निर्देशन सैनिक स्टॉफ समिति के हाथ में रहेगा और यह समिति सुरक्षा परिषद के अधीन रहेगी। परिषद् द्वारा अधिकृत किये जाने पर सैनिक स्टाफ अपनी प्रादेशिक उप-समितियां भी बना सकता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के संविधान में यह व्यवस्था है कि सैनिक स्टॉफ समिति का काम सुरक्षा परिषद् के इन प्रश्नों पर सलाह और सहायता देना होगा -

   (i) अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के लिये सैनिक आवश्यकताएं,

   (ii) उसके अधीन सेनाओं का प्रयोग और उनकी कमान,

   (iii) शस्त्रों पर नियंत्रण एवं

   (iv) संभावित निःस्त्रीकरण। सैनिक स्टाफ समिति के सदस्य सुरक्षा परिषद् के स्थायी सदस्यों के मुख्य सेना-अध्यक्ष (Chief of Staff) या उनके प्रतिनिधि होंगे।

5. **निर्णयों पर कार्यवाही की वचनबद्धता** - अनुच्छेद 48 के अनुसार सुरक्षा परिषद् के निर्णयों पर जो कार्यवाही की जायेगी वह परिषद के निर्णय के अनुसार

टिप्पणी

संघ के सभी सदस्यों को या उनमें से कुछेक को करनी होगी। अनुच्छेद 49 की व्यवस्था के अनुसार सुरक्षा परिषद के सदस्य जो भी कार्यवाही करेंगे उनकी सूचना तुरंत सुरक्षा परिषद को देंगे पर चार्टर के अनुसार इससे सुरक्षा परिषद के अधिकारों और दायित्वों पर कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। वह अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की स्थापना पर पुनर्स्थापना के लिए जब कभी जो कार्यवाही आवश्यक समझे कर सकती है।

6. **सुरक्षा परिषद से परामर्श** - अनुच्छेद 50 के अनुसार जब सुरक्षा परिषद किसी राष्ट्र के विरुद्ध कोई कार्यवाही कर रही हो तो उस समय हो सकता है कि किसी दूसरे राष्ट्र के सामने कुछ विशेष महा समस्याएं उठ खड़ी हों। ऐसी स्थिति में उस राष्ट्र को चाहे वह संघ का सदस्य हो या नहीं, अपनी समस्याओं को हल करने के लिये सुरक्षा परिषद् से परामर्श करने का अधिकार होगा।

7. **प्रादेशिक संगठन एवं अभिकरण** - स्थानीय विवादों के समाधान के लिये सुरक्षा परिषद् प्रादेशिक संगठनों और अभिकरणों को माध्यम के रूप में प्रदान कर सकती है। इसके अतिरिक्त प्रादेशिक संगठन का अभिकरण अपने क्षेत्रों में शांति और सुरक्षा के लिए जो कदम उठाते हैं उनकी सूचना उन्हें नियमित रूप से सुरक्षा परिषद् को देनी पड़ती है।

8. **सामरिक महत्व के क्षेत्र** - सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण क्षेत्रों के संबंध में संयुक्त राष्ट्रसंघ ने जो दायित्व ग्रहण किया है उसका निर्वाह करने का उत्तरदायित्व सुरक्षा परिषद पर है। संरक्षित प्रदेशों के किसी भी राष्ट्र को संरक्षण देते समय संरक्षण संबंधी शर्तें सुरक्षा परिषद् द्वारा ही तय की जाती हैं। वही इन शर्तों में संशोधन कर सकती है। यदि ऐसे कुछ क्षेत्र सामरिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हों, जो संयुक्त राष्ट्रसंघ के संरक्षण में हों, तो इन क्षेत्रों की राजनीतिक, सामाजिक, महा एवं शैक्षणिक प्रगति के लिये सुरक्षा परिषद आवश्यक कार्यवाही कर सकती है। वर्तमान में लगभग सभी संक्षिप्त राष्ट्र स्वतंत्र हो चुके हैं, अत: उस व्यवहार में इस प्रावधान का महत्व केवल प्रतीकात्मक महत्व रह गया है।

सुरक्षा परिषद को अपेक्षाकृत कुछ कम महत्वपूर्ण शक्तियां सौंपी गई हैं जिनमें अधिकांश का प्रयोग वह महासभा के साथ मिलकर करती है। ये कार्य निर्वाचनात्मक (Elective), अभिक्रियात्मक अर्थात् पहल करने संबंधी (Initiatatory) एवं निरीक्षणात्मक (Supervisory) हैं। चार्टर द्वारा परिषद् को ये कार्य इस दृष्टि से सौंपे गये हैं कि महाशक्तियां महत्वपूर्ण संगठनात्मक मामलों पर अपना कुछ नियंत्रण रख सकें। अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीश के चुनाव में परिषद् का मुख्य हाथ रहता है।

3. सामाजिक परिषद्

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् (Ecosoc) संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रमुख अंगों में से एक है। यह संयुक्त राष्ट्रसंघ की महासभा के निर्देशन में कार्य करती है।

उद्देश्य - सामाजिक परिषद तक समन्वयी अभिकरण है। इसके उद्देश्य निम्नांकित हैं–

(अ) उच्च जीवन स्तर, पूर्ण रोजगार, महा एवं सामाजिक प्रगति एवं विकास की अवस्थाएं,

(ब) अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक एवं स्वास्थ्य और उनसे संबंधित समस्याओं का समाधान तथा अंतर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक और शिक्षा संबंधी सहयोग,

(स) जाति, लिंग, भाषा या धर्म के पक्षपात बिना मानव अधिकारों और मौलिक स्वतंत्रताओं के लिए समान छवि की अभिवृद्धि करना तथा सर्वत्र उनका पालन करना।

टिप्पणी

सदस्यता – संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर में सामाजिक परिषद् की सदस्य संख्या 18 रखी गई थी। 1965 के संशोधन द्वारा उसे बढ़ाकर 27 तथा 1971 के संशोधन द्वारा 54 कर दिया गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ की सदस्य संख्या में वृद्धि को देखते हुए इसकी सदस्य संख्या में वृद्धि की गई। सदस्यों का निर्वाचन संयुक्त राष्ट्रसंघ महासभा द्वारा तीन वर्ष के लिये किया जाता है। सदस्य बार-बार निर्वाचित हो सकते हैं, किंतु इस परिषद में स्थायी सदस्यता का प्रावधान नहीं है तथापि पुनःनिर्वाचन की व्यवस्था के कारण कुछ शक्तिशाली एवं औद्योगिक दृष्टि से विकसित देश इसके स्थायी सदस्य जैसे ही बन गये हैं। प्रत्येक सदस्य राष्ट्र इस परिषद् के लिये प्रतिनिधि भेजता है। एक प्रतिनिधि एक मत के अनुसार सभी राष्ट्र इसमें समान हैं। इसका वर्ष में दो बार अधिवेशन होता है। कोई भी प्रस्ताव आधार पर बहुमत से पारित होता है। अपने कार्यों के लिये यह परिषद् महासभा के प्रति उत्तरदायी है।

अपने कार्यों को सम्पादित करने के लिये परिषद् ने चार क्षेत्रीय महा आयोगों तथा आठ कृत्यात्मक आयोगों का गठन किया है। क्षेत्रीय महा आयोग-यूरोप के महा आयोग (E.C.E.), एशिया तथा सुदूरपूर्व के लिए महा आयोग (E.C.A.F.E.) लैटिन क्षेत्रीय महा आयोग (E.C.L.A.) एवं अफ्रीका के लिये महा आयोग (E.C.E.), कृत्यात्मक आयोग, मूर्च्छाकारी औषधि आयोग, मानव अधिकार आयोग तथा भेदभाव-निवारण व अल्पसंख्यक-सुरक्षा उप-आयोग एवं अंतर्राष्ट्रीय वस्तु व्यापार आयोग। यह परिषद् स्थायी समितियों, अस्थायी समितियों तथा विशेष समितियों के माध्यम से उत्तरदायित्व निभाने का प्रयास करती है।

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के कार्य

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद् के कार्य निम्नानुसार विश्लेषित किये जा सकते हैं :-

1. **अध्ययन तथा प्रतिवेदन** - संयुक्त राष्ट्रसंघ चार्टर के अनुच्छेद 62 के द्वारा परिषद् को अध्ययन तथा प्रतिवेदन का कार्य सौंपा गया है। वह अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक, स्वास्थ्य आदि विषयों का अध्ययन करके महासभा के समक्ष प्रतिवेदन प्रस्तुत कर सकती है। इस परिषद् ने शरणार्थी समस्या के, आवासीय गृहों की अपर्याप्तता, युद्ध में ध्वस्त क्षेत्रों के पुनर्निर्माण व महिलाओं की सामाजिक समस्याओं का समय-समय पर अध्ययन किया है।
2. **विचार विमर्श तथा संस्तुतियां** - संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर के 62वें अनुच्छेद में एक व्यवस्था यह है कि सामाजिक परिषद् महासभा, संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य राष्ट्रों तथा विशिष्ट अभिकरणों के समक्ष आर्थिक, सामाजिक, स्वास्थ्य, सांस्कृतिक एवं शैक्षिक आदि विषयों पर संस्तुतियां प्रस्तुत कर सकती है। परिषद् मानव अधिकारों तथा व्यक्ति की मौलिक स्वतंत्रताओं के प्रति सम्मान में वृद्धि एवं उनके

टिप्पणी

पालन के लिये संस्तुति कर सकती है। परिषद् की कोई संस्तुति अथवा निर्णय बाध्यकारी नहीं है। इस परिषद् की उपयोगिता इसी में है कि इसकी संस्तुतियों को सदस्य राष्ट्र स्वीकार करें एवं उन्हें क्रियान्वित करें। परिषद् सदस्य-राज्यों को मनाने व समझाने की प्रक्रिया ही अपनाती है। अत: इस दृष्टि से परिषद अंतर्राष्ट्रीय सहयोग एवं सद्भावना विकसित करने का कार्य करती है। परिषद् अपने अधिकार क्षेत्र में आने वाले विषयों पर अभिसमयों का प्रारूप तैयार करती है जिससे कि उन्हें महासभा के विचारार्थ प्रस्तुत किया जा सके। वह अपने कार्यक्षेत्र के अंतर्गत कार्यों के लिये नियमों के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का आयोजन भी कर सकती है।

3. **समन्वय अथवा तालमेल** - संयुक्त राष्ट्रसंघ के विशिष्ट अभिकरण विविध क्षेत्रों में अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कार्य करते हैं। चार्टर के अनुच्छेद 57 के अनुसार परिषद् विशिष्ट अभिकरणों से समझौते कर सकती है। परिषद् ने ऐसे समझौते अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (I.L.O.) यूनेस्को (UNESCO) विश्व स्वास्थ्य संगठन (FAO) विश्व डाक संघ (WPO) अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष (IMF) आदि संस्थाओं के साथ किए हैं। इन समझौतों का उद्देश्य इन विशिष्ट अभिकरणों को निश्चित दिशा में कार्य करने की प्रेरणा देना एवं इनके मध्य समन्वय स्थापित करना है जिससे कि सामाजिक समस्याओं के समन्वित समाधान प्राप्त हों और मानव मात्र का हित सिद्ध हो सके। परिषद् इन अभिकरणों से प्रतिवेदन मांग सकती है व संयुक्त राष्ट्र के सदस्य राज्यों को इन अभिकरणों की सेवाएं उपलब्ध करा सकती है। परिषद् गैर-सरकारी संगठनों के साथ सीधे विचार-विमर्श कर सकती है।

अध्ययन, प्रतिवेदन, विचार-विमर्श, संस्तुति, सम्मेलन एवं समन्वय जैसे प्रमुख साधनों के माध्यम से महा व सामाजिक परिषद् ने सामाजिक, सांस्कृतिक, शैक्षिक, स्वास्थ्य व उनसे संबंधित क्षेत्रों में सराहनीय कार्य किया है। परिषद् अपनी बात सतत् प्रयास, समझाने की प्रक्रिया एवं आग्रह द्वारा स्वीकार करा सकती है। इसमें उसे पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के राजनीतिक कार्य भले ही संतोषप्रद न हों तथापि हमारे विश्वास की पुष्टि करते हैं कि विश्व के राष्ट्र एक-दूसरे के सुखों में समभागी होते हुए तथा दुख में एक-दूसरे की सहायता करते हुए मिल-जुलकर चलते रहने को सदैव तत्पर हैं। इस दृष्टि से महा एवं सामाजिक परिषद् का कार्य उल्लेखनीय है।

महासभा के अधीन होने के कारण यह महासभा के कार्यों को पूर्ण करने की अपेक्षा पुनरावृत्ति करती है।

परिषद् की मुख्य स्थायी समितियां इस प्रकार हैं - प्राविधिक सहायता समिति, अंतर्राष्ट्रीय संस्था से संपर्क करने वाली समिति, गैर-सरकारी संगठन या संस्थाओं से संबंधित समिति, कार्य-सूची समिति एवं अंतरित कार्यक्रम (Agenda) समिति। इन समितियों में प्राविधिक सहायता समिति सबसे महत्वपूर्ण है।

प्रो. फेनविक का यह मत सही है कि सामाजिक परिषद् कोई नीति निर्धारित करने वाली संस्था नहीं है वरन् विशिष्ट समिति के समान है जिसका उद्देश्य अंतर्राष्ट्रीय महा व सामाजिक सहयोग के क्षेत्र में व्यावहारिक कार्य करता है। कुछ समालोचकों का मत है कि यह परिषद बातूनी सुरक्षा परिषद की मौन बहिन है।

टिप्पणी

4. न्यास परिषद्

चार्टर के अध्याय 12 में अनुच्छेद 75 से 85 तक न्यास परिषद् की रचना, शक्तियों, कार्यविधियों आदि का उल्लेख किया गया है। पहले राष्ट्रसंघ में संरक्षण व्यवस्था (Mandate System) थी और अब इसके स्थान पर इससे बहुत कुछ मिलती-जुलती न्यास व्यवस्था अपनाई गई है। इसका मुख्य उद्देश्य यह है कि विश्व में अनेक पिछड़े हुए तथा अविकसित प्रदेश हैं जिनका विकास तभी संभव है जब सभ्य और विकसित देश उन्हें सहयोग प्रदान करें, अत: विकसित देशों का यह कर्तव्य है कि स्वयं को न्यासी (Trustee) समझकर अविकसित प्रदेशों के हितों की देखभाल करें तथा उनके विकास में हर संभव सहयोग दें। राष्ट्रसंघ की संरक्षण व्यवस्था केवल जर्मन, तुर्की आदि पीड़ित प्रदेशों के लिए थी। वहां संयुक्त राष्ट्रसंघ की न्यास पद्धति का क्षेत्र उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद द्वारा पराधीन बनाए गए सभी क्षेत्रों के लिए है। न्यास पद्धति के मूल उद्देश्य हैं-

(क) अंतर्राष्ट्रीय शांति एवं सुरक्षा में वृद्धि करना,

(ख) न्यास प्रदेशों के निवासियों का स्वशासन की दिशा में विकास करना,

(ग) मानवाधिकारों और मूल स्वतंत्रताओं के प्रति सम्मान की भावना को प्रोत्साहन देना तथा यह भाव जाग्रत करना कि संसार के सभी लोग अन्योन्याश्रित हैं एवं

(घ) सामाजिक, आर्थिक, वाणिज्यिक मामलों में संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्यों और उनके नागरिकों के प्रति समानता के व्यवहार का विश्वास दिलाना।

न्यास पद्धति के अंतर्गत समाविष्ट प्रदेश दो भागों में विभाजित हैं - अ-स्वशासित प्रदेश (Non Self Governing Terrotories) एवं न्यास या संरक्षित प्रदेश (Trust Territories)। प्रथम प्रकार के अ-स्वशासित प्रदेश में वे पराधीन प्रदेश या उपनिवेश हैं जो संरक्षित प्रदेश न बने हों या ब्रिटेन, फ्रांस आदि पश्चिमी देशों के साम्राज्याधीन प्रदेश थे। न्यास प्रदेश वे हैं जो ऐसे न्यास-समझौतों द्वारा, जो संबंधित राज्यों के मध्य होते हैं और जिन पर महासभा की स्वीकृति अनिवार्य है, न्यास प्रदेश बना दिये जाते थे। कुछ वर्ष पूर्व न्यास पद्धति के अंतर्गत न्यूगिनी व रूआण्डा, उरुण्डी, फ्रैंच कैमरूप, फ्रैंच टोगोलैण्ड, पश्चिमी समोआ, टोंगानिका, ब्रिटिश कैमरूप, पेरू, प्रशांत महासागर के द्वीप, सुमालीलैण्ड, टोगोलैण्ड नामक 11 देश थे जिनमें से बाद में केवल दो प्रदेश ही न्यास प्रदेश रह गए-न्यूगिनी तथा पपुआ। 1975 में वे भी स्वतंत्र हो गये। इस तरह से न्यास परिषद् के प्रयत्नों से सभी न्यास क्षेत्र स्वतंत्र हो गये हैं। यह न्यास परिषद् की एक महान सफलता ही मानी जाएगी।

संगठन की कार्य-प्रणाली

न्यास परिषद् का कार्य मार्च, 1947 को आरंभ हुआ था। इस परिषद् में संघ के निम्नलिखित सदस्य शामिल हो सकते हैं -

1. सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्य, चाहे वे न्यास पर प्रशासन करते हैं अथवा नहीं
2. संयुक्त राष्ट्रसंघ के वे सदस्य जो न्यास क्षेत्र का प्रशासन करते हों, एवं

3. महासभा द्वारा तीन वर्ष के लिए निर्वाचित उतने सदस्य जितने न्यास परिषद् में न्यास प्रदेशों पर शासन करने वाले और न करने वाले सदस्यों की संख्या को समान करने के लिए आवश्यक हों।

टिप्पणी

परिषद् के प्रत्येक सदस्य का एक मत होता है। इसके निर्णय परिषद् में उपस्थित सदस्यों के बहुमत से किये जाते हैं। न्यास परिषद् अपनी कार्यविधि के नियम स्वयं बनाती है। अपने अध्यक्ष चुनने की विधि वह स्वयं निर्धारित करती है। न्यास परिषद् की बैठकें नियमानुसार की जाती हैं। सदस्यों की प्रार्थना पर विशेष बैठक बुलाई जा सकती है। यह परिषद् आवश्यकतानुसार महा तथा सामाजिक परिषद् और अन्य संस्थाओं से सहायता ले सकती है।

न्यास परिषद् के कार्य एवं अधिकार

न्यास परिषद के कार्यों एवं अधिकारों को निम्न प्रकार से समझाया गया है-

न्याय परिषद का पहला कार्य है कि वह महासभा से आदेश प्राप्त करती है और न्यास प्रदेशों के शासन की देखरेख करती है। प्रशासी अधिकारी अपने प्रतिवेदन प्रतिवर्ष न्यास परिषद के समक्ष प्रस्तुत करते हैं जिन पर आवश्यक विचार-विमर्श करने के उपरांत परिषद् महासभा और सुरक्षा परिषद् को विभिन्न प्रकार की सिफारिशें भेजती है। न्यास परिषद की सिफारिशें इस प्रकार की होती हैं जैसे-मूल निवासियों को सरकार के विभिन्न अंगों में स्थान दिलाना, उनके वेतन एवं जीवन स्तर को उन्नत करना, चिकित्सा तथा अधिक लाभप्रद स्वास्थ्य सेवाएं सुलभ कराना, दंड-पद्धति में सुधार, सामाजिक कुरीतियों का अंत करके मूल निवासियों की कला एवं संस्कृति को प्रोत्साहन देना आदि-आदि। न्यास परिषद् न्यास-क्षेत्रों में होने वाले अणु विस्फोटों पर भी विचार-विमर्श कर चुकी है।

न्यास परिषद का दूसरा मुख्य कार्य न्यास-प्रदेश के निवासियों के लिखित एवं मौखिक आवेदन पत्रों पर विचार करना है। यह परिषद् का सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य है जिसके माध्यम से परिषद् और न्यास प्रदेशों की जनता में सीधा संपर्क हो जाता है।

न्यास परिषद् का तीसरा महत्वपूर्ण कार्य समय-समय पर न्यास प्रदेशों को निरीक्षण मंडल (Visiting Missions) भेजना है। इन मंडलों के माध्यम से पराधीन प्रदेशों पर अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण रखा जाता है। इनको परिषद् की आंख और कान कहा गया है। ये न्यास प्रदेशों का महा विकास, शिक्षा-प्रसार, श्रम-व्यवस्था, सामाजिक-सुधार, भूमि-सुधार आदि से संबंधित नीतियों का अध्ययन करते हैं और सुधार के लिए आवश्यक सुझाव देते हैं। पिछड़े प्रदेशों की जटिल समस्याओं का ज्ञान प्राप्त करने में इन निरीक्षण मंडलों से बहुत सहायता मिलती है। न्यास परिषद् महत्वपूर्ण निर्णय स्वयं ही करती है तथा अपने कार्य को तत्परता से सम्पन्न करने अथवा किसी विशेष समस्या को हल करने के लिए समय-समय पर इसने कई समितियां भी स्थापित की हैं। जैसे-शिक्षा समिति, ग्रामीण विकास समिति एवं प्रशासी संघ समिति। महासभा की चौथी समिति और स्वयं महासभा ने न्यास पद्धति के विकास में काफी हाथ बटाया है। न्यास परिषद ने अपने कार्यकाल में बहुत से उपयोगी कार्य किए हैं। महासभा जनरल सी.पी. रोम्यूलो के अनुसार न्यास व्यवस्था में शीघ्रता से विकास किया गया और यह विकास विश्व में राजनीतिक नैतिकता

का ऊंचा मापदंड है। इस परिषद् ने गंभीर प्रयासों, महाशक्तियों के सहयोग तथा बदलती राजनीतिक परिस्थितियों के फलस्वरूप आज सभी न्यास भू-भाग स्थानीय कर दिए हैं, अतः न्यास परिषद् का अब मात्र प्रतीकात्मक महत्व ही रह गया है।

टिप्पणी

5. न्याय का अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय

यह संयुक्त राष्ट्रसंघ का न्यायिक अंग है। यह उस अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय का नया रूप है जिसे राष्ट्रसंघ द्वारा 1921 में हेग में स्थापित किया था। इसकी स्थापना संयुक्त राष्ट्रसंघ के चार्टर तथा न्यायालय संबंधी परिशिष्ट के आधार पर की गई है। अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय का कार्य क्षेत्र संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्य राष्ट्रों के सभी विवादों तक व्याप्त है। गैर-सदस्य राज्य को भी सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय का पक्ष बनाया जा सकता है। केवल राज्य ही इस न्यायालय के विचारणीय पक्ष हो सकते हैं, व्यक्ति नहीं।

संगठन

इस न्यायालय में केवल 15 न्यायाधीश होते हैं जिनका चुनाव सुरक्षा परिषद् एवं महासभा द्वारा 9 वर्ष के लिये किया जाता है और कार्यावधि की समाप्ति के बाद वे पुनः निर्वाचित हो सकते हैं। एक राज्य से दो न्यायाधीश नहीं लिये जा सकते। न्यायाधीश की पदच्युति भी हो सकती है जब वह सदस्यों की सर्वसम्मति से आवश्यक शर्तों को भंग करने का दोषी पाया जाए।

न्यायालय के विधान के अनुसार इसमें 15 स्थायी न्यायाधीशों के अतिरिक्त अस्थायी न्यायाधीश नियुक्त करने की भी व्यवस्था है। यदि न्यायालय में किसी ऐसे राज्य का मामला विचारणीय हो जिसका न्यायाधीशों में प्रतिनिधित्व नहीं है, तो वह मामले की सुनवाई के समय अस्थायी न्यायाधीश के पद से हट जाता है। उससे उस मामले के संबंध में कानूनी राय ली जाती है, किंतु निर्णय में उसका कोई हाथ नहीं रहता। अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय की गणपूर्ति 9 रखी गई है। न्यायालय में सभी निर्णय बहुमत से लिये जाते हैं। बहुमत न होने पर सभापति का निर्णायक मत मान्य होता है। न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध कोई अपील नहीं की जा सकती है। न्यायालय की भाषा फ्रेंच तथा अंग्रेजी है। अन्य भाषाओं का भी अधिकृत रूप में प्रयोग किया जा सकता है।

न्यायिक निर्णयों का निष्पादन

संयुक्त राष्ट्रसंघ के निर्णयों को क्रियान्वित कराने के लिए संघ के चार्टर की धारा 94 में व्यवस्था की गई है। इसके अनुसार संघ का प्रत्येक सदस्य यह प्रतिज्ञा करता है कि वह किसी मामले में विवाद होने पर अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के निर्णय को स्वीकार करेगा। यदि एक पक्ष न्यायालय के निर्णय को नहीं मानता, तो दूसरा पक्ष सुरक्षा परिषद् का आश्रय ले सकता है। इस पर सुरक्षा परिषद जैसा आवश्यक समझे वैसी सिफारिश अथवा कार्यवाही करेगी। न्यायालय के निर्णय यद्यपि सर्वसम्मति से किये जाते हैं, मतभेद की अवस्था में प्रत्येक न्यायाधीश अपना पृथक विचार निर्णय-पत्र के साथ संलग्न कर सकता है। न्यायालय के निर्णय को कार्यान्वित कराने के लिये आवश्यक कार्यवाही निश्चित करते समय सुरक्षा परिषद् के 9 सदस्यों की स्वीकृति आवश्यक है। इसमें से पांच स्थायी सदस्य होने चाहिये। क्रियान्विती के उपायों की धारा 41 तथा 42 में प्रावधान है। प्रथम के अनुसार

टिप्पणी

सुरक्षा परिषद सैनिक-बल को छोड़कर ऐसे उपायों का प्रयोग कर सकती है जिनमें महा संबंध रेल, समुद्र, डाक, रेडियो, यातायात के साधन तथा राजनीतिक संबंध का विच्छेद शामिल है। यदि वे उपाय सफल हो जायें तो धारा 42 के अनुसार सुरक्षा परिषद् जल, स्थल और वायु सेना द्वारा ऐसी कार्यवाही कर सकती है जो अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के लिये आवश्यक हो।

अंतर्राष्ट्रीय न्यायालयों का क्षेत्राधिकार

अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :-

(क) **ऐच्छिक क्षेत्राधिकार** - इस क्षेत्राधिकार के अंतर्गत न्यायालय अपनी संविधि (Statute) की धारा 36 के अनुसार उन सभी मामलों पर विचार कर सकता है जिनको संबंधित राज्य न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत करे। केवल राज्य ही न्यायालय के विचारणीय पक्ष हो सकते हैं, व्यक्ति नहीं।

(ख) **अनिवार्य क्षेत्राधिकार** - इसको वैकल्पिक आवश्यक क्षेत्राधिकार (Optional Compulsory Jurisdiction) कहा जाता है जिसके अनुसार राज्य स्वयं घोषणा द्वारा अग्रवर्णित क्षेत्रों में न्यायालय के आवश्यक क्षेत्राधिकार को स्वीकार कर लेता है - संधि की व्याख्या, अंतर्राष्ट्रीय कानून के क्षेत्र से संबंधित सभी मामले, किसी ऐसे तथ्य का अस्तित्व जिसके सिद्ध होने पर किसी अंतर्राष्ट्रीय कर्तव्य का उल्लंघन समझा जाए एवं किसी अंतर्राष्ट्रीय विधि के उल्लंघन पर क्षतिपूर्ति का रूप और परिणाम। घोषणा करते समय राज्य भी शर्त लगा सकता है। कभी-कभी तो ऐसी शर्तों के कारण यह घोषणा व्यावहारिक रूप से निरर्थक बन जाती है तथापि सशर्त होते हुए वैकल्पिक धारा अनिवार्य न्यायिक निर्णय की सर्वाधिक और महत्वपूर्ण व्यवस्था है।

(ग) **परामर्शदात्री क्षेत्राधिकार** - इस क्षेत्राधिकार के अंतर्गत न्यायालय द्वारा परामर्श देने का कार्य किया जाता है। महासभा अथवा सुरक्षा परिषद किसी कानूनी प्रश्न पर अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय से परामर्श कर सकती है। संयुक्त राष्ट्रसंघ के अन्य अंग तथा विशेष अभिकरण उनके अधिकार-क्षेत्र में उठने वाले कानूनी प्रश्नों पर न्यायालय से परामर्श प्राप्त कर सकते हैं। परामर्श के लिये न्यायालय के सम्मुख लिखित रूप से प्रार्थना की जाती है। अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय का परामर्श केवल परामर्श होता है और सिद्धांत रूप में सुरक्षा परिषद् महासभा या अन्य संस्था इसको मानने के लिये बाध्य नहीं है, परंतु व्यवहार में ऐसा करना सर्वथा कठिन होता है।

मूल्यांकन

अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अनेक महत्वपूर्ण विवादों के समाधान में सहयोग दिया है। इस संबंध में मोरक्को का मामला, एंग्लो-ईरानियम मामला, भारतीय प्रदेशों में से पुर्तगाल को मार्ग देने के अधिकार का प्रश्न, कोर्फू चैनल विवाद, एंग्लो-नार्वेलियम मछलीगाह विवाद आदि को लिया जा सकता है। न्यायालय के कार्य संचालन में राज्यों के असहयोगपूर्ण दृष्टिकोण के कारण यह अधिक उपयोगी तथा शक्तिशाली संस्था का रूप नहीं ले सकी है क्योंकि राज्यों के लिए अंतर्राष्ट्रीय न्यायालयों के निर्णय बाध्यकारी नहीं हैं।

टिप्पणी

अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के अपने निर्णय तथा सलाहकारी मतों में अंतर्राष्ट्रीय कानून के विकास में महत्वपूर्ण योगदान मिला है। न्यायाधीश लाउटरपैक्ट ने लिखा है कि दीर्घकाल में अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा अंतर्राष्ट्रीय कानून का विकास करना उनके सफलतापूर्वक कार्य सम्पादन और क्षेत्राधिकार के लिए एक महत्वपूर्ण आवश्यकता है तथा इसमें संदेह नहीं है कि इस महत्वपूर्ण आवश्यकता की पूर्ति अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय ने की है। यह कम बात नहीं है कि प्रतिकूल परिस्थितियों और विभिन्न सीमाओं के बावजूद अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय ने अपना काम बड़ी कुशलता से किया है। अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय को एक ऐसे विश्व समाज में काम करना पड़ रहा है जो आज भी इसे महत्वपूर्ण मामले सौंपने को तैयार नहीं है अथवा वे कार्य भी इसे देने को तैयार नहीं है जो चार्टर में इसके लिये निर्देशित हैं। न्यायालय को अधिक कार्यक्षेत्र देने और प्रभावी बनाने के लिए इस स्थिति में परिवर्तन लाना अपरिहार्य है। कुछ विधि-शास्त्रियों का मत है कि न्यायालय की संविधि में संशोधन करके इसे सुधारा जा सकता है तथापि न्यायाधीश जैसफ का यह मत उपयुक्त प्रतीत होता है कि दोष संविधि का नहीं है वरन् यह है कि राज्य न्यायालय का अधिक उपयोग करने के प्रति उदासीन है। यह अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय ही है जिसने संयुक्त राष्ट्र के किसी अन्य अंग से अधिक आज के अंतर्राष्ट्रीय कानून को नई गतिशीलता प्रदान की है।

6. सचिवालय

संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यों के सम्पादन के लिये एक सचिवालय की स्थापना की गई है। चार्टर के अध्याय 15 में अनुच्छेद 97 से 101 तक सचिवालय से संबंधित है। यह सचिवालय सामान्यत: राष्ट्रसंघ (लीग) के सचिवालय का प्रतिरूप है।

संगठन एवं विभाग

सचिवालय में एक महासचिव और वे कर्मचारी सम्मिलित होते हैं जो संघ के कार्य-सम्पादन के लिए आवश्यक हों। महासचिव सचिवालय की सहायता से अपने सभी कार्य सम्पादित करता है। महासचिव की नियुक्ति सुरक्षा परिषद् की सिफारिश पर महासभा द्वारा की जाती है। वही संघ का प्रमुख अधिशासक अधिकारी है। संघ के पदाधिकारियों या कर्मचारियों की नियुक्ति महासचिव द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार की जाती है, कर्मचारियों की भर्ती और उनकी सेवा-शर्तों को निर्धारित करने में सबसे अधिक ध्यान इस बात पर दिया जाता है कि वे कुशल और ईमानदार हों। महासचिव यह भी ध्यान रखता है कि भर्ती अधिक से अधिक विस्तृत भौगोलिक आधार पर हो। अनुच्छेद 101 में यह व्यवस्था है कि महा और सामाजिक परिषद् तथा न्यास परिषद् को स्थायी रूप में यथोचित कर्मचारी उपलब्ध कराये जायेंगे और संघ के अन्य अंगों को आवश्यकतानुसार कर्मचारी दिये जायेंगे। ये सभी कर्मचारी सचिवालय के अंग होंगे।

महासचिव और उसके कर्मचारी केवल संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रति निष्ठावान होते हैं। अनुच्छेद 100 में स्पष्ट उल्लेख है कि 'अपने कर्तव्यों की पूर्ति में महासचिव और कर्मचारी किसी राज्य से या संघ के बाहर किसी अन्य अधिकारी से परामर्श नहीं लेंगे और न प्राप्त करेंगे। वे अंतर्राष्ट्रीय अधिकारी हैं और केवल संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रति उत्तरदायी हैं।'

टिप्पणी

संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रत्येक सदस्य वचनबद्ध है कि वह महासचिव और उसके कर्मचारियों के दायित्वों के पूर्ण अंतर्राष्ट्रीय स्वरूप को स्वीकार करेगा। प्रत्येक सदस्य-राज्य यह प्रतिज्ञा करता है कि वह महासचिव और कर्मचारियों के दायित्वों के निर्वाह में किसी प्रकार का दबाव डालने की चेष्टा नहीं करेगा।

सचिवालय प्रशासनिक और अन्य कार्यों की दृष्टि से अनेक विभागों में विभक्त है। इसके प्रमुख विभाग महा विषय संबंधी विभाग, सामाजिक कार्य संबंधी विभाग, न्याय तथा अ-स्वशासित क्षेत्रों से सूचना संबंधी विभाग, सम्मेलन एवं सामान्य सेवायें, प्रशासकीय एवं वित्तीय सेवायें तथा वैधानिक या कानूनी विभाग हैं। महासचिव की सहायता के लिए एक कार्यकारी सहायक और एक टेक्नीकल-सहायक प्रशासक भी होता है। टेक्नीकल-सहायक प्रशासक एक महासंचालक की देख-रेख का कार्य करता है। 1 जनवरी, 1995 से महासचिव का कार्यभार कम करने के लिए 7 अवर सचिवों की भी नियुक्ति की गई है। महासचिव के कार्यालय से अनेक कार्यालय संबंधित हैं। जैसे महासचिव के कार्यकारी सचिव का कार्यालय, वैधिक विषयों का कार्यालय, नियंत्रक कार्यालय, सेवीवर्ग कार्यालय तथा विशेष राजनीतिक कार्य-संबंधी उपसचिव का कार्यालय। सचिवालय के प्रशासकीय और कर्मचारी वर्ग में अर्थशास्त्री, समाजशास्त्री, वैज्ञानिक, दुभाषिए, अनुवादक, पुस्तकालयाध्यक्ष, प्रशासक, सम्पादक, वित्तीय अधिकारी, विधिवेत्ता, फोटोग्राफर, सेवीवर्ग के अधिकारी तथा विशेषज्ञ, सरकारों और संयुक्त राष्ट्रसंघ को भेजे गये विदेशी सेना अधिकारी आदि सम्मिलित होते हैं।

सचिवालय–कार्यालय के कार्य

सचिवालय का प्रधान कार्यालय न्यूयॉर्क तथा जेनेवा में है, किंतु क्षेत्रीय सेवाओं, प्रादेशिक आयोगों तथा सूचना केंद्रों के लिये इसके कर्मचारी विश्व में कई भागों में कार्य करते हैं। सचिवालय द्वारा बहुत ही महत्वपूर्ण एवं आवश्यक कार्य सम्पन्न किये जाते हैं। यह संघ के अंगों एवं अभिकरणों के अधिवेशनों के लिए सेवाएं प्रदान करता है। यह इन अधिवेशनों के लिए अध्ययन करता है तथा पृष्ठभूमि तैयार करता है तथा अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय के अतिरिक्त संघ के अन्य अंगों के लिए सचिवालय संबंधी सेवायें प्रदान कर एक कार्यकारिणी की भांति कार्य करता है। संयुक्त राष्ट्रसंघ की कार्यवाही के लक्ष्य को ध्यान में रखकर वह प्रत्येक साधन द्वारा हर प्रकार की सूचना एकत्रित करता है।

महासचिव की स्थिति और कार्य

राष्ट्रसंघ (लीग) के महासचिव की तुलना में संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव का पद अधिकार-सम्पन्न और प्रभावशाली है। उसे कुछ ऐसे अधिकार और कर्तव्य सौंपे गए हैं जिनका पुराने राष्ट्रसंघ में सर्वथा अभाव था। चार्टर के अनुसार महासचिव के अग्रलिखित महत्वपूर्ण कार्य हैं :-

1. **संकट के विषय पर सुरक्षा परिषद् का ध्यान आकर्षित करना** - अनुच्छेद 99 के अनुसार यदि महासचिव समझे कि किसी मामले से अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के लिए संकट उत्पन्न हो सकता है, तो वह सुरक्षा परिषद् का ध्यान उस मामले की ओर आकर्षित कर सकता है। ऐसा अधिकार राष्ट्रसंघ महासचिव को नहीं था। इस अधिकार के बल पर ही संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव अंतर्राष्ट्रीय

राजनीति में व्यक्तिगत रुचि लेकर विश्व शांति कायम रखने की दिशा में महत्वपूर्ण योगदान देते रहे हैं। इससे विश्व-राजनीति के संदर्भ में महासचिव की भूमिका महत्वपूर्ण बन गई है।

टिप्पणी

2. **संयुक्त राष्ट्रसंघ का प्रमुख अधिशासी अधिकारी** - अनुच्छेद 98 में प्रावधान है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रमुख अधिशासी अधिकारी की हैसियत से महासचिव महासभा, सुरक्षा परिषद, महा और सामाजिक परिषद तथा न्यास परिषद की बैठकों में भाग लेगा। इसके अलावा वह उन कार्यों को भी पूरा करेगा जो ये अंग उसे सोंप दें।
3. **वार्षिक रिपोर्ट प्रस्तुत करना** - महासचिव संयुक्त राष्ट्रसंघ के कार्यों के विषय में महासभा के समक्ष वार्षिक रिपोर्ट प्रस्तुत करता है जिसमें कार्यों का विस्तृत लेखा-जोखा होता है।
4. **नियुक्तियां करना** - संघ के पदाधिकारियों और कर्मचारियों की नियुक्ति का भार महासचिव पर ही होता है।
   (क) किसी भी विवाद या स्थिति को सुरक्षा परिषद की अस्थायी कार्यसूची में रखना।
   (ख) राजनीतिक निर्णय लेना।
   (ग) सुरक्षा परिषद के सामने उन महा और सामाजिक घटनाओं को रखना जिनके राजनीतिक परिणाम निकालने की संभावना हो।
   (घ) अपनी शक्तियों का प्रयोग करने से पूर्व आवश्यक पूछताछ या खोज-बीन करना।
   (ङ) यह निश्चय करना कि अमुक अंतर्राष्ट्रीय समस्या सुरक्षा परिषद के सामने प्रस्तुत की जाये एवं परिषद के समक्ष प्रस्तुत करने से पूर्व औपचारिक रूप से वार्तालाप करना।
   (च) अपने कर्तव्यों का निर्वहन करने के लिए आवश्यक घोषणा करना या सुझाव रखना या सुरक्षा परिषद के विचारार्थ प्रारूप-प्रस्ताव प्रस्तुत करना।
   (छ) सुरक्षा परिषद के मंच के विश्व-लोकमत को संबोधित करते हुए शांति के लिए अपील करना।

महासचिव को अंतर्राष्ट्रीय राजनीति को प्रभावित करने के बहुत से अवसर प्राप्त होते हैं। वह निरंतर विभिन्न देशों के राष्ट्राध्यक्षों तथा प्रतिनिधि-मंडलों के सम्पर्क में रहता है। उसे यह स्वतंत्रता होती है कि वह संयुक्त राष्ट्रसंघ के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए सरकारों को प्रभावित कर सके। उसे यह स्वतंत्रता होती है कि वह सदस्य राज्यों के विदेश मंत्रालयों से संपर्क स्थापित कर उनसे परामर्श कर सकता है। उसे सार्वजनिक भाषण देने का अधिकार होता है जिनके द्वारा वह संसार के जनमत को प्रभावित कर सकता है। वह संयुक्त राष्ट्रसंघ के दोषों को सुधारने की दिशा में भी कदम उठा सकता है। वह व्यक्तिगत सम्मेलनों, सभाओं तथा भोजों में सम्मिलित होता है।

किन्हीं अवसरों पर महासचिव को कुछ ऐसे कार्य भी करने पड़ते हैं जिनका संयुक्त राष्ट्रसंघ से कोई प्रत्यक्ष संबंध नहीं होता। वह विभिन्न राष्ट्रों की सरकारों की

प्रार्थना पर अनेक महत्वपूर्ण कार्य करता है जिनके द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से समस्याओं को शांतिपूर्ण निपटारे में सहयोग मिलता है।

टिप्पणी

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ के महासचिव का पद बहुत ही गरिमापूर्ण और महत्वपूर्ण है। संघ के सदस्यों का सहयोग और विश्वास प्राप्त करके वह विश्व-शांति और सुरक्षा के संवर्द्धन में बहुत सहायक हो सकता है। महासचिव की स्थिति ऐसी नहीं है कि चार्टर द्वारा प्राप्त स्वयं की शक्ति से वह शक्तिशाली बन जाये और सब कार्यों का सफलतापूर्वक निर्वहन कर सके। महासचिव की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि सदस्य राष्ट्र उसके साथ कितना सहयोग करते हैं। संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों के विश्वास और सहयोग के अनुपात में ही उसकी शक्ति घट-बढ़ सकती है, परंतु उसके स्वयं के व्यक्तित्व का कम महत्व नहीं है। वह महासचिव जो बुद्धि चातुर्य तथा राजनीतिक दाव-पेचों में कुशल हो, सदस्यों का अधिकाधिक सहयोग प्राप्त करने में सफल हो सकता है। महासचिव एक निष्पक्ष अधिकारी समझा जाता है। वह एक अंतर्राष्ट्रीय असैनिक सेवक तथा विश्व संस्था का प्रवक्ता है। वह एक ऐसा स्रोत है जिसके द्वारा अंतर्राष्ट्रीय स्थिति के विवरण को जानने के लिए लोग लालायित रहते हैं। उसके द्वारा निर्धारित नीतियां अवश्य ही अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण तथा अंतर्राष्ट्रीय हित को प्रदर्शित करती हैं। उसे विश्व की 'आंख और कान' कहा जा सकता है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ के अब तक के महासचिव

संयुक्त राष्ट्रसंघ में 1 फरवरी, 1964 को नार्वे के ट्रिग्वेली 5 वर्ष के लिए महासचिव पद पर नियुक्त किए गए। 1 नवंबर, 1950 को उनका कार्यकाल 3 वर्ष के लिए बढ़ा दिया गया। 10 नवंबर 1952 को उन्होंने त्यागपत्र दे दिया। 10 अप्रैल 1953 को स्वीडन के डॉग हेमरशोल्ड को महासचिव पद पर नियुक्त किया गया। 26 सितंबर 1954 को उन्हें 10 अप्रैल 1957 से शुरू होने वाले कार्यकाल के लिए 5 वर्ष के लिए पुनः महासचिव का पद प्रदान किया गया, लेकिन 18 सितंबर 1961 को हवाई दुर्घटना में उनकी मृत्यु हो गई। कांगो के कटंगा प्रदेश में उनके हवाई जहाज को विद्रोहियों ने मार गिराया था तब बर्मा के उ-थाण्ट को कार्यवाहक महासचिव नियुक्त किया गया और फिर उनकी नियुक्ति 5 वर्ष के पूरे कार्यकाल के लिए कर दी गई। अक्टूबर, 1966 में उनका कार्यकाल समाप्त हो रहा था, किंतु उन्हें पुनः सर्वसम्मति से महासचिव चुन लिया गया। तत्पश्चात आस्ट्रिया के डॉ. कुर्त वाल्दहीम ने 1 जनवरी, 1972 से महासचिव का कार्यभार संभाला। 21 सितंबर से 21 दिसंबर 1976 तक संयुक्त राष्ट्र महासभा का 13वां नियमित सत्र न्यूयॉर्क में हुआ।

4.4.1 संयुक्त राष्ट्र संघ संगठन

संयुक्त राष्ट्र संघ सामूहिक सुरक्षा के आदर्शों तथा उसके जज्बे को प्रतिबिंबित करता है। यूएन चार्टर द्वारा प्रकाशित पहले अनुच्छेद में यह स्पष्ट किया गया है कि युनाइटेड नेशंस का उद्देश्य है 'अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाए रखना और उसके लिए, शांति भंग करने की धमकियों के विरुद्ध, और शांति भंग करने वालों के विरुद्ध प्रभावशाली सामूहिक कदम उठाना'। यूएन चार्टर के अध्याय VI में और यूएन जनरल असेंबली द्वारा अपनाई

गई शांति के प्रयासों की कोशिशें भी इस सामूहिक सुरक्षा को ग्रहण करने के सिद्धांत से मेल खाती हैं। इसके आगे अध्याय VII विशिष्ट रूप से सामूहिक सुरक्षा के सिद्धांत का वर्णन करता है। संक्षिप्त में, यूएन चार्टर में, सामूहिक सुरक्षा के सिद्धांत को लागू करने के निम्न प्रावधान दर्ज हैं–

टिप्पणी

- यह सैद्धांतिक रूप से किसी भी राज्य द्वारा बल के प्रयोग का निषेध करता है। खैर, इसके कुछ अपवाद हैं, सुरक्षा समिति के स्थाई सदस्य, विश्व शांति बरकरार रखने के लिए संयुक्त कार्य कर सकते हैं, और राज्य आत्म बचाव के लिए बल का प्रयोग कर सकते हैं।
- यह सभी राज्यों से सभी राज्यों की सामूहिक सुरक्षा की परिकल्पना करता है।
- यह आक्रमण का अंत करने के लिए सामूहिक बल के प्रयोग की परिकल्पना करता है।
- यह विश्व के किसी भी हिस्से में मजबूरों की सुरक्षा और आक्रामकों के विरुद्ध कार्य करने का संकेत देता है।
- यह दुनिया के किसी भी हिस्से में आक्रामकता के मामले में अपने आप सामूहिक कार्य के संकेत देता है।

यूएन चार्टर के अध्याय VII के अंतर्गत दिए गए प्रावधान

यूएन चार्टर के अध्याय VII के अंतर्गत दिए गए कुछ प्रावधान इस प्रकार हैं:

- अनुच्छेद 39 सुरक्षा समिति शांति भंग करने वाली किसी तरह की चुनौती के होने, शांति भंग किए जाने के प्रयासों या किसी प्रकार के आक्रामक कार्य की पहचान करके उसके प्रति अपने सुझाव देगी या अंतर्राष्ट्रीय शांति व सुरक्षा बहाल करने के लिए, अनुच्छेद 41 तथा 42 के अंतर्गत दिए गए प्रावधानों के अनुसार कदम उठाने का निर्णय लेगी।
- अनुच्छेद 40 किसी परिस्थिति को और खराब होने से बचाने के लिए, अनुच्छेद 39 में दिए गए तरीकों के आधार पर सुझाव देने से पहले सुरक्षा समिति संबंधित पक्षों को बुलाकर अनंतिम उपायों का अनुपालन करने का सुझाव दे सकती है। ऐसे अनंतिम उपाय संबंधित पक्षों के किसी तरह के हक, दावे या पद के आधार पर पक्षपात के बिना काम में लाए जाएँगे। सुरक्षा समिति इन उपायों का अनुपालन न करने की स्थिति में इसे दोषी पक्ष के खाते में दर्ज करेगी।
- अनुच्छेद 41 सुरक्षा समिति इस बात का निर्णय ले सकती है कि उसे बिना सैन्य बल के प्रयोग के, किस प्रकार अपने फैसलों को प्रभावकारी बनाना है और इस तरह के उपायों को लागू करने के लिए यह यूएन के सदस्यों को बुला सकती है। इनमें महा संबंधों और रेल, समुद्री, हवाई, डाक, टेलिग्राफ, रेडियो तथा अन्य संचार माध्यमों की सम्पूर्ण या अर्ध रुकावट सम्मिलित हो सकती है और राजनीतिक संबंधों का पृथक्करण भी किया जा सकता है।

टिप्पणी

- अनुच्छेद 42 यदि सुरक्षा समिति के अनुसार अनुच्छेद 41 के अंतर्गत उठाए जाने वाले कदम अपर्याप्त साबित होते हैं, तो यह अंतर्राष्ट्रीय शांति तथा सुरक्षा की बहाली के लिए समुद्री, हवाई या जमीनी रास्ते से बल का प्रयोग कर सकती है। ऐसी कार्यवाही में प्रदर्शन, नाकाबंदियाँ तथा हवा, समुद्र या जमीन के रास्ते यूएन के सदस्यों द्वारा अन्य संचालन किए जा सकते हैं।
- अनुच्छेद 43 (1) सुरक्षा समिति की पुकार पर संयुक्त राष्ट्र के सभी सदस्यों द्वारा अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के योगदान हेतु विशेष समझौते या समझौतों, के अनुसार सशस्त्र बल, सहायता, पारित होने के अधिकार, आवश्यक सभी सुविधाओं प्रदान करनी चाहिए जो अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बनाए रखने के उद्देश्य को पूरा करने में सहायता कर सकें। (2) ऐसा समझौता या समझौते प्रयोग किए जाने वाले बल, उनकी तैयारी की डिग्री तथा उनका सामान्य स्थान और दी जाने वाली सुविधाओं और सहायता की प्रकृति तय करेंगे। (3) सुरक्षा समिति की पहल पर, जल्दी से जल्दी ऐसे समझौते या समझौतों पर बातचीत की जाएगी। इन पर सुरक्षा समिति तथा उसके सदस्यों या सुरक्षा समिति और सदस्यों के समूहों के बीच कार्य सम्पन्न किया जाएगा और इन्हें सबकी आवश्यक संविधानिक प्रक्रियाओं के अनुसार हस्ताक्षरों द्वारा पुष्टि की आवश्यकता होगी।
- अनुच्छेद 44 एक बार सुरक्षा समिति द्वारा बल के प्रयोग का निर्णय लिए जाने के बाद, समिति उस सदस्य को उसके सैन्य बल के प्रयोग से संबंधित निर्णय में भागीदारी के लिए आमंत्रित करेगी (यदि सदस्य ऐसा चाहता है तो)।
- अनुच्छेद 45 संयुक्त राष्ट्र को तुरंत सैन्य उपायों का प्रयोग करने के योग्य बनाने के लिए, सदस्य तुरंत उपलब्ध रहने वाले हवाई दस्ते सदा तैयार रखेंगे जिनकी सहायता से साझा अंतर्राष्ट्रीय प्रवर्तन कार्यवाही की जा सके।

  इस दस्तों की ताकत और तैयारी की डिग्री और साझा कार्यवाही की योजना को, अनुच्छेद 43 में दर्ज विशेष समझौते या समझौतों की हद में रहकर सुरक्षा समिति द्वारा सैन्य स्टाफ समिति की सहायता से तय किया जाएगा।
- अनुच्छेद 46 सैन्य बल को कार्यान्वित करने की योजना को सुरक्षा समिति द्वारा सैन्य स्टाफ समिति की सहायता से तय किया जाएगा।
- अनुच्छेद 47 (1) अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा के संरक्षण के लिए सुरक्षा समिति की सहायता करने तथा सलाह देने हेतु एक सैन्य स्टाफ समिति स्थापित की जाएगी जो अपने निपटान में रखे दलों के कार्यान्वयन तथा उनकी कमान, हथियारों के विनियमन, और संभव नि:शस्त्रीकरण के लिए जिम्मेदार होगी। (2) सैन्य स्टाफ समिति में सुरक्षा समिति या उनके प्रतिनिधियों के स्थाई सदस्यों के स्टाफ के प्रमुख सम्मिलित होंगे। संयुक्त राष्ट्र के किसी भी अस्थाई सदस्य को जरूरत पड़ने पर समिति के दायित्वों के कुशल निर्वहन हेतु आमंत्रित किया जा सकता है। (3) सुरक्षा समिति के नीचे सैन्य स्टाफ समिति किसी भी सैन्य बल

को रणनीतिक दिशा दिखाने के लिए जिम्मेदार होगी। ऐसे बलों की कमान संबंधित प्रश्नों को बाद में संबोधित किया जाएगा। (4) सुरक्षा समिति द्वारा अनुमति मिलने और उपयुक्त क्षेत्रीय एजेंसियों से सलाह के बाद, सैन्य स्टाफ समिति क्षेत्रीय उप समितियों की स्थापना कर सकती है।

टिप्पणी

- अनुच्छेद 48 (1) अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा बरकरार रखने के लिए कार्यान्वयन संबंधित आवश्यक निर्णय संयुक्त राष्ट्र के सभी या कुछ सदस्यों द्वारा लिए जाएँगे। (2) संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों द्वारा इन निर्णयों का कार्यान्वयन प्रत्यक्ष ढंग से उपयुक्त अंतर्राष्ट्रीय एजेंसियों में किया जाएगा जिनके वे सदस्य हैं।
- अनुच्छेद 49 संयुक्त राष्ट्र के सदस्य सुरक्षा समिति द्वारा निर्णीत उपायों को लागू करने हेतु आपसी सहयोग में भागीदार बनेंगे।
- अनुच्छेद 50 यदि सुरक्षा समिति द्वारा किसी राज्य के विरुद्ध निवारक या प्रवर्तन उपाय किए जाते हैं, चाहे वह संयुक्त राष्ट्र का सदस्य है या नहीं, और ऐसा राज्य को इन उपायों को अंजाम देने में महा कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है तो उसे इस समस्या का समाधान ढूँढने के लिए सुरक्षा समिति के पास जाने का पूरा हक है।
- अनुच्छेद 51 वर्तमान चार्टर में दर्ज कोई भी चीज, संयुक्त राष्ट्र के किसी सदस्य को उस पर हमला होने की सूरत में व्यक्तिगत या सामूहिक आत्म रक्षा से रोकने में समर्थ होगी, जब तक कि सुरक्षा समिति द्वारा अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा की बहाली के लिए आवश्यक कदम ना उठाए गए हों। सदस्य द्वारा, इस दिशा में आत्म रक्षा के हक के लिए किए गए कार्यों को तुरंत सुरक्षा समिति को रिपोर्ट किया जाएगा और यह कार्यवाही किसी भी प्रकार से सुरक्षा समिति की अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को बनाए रखने या दोबारा बहाल करने के अधिकार तथा दायित्व को प्रभावित नहीं करेगी।

सामूहिक सुरक्षा का आकलन

सामूहिक सुरक्षा का सिद्धांत आदर्श मान्यताओं, अच्छी नैतिकता, अच्छे सिद्धांतों और अच्छे व्यवहार का एक विचार है, लेकिन दुर्भाग्यपूर्ण, वर्तमान विश्व व्यवस्था की जमीनी सच्चाई इससे बहुत अलग है। इसलिए लीग ऑफ नेशन्स के समय और संयुक्त राष्ट्र के चार्टर को लागू करते समय हमें अनेक असफलताएँ देखने को मिलीं। यहां इनिस एल. क्लॉड द्वारा कही गई बात का उद्धरण करना ठीक रहेगा, 'न लोगों और और न सरकारों के दृष्टिकोणों, व्यवहारों तथा मूल्य में कोई बदलाव आया है, जिसकी सामूहिक सुरक्षा माँग करती है।' इसके अलावा, सामूहिक सुरक्षा सिद्धांत की वर्तमान स्थिति में अनेक कमियाँ पाई गईं हैं। उदाहरण के लिए, क्या एक आक्रामक राज्य की पहचान करना संभव है? क्या सभी राज्यों के सामान्य हित होते हैं और शिकार राज्य को हमलावार राज्य से बचाने की समान क्षमता? क्या सामूहिक बल हमेशा हमलावर राज्य से ज्यादा महान होता है? क्या विश्व शांति बल की बहुलता में है? और क्या संसार के राष्ट्र सामूहिक कार्यवाही के लिए

टिप्पणी

अपने निहित हितों और आपसी मतभेदों का बलिदान देने के लिए तैयार हैं? अंत में, यह सिद्धांत एक खतरनाक सिद्धांत है क्योंकि, इसके अंतर्गत किसी युद्ध को स्थानबद्ध नहीं किया जा सकता और हर युद्ध के विश्व युद्ध में परिवर्तित होने की पूरी संभावना है। क्लॉड का कहना है, 'सामूहिक सुरक्षा, स्थानीय आक्रमण की प्रतिक्रिया में वैश्विक विरोध की व्यवस्था करके, नैतिक आधारों पर भी, हर स्थानीय युद्ध का वैश्वीकरण करके हिंसा के वैश्विक उपयोग को बढ़ावा देती है।' इन्हें सामूहिक सुरक्षा का औचित्य साबित करने में मुश्किल होती है क्योंकि यह, सरकारों की गलतियों के लिए उनकी समस्त जनसंख्या को एक समान सजा देने की बात करती है, संक्षिप्त में यह पुलिस कार्यवाही की जगह सीधे जंग की बात करती है। अनेक कमियों और धीमी प्रगति के बावजूद, इस बात को नकारा नहीं जा सकता कि सामूहिक सुरक्षा के सिद्धांत में निहित विशिष्ट तत्व, अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के अनुभवजन्य विकास में योगदान देने वाले तत्वों का काम करें जिससे विश्व व्यवस्था अपनी वर्तमान व्यवस्था से कहीं बेहतर हो जाए।

4.4.2 विश्व शांति की अवधारणा

विश्व शान्ति, सभी या लोगों के बीच और उनके भीतर स्वतंत्रता, शान्ति और खुशी का एक आदर्श है। विश्व शान्ति पूरी पृथ्वी में अहिंसा स्थापित करने का एक माध्यम है, जिसके तहत देश या तो स्वेच्छा से या शासन की एक प्रणाली के जरिये इच्छा से सहयोग करते हैं, ताकि युद्ध को रोका जा सके। हालांकि कभी–कभी इस शब्द का प्रयोग विश्व शान्ति के लिए सभी व्यक्तियों के बीच सभी तरह की शत्रुता को समाप्त करने के लिए किया जाता है।

विश्व में शांति को बनाए रखने में बड़े देशों की महत्वपूर्ण भूमिका हो सकती है। शक्ति संपन्न कायम देशों को शांति बनाए रखने के लिए समय–समय पर अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलनों का आयोजन करना चाहिए। नियम बनाकर उनका सख्ती से पालन कराना चाहिए तथा इन नियमों का पालन न करने वाले देशों पर अंतर्राष्ट्रीय दबाव बनाते हुए उन पर प्रतिबंध व जुर्माने का प्रावधान करना चाहिए।

हर साल '21 सितम्बर' को विश्व शांति दिवस या 'अंतर्राष्ट्रीय शांति दिवस' मनाया जाता है। यह दिवस सभी देशों और लोगों के बीच स्वतंत्रता, शांति और खुशी का एक आदर्श माना जाता है। 'विश्व शांति दिवस' पूरी पृथ्वी पर शांति और अहिंसा स्थापित करने के लिए मनाया जाता है। शांति सभी को प्यारी होती है। इसकी खोज में मनुष्य अपना अधिकांश जीवन न्योछावर कर देता है। लेकिन यह काफी निराशाजनक है कि आज इंसान दिन–प्रतिदिन इस शांति से दूर होता जा रहा है। पृथ्वी, आकाश व सागर सभी अशांत हैं। स्वार्थ और घृणा ने मनुष्य को तोड़कर रख दिया है। यूं तो 'विश्व शांति' का संदेश हर युग और हर दौर में दिया गया है, लेकिन इसको अमल में लाने वालों की संख्या बेहद कम रही है। वर्ष 1982 से शुरू होकर 2001 तक सितम्बर महीने का तीसरा मंगलवार 'अंतर्राष्ट्रीय शांति दिवस' या 'विश्व शांति दिवस' के लिए चुना जाता था, लेकिन साल 2002 से इसके लिए 21 सितम्बर का दिन घोषित कर दिया गया। सम्पूर्ण विश्व में शांति कायम करना आज संयुक्त राष्ट्र का मुख्य लक्ष्य है। संयुक्त राष्ट्र चार्टर में भी इस बात का स्पष्ट उल्लेख है कि अंतर्राष्ट्रीय संघर्ष को रोकने और शांति की संस्कृति विकसित करने के लिए ही यूएन का जन्म हुआ है। संघर्ष, आतंक

टिप्पणी

और अशांति के इस दौर में अमन की अहमियत का प्रचार–प्रसार करना बेहद जरूरी और प्रासंगिक हो गया है। इसलिए संयुक्त राष्ट्रसंघ, उसकी तमाम संस्थाएँ, गैर–सरकारी संगठन, सिविल सोसायटी और राष्ट्रीय सरकारें प्रतिवर्ष 21 सितम्बर को 'अंतर्राष्ट्रीय शांति दिवस' का आयोजन करती हैं। शांति का संदेश दुनिया के कोने–कोने में पहुँचाने के लिए संयुक्त राष्ट्र ने कला, साहित्य, सिनेमा, संगीत और खेल जगत की विश्वविख्यात हस्तियों को शांतिदूत भी नियुक्त कर रखा है। संयुक्त राष्ट्र महासभा ने तीन दशक पहले यह दिन सभी देशों और उनके निवासियों में शांतिपूर्ण विचारों को सुदृढ़ बनाने के लिए समर्पित किया था।

विश्व शांति के लिए पांच मूल मंत्र

पंडित जवाहरलाल नेहरू ने विश्व में शांति और अमन स्थापित करने के लिए पांच मूल मंत्र दिए थे, इन्हें 'पंचशील के सिद्धांत' भी कहा जाता है। माना जाता है कि अगर इन पांच सिद्धांतों पर अमल किया जाए तो दुनिया में हर तरफ चैन और अमन का ही वास होगा। ये पांच सिद्धांत निम्न हैं–

1. एक दूसरे की प्रादेशिक अखंडता और प्रभुसत्ता का सम्मान करना।
2. एक दूसरे के विरुद्ध आक्रामक कार्यवाही न करना।
3. एक दूसरे के आंतरिक विषयों में हस्तक्षेप न करना।
4. समानता और परस्पर लाभ की नीति का पालन करना।
5. शांतिपूर्ण सह–अस्तित्व की नीति में विश्वास रखना।

अपनी प्रगति जांचिए

8. संयुक्त राष्ट्रसंघ दिवस कब मनाया जाता है?

   (क) 12 अक्टूबर (ख) 15 अक्टूबर

   (ग) 20 अक्टूबर (घ) 24 अक्टूबर

9. राष्ट्रसंघ द्वारा अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय हेग में कब स्थापित किया गया?

   (क) सन् 1921 (ख) सन् 1922

   (ग) सन् 1923 (घ) सन् 1924

10. आस्ट्रिया के महासचिव ने किस वर्ष कार्य भार संभाला।

    (क) 1 जनवरी, 1971 (ख) 1 जनवरी, 1972

    (ग) 1 जनवरी, 1973 (घ) 1 जनवरी, 1974

4.5 क्षेत्रीय तनाव : फिलीस्तीन, कश्मीर, क्यूबा, कोरिया एवं वियतनाम

संयुक्त राष्ट्रसंघ का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक समस्याओं का समाधान करते हुए अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को प्रोत्साहन देना है। संघ के आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में किये गये कार्य कम महत्वपूर्ण नहीं है, लेकिन उसके कार्यकलाप सामान्यतः अधिक प्रकाश में आते

टिप्पणी

हैं। विश्व जनमत राजनीतिक कार्यों के आधार पर संघ की सफलता-असफलता का मूल्यांकन करता है। अब तक संघ के सामने कई अंतर्राष्ट्रीय विवाद व क्षेत्रीय तनाव उपस्थित हुए हैं जिनको सुलझाने में कहीं उसे सफलता मिली है और कहीं निराशा। यहां हम कुछ प्रमुख राजनीतिक विवादों का उल्लेख करेंगे और पायेंगे कि संयुक्त राष्ट्रसंघ उनको निपटाने में कहां तक सफल हुआ है-

4.5.1 फिलीस्तीन

शांति, सुरक्षा और मानवीयता की आदर्श पहल करने वाले संयुक्त राष्ट्र संघ और उसके पांचों स्थायी सदस्यों की अंतर्राष्ट्रीय कोशिशों के बीच फिलीस्तीन में यहूदी राज्य की स्थापना (1948) के बाद सिद्ध हो रहा है कि फिलीस्तीन वैसे ही बहुत अधिक प्रताड़ना भोग रहा है, जैसे किसी समय विश्व की सबसे अधिक प्रताड़ित जाति यहूदियों की रही। फिलीस्तीनियों को बेघर करने का सर्वाधिक कठोर एवं अमानवीय व्यवहार इजराइल की तरफ से हुआ है।

फिलीस्तीन का प्रश्न संयुक्त राष्ट्र संघ के समाने एक ज्वलंत प्रश्न के रूप में रहा है। यहां प्रथम महायुद्ध के बाद विशेष दर्जे का संरक्षित राज्य स्थापित किया गया था। और ब्रिटेन की लीग ऑफ नेशन्स की निगरानी में इसकी देखरेख की जिम्मेदारी सौंपी गई। ब्रिटेन के इस संरक्षित राज्य में एक तरफ 'यहूदी राज्य' की स्थापना में सहयोग करने और दूसरी ओर फिलीस्तीन के मूल अरब निवासियों के हितों की रक्षा करने का विरोधाभासी दायित्व सौंपा गया था।

फिलीस्तीन विभाजन की समस्या – प्रथम विश्वयुद्ध के बाद यह प्रदेश ब्रिटेन को संरक्षित प्रदेश (Mandate) के रूप में प्राप्त हुआ था। द्वितीय विश्वयुद्ध के उपरांत फरवरी 1947 में ब्रिटेन ने घोषणा की कि उसके लिए इस मेंटेट डेख के शासन–प्रबंध को चलाना संभव नहीं है। अप्रैल 1947 में ब्रिटेन ने यह समस्या महासभा के सामने प्रस्तुत की। महासभा द्वारा नियुक्त विशेष समिति ने अगस्त, 1947 में सिफारिश की कि फिलीस्तीन को दो भागों में विभक्त कर दिया जाये – एक भाग में अलग राज्य की स्थापना हो और दूसरे में यहूदी राज्य की। महासभा ने यह सिफारिश स्वीकार कर ली, लेकिन फिलीस्तीन–विभाजन के प्रश्न पर अरबों और यहूदियों में संघर्ष आरंभ हो गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ द्वारा दोनों पक्षों में प्रभावी युद्ध–विराम के सभी प्रयास विफल हो गये। 14 मई, 1948 को ब्रिटेन ने फिलीस्तीन से अपना शासन हटा लिया (जिसकी घोषणा 15 मई को की गई) और यहूदियों ने फिलीस्तीन में इजराइल–राज्य की घोषणा कर दी। इस पर इराक, लेबनान, ट्रांसजोर्डन आदि अरब–राष्ट्रों ने फिलीस्तीन पर आक्रमण कर दिया। अरब–राष्ट्र इजराइल के प्रत्याक्रमण को नहीं झेल सके। 11 जून, 1948 को संयुक्त राष्ट्रसंघीय प्रतिनिधि बर्नाडोट भी गोली का शिकार हुए। सुरक्षा परिषद् ने इसके बाद डॉ. रल्फ जे. बुंच को कार्यवाहक मध्यस्थ नियुक्त किया। 29 दिसंबर को तीसरी बार युद्ध–विराम स्थापित हुआ। इसके बाद महासभा ने संयुक्त राष्ट्र समझौता आयोग (U.N. Confiliation Commission)

नियुक्त किया जिसमें अनेक गम्भीर प्रश्नों का समाधन किया और इजराइल व पड़ोसी राज्यों में सीमा संबंधी संधियां सम्पन्न हुई।

टिप्पणी

यद्यपि संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयासों से फिलीस्तीन के विभाजन की समस्या के समाधान स्वरूप इजराइल और अरब–राष्ट्रों में संधियां हो गई तथापि इस क्षेत्र में अनेक युद्ध लड़े गये। अक्टूबर 1956 में मिस्र और इजराइल में पुनः युद्ध छिड़ा तथा सोवियत संघ व संयुक्त राष्ट्रसंघीय प्रयासों से शांति स्थापित हुई। इसके बाद 1967 और 1973 में अरब–राष्ट्रों और इजराइल के बीच भीषण युद्ध हुआ। किंतु संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयत्नों से अस्थायी तौर पर शांति स्थापित हो गई। सन् 1993 में इजराइल और फिलीस्तीनी नेता यासिर अराफात के बीच सम्पन्न हुई संधि ने इस क्षेत्र में शांति स्थापना का मार्ग प्रशस्त किया। इस संधि का संयुक्त राष्ट्रसंघ के सभी सदस्य राष्ट्रों द्वारा स्वागत किया गया।

द्वितीय महायुद्ध के उपरांत 1947 में ब्रिटेन ने इस मेण्डेट क्षेत्र के प्रशासनिक दायित्व को हर तरह से छोड़ने की बात कह दी। 1946 में वह इस मामले की संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा के सामने विचारार्थ रख चुका था। अब 1947 में उसने इस महासभा द्वारा गठित विशेष समिति से यह सिफारिश की कि फिलीस्तीन को 14 मई 1948 को दो भागों में विभक्त कर दिया जाये। क्योंकि ब्रिटेन की सिफारिश को स्वीकार कर लिया गया था, अतः ब्रिटेन ने फिलीस्तीन से 14 मई 1948 को अपने प्रशासनिक दायित्व की घोषणा की और फिलीस्तीन में यहूदी राज्य की स्थापना की घोषणा कर दी। यह बात लेबनान, इराक और ट्रान्सजोर्डन सहित कुछ अरब राष्ट्रों को सहन नहीं हुई और उन्होंने फिलीस्तीन पर आक्रमण कर दिया। लेकिन इजराइल ने समय रहते अरब राष्ट्रों पर आक्रमण करके रुचि और शक्ति प्रदर्शित कर दी। अरब राष्ट्र इजराइल के इस आक्रमण को झेल नहीं सके। महासभा ने इस अवस्था पर गंभीरतापूर्वक विचार करके यह फैसला किया था कि फिलीस्तीन को दो भागों में विभाजित कर दिया जाये। इतना ही नहीं संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रतिष्ठा को एक आघात यह भी लगा कि इजराइल ने इस अंतर्राष्ट्रीय संस्था द्वारा प्रदान किये गये क्षेत्र पर अधिकार जमाने के साथ ही कुछ अतिरिक्त भू–भाग पर भी अधिकार जमा लिया था।

संयुक्त राष्ट्र संघ की भूमिका

फिलीस्तीन के मामले में संयुक्त राष्ट्र संघ के दृष्टिकोण पर उस समय से कई देशों का ध्यान था, जब से इस मामले को इंग्लैण्ड को उसके विचारार्थ रखने और अपने हाथ खींच लेने का काम दिया था। उधर संयुक्त राष्ट्र के सदस्य विशेष रूप से यह जानने का प्रयास कर रहे थे कि शक्ति संतुलन, न्याय और स्वतंत्रता की सशक्त पहल होती है या स्थायी सदस्यों की महत्वाकांक्षाओं व प्रभाव के अनुरूप ही कुछ होता है पर 11 जून 1948 को संयुक्त राष्ट्र संघ ने काउंट बर्नाडोटी नामक स्वीडिश को अपने प्रतिनिधि के रूप में यह दायित्व सौंपा कि वह मामले को सुलझाने के लिये दोनों पीड़ित पक्षों के तर्क सुनने और समाधान कारक स्थिति में पहुंचने का प्रयास करे।

टिप्पणी

काउंट बर्नाडोटी ने ऐसे प्रयास किये जिससे दोनों विरोधियों को चार सप्ताह के लिये युद्ध विराम करना स्वीकार हुआ। लेकिन दोनों ही पक्षों ने मानवीय हितों के लिये शांति, सुरक्षा और न्याय के लिये विश्वसनीय माहौल बनाने के बजाय अपने उपद्रवों व शक्ति प्रदर्शन को कम कर दिया। इस विराम की अवधि के बाद काउंट बर्नाडोटी के विरुद्ध भी आतंकी दृष्टिकोण बना और 17 दिसम्बर 1948 को उसकी हत्या कर दी गई।

संयुक्त राष्ट्र संघ ने इस दुखद स्थिति में भी चुनौती का सामना करने के लिए डॉ. राल्फ जे. बुंचे को कार्यवाहक मध्यस्थ के रूप में मनोनीत किया। उसने भी एक तरफ बर्नाडोटी के प्रस्तावों को देखा और दूसरी तरफ फिलीस्तीन पर ब्रिटिश मेण्डेट की समाप्ति के बाद यहूदियों ने वहां जो इजराइल की सत्ता घोषित कर दी थी, उसकी पेचीदगी को बढ़ाने वाले कार्य विशेष रूप से संयुक्त राष्ट्र संघ की त्वरित सहमति, और रूस तथा ब्रिटेन की ओर से इजराइल की सत्ता को मान्यता देना था, बुंचे के लिये विचारणीय बन गये। उसने इसके बाद भी बर्नाडोटी के प्रस्ताव पर मनन किया।

1. फिलीस्तीन के अरब क्षेत्र में यहूदियों को और यहूदियों वाले क्षेत्र में अरब लोगों को सुरक्षा प्रदान करने की पहल की गई।
2. नजीब अरब क्षेत्र में गेलिली का क्षेत्र यहूदियों के अधीन किया जाये।
3. ट्रान्स जोर्डन में फिलीस्तीन के अरब क्षेत्र का विलय करने और हेंफा के बन्दरगाह व लिद्दा के हवाई अड्डे को मुक्त करने के लिये कहा गया।
4. जेरूसलम को अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण में रखने और सभी आवागमन के लिये खुला रखने की शर्त भी रखी गई।

उक्त प्रस्ताव संदर्भित कोई भी कोशिश सफलता न पा सकी। 1948 के बाद फिलीस्तीन के क्षेत्रों पर अधिकार जमाने के लिये पुनः संघर्ष छेड़ दिया गया। अरब, मिस्र, सीरिया और जॉर्डन ने इजराइल के अधिकार को समाप्त कर फिलीस्तीन का राज्य स्थापित करने की आवाज उठाई। इसी समय पी.एल.ओ. (फिलीस्तीन मुक्ति संगठन) की स्थापना करके गाजापट्टी में फिलीस्तीन ने अपनी गतिविधियां तेज कर दी। सन् 1848 में प्रथम अरब इजराइल संघर्ष चला। इसे रोकने के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ ने विशेष प्रयास किये जिससे युद्ध विराम हुआ। शांति और सुरक्षा की स्थिति बनाने के लिये एक समझौता हुआ जिसमें ब्रिस को गाजापट्टी पर अधिकार दिया गया और जेरूसलम को दो भागों में विभाजित किया गया। एक लाख की आबादी वाला बड़ा भाग यहूदियों को, पचास हजार की आबादी वाला छोटा भाग जॉर्डन को दिया गया।

मई 1956 में संयुक्त राष्ट्र संघ के महासचिव डाग हेमरशोल्ड ने तनाव कम करने के लिये दौरा भी किया लेकिन कोई सुखद परिणाम नहीं मिला। इसी वर्ष द्वितीय अरब इजराइल संघर्ष शुरू हो गया जिसका कारण सीमा विवाद, अरब शरणार्थियों की समस्या जॉर्डन का जल–विवाद और शस्त्रों की हौड़ को बताया गया है। सन् 1964 में निर्गुट देशों का काहिरा सम्मेलन हुआ जिसके आदर्श विचारों का अरब इजराइल संघर्ष पर कोई प्रभाव देखने को नहीं मिला बल्कि उसके बाद ब्रिटेन और अमेरिका ने

इजराइल को और सोवियत संघ ने इजराइल विरोधी देशों को युद्धपोत भेजकर सक्रिय सहयोग का आश्वासन दिया। ऐसी स्थिति में सुरक्षा परिषद् ने शांति समझौते के लिये पुनः प्रयास किया लेकिन वह विफल रहा।

टिप्पणी

तीसरा संघर्ष 5 जून 1967 को शुरू हुआ, लेकिन 5 दिनों बाद ही इस युद्ध को रोक दिया गया। नवंबर 1967 में दोनों पक्षों के मध्य समझौते के लिये सुरक्षा परिषद् ने एक प्रस्ताव के साथ पश्चिमी एशिया की यात्रा पर गुन्नर जारिंग को भेजा। सोवियत संघ ने शांति समझौते के लिए अपनी चार सूत्रीय योजना प्रस्तुत करते हुए इस बात पर जोर दिया लेकिन इजराइल ने उसको अस्वीकार कर दिया। इसके बाद दोनों पक्ष पूर्ववत मौका मिलने पर सैनिक कार्यवाही करते रहे।

शांति समझौते की उम्मीद में फरवरी 1971 में गुन्नार जारिंग ने पांच सूत्रीय प्रस्ताव रखते हुए सहमति प्राप्त करने की कोशिश की। जिसमें एक दूसरे की प्रादेशिक स्वतंत्रता को स्वीकार करने, आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप न करने, बल प्रयोग और धमकियों पर पूर्ण अंकुश लगाने और शांति समझौते के लिए लगातार प्रयास करने की बात कही। सुरक्षा परिषद् ने किसी प्रकार से संघर्ष के 17वें दिन युद्ध विराम कराने में सफलता प्राप्त की। 11 नवंबर 1973 को तत्कालीन अमेरिकी विदेश मंत्री हेनरी किसिंगर ने अपना 6 सूत्रीय प्रस्ताव रखा जिस पर मिस्र और इजराइल ने हस्ताक्षर कर दिये। जून 1974 में हेनरी किसिंगर ने सीरिया और इजराइल के बीच जेनेवा में एक शांति समझौता कराया।

किसिंगर ने 1 सितम्बर 1975 को इजराइल और मिस्र के बीच सिनाई समझौता कराया जिसका एक उल्लेखनीय परिणाम यह हुआ कि मिस्र के राष्ट्रपति अनबर सांवत ने 19 नवंबर 1977 को जेरूसलम की यात्रा और इजराइली संसद में भाषण देकर विश्वास दिलाया कि वह शांति समझौते और मधुर संबंधों के लिये इस यात्रा पर आये हैं। अरब देशों ने इस समझौते का विरोध किया और मिस्र को अरब लीग से बहिष्कृत कर दिया। मिस्र ने 1980 में बुखारेस्ट वार्ता और फिर वाशिंगटन वार्ता में भाग लेकर शांति समझौते के प्रयासों का सम्मान किया। अमेरिका ने 1987 में पी.एल.ओ. कार्यालय को बंद करने का आदेश जारी करने के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रस्ताव रखा। 15 नवंबर 1988 को फिलीस्तीन की प्रवासी ससंद ने इजराइली कब्जे वाले पश्चिमी तट और गाजा पट्टी में अपने स्वतंत्र राज्य की घोषणा कर दी और जेरूसलम को अपनी राजधानी बनाया। अराफात ने अपने जीवन के आखिरी क्षण तक दुनिया को फिलीस्तीन के लिये एक डोर में बांधने का काम किया था।

अराफात का वह प्रश्न तत्कालीन अमेरिकी राष्ट्रपति जॉर्ज बुश को बांधे रखने के लिये काफी था कि "संयुक्त राष्ट्र संघ के 130 सदस्य देश हमारा समर्थन करें, तब क्या यह तर्क संगत होगा कि अमेरिका और इजराइल हमारे विरुद्ध अपने वोट का इस्तेमाल करें?" यह बात समस्या के स्थायी समाधान के विश्वास का आधार तो बनी, लेकिन समाधान इतिहास में कब दर्ज होगा? यह प्रश्न भले ही धुंधलाता जा रहा है, लेकिन बाकी है।

टिप्पणी

4.5.2 कश्मीर

भारतीय इतिहास में सन् 1947 की स्वतंत्रता 14–15 अगस्त त्रिकोणीय पृथकता की पहचान स्थापित कर रही थी। पहली यह कि भारत को छोड़कर अंग्रेजों को जाना पड़ा, दूसरी यह कि मुस्लिम बाहुल्य क्षेत्र को जिन्ना जैसे पृथकतावादी नेता ने 'पाकिस्तान' बनवाकर समेट दिया और तीसरी स्वतंत्रता प्राप्ति की खुशी के बावजूद भारत अपनी मानवीय संस्कृति के साम्प्रदायिक विषय का शिकार हुआ। उन्हीं पीड़ाओं में राजा हरीसिंह ने यह संदेश देकर वृद्धि कर दी कि कश्मीर के बहुसंख्यक लोग मुसलमान हैं, कश्मीर को स्वतंत्र राज्य के रूप में ही रहने देंगे।

परिस्थितियों ने उन्हें विवश किया और पाकिस्तान के सैन्य आक्रमण के जवाब में उन्होंने भारतीय संघ के सम्मिलित होने, और काश्मीर की रक्षा का दायित्व भारत सरकार पर डालने का आग्रह किया। इसे भारत सरकार ने परिस्थितियों की गंभीरता को देखते हुए तत्काल स्वीकार कर लिया।

कश्मीर समस्या – 15 अगस्त, 1947 को भारतीय उपमहाद्वीप में दो स्वतंत्र राष्ट्र– भारत और पाकिस्तान अस्तित्व में आये। स्वतंत्रता देने के पूर्व ब्रिटिश सरकार ने देशी रियासतों को यह स्वतंत्रता दे दी कि वे अपनी इच्छानुसार चाहें तो भारत या पाकिस्तान में शामिल हो सकती हैं। कश्मीर भी एक देशी रियासत थी। इसने स्वतंत्र रहने का निर्णय लिया। पाकिस्तान की इच्छा प्रारंभ से ही कश्मीर को जबरदस्ती हड़पने की थी, अतः 22 अक्टूबर 1949 को उसने उत्तर पश्चिमी सीमाप्रांत के कबीलाइयों द्वारा कश्मीर पर आक्रमण करा दिया। पाकिस्तान की सेना के एक बहुत बड़े भाग ने इस आक्रमण में भाग लिया। इस आक्रमण की तीव्रता के कारण राजधानी श्रीनगर का पतन सन्निकट देखकर जम्मू–कश्मीर के तत्कालीन महाराजा हरिसिंह ने 26 अक्टूबर 1947 को भारत सरकार से कश्मीर को भारत में विलय करने तथा अविलम्ब सैनिक सहायता प्रदान करने का अनुरोध किया। महाराजा ने राज्य के भारत में विलय करने के दस्तावेज (Instrument of Accesation) पर हस्ताक्षर कर दिये। इसके बाद भारत सरकार द्वारा जम्मू–कश्मीर में भारतीय सेनाओं द्वारा पाकिस्तानी आक्रमणकारियों को खदेड़ना प्रारंभ किया गया जिसमें उसे सफलता प्राप्त हुई। भारतीय सेनाओं द्वारा जम्मू–कश्मीर का बहुत बड़ा भाग मुक्त कर लिया गया। 1 जुलाई 1948 को भारत ने सुरक्षा परिषद् में यह शिकायत की कि पाकिस्तान के इस आक्रमण से अंतर्राष्ट्रीय शांति का संकट उत्पन्न हो गया है। उसने यह भी स्पष्ट कर दिया कि पाकिस्तान का कश्मीर पर आक्रमण स्वयं भारत का आक्रमण है। भारत के तत्कालीन प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू ने घोषणा की कि कश्मीर का भारत में स्थायी विलय वहां जनमत संग्रह (Plebisite) के आधार पर होगा। सुरक्षा परिषद् ने एक मध्यस्थता आयोग (Mediation Commission) नियुक्त किया जिसे युद्धबंदियों और जनमत संग्रह का कठिन कार्य सौंपा गया। आयोग ने जनमत संग्रह कराने के लिए दोनों देशों पर कतिपय प्रतिबंध लगाये जिन्हें पाकिस्तान ने भंग कर दिया। जम्मू–कश्मीर में परिस्थितियां तेजी से बदलती गई और भारत तथा पाकिस्तान में समझौता कराने में संयुक्त राष्ट्रसंघ के

टिप्पणी

प्रयास सफल नहीं हो सके। पाकिस्तान को पश्चिमी राष्ट्रों का समर्थन मिलता रहा और उनके हाथों में खेलते हुए सुरक्षा परिषद् भारत के साथ अन्याय करती रही। 1954 में जम्मू कश्मीर संविधान सभा ने राज्य के भारत में विलय का विधिवत अनुमोदन कर दिया। 1956 में राज्य के लिये एक नया संविधान स्वीकार किया गया जिसके द्वारा जम्मू–कश्मीर प्रत्येक दृष्टि से भारत का वैध अंग बन गया। इससे कश्मीर समस्या का स्वरूप बिल्कुल बदल गया और जनमत संग्रह का कोई मूल्य नहीं रह गया। पाकिस्तान द्वारा अमेरिका के साथ सैनिक गुट में शामिल होने तथा जम्मू–कश्मीर को बलपूर्वक हथियाने की चालें खेलने के कारण जनमत संग्रह की बात बहुत पहले ही निरर्थक हो चुकी थी। पाकिस्तान पाश्चात्य राष्ट्रों के समर्थन के बल पर बार–बार कश्मीर के प्रश्न को सुरक्षा–परिषद् में उठाता रहा, लेकिन भारत के दृढ़ रवैये और न्याय का पक्ष लेते हुए सोवियत संघ द्वारा किये जाने वाले निषेधाधिकार के प्रयोग के कारण उसके कुटिल उद्देश्य पूरे न हो सके। सितंबर 1965 और दिसंबर 1971 के भारत–पाक युद्धों के बाद स्थिति में निर्णायक परिवर्तन आया और पाकिस्तान को यह अहसास हो गया कि सुरक्षा परिषद् के माध्यम से भारत पर कोई निर्णय थोपने की बात सोचना व्यर्थ होगा। वास्तव में, संयुक्त राष्ट्रसंघ के लिए कश्मीर–विवाद एक कठिन चुनौती बनकर सामने आया। यद्यपि वह इस प्रश्न पर भारत और पाकिस्तान के बीच होने वाले युद्ध को तो शांत कर सका तथापि पश्चिमी शक्तियों के पक्षपातपूर्ण रवैये के कारण इस महान संस्था के गौरव और सम्मान को आघात ही पहुंचा। न्याय और निष्पक्षता का तकाजा है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ पाकिस्तान को उसके द्वारा बलात् रूप में कब्जा की गई कश्मीर की भूमि से हटाने की कार्यवाही करे। पाकिस्तान जम्मू–कश्मीर में पृथकतावादी, आतंकवादी और अलगाववादी शक्तियों को सक्रिय रूप में सभी संभव सहायता प्रदान करके भारत की कठिनाइयों को बढ़ाता रहा है। भारत ने अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर यह स्पष्ट कर दिया है कि जम्मू–कश्मीर भारत का अविभाज्य अंग है और वह इस पर किसी से कोई समझौता नहीं कर सकता। 1996 ई. में काफी समय बाद जम्मू–कश्मीर में राज्य विधान सभा के निर्वाचन हुए, जिसमें डॉ. फारुख अब्दुल्ला के नेतृत्व वाली नेशनल कांफ्रेंस विजयी रही। डॉ. अब्दुल्ला ने अनेक अवसरों पर यह स्पष्ट कर दिया कि राज्य का भारतीय संघ में विलय अंतिम है। पाकिस्तान के नव–निर्वाचित प्रधानमंत्री नवाज शरीफ ने भी भारत के साथ अच्छे संबंध स्थापित करने की इच्छा प्रकट की थी। शरीफ सरकार को अपदस्थ कर फौजी हुक्मरान के रूप में वर्तमान जनरल परवेज मुशर्रफ अघोषित युद्ध का बिगुल बजाए हुए हैं।

कश्मीर को भी अन्य देशी राज्यों की तरह ही भारत सरकार ने विवेक से फैसला लेकर स्वतंत्र रहने या भारतीय संघ में शामिल होने का अवसर दिया। कश्मीर ने पहले पाकिस्तान से एक अस्थायी समझौता कर लिया लेकिन पाकिस्तान की सैनिक गतिविधियों से कश्मीर नरेश हरीसिंह चिन्तित और सजग हो गया था। 22 अक्टूबर 1948 को पाकिस्तान ने लोगों को सैन्य अधिकारियों के नेतृत्व में कश्मीर पर आक्रमण करने भेज दिया। 24 अक्टूबर को राजा हरीसिंह ने भारत सरकार से संरक्षण और सहायता मांगी।

टिप्पणी

फलस्वरूप 26 अक्टूबर को कश्मीर के मुख्यमंत्री मेहर चन्द महाजन ने सीधे भारत के प्रधानमंत्री पं. जवाहर लाल नेहरू से मुलाकात की। तब प्रधानमंत्री ने कश्मीर के मुख्य राजनीतिक दल के नेता शेख अब्दुल्ला का मन्तव्य जाना और एक साथ दो निश्चय किये कि कश्मीर को भारत में विलीन किया जाएगा फिर वहां जनमत संग्रह भी कराया जाएगा। 27 अक्टूबर को श्रीनगर के लिये हवाई सेना भेज दी। फलतः कश्मीर की रक्षा हो गई। यह लड़ाई जनवरी 1949 में समाप्त हुई।

संयुक्त राष्ट्र संघ और कश्मीर

सुरक्षा परिषद् ने भारत और पाकिस्तान के मध्य कश्मीर समस्या का समाधन ढूंढ़ने के लिये 29 दिसम्बर 1949 को अपने कैनेडियन सदस्य जनरल मैकनाटन को जिम्मेदारी सौंपी। जनमत संग्रह कराने के लिये उसने भारत और पाकिस्तान से सेना हटाने के लिये कहा, लेकिन भारत ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नहीं किया। सुरक्षा परिषद् ने एक प्रस्ताव के साथ डिक्सन को यह दायित्व सौंपा। प्रस्ताव के अनुसार उसने भारत और पाकिस्तान को पांच माह की अवधि में अपनी–अपनी सेनाएं हटा लेने के लिये कहा। साथ–ही–साथ यह भी कहा कि दोनों की सेनाओं द्वारा जिस भाग को चाहें अपने पास ही रखें। किंतु भारत व पाकिस्तान के द्वारा सुरक्षा परिषद् का यह प्रस्ताव ठुकरा दिया गया।

पाकिस्तान ने पश्चिमी देशों के साथ हाथ मिला लिया। उसने पहले अमेरिका से एक सैन्य संधि की, फिर बगदाद पैक्ट और दक्षिणी–पूर्वी एशियाई संधि संगठन (S.E.A.T.O.) में शामिल होकर समर्थन प्राप्त किया। अमेरिका द्वारा पाकिस्तान को सैनिक व आर्थिक सहायता प्राप्त होने लगी।

भारत धर्म निरपेक्षता में विश्वास करता है जबकि पाकिस्तान इस्लामवादी और द्वि–राष्ट्र गठबंधन में ही विश्वास करता है वहां अब पं. नेहरू यह कहने लगे कि यदि अमेरिका की ओर से पाकिस्तान को सैन्य सामग्री एवं सहयोग प्राप्त हुआ तो इस उपमहाद्वीप की शांति को खतरा उत्पन्न होगा। इस पर भारत की सतर्कता और खुली चेतावनियों पर रूस सहित जिन देशों का ध्यान जा रहा था, वे कश्मीर समस्या को भी शीत युद्ध की चपेट में आते देख रहे थे। अतः वे अंतर्राष्ट्रीय शक्ति संतुलन व भारत पाक के बीच मैत्री सम्बन्धों की आवश्यकता को देख रहे थे।

पं. नेहरू का यह फैसला पाकिस्तान को मुश्किल में डालने लगा। अतः वह अमेरिका, फ्रांस और इंग्लैण्ड की शरण में जाने के लिए तैयार होने लगा था। पाकिस्तान को इसका लाभ भी मिला कि इन तीनों महाशक्तियों के दबाव में संयुक्त राष्ट्र संघ की ओर से भारत पर यह दबाव डाला गया कि वह कश्मीर मामले पर 'जनमत संग्रह' की आवश्यकता को स्वीकार करे।

भारत ने इसका घोर विरोध किया और रूस ने वीटो लगाकर इस मामले को निष्प्रभावी बनाने का जोरदार काम कर दिखाया। पाकिस्तान ने 1963 में चीन के साथ मैत्री की क्योंकि उसे पता था कि 1962 में चीन ने भारत पर आक्रमण किया था। अतः

पाकिस्तान ने अपने दुश्मन (भारत) के दुश्मन (चीन) को लाभ पहुंचाने का कार्य किया। भारत ने इसकी प्रमाणिक जानकारी सुरक्षा परिषद् को दी, लेकिन उसका कोई अच्छा या सुखद परिणाम देखने को नहीं मिला।

टिप्पणी

4.5.3 क्यूबा

क्यूबा गणतंत्र कैरिबियाई सागर में स्थित है यह वेस्टइंडीज का सबसे बड़ा टापू है। 'हवाना' इसकी राजधानी है कोलंबस के द्वारा इसकी खोज की गई। यह लंबे समय तक स्पेन का उपनिवेश रहा। 1898 में इसने स्पेनी उपनिवेशवाद से आजादी प्राप्त कर ली परंतु अमेरिका की नजर यहां की गन्ने की खेती पर थी जिसके कारण यहां पुनः अमेरिका का राज्य स्थापित हो गया। 1959 में फिदेल कास्त्रों के नेतृत्व में वहां पर साम्यवादी शासन तंत्र की स्थापना हुई।

1962 में यहां ऐसी स्थिति उत्पन्न हुई जिसमें सोवियत संघ एवं अमेरिका के बीच सशस्त्र संघर्ष की शुरुआत हुई। यह शीतयुद्ध के समय की एक विकट समस्या थी।

1960 के मध्य तक क्यूबा लगभग पूरी तरह सोवियत संघ के संरक्षण में आ गया था। क्यूबा में अमेरिकी संपत्ति का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। इस पर अमेरिका ने क्यूबा से चीनी के आयात पर रोक लग दी। 1961 में संयुक्त राज्य अमेरिका ने क्यूबा के साथ अपने राजनीतिक संबंध विच्छेद कर लिए। अमेरिका के राष्ट्रपति कैनेडी शरणार्थियों के माध्यम से साम्यवादी सरकार की समाप्ति चाहते थे परंतु वह असफल रहे।

मिसाइल संकट

इस समस्त घटनाक्रम से सोवियत संघ ने क्यूबा के संरक्षण के लिए क्यूबा में सैनिक अड्डा स्थापित करने की योजना का क्रियान्वयन किया। अमेरिका को चुनौती देने के उद्देश्य से 'ख्रुश्चेव' ने क्यूबा को 28 जेट परमाणु बमवर्षक तथा पृथ्वी से पृथ्वी पर मार करने वाले प्रक्षेपास्त्र भेजने का निर्णय किया। अक्टूबर 1962 के आरंभ तक 64 में से 42 प्रक्षेपास्त्र क्यूबा पहुंच गये। अक्टूबर 1962 में सोवियत संघ ने क्यूबा के लिए 2200 मील मारक क्षमता वाले प्रक्षेपास्त्र 24 विमान–प्रक्षेपास्त्र तथा 22000 सोवियत सैनिक रवाना किये। इन सभी का उद्देश्य अमेरिका को निशाना बनाना था। राष्ट्रपति रीगन ने एक टी.वी. प्रसारण में कहा– "यह गुप्त और असाधारण रूप से साम्यवादी प्रक्षेपास्त्रों का संस्थापन जानबूझ कर उत्तेजना उत्पन्न करने वाला कार्य है। यह यथास्थिति में परिवर्तन करने का अनौचित्यपूर्ण कार्य है जो वह स्वीकार नहीं कर सकता है। हमारा दृढ़ निश्चय यह होना चाहिए कि इन प्रक्षेपास्त्रों का प्रयोग इस देश या किसी अन्य देश के विरुद्ध नहीं करने दिया जाए।"

अमेरिका ने इस समस्या के समाधान के लिए क्यूबा की नाविक घेराबंदी का प्रस्ताव स्वीकार किया। घेराबंदी करने का निर्णय 22 अक्टूबर 1962 को लिया गया। सोवियत संघ द्वारा परमाणु प्रक्षेपास्त्र लाए जा रहे थे उन्हें वापस भेजने का अल्टीमेटम अमेरिका ने दिया।

टिप्पणी

सोवियत संघ परमाणु यद्ध का खतरा लेने के पक्ष में नहीं था अतः संयुक्त राष्ट्र के जनरल सेक्रेटरी यू–थांट ने हस्तक्षेप कर आपसी वार्तालाप से इस समस्या के समाधान की बात की। सोवियत संघ अपनी मिसाइल के जाने वाले रास्ते को मोड़ने तथा क्यूबा के मिसाइल क्षेत्रों को अलग करने के लिए सहमत हो गया। कैनेडी ने सोवियत संघ के इस निर्णय को 'एक महान राजनेता का निर्णय कहा है'। इस प्रकार यह संकट सोवियत संघ की समझौता नीति से टल गया।

4.5.4 कोरिया

कोरिया अलग–अलग शक्तियों के आधिपत्य में रहा। चीन–जापान युद्ध (1984–95) तक कोरिया पर चीन का अधिकार रहा। इसके बाद पराजित चीन के आधिपत्य से निकल कर कोरिया विजेता जापान के हाथों में आ गया। द्वितीय महायुद्ध के दौरान मित्र देशों ने कोरिया की आजादी के संबंध में विचार किया था लेकिन वह बात विश्वास जुटाने और मतैक्य होकर युद्ध में शत्रु के विरुद्ध विजयी होने का एक तरीका था।

कोरिया संकट – जून 1950 में उत्तरी कोरिया ने दक्षिणी कोरिया पर सैनिक आक्रमण कर दिया। सुरक्षा परिषद् ने उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी घोषित कर दिया। जुलाई 1950 में लगभग 16 राष्ट्रों की संयुक्त राष्ट्रसंघीय सेना एकत्र की गई जिसने उत्तरी कोरिया के विरुद्ध सैनिक कार्यवाही की। उत्तरी कोरिया के समर्थन में साम्यवादी चीन भी युद्ध में कूद पड़ा। एक ओर तो संयुक्त राष्ट्रसंघ की सैनिक कार्यवाही जारी रही और दूसरी ओर संघ ने शांतिपूर्ण समझौते के प्रयास जारी रखे। अंत में जुलाई, 1951 में दोनों पक्षों में समझौता हो गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ के प्रयासों से कोरिया का युद्ध विश्व–युद्ध बनने से रुक गया। वास्तव में संयुक्त राज्य अमेरिका की प्रबल सैनिक शक्ति के बल पर ही संयुक्त राष्ट्रसंघ कोरिया युद्ध में सफल हो सका।

इसके द्वारा यह बताया जा रहा कि महायुद्ध के बाद पांच वर्षों की अवधि के लिये कोरिया को संयुक्त राष्ट्र संघ के नियंत्रणाधीन रखना उचित होगा। 1945 में समर्पण करने वाला जापान ही आखिरी देश था। उसके समर्पण के साथ ही युद्ध समाप्त हो गया। जापान ने आत्म समर्पण करते समय 38° अक्षांश रेखा को आधार बनाकर उत्तरी और दक्षिणी भाग के रूप में कोरिया का विभाजन कर दिया। अमेरिका ने विभाजन की प्रवृत्ति को ऐसी स्थिति में देखा कि वह उसकी पुष्टि के लिये तत्पर हो उठा।

सोवियत संघ ने इसे स्वीकार नहीं किया। अतः 17 नवम्बर 1947 को अमेरिका ने संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा में कोरिया की स्वतंत्रता का मामला प्रस्तुत किया। अपने प्रस्ताव में उसने इसके लिये एक आयोग गठित कर स्वतंत्र चुनाव कराने, जनप्रिय सरकार की स्थापना कराने जैसी आवश्यकताओं पर जोर दिया। सोवियत संघ ने अमेरिका के प्रस्ताव को अनुपयुक्त कहा। लेकिन महासभा ने उक्त प्रस्ताव के पक्ष में 'तथ्य अन्वेषी आयोग' गठित कर दिया और इस आयोग को दक्षिणी कोरिया में समर्थन व सहयोग का आश्वासन मिला जबकि उत्तरी कोरिया में सोवियत संघ के प्रभाव के कारण इस आयोग को घुसने भी नहीं दिया। अतः इस आयोग ने उत्तरी कोरिया में अपनी असफलता को स्वीकार करते हुए चुनाव कराने के कई प्रयास अगस्त में किये।

टिप्पणी

जबकि दक्षिणी कोरिया में चुनाव सम्पन्न कराने के बाद 12 दिसम्बर 1948 को गणतंत्रात्मक शासन की व्यवस्था हुई और 12 दिम्बर 1948 को संयुक्त राष्ट्र संघ ने यह घोषणा कर दी कि संपूर्ण कोरिया व दक्षिणी कोरिया में दक्षिणी कोरिया की सरकार वैधानिक है। इसमें उत्तरी कोरिया को विदेशी सैनिकों से स्वतंत्र कराने की बात कही गई। फलतः इसका विरोध हुआ।

उत्तरी कोरिया यह जानता था कि उनके यहां साम्यवादी सरकार नियमानुसार कार्य कर रही है। लेकिन लगातार दबाव व हस्तक्षेप को वह सहन नहीं करेगा। इस तरह की धारणाओं एवं वैमनस्यता के कारण उत्तरी कोरिया पर जून 1950 को हमला कर दिया गया। इसके बाद शांति एवं सुरक्षा स्थापित करने के प्रयासों के विरुद्ध एक विचारणीय मामले से संबंधित सुरक्षा परिषद् की आपातकालीन बैठक बुलाई गई। यह बैठक 27 जून को हुई और इसमें कहा गया कि दक्षिणी कोरिया को ऐसी सहायता दी जाय जिससे वह आक्रमणकारी सेना को बाहर खदेड़ सके। सोवियत संघ ने इसे एक गंभीर मामला कहा और यह सिद्ध करने का प्रयास भी किया कि वह साम्यवादी चीन को संयुक्त राष्ट्र संघ में जो महत्व देने की पहल कर रहा है। इसी समय उसने सुरक्षा परिषद् की बैठकों का बहिष्कार शुरू कर दिया।

7 जुलाई 1950 को सुरक्षा परिषद् ने उत्तरी कोरिया को आक्रमणकारी कहते हुए 16 सदस्य देशों की एक कमान बनाई और अमेरिका के सैन्य अधिकारी जनरल मेकआर्थर को जिम्मेदारी सौंपी। सोवियत संघ सहित कुछ देशों ने संयुक्त राष्ट्र संघ की इस कार्यवाही को गलत कहा। यह कार्य संयुक्त राष्ट्र की स्थापना के उद्देश्य के सर्वथा विपरीत है, सुरक्षा परिषद् की बैठकों के समय राष्ट्रवादी चीन की सहभागिता को गलत बताया।

सोवियत संघ की अनुपस्थिति में इतना महत्वपूर्ण फैसला करने, उस पर अमल करके शांति व सुरक्षा विरोधी वातावरण बनाने, दक्षिणी कोरिया द्वारा उत्तरी कोरिया पर किये गये आक्रमण का आरोप लगाया। परिणामस्वरूप 7 अक्टूबर 1950 को कोरिया के मामले पर महासभा ने पुनः विचार किया। कोरिया के संकट पर महासभा ने पुनः विचार करने की उदारता दिखाने के साथ ही कुछ विरोधाभासी काम भी किये। चूंकि चीन (साम्यवादी चीन) फारमूसा को अपना अभिन्न अंग मानता था अतः उसने सुरक्षा परिषद् को यह चेतावनी भी दे दी कि अमेरिका का यह आचरण वास्तव में चीन पर किया गया आक्रमण माना जायेगा। इसका परिणाम यह हुआ कि 5 नवंबर 1950 को चीन ने उत्तरी कोरिया की ओर से युद्ध हेतु अपनी सेना को आदेश दे दिया। फलतः सुरक्षा परिषद् ने 10 नवंबर को एक बैठक बुलाई और मामले पर खुली चर्चा के लिये साम्यवादी चीन को भी आमंत्रित किया। जब उत्तरी कोरिया पर सुरक्षा परिषद् ने अपनी पिछली धारणाओं को दोहराने का प्रयास किया तब सोवियत रूस ने अपने निषेधाधिकार का उपयोग कर सुरक्षा पर ही अंकुश लगा दिया।

संयुक्त राष्ट्र संघ को कोरिया संकट के मामले में समझौते की ओर वापस आना पड़ा। शांति बहाली के लिये उसने 14 दिसम्बर 1950 को एक आयोग गठित किया।

टिप्पणी

2 मई 1951 को उसने साम्यवादी चीन और उत्तरी कोरिया को युद्ध – सामग्री आयात – निर्यात करने से मना कर दिया। भारत सहित कुछ देशों द्वारा युद्ध विराम के लिये जो पहल की गई उसे मान्य किया। इसमें युद्धबंदियों की वापसी के लिये भारत की भूमिका ऐतिहासिक रही।

भारत को इस आयोग का अध्यक्ष बनाया गया था और भारत ने युद्धबंदियों की देखभाल, सुरक्षा व चिकित्सा का कार्य किया और पूरी दृढ़ता व निष्पक्षता के साथ लगभग 22 हजार युद्ध बंदियों को छुड़ाकर संयुक्त राष्ट्र संघ की कमान को सौंपने का अभूतपूर्व काम किया था। 26 अप्रैल 1953 को युद्ध विराम संधि पर चर्चा की पहल का हश्र वही होता जो कोरिया के मामले में लगातार होता आ रहा था।

4.5.5 वियतनाम

वियतनाम दक्षिणी–पूर्वी एशिया के भू–भाग द्वितचीन का सबसे पुराना राष्ट्र है। इसके मोहज सुओम्स चन अन्य नाम हैं। चीन दक्षिणी–पूर्वी एशिया में फ्रांस के अधीन वह भू–भाग था, जो वर्तमान में स्वतंत्र देश वियतनाम कम्बोडिया तथा लाओस के नाम से जाना जाता है। इस राज्य के पांच भाग थे तोन्किन, अनाम कोचीन–चाइन कंबोडिया और लाओस। प्रथम दो पर चीनी प्रभाव था और कंबोडिया एवं लाओस पर भारतीय सभ्यता का प्रभाव।

वियतनाम का इतिहास

वियतनाम राष्ट्र का जन्म सर्वप्रथम 'वानलोग' साम्राज्य के नाम से हुआ। यहां पर होगबोंग औलाक नामवीत हान वंश आदि वंशों ने शासन किया। चीन ने इस पर कई वर्षों तक राज किया। 16वीं शताब्दी में पुर्तगाल हॉलेण्ड, स्पेन, ब्रिटेन, फ्रांस के व्यापारी भी इस देश में व्यापार के लिए आए परंतु इन लोगों ने यहां राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने का प्रयास नहीं किया।

फ्रांस का प्रभुत्व : फ्रांस का प्रभुत्व 1747 से 1858 के बीच यहां स्थापित हो गया। 1787 में फ्रांस और हिंदचीन के बीच पहली संधि पर हस्ताक्षर हुए। इस संधि का उद्देश्य फ्रांस का राज्य विस्तार करना था। 1863 की संधि से हिंदचीन फ्रांस के अधीन हो गया। इस प्रकार संपूर्ण हिंदचीन पर फ्रांस का अधिकार हो गया। इन परिस्थितियों के परिणामस्वरूप हिंदचीन में राष्ट्रीयता की भावना का उदय हुआ।

हो–ची–मिन्ह के नेतृत्व में राष्ट्रीय स्वतंत्रता की घोषणा कर दी गई एवं विएत–मिन्ह नाम से स्वतंत्र सरकार का गठन किया एवं वियतनाम नाम के रिपब्लिकन राज्य की घोषणा कर अपने को फ्रांसीसी आधिपत्य से मुक्त कर लिया।

फ्रांस की युद्धोत्तर नीति : फ्रांस अपना प्रभाव हिंदचीन में बनाये रखना चाहता था। अतः उसने 6 मार्च 1946 में वियतनाम सरकार से एक समझौता किया जिसे हनोई समझौता कहा जाता है। इस समझौते के द्वारा दक्षिण में सैगोन पर और उत्तर में हनोई पर फ्रांसीसी सेनाओं का अधिकार हो गया। परंतु यह समझौता अधिक समय तक स्थापित नहीं रह सका और दोनों के बीच मतभेद उत्पन्न हो गये।

टिप्पणी

फ्रांस हिंदचीन में साम्यवादी विरोधी सरकार की स्थापना करना चाहता था। उसने अवाग के अपदस्थ सम्राट बाओढाई से समझौता कर हिंदचीन का शासन उसके अधीनस्थ कर दिया। इस सरकार को अमेरिका एवं ब्रिटेन ने मान्यता दी। हो–ची मिन्ह का समर्थन सोवियत रूस कर रहा था। इस प्रकार यह संघर्ष साम्यवादी एवं पूंजीवाद में बदल गया। यह लड़ाई कालान्तर में एक बड़े युद्ध में बदल गई। फ्रांस की शक्ति क्रमशः कमजोर होती चली गई और वह प्रतिष्ठायुक्त समझौते के लिए तैयार हुआ।

जेनेवा सम्मेलन : हिंदचीन के भविष्य को लेकर राष्ट्रों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन जेनेवा में 26 अप्रैल 1954 को आरंभ हुआ।

व्यवस्थाएं

1. वियतनाम को दो भागों में विभाजित किया गया– (1) उत्तरी वियतनाम (2) दक्षिणी वियतनाम।
2. विभाजन की व्यवस्था अस्थाई थी।
3. वियतनाम में चुनाव के द्वारा सर्वसम्मति से सरकार बनायी गई।
4. फ्रांस ने कंबोडिया, लाओस, बाओढाई की पूर्ण स्वतंत्रता की पुष्टि की।
5. अंतर्राष्ट्रीय नियंत्रण आयोग की स्थापना की जिसमें भारत पोलैण्ड, कनाडा सदस्य थे।

जेनेवा समझौते से कोई स्थाई परिणाम नहीं निकले वियतनाम के एकीकरण को लेकर संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई।

गृहयुद्ध का आरंभ : अमेरिका के समर्थन से दक्षिण वियततताम ने 19 अक्टूबर 1961 को देश में आपात स्थिति की घोषणा कर दी और वियतनाम के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया। अमेरिका ने 'शांति को खतरा' के नाम से श्वेत पत्र जारी किया, जिसमें यह आरोप लगाया कि यह सारा संचालन साम्यवादी समर्थन से हो रहा है। अमेरिका ने दक्षिण वियतनाम को सैनिक सहायता प्रदान की। उसके सहयोग से 1965 में जनरल न्गुएनवान थिऊ ने शासन संभाला।

अमेरिका उत्तरी वियतनाम से प्रत्यक्ष युद्ध के लिए तैयार था। उसने युद्ध के लिए 5 लाख सैनिक उतार दिये और युद्ध की शुरुआत हो गई। अंतर्राष्ट्रीय संगठनों ने युद्ध को रोकने का प्रयास किया परंतु असफल रहा। 1967 ई. में अमेरिका ने बम वर्षा और तेज कर दी और इतने बम गिराये जितने द्वितीय विश्व युद्ध में भी नहीं गिरे। अमेरिका के 1000 वायुयान नष्ट हुए। अमेरिका में भी इस युद्ध का विरोध होने लगा। इस प्रकार दक्षिण वियतनाम का अस्तित्व अमेरिका की प्रतिष्ठा बन गया।

पेरिस संधि वार्ता : वियतनाम की समस्या के समाधान के लिए पेरिस में अमेरिका एवं उत्तरी एवं दक्षिण वियतनाम के प्रतिनिधियों का सम्मेलन हुआ। इनकी मुख्य बातों में वियतनाम से अमेरिकी सैनिकों की वापसी एवं अस्थायी सरकार का गठन था।

अमेरिकी नीति में परिवर्तन : 1969 में हो–ची–मिन्ह की मृत्यु हो गई उसके बाद यह आंदोलन जारी रहा। अमेरिका इस दौर में शांति की भी वार्ता करता रहा और

टिप्पणी

उसके हवाई हमले भी जारी रहे। उसने घोषणा कि "हम पराजित नहीं होंगे और न ही हम अपने मित्रों को साम्यवादी आक्रमण के समक्ष घुटने टेकने देंगे।" उत्तरी वियतनाम भंयकर संघर्ष से गुजर रहा था। शांति के लिए भी कूटनीतिक प्रयास में तेजी आई और विश्व भी इस खूनी संघर्ष को बंद करने की मांग करने लगा। जिसके परिणामस्वरूप 27 जनवरी 1973 को वियतनाम में युद्धबंदी समझौते पर हस्ताक्षर हुए।

समझौते

(1) 60 दिन के अंदर वियतनाम से अमेरिकी सैनिकों की वापसी।

(2) सैनिकों की घुसपैठ और युद्ध सामग्री भेजने पर प्रतिबंध।

(3) अमेरिका द्वारा वियतनाम के पुनर्निर्माण में सहयोग का आश्वासन।

(4) कम्बोडिया और लाओस की स्वतंत्रता, सम्प्रभुता तथा अखंडता का वचन।

(5) वियतनाम के एकीकरण का शांति के साथ प्रयास करना।

(6) युद्ध समाप्ति के बाद अमेरिका और उत्तरी वियतनाम में मैत्रीपूर्ण संबंधों का वादा।

वियतनाम का एकीकरण : युद्ध विराम स्थायी हल नहीं था। 1975 में दोनों के बीच पुनः युद्ध की शुरुआत हुई। अमेरिका की सहायता न मिलने के कारण दक्षिण वियतनाम उत्तरी वियतनाम का सामना नहीं कर सका। 30 अप्रैल 1975 को दक्षिणी वियतनाम के सैनिकों ने राष्ट्रीय मुक्ति सेना के सम्मुख आत्म–समर्पण कर दिया। 'सैगोन' का नाम बदलकर 'हो–ची–मिन्ह' नगर रख दिया।

संक्षेप में 20 वर्षों से चले आ रहे संघर्ष की अंततः समाप्ति हुई। 5 मई 1975 को एकीकृत वियतनाम में मुक्ति दिवस मनाया गया। अमेरिका के लिए यह हार अपमानजनक थी। वहीं साम्यवादियों के लिए यह शानदार जीत थी। देशवासियों में अगर राष्ट्रीयता की भावना हो तो कोई भी महाशक्ति उसे पराजित नहीं कर सकती वियतनाम संघर्ष ने यह सिद्ध कर दिया।

अपनी प्रगति जांचिए

11. 'हवाना' किसकी राजधानी है।

(क) कोरिया (ख) वियतनाम

(ग) क्यूबा (घ) रूस

12. फ्रांस और हिंदचीन के बीच पहली संधि पर हस्ताक्षर कब हुआ?

(क) सन् 1787 में (ख) सन् 1789 में

(ग) सन् 1818 में (घ) सन् 1828 में

4.6 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

टिप्पणी

1. (ख)
2. (ख)
3. (ग)
4. (घ)
5. (क)
6. (ग)
7. (क)
8. (घ)
9. (क)
10. (ख)
11. (ग)
12. (क)

4.7 सारांश

शीत युद्ध जिसे 'कोल्ड वार' भी कहा जाता है द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात विश्व की बदलती हुई परिस्थितियों ने इसकी शुरुआत की। पहली बार इस शब्द का प्रयोग ब्रिटिश लेखक जॉर्ज ऑरवेल ने 1945 में किया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के परिदृश्य के संदर्भ में भौगोलिक तनावों के वर्णन में शीत युद्ध शब्द का सबसे पहले उपयोग करने का श्रेय अमेरिका के राष्ट्रपति के सलाहकार बर्नार्ड बरूच और इंग्लैंड के प्रधानमंत्री विंस्टन चर्चिल को जाता है। अंदरूनी प्रतिद्वंद्विता जो विश्व की दो नई शक्तियों के बीच पहले ही शुरू हो चुकी थी, को महसूस करते हुए बर्नार्ड बरूच ने अपने अभिभाषण में कहा, ''हमें झूठ का शिकार नहीं होना चाहिए, हम एक शीत युद्ध के बीच में हैं।'' वहीं, माना जाता है कि सन् 1946 में फॉल्टन में एक प्रसिद्ध अभिभाषण में कटु अंतर्राष्ट्रीय स्थितियों की चर्चा करते हुए समकालीन विश्व के राजनयिक विंस्टन चर्चिल ने सूक्ष्म कूटनीति का सहारा लिया। उन्होंने कहा, ''यूरोप को एक लौह आवरण ने ढक लिया है, जो उत्तर में स्टेटिन से दक्षिण में त्रीस्ते तक फैला हुआ है।'' आगे चलकर वॉल्टर लिपमैन ने 'कोल्ड वॉर' शीर्षक से एक पुस्तक लिखी जिसमें उन्होंने शीत युद्ध का एक विस्तृत विश्लेषण प्रस्तुत किया। बाद के वर्षों में इस अंतर्राष्ट्रीय परिघटना की चर्चा साहित्य, विद्वानों के निबंधों–आलेखों और सांस्कृतिक गतिविधियों में बड़े पैमाने पर होती रही।

शीत युद्ध की उत्पत्ति के अनेक घटक हैं कुछ अंतर्राष्ट्रीय घटनाक्रम थे तो कुछ वैचारिक असमानताएं थी। युद्ध के पश्चात अंतर्राष्ट्रीय शून्यता को उभरने एवं अपने–अपने

टिप्पणी

वर्चस्व को स्थापित करने के उद्देश्य से वे एक–दूसरे को बाधक समझने लगे, और आशंका एवं भय के वातावरण ने शीत युद्ध की परिस्थितियों को जन्म दिया। इसमें राजनीतिक दाव पेंच, कूटनीतिक चालें, तनाव और प्रतिद्वंद्विता घात–प्रतिघात सब कुछ शामिल था। शीत युद्ध की उत्पत्ति के तीन सिद्धांत हैं।

नव शीत के समय विश्व में तीन गुट प्रतिस्पर्धा कर रहे थे– अमेरिका, सोवियत संघ एवं चीनी गुट। पाकिस्तान प्रत्यक्ष में गुटनिरपेक्ष का सदस्य जरूर था परंतु उसका समर्थन चीन और अमेरिका के साथ था। भारत का समर्थन हमेशा सोवियत संघ के साथ था। नव शीत युद्ध संघर्ष युद्ध का मुख्य रणक्षेत्र यूरोप था, जबकि नव–शीतयुद्ध यूरोप के बाहर लड़ा गया। यह अफगानिस्तान, अरब, इजराइल, हॉर्न ऑफ अफ्रीका या हिंद–चीन के क्षेत्र में लड़ा गया। इस प्रकार नव शीत युद्ध विश्व व्यापी था। महाशक्तियों की प्रतिस्पर्धा हिंद महासागर की क्षेत्रीय शांति के लिए बड़ा खतरा थी। शीतयुद्ध की भांति, नव–शीत युद्ध में भी संयुक्त राष्ट्र इसका एक मंच रहा।

45 वर्ष चला शीतयुद्ध अचानक 1989 तक समाप्ति की ओर अग्रसर हो गया। इसका श्रेय अमेरिका के राष्ट्रपति रीगन और सोवियत नेता मिखाइल गोर्बाचोव को जाता है। सोवियत संघ आंतरिक परिस्थितियों के परिणामस्वरूप 1991 में विखंडित होकर 15 स्वतंत्र राष्ट्रों में विभाजित हो गया।

शीत युद्ध की समाप्ति के बाद अमेरिका विश्व की सर्वोच्च शक्ति बन गया। सोवियत संघ का विघटन हो गया। वैचारिक आर्थिक, राजनीतिक संघर्ष की समाप्ति हुई। अंतर्राष्ट्रीय प्रतिस्पर्धा को विराम मिला। अब यही एक सत्य है कि विश्व में अब एक ही सुपर पावर है और वह अमेरिका है।

गुटनिरपेक्षता एक नीति है, जो इस दृष्टि पर आधारित है कि ''शक्तिशाली गुटों में से किसी में भी शामिल हुए और उनके प्रभाव में आए बिना राष्ट्रों को अपनी नीतियों का पालन करना चाहिए''। एक गुटनिरपेक्ष देश हर समस्या की जांच अपनी योग्यताओं के आधार पर करता है। दूसरे शब्दों में, ''गुटनिरपेक्षता सभी राष्ट्रों की स्वतंत्रता और अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में कार्यकलाप के चयन के अधिकारों की सिफारिश करती है। गुटनिरपेक्षता का बुनियादी मत है, ''उसका सैन्य संधियों से परहेज और साम्राज्यवाद के किसी भी रूप का विरोध''। किंतु, गुटनिरपेक्षता अलग–अलग समयों पर अलग–अलग लोगों के लिए अलग–अलग अर्थ का निरूपण करती है।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद महाशक्तियों ने आने वाले समय में शान्ति बनाए रखने के लिए राष्ट्रसंघ (League of Nations) की स्थापना की। राष्ट्रसंघ सफल न हो सका और सन् 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध की शुरुआत हो गई। इस युद्ध में जन–माल का बहुत अधिक विनाश हुआ। विश्व युद्ध के दौरान ही एक प्रभावशाली अंतर्राष्ट्रीय संगठन के निर्माण की शुरुआत हुई। इसी काल में उसके उद्देश्यों को स्पष्ट करने का प्रयास किया और सहमति बनाने के लिए भी कदम उठाए गए। मित्र–राष्ट्रों ने निर्णय लिया कि वे अलग से शान्ति स्थापित करने की बजाए एक विश्व संस्था के द्वारा शान्ति स्थापित करना चाहेंगे जिसमें विश्व के सारे प्रभुत्वसम्पन्न देशों का ऐच्छिक सहयोग आवश्यक है।

संयुक्त राष्ट्रसंघ का मुख्य उद्देश्य राजनीतिक समस्याओं का समाधान करते हुए अंतर्राष्ट्रीय शांति और सुरक्षा को प्रोत्साहन देना है। संघ के आर्थिक और सामाजिक क्षेत्र में किये गये कार्य कम महत्वपूर्ण नहीं है, लेकिन उसके कार्यकलाप सामान्यतः अधिक प्रकाश में आते हैं। विश्व जनमत राजनीतिक कार्यों के आधार पर संघ की सफलता–असफलता का मूल्यांकन करता है। अब तक संघ के सामने कई अंतर्राष्ट्रीय विवाद व क्षेत्रीय तनाव उपस्थित हुए हैं जिनको सुलझाने में कहीं उसे सफलता मिली है और कहीं निराशा।

टिप्पणी

4.8 मुख्य शब्दावली

- **प्रतिबंध** : रुकावट
- **घातक** : नुकसानदेह
- **सिफारिश** : समर्थन
- **पूर्वानुमान** : पहले से अनुमान लगाना
- **प्रयोजन** : उद्देश्य
- **अनुयायी** : समर्थक
- **जोखिम** : भावी खतरा
- **बदतर** : बुरी स्थिति
- **गुटनिरपेक्ष** : तटस्थ
- **आधिपत्य** : अधीनता

4.9 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. शीत युद्ध से आप क्या समझते हैं?
2. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए–
   (क) नाटो (ख) वार्सा पैक्ट
3. नवशीत युद्ध से क्या तात्पर्य है? संक्षेप में समझाए।
4. गुटनिरेपक्षता की नीति का विकास किन परिस्थितियों में हुआ? इसके प्रमुख समर्थक कौन थे?
5. गुटनिरपेक्ष आंदोलन से राष्ट्रों को क्या प्रेरणा मिली है?
6. गुटनिरपेक्ष आंदोलन ने किस बातों पर जोर दिया?

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. शीत युद्ध को समझाते हुए इसकी उत्पत्ति एवं कारणों का वर्णन कीजिए।
2. शीत युद्ध के विकास का विश्लेषण कीजिए।

3. शीत युद्ध के प्रभावों का वर्णन कीजिए।
4. गुटनिरपेक्षता की उत्पत्ति पर प्रकाश डालिए।
5. गुटनिरपेक्ष आंदोलन के सिद्धांतों का वर्णन कीजिए।

टिप्पणी

4.10 सहायक पाठ्य सामग्री

केनेथ वॉल्ट्ज, 2001, थियरी ऑफ इंटरनेशनल पॉलिटिक्स। वेवलैण्ड प्रेस इंकोर्पोरेशन।

मार्टिन होलिस और स्टीव स्मिथ, 1991, एक्सप्लेनिंग एण्ड अण्डरस्टैण्डिंग इंटरनेशनल रिलेशंस। ऑक्सफोर्डः ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस।

रॉबर्ट जैक्सन और जॉर्ज सोरेन्सन, 2013, इंट्रोडक्शन टू इंटरनेशनल रिलेशंसः थियरीज एण्ड अप्रोचेज, 5वां संस्करण। ऑक्सफोर्डः ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस।

रॉबर्ट किओहेन, 2005, आफ्टर हीजेमनीः कोपरेशन एण्ड डिस्कोर्ड इन द वर्ल्ड पॉलिटिकल इकॉनोमी। न्यू जर्सीः प्रिंसटन यूनीवर्सिटी प्रेस।

रॉबर्ट किओहेन और जोसेपफ नाय, 2011, पॉवर एण्ड इंटरडिपेन्डेन्स, चौथा संस्करण। न्यूयॉर्कः लोंगमैन।

इकाई 5 प्रगति का युग और समाजवादी ब्लॉक का विघटन

टिप्पणी

संरचना

5.0 परिचय
5.1 उद्देश्य
5.2 प्रगति का युग और समाजवादी ब्लॉक
  5.2.1 उद्योग के क्षेत्र में प्रगति
  5.2.2 कृषि का विकास
  5.2.3 विज्ञान एवं तकनीकी का विकास
  5.2.4 संचार और सूचना
  5.2.5 समाजवादी ब्लॉक का विघटन
5.3 सांस्कृतिक क्रांति, नागरिक अधिकार आंदोलन, रंगभेद और नारीवाद
  5.3.1 सांस्कृतिक क्रांति
  5.3.2 नागरिक अधिकार आंदोलन
  5.3.3 रंगभेद और नारीवाद
5.4 समाजवाद का पतन, भूमंडलीकरण एवं उसके प्रभाव
  5.4.1 समाजवाद के पतन की पृष्ठभूमि
  5.4.2 भूमंडलीकरण
5.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर
5.6 सारांश
5.7 मुख्य शब्दावली
5.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास
5.9 सहायक पाठ्य सामग्री

5.0 परिचय

कार्ल मार्क्स ने एक नई विचारधारा को जन्म दिया जो मजदूरों और किसानों का प्रतिनिधित्व करती थी। इस विचारधारा ने अनेक बौद्धिक आदोलनों की शुरुआत की, जो पूंजीवाद का विरोध कर सामाजिक बदलाव के पक्ष में थी।

राष्ट्रीय आंदोलनों के पश्चात यूरोप में उदारवाद का विकास हुआ जो कि प्रतिक्रियावाद और रूढ़िवाद के विरोध में और नई औद्योगिक शक्तियों तथा नये उभरकर सामने आ रहे मध्यवर्ग के द्वारा अपनाई गई विचारधारा थी।

औद्योगिक क्रांति ने दो वर्गों को जन्म दिया– पूंजीवाद और समाजवाद। पूंजीवाद लाभ आधारित अर्थव्यवस्था का प्रतिनिधित्व करता था इसके लिए उन्होंने शोषणकारी नीतियों को अपनाया। इस नीति का विरोध साम्यवाद ने किया। उनका प्रमुख उद्देश्य पूंजीवाद के साथ समझौता अथवा उनके विरुद्ध संघर्ष करना था। ताकि शोषित वर्ग की जीवन पद्धति में बदलाव लाया जा सके। इस प्रकार यह विचारधारा यूरोप के अन्य देशों में फैल गई और निरंतर विकास पथ पर आगे बढ़ी।

इसी क्रम में विज्ञान और तकनीकी के विकास ने दुनिया को बहुत ही संकुचित कर दिया। नये–नये आविष्कारों ने मनुष्य के जीवन में आमूल परिवर्तन कर दिया।

इस इकाई में प्रगति का युग और समाजवादी ब्लॉक के विघटन को विस्तारपूर्वक समझाया गया है।

टिप्पणी

5.1 उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप–

- समाजवादी ब्लॉक के विघटन की जानकारी से परिचित हो पाएंगे;
- द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात प्रगति के युग से अवगत हो पाएंगे;
- औद्योगिक विकास का आकलन कर पाएंगे;
- विज्ञान एवं तकनीकी विकास की विवेचना कर पाएंगे;
- कृषि विकास का विश्लेषण कर पाएंगे।
- सांस्कृतिक क्रांति, नागरिक अधिकार आंदोलन तथा रंगभेद नीति और नारीवाद की समीक्षा कर पाएंगे;
- समाजवाद का पतन और भूमंडलीकरण को समझ पाएंगे।

5.2 प्रगति का युग और समाजवादी ब्लॉक

प्रगति परिवर्तन की एक विशेष प्रक्रिया है जिसमें वांछित लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए सचेत प्रयत्न किए जाते हैं प्रगति का अर्थ उस दिशा में होने वाले विकास से है जो सामाजिक मूल्यों का विवेकयुक्त हल प्रस्तुत करता है। सामाजिक प्रगति के लिए विज्ञान का विकास एवं प्रौद्योगिक उन्नति भी आवश्यक है। मशीनों के प्रयोग से बड़ी मात्रा में और तीव्र गति से उत्पादन होता है, वाणिज्य और व्यापार में भी वृद्धि होती है। इसके परिणामस्वरूप किसी समाज की आर्थिक दशा में सुधार होता है जो प्रगति के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि है। यही नहीं, किसी समाज की प्रगति के लिए यातायात एवं संचार के नवीन साधनों, रेल, मोटर, वायुयान, रेडियो, टेलीविजन, टेलीफोन, समाचार पत्रों आदि का विकास भी आवश्यक है ताकि ज्ञान की वृद्धि होती हो जिससे सामाजिक प्रगति संभव हो पाती है।

5.2.1 उद्योग के क्षेत्र में प्रगति

किसी भी देश में उत्पादन, उत्पादन की मात्रा तथा उत्पादन कार्यकुशलता को निर्धारित करने वाले प्राथमिक और आधारभूत तत्व होते हैं। प्राकृतिक संसाधन उपजाऊ भूमि, खनिज पदार्थ, विभिन्न प्रकार की धातुएं, जलवायु, तापक्रम, श्रमकुशलता और परिश्रमी श्रमिक, पूंजी, कुशल संगठन एवं वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान की उपलब्धि से औद्योगिक उत्पादन के क्षेत्र में वृद्धि की जा सकती है।

वैज्ञानिक प्रगति उद्योगों के क्षेत्र में

वस्त्र उद्योग के लिए जॉन ने "फलाइंग शटल का आविष्कार किया जो कपड़े बुनने के काम आती थी। 'जेम्स हरग्रीव्स' ने स्पिनिंग जैनी का आविष्कार किया जो सूत को धागे में परिवर्तित करती थी। रिचर्ड आर्कराइट ने 'वाटर फेस' यंत्र बनाया जो सूत कातने

का कार्य करती थी। एडमंड कार्टराइट ने शक्ति चलित करघे का आविष्कार किया। 'ऐली विहटने' ने कपास ओटाने की मशीन कॉटन जिन' यंत्र का आविष्कार किया।

'टामस न्यूकोमैन' ने वाष्प इंजन बनाया। हेनर कोर्ट ने अधिक शुद्ध और अच्छा लोहा बनाने की खोज की। स्कॉटलैण्ड वासी मकाडम ने सडक निर्माण का नया तरीका खोजा। फ्रांसीसी इंजीनियर फार्देनंद ने द लैस्पैप ने स्वेज नहर जो भूमध्य सागर एवं लाल सागर को मिलाती है, का निर्माण पूरा किया। 'जेम्स ब्रिंडले' ने ब्रिजवाटर नहर तैयार करवायी। अमेरिका के रोबर्ट फुल्टन ने प्रथम वाष्प चलित नौका का आविष्कार किया। प्रथम समुद्र पार जाने वाली स्टीम बोट सिरझम ने अटलांटिक महासागर को 18 दिन में पार किया। 1850 ई. के प्रारंभिक दशक में नौकाओं में पैडल वहील के स्थान पर स्क्रू–प्रोपेलर का प्रयोग किया जाने लगा।

टिप्पणी

एक अंग्रेज, जार्ज स्टीफेन्सन ने भाप इंजन का आविष्कार किया। मेनचेस्टर और लिवरपूल के बीच 1830 ई. में प्रथम रेलगाड़ी चली। 1880 में गैसोलीन अर्थात पेट्रोल इंजन के आविष्कार ने परिवहन के क्षेत्र में नवीन परिवर्तन की शुरुआत की।

दो महाद्वीपों को जोड़ने के लिए 'सैमुअल मौर्स' ने एक व्यवहारिक तारयंत्र का आविष्कार किया। सर्वप्रथम अंतर्राष्ट्रीय तार यंत्र उत्तरी अमेरिका और यूरोप के मध्य लगाया गया। यह अटलांटिक केबल थी।

1876 में ग्राहम बेल ने टेलीफोन का आविष्कार किया।

इस प्रकार वैज्ञानिक आविष्कारों एवं तकनीकी ने विश्व को एक नवीन पथ पर अग्रसर किया।

5.2.2 कृषि का विकास

आर्थिक क्षेत्र में जो महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ वह था कृषि का विकास। नगरों और व्यापार के विकास ने कृषि को वैज्ञानिक तरीकों से करने के लिए प्रेरित किया। इससे पहले कृषि सिर्फ आत्मनिर्वाह अर्थव्यवस्था का कार्य करती थी परंतु उसे अब वाणिज्यिक कृषि के रूप में उत्पादन करना था। कृषि क्रांति के लिए सबसे अधिक उत्तरदायी तत्व था– इस युग के वैज्ञानिक आविष्कार।

कृषि से संबंधित वैज्ञानिक आविष्कार : बारहवीं सदी में कृषि संबंधी तकनीकों के विकास से कृषि योग्य भूमि का विस्तार हुआ एवं अत्यधिक उत्पादन हुआ। इस समय फलेमिश क्षेत्रों एवं अन्य निचले देशों में कृषि के विस्तार हेतु कई परीक्षण एवं प्रयोग किये जिनमें उन्हें सफलता भी मिली। 1565 में फलेमिश से आने वाले लोगों ने इंग्लैंड में शलजम की फसल उगायी। सोलहवीं शताब्दी तक पशुधन की आवश्यकताओं के मद्देनजर तिपतिया घास तथा समीमा धान्य जैसी चारा फसलें उगायी गईं। चक्रानुवर्ती फसल लेने से भी उत्पादन में वृद्धि हुई। इस प्रकार सोलहवीं से अठारहवीं सदी के मध्य एक बार पुनः कृषि के क्षेत्र में क्रांतिकारी परिवर्तन हुए।

राबर्ट वेस्टर्न : राबर्ट ने फ्लैंडर्स में रहकर कृषि के विषय में ज्ञान प्राप्त किया। 1645 ई. में उसने एक पुस्तक 'Discourse on Husbandry' लिखी। उसने अपनी पुस्तक में शलजम (Turnip) तथा जड़ों वाली फसलों को बोने पर जोर दिया। इससे जमीन की खोई हुई शक्ति बिना जमीन को परती छोड़े प्राप्त की जा सकती थी।

टिप्पणी

जेथ्रो टुल : कृषि कार्य में क्रांति लाने वाला एक अन्य किसान वर्कशायर का जेथ्रो टुल था। उसने बीज बोने के लिए ड्रिल यंत्र का आविष्कार किया। 1701 में उसने स्वयं अपने आविष्कार का प्रयोग किया। उसने इटली और फ्रांस की यात्राएं कीं और अपने अनुभवों को 'Horse Hoeing Husbandry' के रूप में 1733 में जनता के सामने प्रस्तुत किया।

लॉर्ड टाउनशैंड : कृषि में टुल तथा रॉबर्ट वेस्टर्न के सिद्धांतों में आश्चर्यजनक परिवर्तन करने वाला टाउनशैंड था। उसने ड्रिल यंत्र से बुआई और शलजम की खेती की एवं फसल चक्र बनाया और बदल–बदल कर खेतों में फसलें उगानी शुरू की। उसने तीन फसलों की पद्धति को त्यागकर चार फसलों की पद्धति को जन्म दिया। सर्वप्रथम गेहूं, शलजम, जौ तथा लौंग बोने का रिवाज चलाया। टाउनशैंड को लोग टर्निप टाउनशैंड कहने लगे।

आर्थर यंग : इंग्लैंड के एक धनवान कृषक आर्थर यंग (1742–1820) ने इंग्लैंड, आयरलैंड एवं फ्रांस आदि देशों में घूम–घूमकर तत्कालीन कृषि उत्पादन की पद्धतियों का सूक्ष्म अध्ययन किया। उसने बताया कि छोटे–छोटे खेतों पर खेती करने से अधिक लाभकारी बड़े कृषि फार्मों पर खेती करना है। अतः उसने छोटे–छोटे खेतों को मिलाकर बड़े–बड़े कृषि फार्मों के निर्माण पर बल दिया। उसने अपने इन विचारों को जन–जन तक पहुंचाने के लिए 'एनल्स ऑफ एग्रीकल्चर' पत्रिका निकाली। इस प्रकार उसके प्रयासों ने कृषि में नवीन पद्धति का विस्तार किया।

1840 में एक जर्मन रसायनशास्त्री जस्टन वॉन लीविंग ने बताया कि खाद के रूप में पोटाश, नाइट्रोजन एवं फॉस्फोरस का इस्तेमाल करने से कृषि उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। इन तत्वों से मिट्टी की उर्वरता बढ़ जाती है।

एडमंड क्विंसी : 1850 में एडमंड क्विंसी ने मकई बीनने वाले यंत्र का आविष्कार किया।

एली व्हिटनी : एली व्हिटनी ने 14 मार्च, 1794 को कॉटन जिन को पेटेंट करवाया। यह मशीन कपास के बीज, खरपतवार और अन्य अवांछित सामग्री को चुनने के बाद अलग करती है।

जोसेफ डार्ट : 1842 में जोसेफ डार्ट ने पहली अनाज लिफ्ट का निर्माण किया।

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक घास को दरांती और कैंची से हाथ से काटा जाता था। 1860 के दशक की शुरुआत में काटने के उपकरण विकसित किए गए थे जो 'रीपर' और 'बाइंडरों' के समान थे। इनमें से पूरी तरह से यांत्रिक मार्क्स, क्रशर, विंडरोवर, फील्ड हेलिकॉप्टर, बेलर और फील्ड में पैलेटिंग या वेफरिंग के लिए मशीनों की आधुनिक शृंखला आई। स्थिर बेलर या घास प्रेस का आविष्कार 1850 के दशक में हुआ था किंतु 1870 के दशक तक यह लोकप्रिय नहीं हुआ। 1940 के आसपास पिकअप बेलर या स्कवायर बेलर को गोल बेलर में बदल दिया गया।

जॉन डीरे ने सेल्फ–पॉलिशिंग कास्ट स्टील हल का आविष्कार किया– लोहे के हल में सुधार। हल ढलवां लोहे का बना होता था और इसमें स्टील का हिस्सा होता था जो बिना रुकावट के चिपचिपी मिट्टी को काट सकता था। 1855 तक जॉन डीयर

का कारखाना एक वर्ष में 10,000 हजार से अधिक हल बेच रहा था। इसके अलावा 1831 में साइरस एच. मैक कॉर्मिक ने पहली व्यावसायिक रूप से सफल रीपर विकसित किया।

टिप्पणी

इस प्रकार ट्रैक्टरों के आगमन ने कृषि उद्योग में क्रांति ला दी, कृषि को बैलों, घोड़ों और जनशक्ति के उपयोग से मुक्त कर दिया।

5.2.3 विज्ञान एवं तकनीकी का विकास

आजादी के बाद जहां भारत ने समाज के हर क्षेत्र में तेजी से विकास किया वहीं विज्ञान के क्षेत्र में भी अनेक उपलब्धियां हासिल की। स्वतंत्र भारत की प्रथम सरकार में विज्ञान और प्राकृतिक संसाधनों का एक पृथक मंत्रालय बनाया गया। भारत में विज्ञान एवं तकनीकी क्षेत्र की उपलब्धियां निम्नानुसार हैं–

1948 – बीरबल साहनी पुरावनस्पति विज्ञान संस्थान लखनऊ की स्थापना, प्रो. पी.ए.एम. ब्लौकेट की सलाह पर 'सुरक्षा विज्ञान संस्थान की स्थापना।

1950 – राष्ट्रीय विज्ञान संस्थान की स्थापना

1954 – परमाणु ऊर्जा विभाग की स्थापना

1957 – ट्राम्बे में भामा परमाणु अनुसंधान केंद्र की स्थापना

1958 – रक्षा अनुसंधान एवं विकास संगठन (D. R.R.O) की स्थापना

1962 – खड़गपुर मुंबई, चेन्नई, कानपुर दिल्ली में भारतीय प्रौद्योगिकी संस्थान की स्थापना

1963 – गोवा में राष्ट्रीय समुद्र विज्ञान संस्थान की स्थापना

1963 – केरल में त्रिवेन्द्रम के निकट राकेट प्रक्षेपण सुविधा केंद्र की स्थापना,

1969 – बंगलौर में भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन (ISRO) की स्थापना तारापुर में परमाणु संयत्र की स्थापना

1972 – अंतरिक्ष आयोग और अंतरिक्ष विभाग की स्थापना

1975 – भारत का प्रथम कृत्रिम उपग्रह 'आर्यभट्ट' प्रक्षेपित

1979 – राष्ट्रीय ताप विद्युत निगम (NTPC) की स्थापना।

1980 – भारत में निर्मित उपग्रह प्रक्षेपण वाहन एसएलवी 3 को इस वर्ष 18 जुलाई को श्री हरिकोटा स्थिति प्रक्षेपण केंद्र से पृथ्वी की कक्षा में स्थापित किया गया।

1990 – पहली पीढ़ी के इंसेट उपग्रह श्रेणी के अंतिम उपग्रह इंसेट एक–डी को इस साल 12 जून को फलोरिडा स्थित प्रक्षेपण केंद्र से अमेरिकी डेल्टा राकेट की मदद से अंतरिक्ष में भेजा गया।

मौसम पूर्वानुमान एवं निगरानी के लिए प्रत्युष नामक शक्तिशाली सुपर कम्पयूटर बनाया गया है। नैनो तकनीक में शोध के मामले में भारत दुनियाभर में तीसरे स्थान पर है।

2035 तक तकनीकी और वैज्ञानिक दक्षता हासिल करने के लिए विज्ञान और प्रौद्योगिकी विभाग ने टेक्नोलॉजी विजन 2035 नाम से एक रूपरेखा तैयार की है।

टिप्पणी

भारत ने विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति की हैं। भारत में बहुत सी नई विधियों, उत्पादों और उत्तम कोटि के सामान का निर्माण हुआ है। भारत ने अंतरिक्ष अनुसंधान और आणविक ऊर्जा जैसे विज्ञान और प्रौद्योगिकी के महत्वपूर्ण क्षेत्रों में बहुत तेजी से प्रगति की है।

इस प्रकार 20वीं शताब्दी में विश्व में वैज्ञानिक क्रांति के परिणामस्वरूप हुए नवीन आविष्कारों से क्रांतिकारी परिवर्तन हुये जिन्होंने मनुष्य के जीवन के हर दृष्टिकोण को परिवर्तित किया। वैज्ञानिक क्रांति और निरंतर हो रहे आविष्कारों से पुरातन रूढ़ियां टूटने लगी थीं और पुरानी मान्यताओं की जड़ें हिल चुकी थीं। समस्याओं के समाधान के परम्परागत तौर तरीकों के स्थान पर तथ्यों पर आधारित निरीक्षण और वैज्ञानिक परीक्षणों एवं पद्धतियों को 20वीं सदी में प्रोत्साहन मिला और नित नये आविष्कारों से मनुष्य की जीवन शैली बदलाव आया।

20वीं शताब्दी बदलाव का युग था जहां सोवियत संघ के पतन से एक महाशक्ति का अंत हो गया। लंबे समय से चले आ रहे शीतयुद्ध की समाप्ति हुई और इसने अमेरिका के वर्चस्व को विश्व में स्थापित कर दिया।

यह युग नवीन आविष्कारों का युग था। विज्ञान एवं तकनीकी की खोज प्रत्येक क्षेत्र में हुई। जैसे कृषि, विज्ञान प्रोद्योगिकी तकनीकी संचार एवं सूचना की दृष्टि से प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति हुई। इसलिए यह युग विकास का युग कहलाता है। सूचना एवं संचार के क्षेत्र में निरंतर प्रयोगों ने संचार क्रांति को जन्म दिया। रेडियो, सिनेमा, दूरदर्शन, कम्प्यूटर, मोबाइल, इंटरनेट ने विश्व को बहुत करीब ला दिया।

विश्व के साथ भारत ने भी इस क्षेत्र में नवीन अनुसंधान केंद्रों की स्थापना की। विज्ञान और प्रोद्योगिकी के क्षेत्र में भारत निरंतर प्रगति के मार्ग पर अग्रसर है।

5.2.4 संचार और सूचना

प्रकृति के निश्चित सिद्धांतों और परीक्षणें से परीक्षित, क्रमबद्ध और विस्तृत ज्ञान ही विज्ञान है। विज्ञान के साथ एक अन्य शब्द प्रौद्योगिकी भी संयुक्त है। प्रौद्योगिकी वह विधि है जिसके माध्यम से नवीन औजारों, यंत्रों और मशीनों का निर्माण होता है। मानव की उत्पत्ति के साथ ही विज्ञान और प्रौद्योगिकी अनवरत विकासरत है।

आज के प्रगतिशील इलेक्ट्रानिक युग में सूचना एक महत्वपूर्ण संसाधन और शक्ति है। सूचना के निरंतर उपयोग में सूचना–प्रगति, सूचना का प्रक्रियाकरण, संग्रहण, सम्प्रेषण एवं पुनर्प्राप्ति सम्मिलित है। संचार प्रौद्योगिकी भाषा, शब्द संकेत, संगीत एवं भावनाओं के अदान–प्रदान करने के लिए प्रयुक्त किया जाने वाला संचार का अंग हैं। संचार शब्द आंग्ल भाषा के कम्युनिकेशन शब्द से बना है। सूचना विज्ञान के क्षेत्र में सूचना के आदान–प्रदान की प्रक्रिया को संचार कहते हैं।

ए.वी. शणमुगम के अनुसार ज्ञान–विज्ञान, विज्ञान अनुभव, संवेदन, विचार ही संचार प्रक्रिया कहलाती है।

अंग्रेजी का Communication शब्द लैटिन भाषा के communication क्रिया से निकलकर आया है जिसका आशय "To talk together, confer discourse and consult one with another है। यह लैटिन शब्द communication के साथ जुड़ता है जिसका अर्थ समुदाय और मनुष्य का एक दूसरे के साथ व्यवहार, भाईचारा, मैत्री भाव, साझेदारी, सहभागिता और न्यायपरायणता से है।

टिप्पणी

संचार एवं यातायात : आविष्कारों ने यातायात संचार के क्षेत्र में क्रांति ला दी! एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना एवं व्यापार करना आसान हो गया।

जल परिवहन : जल परिवहन के क्षेत्र में नये–नये परिवर्तन हुये। भाप चलित इंजन और भाप टर्बाइन के प्रयोग ने नौकाओं के संचालन को गति प्रदान की जिससे यात्रा एवं व्यापार करना आसान हो गया।

वायु परिवहन : वायु परिवहन में बड़े विमानों के अतिरिक्त यात्रियों के वाहन और सैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए हैलिकाप्टरों का निर्माण हुआ। बाद में इनका प्रयोग हवाई सर्वेक्षण, कीटनाशक का छिड़काव, दूरस्थ क्षेत्रों के साथ संपर्क बनाए रखने तथा प्राकृतिक आपदाओं से ग्रस्त व्यक्तियों को राहत पहुचाने में किया जाने लगा।

ट्राम और मैट्रो व रोपवे ट्राली : विशाल नगरों को परस्पर जोड़ने के लिए मैट्रो ट्रेन एवं यात्रियों को समतल से उच्चतल तक लाने और ले जाने के लिए रोप वे ट्राली का आविष्कार हुआ।

दुपहिया वाहन : आज के समय में दुपहिया वाहन के बहुत से प्रकार बाजार में उपलब्ध हैं जो यातायात को सरल एवं सुगम बनाते हैं।

अंतरिक्ष यात्रा : 4 अक्टूबर 1957 को सोवियत रूस के अंतरिक्ष यान स्पूतनिक ने अंतरिक्ष की कक्षा में प्रवेश किया। 12 अप्रैल 1961 को रूसी अंतरिक्ष यात्री यूरी गागरिन अंतरक्षि में जाकर वापस आने वाला प्रथम व्यक्ति था। 20 जुलाई को अमरीकी अंतरिक्ष यात्री 'नील आर्मस्ट्रांग' ने चंद्रमा के धरातल पर कदम रखा इसके पश्चात यह क्रम अनवरत आज भी चल रहा है।

सूचना माध्यम व संचार व्यवस्था : विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विकास के फलस्वरूप छापाखाना, रोडियो, टेलीविजन आदि साधनों का आविष्कार हुआ। विश्व के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन पर इन संचार माध्यमों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। इनके अंतर्गत नवीन उद्योग एवं व्यापार प्रणाली विकसित हुई।

समाचार पत्र : समाचार पत्र जनसंचार का सबसे पुराना माध्यम है। इन समाचार पत्रों ने राजनीतिक क्षेत्र में एवं राष्ट्रीय आंदोलनों में जन साधारण वर्ग को जागरूक करने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया है।

रेडियो : ध्वनि कार्यक्रम पर आधारित यह माध्यम केवल संचार ही नहीं मनोरंजन का भी महत्वपूर्ण साधन है। भारत में 1927 में प्रथम बार निजी क्षेत्र में दो ट्रांसमीटरों से रोडियो प्रसारण का कार्य आरंभ हुआ। 1930 में इसको सरकार ने अपने नियंत्रण में ले लिया। 1936 में इसे ऑल इंडिया रेडियो कहा जाने लगा। 1957 में इसका नाम बदलकर आकाशवाणी कर दिया गया।

सिनेमा : सिनेमा विशाल समुदाय के मनोरंजन का प्रमुख साधन है। संयुक्त राज्य अमेरिका में डी. डब्लयू. ग्रिफिश द्वारा निर्मित मूक फिल्म बर्थ ऑफ ए नेशन प्रथम पूर्ण फिल्म थी। 1926 में चलचित्रों में ध्वनि डाली गई। भारत में पहली फीचर फिल्म 1912 में बनी। इसके पश्चात टेलीविजन के आविष्कार ने मनोरंजन को घर घर पहुंचा दिया।

दूरदर्शन : दूरदर्शन शब्द दूर और दर्शन इन दो शब्दों के योग से बना है। इसका अर्थ दूर की वस्तु के दर्शन। दूरदर्शन पर कार्यक्रम को देखा और सुना जा

सकता है इसका आविष्कार 1925 में इंग्लैण्ड के जे.एल. बेयर्ड ने किया। 1930 में टेलीविजन पर चित्र श्वेत–श्याम होते थे। फिर रंगीन और अब कैलेंडर की तरह दीवार पर टांगने वाली एल ई. डी, और एल.सी.डी. टेलीविजन उपलबध हैं।

टिप्पणी

भारत में सर्वप्रथम 1959 में दूरदर्शन का प्रसारण किया गया। 1982 में भारत में आयोजित एशियाई खेलों के समय में इसका तीव्र गति से विस्तार हुआ। इस सशक्त माध्यम से मनोरंजन के नए साधन सामने आये।

कंप्यूटर : कंप्यूटर शब्द की उत्पत्ति अंग्रेजी के Computer से मानी जाती है जिसका अर्थ है गणना करना जिसे हिन्दी में अभिकलित्र अथवा संगणक कहा जाता है। सामान्यतः इसे एक ऐसे यंत्र के रूप में जाना जाता है जो अत्यंत तीव्र गति से गणनाएं करने में सक्षम है। 17वीं शताब्दी में फ्रांस के गणितज्ञ 'ब्लेज पास्कल ने यांत्रिक गणना यंत्र बनाया। 1822 में 'चार्ल्स बैबेज' ने डिफरेंस इंजिन मशीन का आविष्कार किया। चार्ल्स बैबेज को कंम्पूटर का जनक कहा जाता है। कम्प्यूटर के विकास ने विश्व में क्रांति ला दी।

कंप्यूटर का उपयोग मौसम विज्ञान, सैन्य प्रणाली, रेलों के संचालन, प्रयोगशाला अनुसंधान, विश्व विद्यालयों, सरकारी कार्यालयों, छोटी प्रयोगशालाओं, रेलवे, बस, वायुयान आदि जगहों पर किया जाता है। कोविड 19 महामारी के समय मनुष्य का जीवन इंटरनेट, मोबाइल और कम्प्यूटर में सिमट गया है। वर्तमान में शिक्षा प्रणाली इंटरनेट के माध्यम से घर के अंदर तक आ गयी है।

5.2.5 समाजवादी ब्लॉक का विघटन

"समाजवाद मजदूर श्रेणी का एक ऐसा राजनीतिक आंदोलन है जिसका उद्देश्य है सामूहिक सदस्यता के द्वारा शोषण को समाप्त करना तथा उत्पादन एवं वितरण के आधारभूत साधनों का लोकतंत्रीय ढंग से संचालन करना।"

Socialism शब्द Socius शब्द से लिया गया है जिसका अर्थ है Society या समाज अतः समाजवाद से भाव है समाज के सुधार की विचारधारा एवं आंदोलन। समाजवाद मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण के विरुद्ध धर्मयुद्ध है। कार्ल मार्क्स इस विचारधारा का क्रांतिकारी प्रचारक था।

समाजवाद का विकास : औद्योगिक क्रांति के परिणाम स्वरूप दो विचारधाराओं का विकास हुआ उनमें से एक समाजवाद या साम्यवाद था। इसकी प्रथम शुरुआत इंग्लैण्ड में हुई जब 'रॉर्बट ओवन' ने मजदूरों की स्थिति में परिवर्तन की बात की। समाजवादी विचारधारा में विलियम थाम्पन, टॉमस हाडस्किन, जॉन ग्रे इंग्लैण्ड के प्रमुख विचारक थे। इन्होंने उत्पादन श्रम के महत्व को दर्शाते हुये मालिक और मजदूरों के बीच लाभ के विभाजन का सुझाव दिया।

फ्रांस में सेंट साइमन तथा फाइरिये ने समाजवादी सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। लुई ब्लाक फ्रांस का सबसे प्रभावशाली विचारक था। कार्ल मार्क्स एक क्रांतिकारी विचारक था जिसने समाजवाद की वैज्ञानिक परिकल्पना को जन्म दिया। सर्वहारा वर्ग मार्क्सवाद की प्रेरणा से अपने में नया संचार महसूस कर रहा था।

रूस में समाजवाद : मार्क्स के विचारों को मानने वाले समाजवादियों ने 1989 में रशियन सोशल डेमोक्रेटिक वर्कर्स पार्टी (रूसी सामाजिक लोकतांत्रिक श्रमिकदल) का

गठन किया। 1900 में सोशलिस्ट रेवलूशनरी पार्टी (समाजवादी क्रांतिकारी पार्टी) का गठन किया। इस पार्टी ने किसानों के अधिकारों के लिए संघर्ष किया।

1903 में रूसी समाजवादी गणतंत्र दल के दो भाग हो गये– (1) बोलशेविक क्रांतिकारी सिद्धांतों और उग्र राजनीति में विश्वास करते थे इसका नेतृत्व लेनिन कर रहा था (2) मेन्शेविक लोकतांत्रिक विचारधारा के समर्थक थे।

टिप्पणी

लगभग उन्नीसवीं शताब्दी तक यूरोप के अधिकांश देशों में समाजवादी गणतंत्र को मान्यता प्रदान हो चुकी थी। इन समाजवादी दलों ने अपने–अपने देशों में राजनीतिक सामाजिक एवं आर्थिक विकास में योगदान दिया।

समाजवादी ब्लॉक के विघटन की प्रक्रिया

समाजवादी सोवियत गणराज्य (यू.एम.एस.आर.) रूस में हुई 1917 की समाजवादी क्रांति के बाद अस्तित्व में आया। यह क्रांति पूंजीवादी व्यवस्था के विरोध में हुई थी। और समाजवाद के आदर्शों और समतामूलक समाज की जरूरत से प्रेरित थी। यह मानव इतिहास में निजी संपत्ति की संस्था को समाप्त करने और समाज को समानता के सिद्धांत पर सचेत रूप से रचने की सबसे बड़ी कोशिश थी। समाजवादी ताकतों ने एक दूसरी दुनिया का प्रतिनिधित्व किया। कालान्तर में यही व्यवस्था उसके विघटन का कारण बनी।

गोर्बाचोव का सत्ता में आना

रूस में साम्यवादी युग की नई शुरुआत हुई जब 11 मार्च 1985 को गोर्बाचोव सत्ता पर आसीन हुए। उन्होंने अर्थव्यवस्था में परिवर्तन के लिए नई आर्थिक नीतियों का अनुसरण किया जिसे पेरेस्त्रोइका और ग्लासनोस्त कहा गया, जिनका अर्थ पुनर्गठन और खुलापन था। गोर्बाचोव पुराने पांरपरिक आर्थिक ढांचे में परिवर्तन के पक्ष में थे।

गोर्बाचोव ने लोगों की आवश्यकताओं की संतुष्टि को प्राथमिकता देने की बात की तथा अधिक संसाधनों के उपयोग की अपेक्षा कार्यकुशलता में वृद्धि कर उत्पादन बढ़ाने पर जोर दिया। वैज्ञानिक आविष्कारों के माध्यम से नवीन तकनीक के प्रयोग पर बल दिया।

(1) **गणराज्यों द्वारा स्वतंत्रता की मांग** : विघटन की प्रक्रिया की शुरुआत उस समय हुई जब पंद्रह गणराज्यों द्वारा स्वतंत्रता की मांग उठने लगी। इन गणराज्यों में इसके लिए संघर्ष की शुरुआत हो गई। 18 अगस्त 1991 को कम्युनिस्ट पार्टी के नेता, के.जी.बी और नौकरशाही के कट्टरपंथी गुटों ने आपस में मिलकर मिखाइल गोर्बाचोव को क्रीमिया में बंदी बना लिया और सोवियत संघ पर अपने कब्जे की घोषणा कर दी। विश्व के समस्त राष्ट्रों ने इस परिवर्तन का विरोध किया। सोवियत संघ के सबसे बड़े गणराज्य रूस के राष्ट्रपति बोरिस येल्तसिन ने इस तख्ता पलट का विरोध किया एवं इसके विरुद्ध संघर्ष की शुरुआत की और उसके प्रयासों से गोर्बाचोव ने पुनः सत्ता प्राप्त की।

(2) **गोर्बाचोव का त्यागपत्र** : 25 दिसम्बर 1991 को राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाचोव ने राष्ट्रपति पद से त्यागपत्र दे दिया। इस घटना से विघटनकारी शक्तियां और अधिक प्रभावी हो गईं।

(3) **गणराज्यों द्वारा स्वतंत्रता की घोषणा** : सत्ता परिवर्तन के पश्चात उक्रेन ने स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। 29 अगस्त 1991 को सुप्रीम सोवियत ने

टिप्पणी

कम्युनिस्ट पार्टी पर प्रतिबंध लगा दिया। 31 अगस्त को कजाकिस्तान, 1 सितम्बर उजबेकिस्तान, और किर्गिस्तान 7 सितम्बर को एवं सोवियत संघ के तीन बाल्टिक गणराज्यों लिथुआनिया एस्टोनिया, और लातविया ने स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। संघ को समाप्त करने पर सहमति हो गई इस प्रकार सोवियत संघ का विघटन हुआ और नवीन 15 गणराज्यों का स्वतंत्र अस्तित्व स्थापित हुआ।

(4) स्वतंत्र गणराज्य : (i) रूसी संघ (ii) कजाकिस्तान (iii) एस्तोनिया (iv) लातविया (v) लिथुआनिया (i) बेलारूस (vii) यूक्रेन (viii) मोलदोवा (ix) आर्मीनिया (x) जार्जिया (xi) अजर बैजान (xii) तुर्कमेनिस्तान (xiii) उज्बेकिस्तान (xiv) ताजिकिस्तान (xv) किरगिस्तान

इस प्रकार "सोवियत संघ न तो साम्यवादी ताज को बचा सका, न स्वयं के अस्तित्व को"।

सोवियत संघ के पतन के कारण : सोवियत संघ यूरोप के बड़े भू–भाग पर स्थित था जिसने 1922 से 1991 तक अपना अस्तित्व बनाए रखा। 'सोवियत' का रूसी भाषा में अर्थ होता है 'परिषद असेम्बली सलाह'। बोल्शेविक क्रांति के पश्चात जार निकोलस II को सत्ता से हटाकर रूसी साम्राज्य को समाप्त कर 1917 में सोवियत संघ बना। 1922 में ब्लादिमिर लेनिन के नेतृत्व में दूरवर्ती राज्यों को रूस में शामिल कर दिया गया और संयुक्त सोवियत समाजवादी गणतंत्र के संघ की स्थापना हुई।

इसके पतन के निम्नलिखित कारण हैं–

(1) साम्यवादी तानाशाही : एक ही शक्तिशाली दल का शासन था और उसने अपनी शक्तियों का अनुचित प्रयोग किया। लोगों को किसी भी प्रकार की राजनीतिक, वैचारिक स्वतंत्रता प्राप्त नहीं थी। नागरिक शासन के कार्यों के प्रति स्वतंत्रता के साथ अपने विचार व्यक्त नहीं कर सकते थे। लोगों को कम्यूनिस्ट पार्टी की बनाई नीतियों के अनुसार कार्य करना होता था।

(2) अर्थ व्यवस्था में गिरावट : सोवियत संघ की प्रतिस्पर्धा पश्चिमी देशों से थी जिसकी वजह से उसने अपना पूरा ध्यान सैन्य वृद्धि में लगाया। वह अपने देश के नागरिक उत्थान के लिए आर्थिक सुधारों में असफल रहा।

(3) अन्य देशों के साथ प्रतिस्पर्धा : उसने शस्त्रों एवं अंतरिक्ष अनुसंधानों में इतना अधिक धन व्यय किया कि वह कुछ समय पश्चात स्वयं ही कमजोर पड़ गया। इसके अलावा जो सोवियत संघ सबसे अधिक शक्तिशाली था वह सूचना एवं तकनीकी क्षेत्र में पिछड़ गया।

(4) प्रशासनिक और राजनीतिक गतिरूढ़ता : सोवियत संघ प्रशासनिक और राजनीतिक रूप से गतिरुढ़ हो चुका था। कम्युनिस्ट पार्टी ने यहां 70 सालों तक शासन किया और यह पार्टी अब जनता के प्रति उत्तरदायी नहीं रह गयी थी। सुस्त प्रशासन, भारी भ्रष्टाचार और देश की विशालता के बावजूद सत्ता का केंद्रीकृत होना उसके पतन का कारण बना।

(5) मिखाइल गोर्बाचोव के सुधार : मिखाइल गोर्बाचोव ने सुधारों के द्वारा समस्याओं के समाधान का वायदा किया। गोर्बाचोव ने अर्थव्यवस्था को सुधारने, पश्चिम की बराबरी पर लाने और प्रशासनिक ढांचे में ढील देने का वायदा किया।

(6) राष्ट्रवादी भावनाओं और संप्रभुता की इच्छा का विस्तार : सोवियत संघ के अधीनस्थ गणराज्य एवं बाल्टिक राज्यों में राष्ट्रीयता की भावना का उदय हुआ। वे अपनी स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करने लगे।

टिप्पणी

(7) पेरेस्त्रोइका एवं ग्लास्नोस्त के सिद्धांत : गोर्बाचोव जब महामंत्री बने उन्होंने ग्लास्नोस्त (खुलापन) और पेरिस्त्रोइका (पुनर्निर्माण) के सिद्धांत लागू किये। खुलेपन एवं पुनर्निर्माण की रफ्तार इतनी तेज थी कि देश में रातोंरात खाद्य सामग्रियों का मूल्य 200 प्रतिशत बढ़ गया। अन्य वस्तुओं के दाम 75% तक बढ़ गए। गणतंत्रों ने अपने आपको स्वतंत्र घोषित कर दिया, उत्पादन ठप्प होने से अराजकता फैल गई।

(8) द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात की परिस्थितियां : द्वितीय विश्व युद्ध ने नई आर्थिक समस्याओं को जन्म दिया। पूर्वी यूरोप के साम्यवाद समर्थक देशों की सहायता करना सोवियत संघ का कर्तव्य था। पूंजीवाद पर समाजवाद की श्रेष्ठता को स्थापित करना उसका लक्ष्य था। इस होड़ ने सोवियत संघ को कमजोर कर दिया।

(9) अक्टूबर क्रांति के पश्चात की परिस्थितियां : अक्टूबर क्रांति के बाद सोवियत समाज में ऐसी पीढ़ियां पैदा हुई जिन्होंने जारशाही रूस के निर्मम सामंती पूंजीवादी शोषण तथा क्रूर उत्पीड़न का सामना किया था। उनकी शिकायतें समाजवादी व्यवस्था से थीं। वे समाजवाद की कमियों को व्यवस्था जन्य दोष मानकर उनसे छुटकारा पाने के लिए व्यवस्था परिवर्तन की प्रार्थना करते थे।

(10) नेतृत्व की कमी : सोवियत संघ के शक्तिशाली नेता लियोनिद ब्रेझनेव के निधन के पश्चात जो नेतृत्व शून्यता आ गई उसे गोर्बाचोव का कमजोर नेतृत्व पूरा नहीं कर सका अैर सोवियत संघ में विघटनकारी शक्तियां पैदा हो गई।

सोवियत यूनियन का पतन मार्क्सवाद का अनुकरण करने के कारण नहीं, अपितु दुनिया के इतिहास में एक नूतन समाज के निर्माण में की गई गलितयों एवं भटकाव के कारण हुआ। नये समाज के निर्माण के लिए नागरिकों की सक्रिय भागीदारी व सहयोग आवश्यक था। इस समाजवादी राज्य व्यवस्था को मेहनतकश जनता के सच्चे प्रजातंत्र में ही प्राप्त किया जा सकता था। सोवियन यूनियन ने इस प्रजातंत्र की स्थापना का प्रयास नहीं किया। जनता राज्य तथा व्यवस्था के प्रति उदासीन हो गई। उसकी उदासीनता एवं आक्रोश इस सीमा तक पहुंच गया कि जब व्यवस्था का अंत किया गया तो उसके सहयोग के लिए किसी ने हाथ नहीं बढ़ाया।

विघटन के प्रभाव

(1) सोवियत संघ के विघटन ने महाशक्ति के रूप में सोवियत संघ का अंत कर दिया।

(2) महाशक्ति के रूप में अमेरिका का वर्चस्व स्थापित हो गया।

(3) शीत युद्ध की समाप्ति।

(4) साम्यवाद की समाप्ति और लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था की स्थापना हुई।

(5) तृतीय विश्व के राष्ट्रों से आर्थिक, सैनिक, तकनीकी सहायता मिलनी बंद हो गई।

टिप्पणी

(6) तृतीय विश्व को नवउपनिवेशवाद के खतरे का सामना करना पड़ा।

(7) वारसा पैक्ट को समाप्त कर दिया गया।

(8) सोवियत संघ से अलग हुये 11 गणराज्यों ने स्वतंत्र राष्ट्रों के राष्ट्र कुल का गठन किया।

(9) केवल चीन, उत्तर कोरिया और क्यूबा ही साम्यवादी देश रह गये।

आज सोवियत संघ का विघटन हो गया है। परंतु मार्क्स की विचारधारा को अवसान के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए क्योंकि यह एक आदर्श है और आदर्श को कितना लागू किया जा सकता है, यह अपनाने वालों पर निर्भर करेगा। तो इस विचारधारा को पृष्ठभूमि में समझा जा रहा है। परंतु कराहती हुई मानवता को आज भी उसकी उतनी ही जरूरत है, जितनी कभी सभ्यता के उदय काल में रही थी।

अपनी प्रगति जांचिए

1. सोवियत संघ का विघटन किस सन् में हुआ?

   (क) 1990 (ख) 1991

   (ग) 1999 (घ) 2000

2. सोवियत संघ के विघटन से कितने नये स्वतंत्र राष्ट्रों का जन्म हुआ?

   (क) 14 (ख) 20

   (ग) 15 (घ) 18

3. कम्प्यूटर का जनक कौन था?

   (क) पास्कल (ख) बेयर्ड

   (ग) चार्ल्स बैवेज (घ) स्टालिन

4. भारत में दूरदर्शन का प्रसारण शुरू हुआ।

   (क) 1959 (ख) 1960

   (ग) 1982 (घ) 1980

5. पहले भारतीय उपग्रह का क्या नाम था।

   (क) वाराहमिहिर (ख) नागार्जुन

   (ग) आर्यभट्ट (घ) रोहिणी

5.3 सांस्कृतिक क्रांति, नागरिक अधिकार आंदोलन, रंगभेद और नारीवाद

20वीं शताब्दी मानव इतिहास के लिए परिवर्तन का युग था। इसने जहां एक ओर युग की विभीषिका को समाप्त किया वहीं शीतयुद्ध की शुरुआत की और इसी प्रक्रिया ने सोवियत संघ का पतन कर दिया।

सांस्कृतिक क्रांति ने चीन की कई सदियों के पश्चात वापसी की और चीन विश्व के अग्रणी राष्ट्रों में शामिल हुआ। इन्हीं का अनुसरण कर विश्व के अनेक राष्ट्रों में नागरिक अधिकार आंदोलनों की शुरुआत हुई।

टिप्पणी

उपनिवेशवादी अर्थव्यवस्था ने विश्व को गुलाम बनाया और रंगभेद नीति को जन्म दिया। नेल्सन मंडेला के नेतृत्व में दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद आंदोलन चलाया गया और उन्हें सफलता प्राप्त हुई।

नारीवादी आंदोलन की शुरुआत अमेरिका से हुई। क्रमशः यह संपूर्ण विश्व में फैल गया। इस आंदोलन ने नारी को पुरुष प्रधान समाज में सम्मान दिलाने की कोशिश की।

5.3.1 सांस्कृतिक क्रांति

सांस्कृतिक क्रांति एक ऐतिहासिक आंदोलन था जिसका उद्देश्य आधुनिकीकरण करना था। चीन ने अपने राजनीतिक, सांस्कृतिक और सामाजिक क्षेत्रों में पुरानी विचारधारा को बदलने के लिए सरल नियम लागू किये।

यह आंदोलन माओ–त्से–तुंग द्वारा चलाया गया जो 1966 से 1976 तक चला। माओ उस समय चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के अध्यक्ष थे। 16 मई 1966 को शुरू हुई यह क्रांति 10 वर्ष तक चली और इसने चीन के सामाजिक ढांचे में बड़े परिवर्तन किये। पूराने रिवाज, तौर तरीके, संस्कृति और पुरानी सोच ये चारों स्तम्भ ध्वस्त कर दिये। इसने वह सब कुछ बर्बाद कर दिया जो साम्यवाद के विरोध में था। कई आलोचक इसे माओं की महत्वकांक्षा की उपज मानते है।

सांस्कृतिक क्रांति की पृष्ठभूमि

1. 'माओ–त्से तुंग' कम्युनिस्ट पार्टी का प्रमुख था वह चीन में बदलाव लाना चाहता था
2. माओ द्वारा प्रत्येक क्षेत्र में पुननिर्माण किया गया।
3. उसने चीन में पांचवर्षीय योजना, विशेष कम्यूनों की स्थापना, वास्तविक समाजवाद की तीव्र प्रगति की नीति, सामूहिक श्रम की नीति, कृषि नीति, औद्योगीकरण की नीति को अपनाया।
4. 'माओ' की उत्पादन संबंधी 'महान छलांग' (Great Leap Forward) एक विवादास्पद नीति थी।
5. लौह उत्पादन में वृद्धि का प्रयास किया गया पर उसकी गुणवत्ता में गिरावट आने लगी।
6. माओ द्वारा त्यागपत्र देने के पश्चात सत्ता लियुशाओ की के हाथों में आई।
7. 1960 से 1962 के बीच चीन में 2 करोड़ लोग मारे गये इसे त्रिवर्षी प्राकृतिक आपदा कहा गया।
8. लियु शाओ की ने सत्ता में अनेक सुधार किये जिससे चीन की अर्थव्यवस्था में सुधार हुये।

टिप्पणी

इस प्रकार चीन की बदलती हुई परिस्थितियों ने चीन को क्रांति के मोड़ पर लाकर खड़ा कर दिया। एक तरफ लियु शाओ की सुधारवादी नीतियां थी तो वहीं दूसरी तरफ माओ ने अपने महत्व को बनाये रखने के लिए सामाजिक शिक्षा आंदोलन चलाया। यह आंदोलन काफी लोकप्रिय हुआ। इसे 'रेडगार्ड' या सांस्कृतिक क्रांति का नाम दिया गया।

क्रांति का प्रारंभ– प्रमुख घटनाएं

1966 में 'माओ तथा लियु–शाओ की के बीच विरोधाभास स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगे। 6 अगस्त 1966 को माओ के आह्वान पर संपूर्ण चीन से करोड़ों रेड गार्ड बीजिंग के थिएन–मेन चौक पर अपने नेता की अगुवाई में एकत्रित हुये और विरोध प्रदर्शन किया।

यह क्रांति स्पष्ट रूप से चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के बीच आये हुये गतिरोधों का परिणाम थी एवं माओ–त्से तुंग की अदम्य महत्वाकांक्षाओं का परिणाम थी।

क्रांति के उद्देश्य

(1) चीन में बुर्जुआ विचारों को खत्म कर नवीन युग का सूत्रपात किया जाये।

(2) क्रांति के महान उत्साह को चीनी समाज में स्थापित करने का प्रयास किया जाये।

घटनाएं

(1) धर्म से संबंधित प्रत्येक वस्तु को नष्ट कर दिया गया।

(2) रेड गार्ड द्वारा मंदिरों, मस्जिदों, चर्चों, विहारों एवं धर्मस्थलों को नष्ट किया गया।

(3) माओ के विरोधियों को यातना देकर मारा गया।

(4) सितंबर–अक्टूबर 1966 के बीच बीजिंग में 2000 लोगों की हत्या की गई।

(5) कॉलेजों को बंद कर दिया गया जिससे छात्र क्रांति में शामिल हो सकें।

(6) चीन की प्रशासनिक व्यवस्था चरमरा गई।

(7) लियु–शाओ सहित सभी विरोधियों का अंत किया गया।

(8) क्रांति के दौरान लगभग 5 लाख लोगों की हत्या की गई।

इस प्रकार यह क्रांति 10 साल तक प्रभावित रही। माओ–त्से तुंग की मृत्यु के पश्चात उसकी पत्नी ने जियांग किंग की क्रांति का नेतृत्व संभाला परंतु अधिक समय तक वह इसका नेतृत्व नहीं कर पाई और 1976 में सरकार ने जियांग किंग एवं उनके साथियों को गिरफ्तार कर लिया। इस तरह महान 'सांस्कृतिक क्रांति का अंत हुआ।

क्रांति का प्रभाव एवं महत्व

चीन की सांस्कृतिक क्रांति के प्रभावों की अगर स्पष्ट तौर पर बात करें तो इसके सकारात्मक और नकारात्मक दोनों प्रभाव पड़े।

सकारात्मक पक्ष

(1) शिक्षा व्यवस्था में सुधार।

(2) पुरातन व्यवस्था को नवीन वैज्ञानिक आधार मिला।

टिप्पणी

(3) श्रम को महत्व मिला।

(4) बौद्धिक विलासिता का अंत किया।

(5) रेडगार्डस के रूप में ग्रामीण एवं दूरस्थ क्षेत्रों में रहने वाले जनमानस का महत्व बढ़ा।

नकारात्मक पक्ष

(1) मानव अधिकारों की अवहेलना।

(2) हजारों लोगों की हत्या की गई और उन्हें विस्थापित किया गया।

(3) सरकारी दमन चक्र के परिणामस्वरूप विद्रोहियों में हताशा फैल गई।

सांस्कृतिक क्रांति विश्व की उन महान क्रांतियों में से एक थी जिन्होंने मानव सभ्यता और संस्कृति को गहराई तक प्रभावित किया। इसके परिणामस्वरूप चीन में 'माओवाद' की स्थापना हुई और कालान्तर में यह एक विश्वव्यापी दर्शन बना जिसके प्रभाव से भारत भी अछूता न रह सका।

इस प्रकार क्रांति के फलस्वरूप चीनी समाज की सोच का दायरा बढ़ा। जनता अब कम्युनिस्ट पार्टी के गुण–दोषों के बारे में खुलकर विचार विमर्श कर सकती थी। माओ के विचारों के प्रति पूर्वाग्रह होने के बावजूद भी उसका प्रभाव चीन को प्रभावित करता रहा।

5.3.2 नागरिक अधिकार आंदोलन

1950 और 1970 के बीच रंगभेद नस्लीय एवं कानूनी असमानता के बीच एक आंदोलन चलाया गया जिसे नागरिक अधिकार आंदोलन कहा जाता है। इसे द्वितीय–पुनर्निर्माण के नाम से भी जाना जाता है। यह संघर्ष केवल कानून के समक्ष नागरिक अधिकारों के लिए संघर्ष नहीं था बल्कि स्वतंत्रता सम्मान की गरिमा आर्थिक और सामाजिक समानता जैसे बुनियादी मुद्दों का संघर्ष था।

1955–1968 के बीच इस आंदोलन के अहिंसात्मक विरोध और नागरिक अवज्ञा के अधिनियम ने कार्यकताओं और सरकारी अधिकारियों के बीच संकट उत्पन्न कर दिया। 1863 में तत्कालीन राष्ट्रपति लिंकन ने एक उद्घोषणा से आधिकारिक तौर पर दासता को समाप्त कर दिया था। तब से अफ्रीकन अमेरिका के नागरिक बन गए। यह संघर्ष वास्तव में श्वेत और अश्वेत के बीच अपने अधिकारों की मांग को लेकर किया गया आंदोलन था।

आंदोलन की पृष्ठभूमि

नस्लीय भेदभाव टैक्सास लुसियाना, मिसीसिपी अलाबामा जॉर्जिया, फलोरिडा, साउथ कैरोलिना, नॉर्थ कैरोलिना वर्जीनिया अराकासस, टैनिसी, ओकलाहोमा, और कंसास ये ऐसे राज्य थे जिनमें सरकारी एवं गैर सरकारी स्तर पर अफ्रो–अमेरिकी लोगों के साथ प्रत्येक क्षेत्र में भेदभाव किया जाता था।

टिप्पणी

आंदोलनकारियों की मांग

(1) मताधिकार

(2) आर्थिक अवसरों की समानता

(3) राजनीतिक प्रतिनिधित्व

(4) रोजगार के अवसर

(5) रंगभेद नीति की समाप्ति।

इन सब मांगों के साथ 1955 में 'नागरिक अवज्ञा' आंदोलन की शुरुआत हुई। इस आंदोलन को मार्टिन लूथर जूनियर जिसे अमेरिका का गांधी भी कहा जाता है, का प्रभावशाली नेतृत्व मिला। इसके अलावा भी अन्य प्रभावी राजनीतिक बुद्धिजीवियों जैसे 'फिलिफ रेण्डोफल्फ रॉया, विलामिनन व्हिटनी यंग, जेमन फार्मर और जॉन लेविस का नेतृत्व मिला।

आंदोलनकारियों ने अपनी मांगों के लिए बहिष्कार, पैदल मार्च, बैठकों का आयोजन आदि को अपनाया जिसमें कुछ प्रसिद्ध आयोजन थे– मोंटगोमरी बस बहिष्कार। 1955–1956 ग्रीप्स बरों बैठक 1960 और सेलमा से मांटगोमरी मार्च 1965। जिस प्रकार भारत के संदर्भ में 1930 का दांडी मार्च प्रसिद्ध है उसी प्रकार 'रोजगार एवं स्वतंत्रता' के लिए वाशिंगटन मार्च अत्यधिक प्रसिद्ध है। इस प्रकार ये आंदोलन और अधिक तीव्र होते गये और सरकार को आंदोलनकारियों की मांगों को स्वीकार करना पड़ा और यह आंदोलन समाप्ति की ओर अग्रसर हुआ।

इस आंदोलन के संदर्भ में किसी भी दृष्टिकोण पर नहीं पहुंचा जा सकता है। यह किसी न किसी रूप से आज भी जारी है। गोरे एवं काले के भेद को कभी भी समाप्त नहीं किया जा सकता है क्योंकि यह मतभेद ऊपरी नहीं आंतरिक होता है। फिर कुछ हद तक इस आंदोलन को बाहरी तौर पर सफलता प्राप्त हुई। 1964 का नागरिक अधिकार अधिनियम जिसके द्वारा रोजगार, जन–आवास आदि के क्षेत्र में भेदभाव को अवैध कर दिया गया था

1965 का निर्वाचन अधिकार अधिनियम जिसके द्वारा मताधिकार को सुरक्षित किया गया। 1968 का नागरिक अधिकार अधिनियम जिसने आवास के बेचने या किराये में देर होने से होने वाले भेदभाव का अंत कर दिया।

इन नागरिक अधिकार आंदोलनों ने विश्व के अन्य राष्ट्रों को समानता, स्वतंत्रता की भावना के लिए प्रेरित किया और रंगभेद नीति को समाप्त करने के प्रयास को विश्वस्तर तक पहुंचाया और इसका उदाहरण 2009 में अमेरिका के प्रथम अश्वेत राष्ट्रपति बराक ओबामा' के रूप में प्रत्यक्ष प्रमाण है।

अन्य देशों में नागरिक अधिकार आंदोलन

(1) अफ्रीका महाद्वीप में अंगोला, का स्वतंत्रता संग्राम गिनी –बिसाउ रिवोल्यूशन मोजम्बिक स्वातंत्रय युद्ध और दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद के खिलाफ संघर्ष की शुरुआत हुई। 'अफ्रीका एकता संगठन' की स्थापना हुई।

(2) मैक्सिको में आंदोलन की शुरुआत 2 अक्टूबर 1968 को हुई।

(3) कनाडा में अक्टूबर 1968 में नागरिक अधिकार आंदोलन की शुरुआत हुई।

(4) आयरलैण्ड में नागरिक अधिकार आंदोलन शुरु हुआ।

(5) जर्मनी में 1960 के अंत में नागरिक अधिकार आंदोलन की शुरुआत हुई। यह आंदोलन उन छात्रों के द्वारा किया गया जिनका नाजीवाद के पश्चात जर्मन सरकार से मोह भंग हो गया था। परंतु यह आंदोलन सफल नहीं हुआ।

(6) फ्रांस में 1968 में आंदोलन की शुरुआत हुई। इस आंदोलन में स्कूल एवं महाविद्यालय के छात्रों ने भागीदारी की और अपने अधिकारों के लिए सरकार के विरुद्ध संघर्ष किया परन्तु इस आंदोलन को कठोरता के साथ दबा दिया गया।

(7) यूरोप में 'चैक गणराज्य का प्राग–स्प्रिंग' नागरिक आंदोलन भी उल्लेखनीय है।

टिप्पणी

इस प्रकार चीन की सांस्कृतिक क्रांति से आरंभ होकर नागरिक अधिकार आंदोलन अमेरिका होते हुए पूरे विश्व में फैल गये। कुछ राष्ट्रों में इन आंदोलनों को सफलता प्राप्त नहीं हुई और कुछ राष्ट्रों ने 'नये' नागरिक अधिकारों– समानता, स्वतंत्रता और मताधिकार की शुरुआत की।

5.3.3 रंगभेद और नारीवाद

दक्षिण अफ्रीका में नेशनल पार्टी की सरकार द्वारा सन् 1948 में कानून बनाकर काले और गोरों के बीच मतभेद प्रणाली लागू की गई जिसे रंगभेद नीति या अपार्थेड कहते हैं।

Apartheid शब्द अंग्रेजी भाषा के 'Apart' एवं Hood शब्दों से मिलकर बना है इसका अर्थ है रंगभेद या अलगाव या पृथकता। यह प्रणाली दक्षिण अफ्रीका में सन् 1948 से लेकर 1994 तक अस्तित्व में रही। संयुक्त राष्ट्रसंघ ने रंगभेद नीति को परिभाषित करते हुए कहा कि व्यक्ति एक नस्लीय समूह पर अपना अधिकार स्थापित करने, कायम रखने और प्रगतिशील तरीकों से उस पर दबाव डालने के लिए विभिन्न अमानवीय कार्य करता है। ये अमानवीय कार्य विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं। इनमें से कुछ प्रमुख हैं– जीवन का अधिकार न मानना, हत्या, नस्लीय समूहों को दंड या उत्पीडन द्वारा मानसिक हानि या अवांछित व्यवहार या दंड, गैर–कानूनी कैद आदि।

1948 के पहले रंगभेद कानून : 19वीं शताब्दी में ब्रिटिश शासन अधिनियम लागू किया (Pass law's) गया जिसके अनुसार अश्वेतों का सार्वजनिक क्षेत्र में अवागमन बंद किया गया। 1905 में General Pass Regulation द्वारा अश्वेतों के मतदान करने के अधिकार पर रोक लगाई गई। 1910 में अश्वेतों को संसद में बैठने से वंचित कर दिया गया।

1948 के पश्चात रंगभेद कानून

नेशनल पार्टी 1948 में सत्ता में आई और सत्ता में आते ही रंगभेद नीति अपनाई। 'वर्नर ऐसेलीन' नामक व्यक्ति ने इस नीति को तैयार किया एवं इसमें सहयोग हैन्ड्रिक फ्रैंच ने किया। रंगभेद नीति के क्रियान्वयन में सर्वप्रथम डेनियल फ्रेंकोईस मालन ने योगदान दिया जो प्रधानमंत्री भी था। 1950 में समूह क्षेत्र अधिनियम कानून पारित हुआ जो आगे चलकर रंगभेद प्रणाली की आधारशिला बना। इस कानून के द्वारा अफ्रीका के निवासियों को भौगोलिक तौर पर विभाजित कर दिया गया।

(1) मिश्रित–विवाह अधिनियम (1949) : श्वेत–अश्वेतों के बीच विवाह को प्रतिबंधित किया।

टिप्पणी

(2) **अनैतिक अधिनियम (1950)** : दो नस्लों के बीच शारीरिक संबंधों को अपराध बताता है।

(3) **जनसंख्या पंजीकरण अधिनियम (1950)** : जिसके द्वारा नस्लीय आधार पर पहचान पत्र जारी किये गए थे।

(4) **साम्यवाद उन्मूलन अधिनियम 1950** : दक्षिण अफ्रीका में कम्युनिस्ट पार्टी को प्रतिबंधित किया गया था।

(5) **'बंटू शिक्षा अधिनियम** : इसके अंतर्गत अलग–अलग नस्ल के अफ्रीकी छात्रों के लिए अलग–अलग शिक्षा संस्थानों की स्थापना की गई थी।

(6) **पृथक–शिष्टाचार अधिनियम** : जिसके अंतर्गत अलग–अलग वर्णों के लिए अलग क्षेत्र निर्धारित कर दिये गये। खेल के मैदानों, बसों, अस्पतालों स्कूलों विश्वविद्यालयों यहां तक कि पार्क, सार्वजनिक स्थानों पर only for whites अथवा only for Black's के नोटिस बोर्ड लगा दिये गये। अश्वेतों के लिए पहचान पत्र आवश्यक कर दिये गए और उन्हें मताधिकार से वंचित कर दिया गया।

(7) **स्वशासी क्षेत्र अधिनियम** : अश्वेतों के लिए 10 स्वशासी क्षेत्रों की स्थापना की गई इन्हें मातृभूमि (Homelands) कहा गया।

(8) **अश्वेत मातृभूमि अधिनियम** : इसके अंतर्गत अश्वेतों को Homelands तक सीमित कर दिया गया एवं भिन्न प्रजातियों के पति–पत्नियों को आपस में तथा बच्चों को मां–बाप से अलग कर दिया गया।

रंगभेद नीति एवं महिलाएं

रंगभेद नीति का महिलाओं के ऊपर दोहरा प्रभाव पड़ा– लैंगिग भेदभाव एवं नस्लीय भेदभाव। इस प्रकार उनको समस्त प्रकार के अधिकारों जैसे– शिक्षा, रोजगार, संपत्ति आदि से वंचित कर दिया गया।

रंगभेद नीति के सकारात्मक प्रभाव

(1) नेशनल पार्टी के सामाजिक संरक्षणवाद के अंतर्गत अश्लीलता, जुआ गर्भपात और यौन शिक्षा पर प्रतिबंध लगा दिया गया।

(2) होमलैण्ड्स के लिए धार्मिक, सांस्कृतिक समूहों की आत्मनिर्भरता एवं स्वायत्तता के प्रयास किये गए।

(3) मातृभाषा में शिक्षा को प्रोत्साहन।

रंगभेद नीति के विरोध में आंदोलन

रंगभेद नीति अपने चर्मोत्कर्ष पर पहुंची तो उसके विरुद्ध विरोध के स्वर उठने लगे। 1949 में अफ्रीकन राष्ट्रीय कांग्रेस ने रंगभेद नीति का विरोध प्रारंभ किया। डॉ. नेल्सन मंडेला का नेतृत्व इस आंदोलन को मिला। उनका मानना था कि जन आंदोलन एवं हड़ताल, बहिष्कार एवं नागरिक अवज्ञा आंदोलनों से ही रंगभेद नीति की समाप्ति का प्रयास किया जा सकता है।

1959 में इस क्षेत्र में अन्य प्रयास के लिए 'पैन अफ्रीकन कांग्रेस' की स्थापना की गई। 21 मार्च 1960 को उग्र प्रदर्शन किये गये। इस संगठन के द्वारा प्रदर्शन में 70

लोगों की मौत हो गई। नेशनल पार्टी ने आंदोलन को दबाने के लिए आपातकाल की घोषणा कर दी और 18 हजार लोगों को गिरफ्तार किया गया। गिरफ्तारी के डर से अनेक नेता भूमिगत हो गये और आंदोलन की गतिविधियों को और तेज कर दिया।

टिप्पणी

1961 में दक्षिण अफ्रीका को गणराज्य बनाने के अवसर पर आंदोलनकारियों की आम सहमति से सरकार को चेतावनी दी गई कि गणराज्य के सामारोह के शुभारंम पर अगर उनकी अनदेखी की गई तो वे तीव्र आंदोलन करेंगे। परंतु सरकार ने इस बार ध्यान नहीं दिया और आंदोलन की गतिविधियों को आंदोलनकारियों ने और तेज कर दिया। इसके लिए सैन्य शाखा का गठन किया गया। 16 दिसंम्बर 1961 में खूनी नदी की लड़ाई की वर्षगांठ पर सशस्त्र संघर्ष की शुरुआत की चेतावनी दी।

छात्रों, मजदूरों और महिलाओं की आंदोलन में भूमिका

छात्रों के द्वारा अश्वेत चेतना आंदोलन चलाया गया इसके अतिरिक्त रंगभेद के खिलाफ कामगारों और महिलाओं ने भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। 1973–74 में मजदूरों ने रंगभेद के विरोध में अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त की। इस वर्ग का नेतृत्व किया– लेन, सुजमेन, कोलिन, एगलिन और हेरी श्वार्ज ने। ये श्वेत वर्ग के लोग थे जो रंगभेद के विरोधी थे।

इस प्रकार नेल्सन मंडेला के नेतृत्व में शीघ्र ही अफ्रीका का प्रश्न अंतर्राष्ट्रीय प्रश्न बन गया। इसका समर्थन संयुक्त राष्ट्र संघ के द्वारा भी किया गया। इन्हीं सभी प्रयत्नों से 'बोथा' सरकार का रवैया कुछ नर्म हुआ और उन्होंने जेल में कैद मंडेला से संपर्क किया और रंगभेद नीति के लिए कुछ सुधार कार्यक्रम आयोजित किये–

1. नेल्सन मंडेला जेल में रहकर प्रेस और मीडिया को साक्षात्कार दे सकते थे।
2. होमलैण्ड को राष्ट्रीय राज्य का दर्जा दिया गया।
3. अश्वेतों से संबंधित कानूनों को रद्द कर दिया गया।
4. रंगभेद नीति के समर्थक समस्त संगठनों को 30 वर्षीय प्रतिबंध से मुक्त कर दिया गया।
5. 11 फरवरी 1990 को मंडेला को कैद से मुक्त कर दिया गया।
6. संयुक्त राष्ट्र संघ के निर्देश पर दक्षिणी अफ्रीका द्वारा अधिकृत क्षेत्र 'नामिबिया' को स्वतंत्र कर दिया गया।

नेल्सन मंडेला को जेल से मुक्त करने के पश्चात 1992 में दक्षिण अफ्रीका के दो तिहाई श्वेत मतदाताओं ने वार्ता के माध्यम से अल्पसंख्यक शमन एवं रंगभेद नीति को समाप्त करने की स्वीकृति प्रदान की। एक व्यक्ति एक वोट के आधार पर लोकतांत्रिक चुनाव कराने की घोषणा की गई। 1994 ई. में प्रथम लोकतांत्रिक चुनाव हुआ और दक्षिण अफ्रीका में नेल्सन मंडेला को प्रथम अश्वेत राष्ट्रपति चुना गया। नेल्सन मंडेला को रंगभेद की लड़ाई के लिए 1993 में शांति का नोबल पुरस्कार दिया गया।

अंततः नेल्सन मंडेला ने विश्व के लिए रंगभेद की समाप्ति का श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत किया।

नारीवाद

टिप्पणी

"राजनीति के गम्भीर अध्ययन में महिलाएं पूरी तरह अद्धश्य थीं। इन सबके बावजूद, समाज में समय समय पर ऐसी महिलाओं का जन्म होता रहा है जिनकी दृढ़ इच्छाशक्ति के बाद इतिहास बदलता रहा है।"

नारीवाद या नारी अधिकार वाद को एक स्वतंत्र राजनीतिक सिद्धांत के रूप में मान्यता देना कठिन रहा है। यह एक विचारात्मक आंदोलन है जो लैंगिक असमानता नारी अधिकार और नारी हितों से संबद्ध है। मैगी हॅम्म और रिबेका वालकर ने नारीवादी इतिहास को तीन खंडों में विभाजित किया है। पहला कालखंड 19वीं सदी से 20वीं के प्रारंभ तक। दूसरा कालखंड 1960 से 1970 तक तथा तीसरा कालखंड 1990 से वर्तमान तक। नारीवाद इतिहास का उदय इन तीनों कालखंडों के मध्य हुआ है।

नारी को अपने अधिकारों के लिए सामूहिक रूप से आंदोलन की प्रेरणा फ्रांसीसी क्रांति से प्राप्त हुई। इसके पश्चात समय–समय पर नारीवादी लेखकों जैसे एमिली प्रर्ब्रुश्ट, क्रिस्टबेल, मैरी वोल्सटोन, जे.एस. मिल आदि ने महिला मताधिकार की मांग के साथ–साथ महिलाओं के साधारण नागरिक और राजनीतिक अधिकारों की मांग की। संयुक्त राज्य अमेरिका और ब्रिटेन में अलग–अलग महिला समूहों ने संगठित होकर इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए संघर्ष किया। 1848 को सेनेका फाल्स कन्वेंशन महिला अधिकारों का पहला औपचारिक समझौता था। इसने दृढ़ता से महिलाओं के लिए सामाजिक, नागरिक और नैतिक अधिकारों की सूची पारित की। न्यूजीलैण्ड पहला ऐसा देश था जिसने 1894 में महिलाओं को मताधिकार प्रदान किया। जल्दी ही इसका अनुकरण अन्य देशों ने किया।

1960 के नागरिक अधिकार आंदोलन एवं छात्र आंदोलनों के लक्ष्य अलग–अलग थे किंतु इन्होंने अप्रत्यक्ष रूप से महिलाओं को अपने अधिकारों के लिए लड़ाई लड़ने के लिए प्रेरित किया। 1966 में राष्ट्रीय महिला संगठन की स्थापना की गई। इस संस्था के पश्चात नारी समानता लीग, महिला रोजगार संगठन आदि संस्थाएं अस्तित्व में आईं जिन्होंने अमेरिकी समाज का महिलाओं की समस्याओं के प्रति ध्यान आकर्षित किया।

भारत में नारीवाद

भारत एक ऐसा देश है जहां सांस्कृतिक परंपराएं महिलाओं को काफी ऊंचा स्थान प्रदान करती हैं। अपने त्याग एवं बलिदान के स्वभाव के कारण वे पाश्चात्य जगत की महिलाओं से भिन्न औपनिवेशिक काल में स्त्री शिक्षा के माध्यम से महिलाओं की स्वतंत्रता पर विचार विमर्श किया जाने लगा। 19वीं शताब्दी में भारत के कुछ क्षेत्रों में ब्रह्म समाज, आर्य समाज, प्रार्थना समाज के उदय के साथ महिला आंदोलनों के स्वर दिखाई देते हैं।

1889 में कांग्रेस के बंबई अधिवेशन में दस महिलाओं ने भाग लिया। गांधी जी ने महिलाओं से स्वतंत्रता आंदोलन से जुड़ने का आह्वान किया और कहा– मैं महिला अधिकारों के मुद्दे पर कोई समझौता नहीं कर सकता। नेहरू जी भी नारी अधिकारों के प्रबल समर्थक थे। 20वीं शताब्दी के पांचवें दशक तक भारत में कई महिला संगठनों का उदय हुआ। 1917 में मारग्रेट कॉसिन ने वूमेन्स इंडिया एसोसिएसन की स्थापना की।

1926 में नेशनल काउन्सिल ऑफ इंडिया वूमेन्स की स्थापना हुई। 1927 में ऑल इंडिया वूमेन्स कॉन्फ्रेंस हुई। महिलाओं द्वारा मताधिकार की मांग रखी गई। 1927 में मुथुलरमी रेड्डी मद्रास विधान परिषद की सदस्य निर्वाचित हुई।

टिप्पणी

इस प्रकार भारत सहित विश्व के अनेक राष्ट्रों में नारीवादी आंदोलन के माध्यम से स्त्रियों के अधिकारों के लिए संघर्ष किया गया और नारी चार दीवारी से बाहर निकलकर अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाने में सफल रही है। फिर भी समाज में नारी को आज भी वह सम्मान प्राप्त नहीं है जो वास्तविकता में होना चाहिए। आज नारी के लिए आंदोलनों की जरूरत नहीं है बल्कि पुरुष प्रधान समाज में दृष्टिकोण में परिवर्तन करने की है।

इसी श्रृंखला में विश्व में मानव ने अपने प्राकृतिक अधिकारों के लिए आंदोलन की शुरुआत की। विभिन्न देशों में हुये नागरिक आंदोलनों का आपस में संबंध तो नहीं था परंतु ये एक ही उद्देश्य से जुड़े हुए थे।

सदियों से एक प्रश्न हमेशा रहा है वह है श्वेत–अश्वेत के बीच में अंतर। श्वेतों की श्रेष्ठता के सिद्धांत ने यूरोप में रंगभेद नीति को जन्म दिया जिसका परिणाम दक्षिण अफ्रीका में इसके विरोध में हुआ आंदोलन है। नेल्सन मंडेला ने इस नीति का विरोध किया और इस कुरीति का अंत किया। पर वे लोगों की मानसिकता को नहीं बदल सके और विश्व में आज भी इस विषय पर मतभेद जारी है।

महिलाओं के अधिकारों को लेकर अमेरिका में जो आंदोलन शुरू हुए उसने विश्व के समस्त राष्ट्रों को प्रभावित किया। इससे भारत भी अछूता नहीं रहा और स्वतंत्रता आंदोलन में महिलाओं ने भी बढ़–चढ़ कर अपनी भागीदारी निश्चित की।

अपनी प्रगति जांचिए

6. नेल्सन मंडेला किस देश के राष्ट्रपति थे

(क) अमेरिका (ख) इंगलैण्ड

(ग) दक्षिण अफ्रीका (घ) नामिबिया

7. शांति का नोबेल पुरस्कार नेल्सन मंडेला को किस सन् में मिला।

(क) 1992 (ख) 1993

(ग) 1995 (घ) 1990

8. वूमेन्स इंडिया एसोसिएशन की स्थापना किसने की

(क) मारग्रेट कॉमिन (ख) एनी बेसेंट

(ग) सरोजिनी नायडू (घ) काशी बाई फुले

9. 'Apartheid' शब्द का अर्थ है

(क) विपरीत (ख) रंगभेद

(ग) नारीवाद (घ) अधिकारवाद

5.4 समाजवाद का पतन, भूमंडलीकरण एवं उसके प्रभाव

टिप्पणी

औद्योगिक क्रांति के परिणाम स्वरूप दो प्रकार की व्यवस्थाओं ने जन्म लिया– पूंजीवाद एवं समाजवाद। समाजवाद का उद्देश्य सर्वहारा वर्ग का प्रभुत्व स्थापित करना था। इसी प्रभुत्व की स्थापना ने शीतयुद्ध को जन्म दिया। कालान्तर में साम्यवादी नेतृत्व की नीतियों ने समाजवाद के पतन की पृष्ठभूमि तैयार कर दी।

भू–मंडलीकरण एक विश्वव्यापी प्रक्रिया है जिसे अर्थ व्यवस्था का एकीकरण कहा जा सकता है। भूमंडलीकरण के लिए उदारीकरण को विश्व के समस्त राष्ट्रों ने अपनाया। व्यापार की प्रक्रिया सुचारू रूप से चल सके इसके लिए विश्व व्यापार संगठन की स्थापना की गई। अर्थव्यवस्था के भूमंडलीकरण का अर्थ है देश विदेश की अर्थव्यवस्था को विश्व अर्थव्यवस्था के साथ जोड़ना तथा विश्व पर इस व्यवस्था के प्रभावों का अध्ययन करना।

5.4.1 समाजवाद के पतन की पृष्ठभूमि

द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात विश्व दो विचारधाराओं के इर्द–गिर्द घूमता रहा परंतु इन के बीज तो पुरातन थे। एक लंबे संघर्ष में, पूंजीवाद ने सामंतवाद को निर्णायक पराजय दी। इस पूंजीवाद का सामना कालान्तर में समाजवाद से हुआ और पूंजीवाद को पराजित करना समाजवाद के लिए कठिन था। लेनिन ने इस विषय में कहा था– समाजवाद में सर्वहारा वर्ग का अधिनायकत्व एक ऐसे वर्ग द्वारा चलाया जाने वाला वर्ग संघर्ष है जो विजयी हुआ है और इसने पूंजीपति वर्ग के खिलाफ सता हाथ में ले ली। ऐसा पूंजीपति वर्ग जो विलुप्त नहीं हुआ है, जो पराजित हुआ है, जिसने प्रतिरोध करना बंद नहीं किया है। बल्कि अपने प्रतिरोध को तीव्र कर दिया है। लेनिन ने उक्त कथन में समाजवाद को पतन की ओर ले जा सकने वाले भविष्य के खतरे के प्रति सचेत किया था।

(1) **स्टालिन युग** : स्टालिन उग्र नीतियों का समर्थक था। उसने 1936 में निजी स्वामित्व को खत्म करने का प्रयास किया। उसका मानना था इससे शासक वर्ग और वर्ग संघर्ष समाप्त हो जायेगा।

(2) **खुश्चेव काल** : खुश्चेव ने अपनी नीतियों में परिवर्तन किया एवं उदारवादी नीतियों का अनुसरण किया। सन् 1962 ई. में ख्रुश्चेव ने अमेरिका के सामंजस्य से तनाव शैथिल्य की नीति को अपनाने के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

चीन एवं सोवियत संघ के संबंध

रूस के हित कोरिया एवं मंचूरिया में थे परंतु इन हितों में जापान बाधक था अतः रूस ने चीन का सहयोग किया। चीन में 1921 ई. में कम्यूनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। 1950 ई. में रूस एवं चीन के बीच पारस्परिक सहायता एवं सामंजस्य बढ़ाने हेत 30 वर्षों के लिए एक संधि हुई। इसके अनुसार सहमति हुई कि यदि जापान भविष्य में दोनों देशों में से किसी पर भी आक्रमण करता है तो दोनों देश मिलकर उसका मुकाबला करेंगे। परंतु शीघ्र ही दोनों के संबंधों में तनाव उत्पन्न हो गया। कम्युनिस्ट

पार्टी के अधिवेशन में दोनों राष्ट्रों के प्रमुखों के बीच झगड़ा हो गया। रूस ने तकनीकी योजनाओं में लगे हुए वैज्ञानिकों को चीन से वापस बुला लिया। भारत–चीन के बीच तनाव के दौर में रूस द्वारा भारत का सहयोग किये जाने एवं चीन को इंकार करने पर चीन ने आपत्ति उठाई थी। इस प्रकार आपसी सामंजस्य एवं समझौते का दौर विवाद में परिणत हो गया।

टिप्पणी

शीत युद्ध और समाजवाद का पतन

दोनों महाशक्तियों ने विचारधारा के संघर्ष के ढांचे के अंतर्गत, भौगोलिक, राजनीतिक संघर्ष के रूप में शीत युद्ध लड़ा। इस राजनायिक युद्ध में एक ओर अमेरिका ने सोवियत संघ को विश्व शांति का शत्रु तथा साम्यवाद को व्यक्ति की स्वतंत्रता के विनाशक के रूप में प्रस्तुत किया। अमेरिका, सोवियत संघ को विस्तारवादी देश का नाम देता रहा जिसने बल पूर्वक पूर्वी देशों में साम्यवाद को स्थापित किया। शीत युद्ध में अमेरिका का वर्चस्व कायम रहा। इस लंबे संघर्ष में सोवियत संघ अपना वर्चस्व कायम नहीं रख सका।

समाजवादी ब्लाक का विघटन

सोवियत संघ का विघटन आधुनिक विश्व के इतिहास में 20वीं शताब्दी के अंतिम दशक की एक महत्वपूर्ण घटना है। 25 दिसम्बर 1991, ई. को राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाचोव ने सोवियत संघ के राष्ट्रपति पद से त्यागपत्र दे दिया। 26 दिसम्बर 1991, ई. को सोवियत संघ की व्यवस्थापिका ने अपने अधिवेशन में सोवियत संघ को समाप्त किये जाने का प्रस्ताव पारित किया। इसके साथ ही 15 वर्ष पुराने सोवियत संघ का पतन हो गया।

5.4.2 भूमंडलीकरण

"मुक्त अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एवं दीर्घकालीन पूंजी प्रवाह ही भूमंडलीकरण है।"

मोटे तौर पर भूमंडलीकरण एक चैतन्य और सक्रिय प्रक्रिया है जिसका लक्ष्य व्यापार और व्यवसाय को राज्यों की सीमा के बाहर तक विस्तृत करना है। इसका लक्ष्य परस्पर संबंधित और परस्पर निर्भर वैश्विक इकाई या वैश्विक ग्राम की स्थापना करना है। भूमंडलीकरण पूरे विश्व को एक समग्र राजनीतिक आर्थिक और सांस्कृतिक इकाई में परिवर्तित करने की प्रक्रिया है। इसे भूमंडलीकरण के नाम से भी जाना जाता है।

श्याडोरे लेविड ने सन् 1983 में प्रकाशित अपने आलेख Globalization of markets में इस शब्द का प्रयोग किया है। विलियम विलण्टन ने इसे 'प्राचीर रहित विश्व' (World without walls) का नाम दिया है।

डेविड हेल्ड– "सरल शब्दों में भूमंडलीकरण का अर्थ विश्वव्यापी अंतर्राष्ट्रीय संबंधों का व्यापक गहरा और तीव्र होना है।"

"भूमंडलीकरण का अर्थ है, विश्व के सभी संसाधनों एवं बाजारों तक पूंजी की वैश्विक पहुंच।"

एस. के. सिंह– भूमंडलीकरण का आशय है, विश्व का सिकुड़ना और समग्रता में विश्व की चेतना का तीव्र होना।

टिप्पणी

भूमंडलीकरण के उद्देश्य

भूमडलीकरण के निम्नलिखित उद्देश्य हैं–

(1) भूमंडलीकरण के कारण स्थानीयकरण से भ्रौद्रिक घाटे को कम करना।

(2) बाह्य उदारीकरण के अंतर्गत विदेशी वस्तुओं 'सेवाओं' प्रौद्योगिकी और पूंजी के आयात से प्रतिबंध हटाना।

(3) घरेलू उदारीकरण के अंतर्गत उत्पादन, निवेश और बाजार व्यवस्था का महत्व बढ़ाना।

भूमंडलीकरण के कारण

भूमंडलीकरण कोई नई परंपरा नहीं है बल्कि सदियों से राष्ट्रों में वस्तुओं, व्यक्तियों और विचारों का आदान–प्रदान होता रहा है। यह एक विश्वव्यापी प्रक्रिया है। भूमंडलीकरण के निम्नलिखित कारण हैं–

(1) प्रौद्योगिकी का विकास : तकनीकी के विकास ने विश्व को छोटा कर दिया है। इसके कारण आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान पर आवागमन एवं वस्तुओं का आदान–प्रदान संभव हो सका है। भूमंडलीकरण के द्वारा सूचना, संचार एवं प्रौद्योगिकी विकास ने विश्व व्यवस्था को विशेष रूप से प्रभावित किया है।

(2) उदारीकरण : उदारीकरण का अर्थ है विदेशी पूंजी को पूर्ण उदारता के साथ अपने देश में निवेश की अनुमति प्रदान करना। भारत ने 1991–92 में आर्थिक उदारीकरण की नीति को अपनाया एवं अन्य राष्ट्रों ने भी इसे अपनाकर उदारीकरण की प्रक्रिया को बढ़ाया।

(3) बहुराष्ट्रीय कंपनियों का सहयोग : विश्व को जोड़ने में बहुराष्ट्रीय कंपनियों का सहयोग रहा है। विश्व के अनेक देशों में ये कंपनियां स्थापित हुईं, तथा इन कंपनियों ने वस्तुओं, सेवाओं एवं सूचनाओं को विश्व स्तर पर उपलब्ध कराया। ये कंपनियां अलग–अलग वस्तुओं का उत्पादन एवं निर्माण करती हैं जिससे कि वस्तु की उत्पादन लागत में कमी आती है। इस प्रकार के सहयोग से भूमंडलीकरण का विस्तार हुआ है।

(4) विदेशी व्यापार में विस्तार : विदेशी व्यापार से भूमंडलीकरण की प्रक्रिया नियंत्रित हुई है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद लगभग सभी देशों के विदेशी व्यापार में वृद्धि हुई है। विश्व व्यापार संगठन के द्वारा घरेलू बाजार को भी विश्व बाजार में वस्तुओं एवं सेवाओं को भेजने का अवसर मिला है। विश्व बैंक, अंतर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष आदि अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं ने इस हेतु महत्वपूर्ण योगदान दिया है।

(5) व्यापार एवं प्रशुल्क संबंधी सामान्य समझौता (GATT) : सन् 1948 ई. में व्यापार एवं प्रशुल्क संबंधी सामान्य समझौता (General Agreement on Tariffs and Trade) की स्थापना हुई। जिसका मुख्यालय 'स्विटजरलैण्ड' के 'जेनेवा' में है। इसके अंतर्गत व्यापार एवं प्रशुल्क समझौते हेतु समय–समय

पर वार्ताएं की गईं। गैट के कई दौर हुए थे जैसे– केनैडी राऊण्ड, टोकियो राउण्ड, उरुग्वे राउण्ड एवं डकेल राउण्ड। आखिरी दौर सबसे महत्वपूर्ण था जिसमें उदारीकरण का प्रस्ताव तैयार किया गया जिसमें 117 देशों ने हस्ताक्षर किये। इस प्रकार एक नये युग के सूत्रपात की आधारशिला रखी गई।

टिप्पणी

(6) **विश्व व्यापार संगठन (WTO) :** 15 अप्रैल 1994 ई. को माराकेश के घोषणा पत्र में WTO के विभिन्न मुद्दों में से एक मुद्दा विश्व व्यापार संगठन का था इसके अनुसार 1 जनवरी 1995 को विश्व व्यापार संगठन की घोषणा की गई। इस पर 85 देशों ने हस्ताक्षर किये। इस संगठन की स्थापना से अंतर्राष्ट्रीय व्यापार को बढ़ावा मिला।

(7) **राज्यों का आपसी जुड़ाव :** अब राष्ट्रों को यह एहसास होने लगा था कि राष्ट्रीय हित के साथ–साथ उनके कुछ सामान्य हित भी हैं। अब मनुष्य की तरह राष्ट्रों की भी आर्थिक लाभ में रुचि है ताकि वे अपने देश वासियों को बेहतर भविष्य दे सकें।

भूमंडलीकरण के विभिन्न आयाम : भूमंडलीकरण के आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक आयाम हैं। भूमंडलीकरण के युग में विश्व आर्थिक रूप से एक दूसरे से सहयोग कर रहे हैं जिससे नये–नये राजनीतिक संबंध स्थापित हो रहे हैं। इससे एक दूसरे के धर्म, संस्कृति, आचार–विचारों का आदान–प्रदान कर नये सांस्कृतिक मूल्यों का विस्तार हो रहा है।

भूमंडलीकरण की विशेषताएं

भूमंडलीकरण की विशेषताओं को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है–

(1) अलग–अलग अर्थव्यवस्थाओं को एक वैश्विक व्यवस्था में सम्मिलित कर लेना और पूंजी के प्रवाह को निर्बाध चलने देना।

(2) भूमंडलीकरण से विश्व भूमंडलीय गांव में बदल गया है।

(3) अंतर्राष्ट्रीय पूंजी बाजार में वृद्धि।

(4) विकाशील देशों को आर्थिक लाभ की प्राप्ति।

(5) विश्व व्यापार संगठन की स्थापना।

(6) सूचना एवं संचार क्षेत्र में प्रगति।

(7) विश्व बाजार संस्कृति की स्थापना।

भूमंडलीकरण के लाभ एवं हानि

भूमंडलीकरण के प्रभाव और परिणाम को लेकर विद्वतजनों में मतभेद हैं। भूमंडलीकरण के समर्थकों का तर्क है कि पूंजी, वस्तुओं और तकनीकी के स्वतंत्र प्रवाह से चारों ओर आर्थिक विकास एवं सकल घरेलू उत्पाद में वृद्धि हुई है। इसका दूसरा पक्ष है अल्प विकसित और विकाशील देशों को बड़ा नुकसान।

लाभ

(1) उपभोक्ताओं को लाभ–कम मूल्य पर अच्छी एवं सस्ती वस्तुएं उपलब्ध होती हैं।

(2) उपभोक्ताओं को वस्तुओं में विविधता मिलती है।

टिप्पणी

(3) निर्माताओं के लिए मुक्त व्यापार लाभदायक होता है उन्हें एक बड़ा बाजार उपलब्ध होता है।

(4) आर्थिक संसाधनों का कुशलता से उपयोग।

(5) विदेशी विनियोग की प्राप्ति से अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों का विकास होता है।

(6) उद्योगों तथा उत्पादों में प्रतियोगिता होने से वस्तुओं की किस्म में सुधार होता है तथा उत्पादन के गुण तथा आकार में वृद्धि होती है।

(7) अंतर्राष्ट्रीय व्यापार के साथ राष्ट्रीय उद्योगों को प्रोत्साहन।

(8) घरेलू संसाधनों के साथ मिलकर विकास की प्रक्रिया को गति प्रदान करता है।

हानि

(1) भूमंडलीकरण के माध्यम से हमेशा औद्योगिक व विकसित देशों ने अपने ही हित साधने के प्रयास किये।

(2) पूंजीवाद को प्रोत्साहन।

(3) इसमें पूंजीगत तथा आधारभूत उद्योगों के स्थान पर उपभोक्ता वस्तु आधारित उद्योगों को ज्यादा महत्व दिया जाता है।

(4) बहु–राष्ट्रीय निगम अर्थव्यवस्था पर हावी हो जाते हैं। ये निगम मशीनीकरण पर अत्यधिक जोर देते हैं। इससे बेरोजगारी फैलती है।

(5) देशी और विदेशी उत्पादकों के बीच प्रतियोगिता होती है। इसमें राष्ट्रीय प्राथमिकताओं की अवहेलना होती है।

(6) अल्प–विकसित और विकासशील देश तकनीक के लिए विकसित देशों पर निर्भर हो जाते हैं।

भूमंडलीकरण के प्रभाव

विगत एक दशक में असाधारण रूप से ही सारे विश्व को अपनी पकड़ में ले लेने वाले भूमंडलीकरण के अनेक प्रभाव सामने आए हैं। तृतीय विश्व के देशों के अनेक नेता भूमंडलीकरण को उन्नीसवीं शताब्दी के उपनिवेश का रूप मानते हैं। भूमंडलीकरण को नव उपनिवेशवाद की संज्ञा दी गई है इसके निम्न प्रभाव हैं।

(1) वर्तमान समय में विश्व की अर्थव्यवस्था वास्तव में भूमंडलीकृत आर्थिक गतिविधियों से जुड़ी हुई है। अतः यहां आर्थिक संबंध जो राजनीतिक वातावरण के कारण विस्तृत हुए हैं उन पर इन संबंधों का विशेष प्रभाव पड़ा है।

(2) औद्योगीकरण की प्रक्रिया ने विभिन्न देशों में उदारीकरण एवं निजीकरण को अपनाया है।

(3) औद्योगीकरण के द्वारा आधुनिक मशीनों का स्वचालित उपयोग एवं सूचना प्रौद्योगिकी विस्तार के तीव्रगामी होने के कारण मानवीय शक्तिश्रम की गुणवत्ता में कमी आई है।

(4) आर्थिक असमानता में वृद्धि।

(5) कृषकों के पास सीमित पूंजी एवं आय कम आदि होने के कारण कृषक कृषि आधुनिकीकरण की प्रक्रियाओं को कम मात्रा में उपयोग कर पाते हैं।

(6) तीव्रगामी औद्योगीकरण से पर्यावरण पर विपरीत प्रभाव पड़ा है।

(7) लघु एवं कुटीर उद्योगों का विनाश।

टिप्पणी

भूमंडलीकरण की समस्यायें

भूमंडलीकरण से अनेक समस्याओं का जन्म हुआ है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों ने तृतीय विश्व के देशों में प्रवेश कर आर्थिक सत्ता पर अधिकार कर लिया। प्रो. नोआम चोमस्की का कहना है कि "भूमंडलीकरण की वर्तमान प्रणाली समुदायों में असमानता की समस्याओं से लड़ने में विफल रही है। इसके विपरीत इसने आम आदमी के ऊपर धनवानों तथा शक्तिशालियों का आधिपत्य स्थापित करने में ही सहायता की है।"

(1) लघु उद्योगों की समस्या : आधुनिक सूचना प्रौद्योगिकी के कारण औद्योगीकरण हुआ है। मशीनों के आविष्कार से लघु, कुटीर एवं परंपरागत उद्योगों को नुकसान हुआ है। इसमें लाखों की संख्या में लोग बेरोजगार हुए हैं।

(2) बेरोजगारी : आधुनिक आविष्कारों ने जहां सुविधाएं प्रदान की हैं वहीं दूसरी ओर बेरोजगारी को भी जन्म दिया है।

(3) विकसित राष्ट्रों का वर्चस्व : भूमंडलीकरण से सर्वाधिक लाभ विकसित राष्ट्रों को हुआ हैं। विकसित देशों के पास पर्याप्त मात्रा में पूंजी का होना एवं सूचना प्रौद्योगिकी में आगे होने के कारण इन देशों को उदारीकरण की प्रक्रिया से सर्वाधिक प्रोत्साहन मिला है। गैट समझौता एवं विश्व व्यापार संगठन से विकसित देशों को सर्वाधिक लाभ प्राप्त हुआ है।

(4) पूंजीवादी समर्थक : भूमंडलीकरण विश्वव्यापी पूंजीवाद की एक खास अवस्था है जो अमीरों को और ज्यादा धनी तथा गरीब को और ज्यादा गरीब बनाती है। राज्य के कमजोर होने से गरीबों के हितों की रक्षा करने की उसकी क्षमता में कमी आती है।

(5) आर्थिक आत्मनिर्भरता में कमी : भूमंडलीकरण के कारण वैश्विक प्रतिस्पर्धा ने उत्पादन क्षमता को बढ़ाया है एवं वस्तुओं के आदान–प्रदान को आसान बनाया है। जिससे विकासशील देशों में आर्थिक आत्मनिर्भरता में कमी आ गई है। विकासशील राष्ट्र विकसित राष्ट्रों पर अधिक निर्भर हो गये है। इससे परंपरागत संस्कृति की हानि होगी और लोग अपने सदियों पुराने जीवन मूल्य तथा तौर तरीकों को भूल जाएंगे।

(6) ग्लोबल वार्मिंग : तीव्र औद्योगिकरण एवं परिवहन के द्वारा उत्पन्न हानिकारक विकिरणों के प्रभाव से ओजोन परत में छिद्र हो रहे हैं। भारी मात्रा में वातानुकूलन गैसों का उपयोग एवं मोटर वाहनों द्वारा वायु प्रदुषण आदि के द्वारा पर्यावरण प्रदूषण की समस्या बढ़ रही है। ग्लोबल वार्मिंग से वातावरण गर्म हो रहा है जिससे भविष्य में विश्व को अनेक समस्याओं का सामना करना होगा।

टिप्पणी

वर्तमान परिवेश में एक प्रकार की भूमंडलीकृत राजनीति ने जन्म लिया है, जिसका सबसे बड़ा प्रभाव यह हुआ है कि राष्ट्रों की राजनीतिक सीमाएं अब महत्वहीन हो गई हैं। राष्ट्रों के मध्य आपसी संबंध पहले उनके द्वारा परस्पर निर्धारित निश्चित नियमों पर ही आधारित होते थे। अब ये संबंध वैश्विक हितों के आधार पर अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं के निर्देशन व सहयोग पर आधारित हैं। आज हमारे सामने जो भी वैश्विक मुद्दे और समस्याएं आ रही हैं उन पर सभी राष्ट्रों के सहयोग से राष्ट्रीयता की संकीर्ण विचारधारा से ऊपर उठकर विचार किया जाता है तथा योजनाएं बनाई जाती हैं। इन मुद्दों में मानवाधिकार पर्यावरण की रक्षा तथा परमाणविक सुरक्षा मुख्य है।

भूमंडलीकरण का अन्य पहलू उदारीकरण है। उदारीकरण की नीति व्यापक रूप से अंतर्राष्ट्रीय बाजार को प्रभावित कर रही है। नोबेल पुरस्कार प्राप्त भारतीय अर्थ शास्त्री प्रोफेसर अमर्त्य सेन ने भी उदारीकरण के संदर्भ में कहा है कि उदारीकरण की प्रक्रिया को एक सुनियोजित तरीके से अपनाने पर लाभ मिलता है। यदि पहले शिक्षा, स्वास्थ्य, मानव संसाधनों को विकसित किया जाए तो उदारीकरण लाभप्रद होता है। इसका अर्थ है कि बुनियादी आवश्यकताओं को पूर्ण करके किया गया उदारीकरण आर्थिक विकास में सहायक है।

भूमंडलीकरण की प्रक्रिया जिस सीमा तक विकासशील राष्ट्रों में प्रवेश कर चुकी है उसे रोकना मुश्किल है लेकिन उसे राष्ट्रीय एवं वैश्विक स्तर पर जनाकांक्षाओं के अनुरूप अवश्य बनाया जा सकता हैं। इस दृष्टि से वैश्वीकरण के सामाजिक पहलू पर भी विचार किया जाना चाहिए। भूमंडलीकरण के सामाजिक पहलू का संबंध अनिवार्य रूप से जीवन स्तर, आय, रोजगार, संस्कृति एवं इन सबसे ऊपर राष्ट्र की अपनी स्वयं की पहचान से जुड़ा हुआ है।

रूस की क्रांति ने समाजवादी विचारधारा को स्थापित किया। द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात अन्य देशों में इसके विस्तार के प्रयास किए गए। विश्व एक नई व्यवस्था की जंग में उलझ कर रहा गया जिसे शीतयुद्ध कहा गया। पूंजीवादी ताकतों के मध्य समाजवाद लंबा संघर्ष नहीं कर सका। सोवियत संघ समाजवादी नीतियों को लंबे समय तक संभालने में सक्षम नहीं हो सका। मिखाइल गोर्बाचोव की सुधारवादी नीतियों ने सोवियत संघ का विघटन कर दिया। क्यूबा, उत्तरी कोरिया एवं चीन में समाजवाद के कुछ अंश बचे हुए हैं।

अर्थव्यवस्था के नये दौर में विश्व में उदार व्यवस्था की शुरुआत के लिए भूमंडलीकरण प्रक्रिया का जन्म हुआ जो व्यावहारिक न होकर सैद्धांतिक थी। विश्व के अनेक राष्ट्रों ने उदारवादी आर्थिक नीतियों को अपनाया। विश्व व्यापार संगठन की स्थापना ने भूमंडलीकरण का विस्तार किया तथा विदेशी व्यापार में वृद्धि हुई। परंतु इस प्रक्रिया के नकारात्मक पहलू भी हैं यह पूंजीवाद एवं विकसित राष्ट्रों का अधिक समर्थन करता है जिससे विकासशील राष्ट्रों की आत्मनिर्भरता में कमी होने लगती है एवं अत्यधिक लघु–कुटीर उद्योग नष्ट हो जाते हैं। भूमंडलीकरण ने विश्व में आर्थिक प्रतिस्पर्धा को उत्पन्न किया हैं जिसका लाभ जनसामान्य को मिला है।

टिप्पणी

अपनी प्रगति जांचिए

10. सोवियत संघ से 15 राज्य किस सन् में अलग हुए?

(क) 1992 (ख) 1993

(ग) 1994 (घ) 1991

11. आर्थिक उदारीकरण की शुरुआत भारत में कब हुई?

(क) 1991–1992 (ख) 1994–1995

(ग) 1996–1997 (घ) 1999–2000

12. व्यापार और प्रशुक्ल संबंधी सामान्य समझौता कब हुआ?

(क) 1945 (ख) 1948

(ग) 1950 (घ) 1951

13. विश्व व्यापार संगठन (WTO) की स्थापना हुई

(क) 15 अप्रैल 1994 (ख) 1 जनवरी 1995

(ग) 15 अगस्त 1995 (घ) 2 अप्रैल 1966

5.5 अपनी प्रगति जांचिए प्रश्नों के उत्तर

1. (ख)
2. (ग)
3. (ग)
4. (क)
5. (ग)
6. (ग)
7. (ख)
8. (क)
9. (ख)
10. (घ)
11. (क)
12. (ख)
13. (क)

5.6 सारांश

रूस में साम्यवादी युग की नई शुरुआत हुई जब 11 मार्च 1985 को गोर्बाचोव सत्ता पर आसीन हुए उन्होंने अर्थव्यवस्था में परिवर्तन के लिए नई आर्थिक नीतियों का अनुसरण

किया जिसे पेरेस्त्रोइका और ग्लासनोस्त कहा गया, जिनका अर्थ पुनर्गठन और खुलापन था। गोर्बाचोव पुराने पांरपरिक आर्थिक ढांचे के परिवर्तन के पक्ष में थे।

टिप्पणी

सोवियत यूनियन का पतन मार्क्सवाद का अनुकरण करने के कारण नहीं, अपितु दुनिया के इतिहास में एक नूतन समाज के निर्माण में की गई गलितयों एवं भटकाव के कारण हुआ। नये समाज के निर्माण के लिए नागरिकों की सक्रिय भागीदारी व सहयोग आवश्यक था। इस समाजवादी राज्य व्यवस्था को मेहनतकश जनता के सच्चे प्रजातंत्र में ही प्राप्त किया जा सकता था।

आर्थिक क्षेत्र में जो महत्वपूर्ण परिवर्तन हुआ वह था कृषि का विकास। नगरों के विकास और व्यापार के विकास ने कृषि को वैज्ञानिक तरीकों से करने के लिए प्रेरित किया। इसके पहले कृषि सिर्फ आत्मनिर्वाह अर्थव्यवस्था का कार्य करती थी परंतु उसे अब वाणिज्यिक कृषि के रूप में उत्पादन करना था। कृषि क्रांति के लिए सबसे अधिक उत्तरदायी तत्व था– इस युग के वैज्ञानिक आविष्कार।

इस प्रकार कृषि के यंत्रीकरण हो जाने से 20वीं शताब्दी में तीव्र ढंग से विकास हुआ। विश्व के सभी राष्ट्रों ने कृषि के क्षेत्र में आधुनिक संसाधनों का प्रयोग कर एवं नवीन नीतियों को लागू कर कृषि उत्पादन में वृद्धि का प्रयास किया।

किसी भी देश में उत्पादन, उत्पादन की मात्रा तथा उत्पादन कार्यकुशलता को निर्धारित करने वाले प्राथमिक और आधारभूत तत्व होते हैं। प्राकृतिक संसाधन उपजाऊ भूमि, खनिज पदार्थ, विभिन्न प्रकार की धातुएं, जलवायु, तापक्रम, श्रमकुशलता और परिश्रमी श्रमिक, पूंजी, कुशल संगठन एवं वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान की उपलब्धि से औद्योगिक उत्पादन के क्षेत्र में वृद्धि की जा सकती है।

आज के प्रगतिशील इलेक्ट्रानिक युग में सूचना एक महत्वपूर्ण संसाधन और शक्ति है। सूचना के निरंतर उपयोग में सूचना–प्रगति, सूचना का प्रक्रियाकरण, संग्रहण, सम्प्रेषण एवं पुनर्प्राप्ति सम्मिलित है। संचार प्रौद्योगिकी भाषा, शब्द संकेत, संगीत किया जाने वाला भावनाओं के अदान–प्रदान करने के लिए प्रयुक्त किया जाने वाला संचार का अंग हैं। संचार शब्द आंग्ल भाषा के कम्युनिकेशन शब्द से बना है। सूचना विज्ञान के क्षेत्र में सूचना के आदान–प्रदान की प्रक्रिया को संचार कहते है।

भारत ने विज्ञान और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में उल्लेखनीय प्रगति की हैं। भारत में बहुत सी नई विधियों, उत्पादों और उत्तम कोटि के सामान का निर्माण हुआ है। भारत ने अंतरिक्ष अनुसंधान और आणविक ऊर्जा जैसे विज्ञान और प्रौद्योगिकी के महत्वपूर्ण क्षेत्रों में बहुत तेजी से प्रगति की है।

सांस्कृतिक क्रांति ने चीन की कई सदियों के पश्चात वापसी की और चीन विश्व के अग्रणी राष्ट्रों में शामिल हुआ। इन्हीं का अनुसरण कर विश्व के अनेक राष्ट्रों में नागरिक अधिकार आंदोलनों की शुरुआत हुई।

उपनिवेशवादी अर्थव्यवस्था ने विश्व को गुलाम बनाया और रंगभेद नीति को जन्म दिया। नेल्सन मंडेला के नेतृत्व में दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद आंदोलन चलाया गया और उन्हें सफलता प्राप्त हुई।

सांस्कृतिक क्रांति विश्व की उन महान क्रांतियों में से एक थी जिन्होंने मानव सभ्यता और संस्कृति को गहराई तक प्रभावित किया। इसके परिणामस्वरूप चीन में

'माओवाद' की स्थापना हुई और कालान्तर में यह एक विश्वव्यापी दर्शन बना जिसके प्रभाव से भारत भी अछूता न रह सका।

1959 में इस क्षेत्र में अन्य प्रयास के लिए 'पैन अफ्रीकन कांग्रेस' की स्थापना की गई। 21 मार्च 1960 को उग्र प्रदर्शन किये गये। इस संगठन के द्वारा जिसमें 70 लोगों की मौत हो गई। नेशनल पार्टी ने आंदोलन को दबाने के लिए आपातकाल की घोषणा कर दी और 18 हजार लोगों को गिरफ्तार किया गया। गिरफ्तारी के डर से अनेक नेता भूमिगत हो गये और आंदोलन की गतिविधियों को और तेज कर दिया गया।

टिप्पणी

भू–मंडलीकरण एक विश्वव्यापी प्रक्रिया है जिसे अर्थ व्यवस्था का एकीकरण कहा जा सकता है। भूमंडलीकरण के लिए उदारीकरण को विश्व के समस्त राष्ट्रों ने अपनाया। व्यापार की प्रक्रिया सुचारू रूप से चल सके इसके लिए विश्व व्यापार संगठन की स्थापना की गई।

उदारीकरण का अर्थ है विदेशी पूंजी को पूर्ण उदारता के साथ अपने देश में निवेश की अनुमति प्रदान करना। भारत ने 1991–92 में आर्थिक उदारीकरण की नीति को अपनाया एवं अन्य राष्ट्रों ने भी इसे अपनाकर उदारीकरण की प्रक्रिया को बढ़ाया।

भूमंडलीकरण से सर्वाधिक लाभ विकसित राष्ट्रों को हुआ हैं। विकसित देशों के पास पर्याप्त मात्रा में पूंजी का होना एवं सूचना प्रौद्योगिकी में आगे होने के कारण इन देशों की उदारीकरण की प्रक्रिया को सर्वाधिक प्रोत्साहन मिला है। गैट समझौते से विश्व व्यापार संगठन के विकसित देशों को सर्वाधिक लाभ प्राप्त हुआ है।

5.7 मुख्य शब्दावली

- **प्रोत्साहन** : मनोबल बढ़ाना
- **विध्वंसकारी** : विनाशकारी
- **प्रतिस्पर्धा** : आगे बढ़ने की होड
- **आयाम** : पहलू
- **पाश्चात्य** : पश्चिमी
- **प्रवास** : निवास
- **स्वायत्त** : स्वतंत्र
- **समग्र** : संपूर्ण

5.8 स्व–मूल्यांकन प्रश्न एवं अभ्यास

लघु–उत्तरीय प्रश्न

1. समाजवाद से आप क्या समझते हैं?
2. समाजवादी ब्लॉक के विघटन की प्रक्रिया को समझाइए?
3. सांस्कृतिक क्रांति से आप क्या समझते हैं?

टिप्पणी

4. किन कानूनों के द्वारा अफ्रीका के निवासियों को भौगोलिक तौर पर विभाजित किया गया?
5. नारीवाद से क्या अभिप्राय है?
6. भूमंडलीकरण से क्या तात्पर्य है? भूमंडलीकरण के कारणों को संक्षेप में बताइए।
7. भूमंडलीकरण के लाभ एवं हानियां बताइए।
8. निम्नलिखित पर संक्षेप में टिप्पणी लिखिए–

   (क) कंप्यूटर (ख) दूरदर्शन (ग) यांत्रिक आविष्कार

दीर्घ–उत्तरीय प्रश्न

1. समाजवाद का अर्थ बताते हुए समाजवाद के विकास का वर्णन कीजिए।
2. सोवियत संघ के पतन के कारणों का उल्लेख कीजिए।
3. बीसवीं शताब्दी में संचार व सूचना प्रौद्योगिकी के विकास का उल्लेख कीजिए।
4. चीन की सांस्कृतिक क्रांति का विश्लेषण कीजिए।
5. दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद नीति का उन्मूलन कैसे हुआ? वर्णन कीजिए।
6. भूमंडलीकरण से उत्पन्न समस्याओं की विवेचना कीजिए।
7. निम्नलिखित पर टिप्पणी कीजिए:

   (क) मिखाइल गोर्बाचोव (ख) उदारीकरण (ग) ग्लोबल वार्मिंग

5.9 सहायक पाठ्य सामग्री

केनेथ वॉल्ट्ज, 2001, थियरी ऑफ इंटरनेशनल पॉलिटिक्स। वेवलैण्ड प्रेस इंकोर्पोरेशन।

मार्टिन होलिस और स्टीव स्मिथ, 1991, एक्सप्लेनिंग एण्ड अण्डरस्टैण्डिंग इंटरनेशनल रिलेशंस। ऑक्सफोर्ड: ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस।

रॉबर्ट जैक्सन और जॉर्ज सोरेन्सन, 2013, इंट्रोडक्शन टू इंटरनेशनल रिलेशंसः थियरीज एण्ड अप्रोचेज, 5वां संस्करण। ऑक्सफोर्डः ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस।

रॉबर्ट किओहेन, 2005, आफ्टर हीजेमनीः कोपरेशन एण्ड डिस्कोर्ड इन द वर्ल्ड पॉलिटिकल इकॉनोमी। न्यू जर्सीः प्रिंसटन यूनीवर्सिटी प्रेस।

रॉबर्ट किओहेन और जोसेपफ नाय, 2011, पॉवर एण्ड इंटरडिपेन्डेन्स, चौथा संस्करण। न्यूयॉर्कः लोंगमैन।